IAS

निश्चय
IAS ACADEMY

PCS

Indian Polity

(भारतीय राजव्यवस्था)

द्वारा

यशवंत सिंह

102,103, 1st Floor, Jaina House, Mukherjee, Nagar Delhi - 110009

Contact : 011-47074196, 9990158578,9891352177

विषय सूची

- भारतीय संविधान की रचनाः समस्याएँ और चुनौतियाँ
- भारत में संविधानिक विकास
- संविधान की विशेषता (प्रकृति)
- संविधान की उद्देशिका और उसका महत्व
- संविधान का संशोधन (अनु. 368)
- संघीय विधानमंडल (संसद)
- राज्य विधानमंडल या व्यवस्थापिका
- पंचायती राज
- संघीय कार्यपालिका
- आपातकालीन प्रावधान
- इकाई राज्य की कार्यपालिका
- भारत में दबाव गुट
- संघीय न्यायपालिका (उच्चतम/सर्वोच्च न्यायालय) (अनु. 124-147)

■ न्यायपालिका

- संघीय न्यायपालिका (उच्चतम/सर्वोच्च न्यायालय)
- राज्यों में न्यायपालिका (उच्च न्यायालय)
- अधीनस्थ न्यायालय
- न्यायिक जवाबदेही
- संसद बनाम न्यायपालिका
- कुटुंब न्यायालय
- लोक अदालतें
- लोकहित वाद
- न्यायिक सक्रियता
- न्यायपालिका की समस्याएं

■ अधिकरण

- अधिकरण का अर्थ
- अधिकरण की आवश्यकता क्यों

- अधिकरण एवं न्यायालय में अंतर
- केन्द्रीय एवं राज्य प्रशासनिक अधिकरण
- उपभोक्ता के संरक्षण के लिए आयोग
- सेना न्यायालय द्वारा विचारण
- विदेशी मुद्रा अपील बोर्ड
- आयकर अपील अधिकरण
- राष्ट्रीय हरित न्यायाधिकरण

■ संघीय व्यवस्था

- विधायी, प्रशासनिक, वित्तीय संबंध
- केन्द्र तथा राज्यों के बीच टकराव
- नियोजन एवं भारतीय संघ
- क्षेत्रीय दलों का भारतीय संघ पर प्रभाव
- संघीय व्यवस्था पर वैश्वीकरण का प्रभाव

■ संवैधानिक पद

- महान्यायवादी
- महाधिवक्ता
- महालेखा परीक्षक

■ संवैधानिक आयोग

- निर्वाचन आयोग
- संघ लोक सेवा आयोग
- वित्त आयोग
- राष्ट्रीय जातीय एवं जनजातीय आयोग

■ गैर- संवैधानिक आयोग

- योजना आयोग
- राष्ट्रीय विकास परिषद्
- राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग

■ विनियामक संस्था

- बीमा विनियामक एवं विकास प्राधिकरण
- सेबी (भारतीय प्रतिभूति एवं विनिमय बोर्ड)

भारतीय संविधान की रचना: समस्याएँ और चुनौतियाँ

भारतीय संविधान ने तो किसी संयोग की उत्पत्ति है और न ही क्रमिक विकास का परिणाम। इसकी रचना एक संविधान-निर्मात्री सभा द्वारा लगभग तीन वर्षों के विचार-विमर्श के उपरांत की गई और इसे एक निश्चित तिथि पर अंगीकृत करके एक निश्चित तिथि पर लागू किया गया। दूसरे शब्दों में इंग्लैण्ड के विपरीत, भारत का संविधान निर्मित एवं लिखित है। भारत का जनतंत्रीय शासन व्यवस्था शताब्दियों के विकास का परिणाम है जो मूलत: परम्पराओं पर आधारित है। वे नियम जिनके आधार पर इंग्लैण्ड में सरकार के विभिन्न अंगों का गठन और कार्य-संचालन होता है, न तो पूर्णतया लिखित है और न ही किसी एक पुस्तक के रूप में उपलब्ध है। इनमें से अधिकांश नियमों को औपचारिक रूप से न तो बनाया गया है और न ही उन्हें लेखबद्ध किया गया है। संभवत: यही कारण है कि डी. टाकवेलि ने यह कह दिया कि इंग्लैण्ड में कोई संविधान नहीं है।''

विश्व के आधुनिक संविधानों में अमेरिका पहले देश है जहां 1776 में फ्लेडल्फिया में आयोजित एक सम्मेलन में अमेरिकी संविधान की रचना की गई और 1789 में उसे लागू किया गया।

भारत में स्वाधीनता की मांग में ही संविधान बनाने की मांग भी छिपी हुई थी। 1895 में बाल गंगाधर तिलक के निर्देशन में तैयार किए गए 'स्वराज्य विधेयक' में भारत के लिए संविधान बनाने हेतु एक संविधान सभा को गठित करने की बात की गई थी। 1922 में महात्मा गांधी ने यह विचार व्यक्त किया कि 'भारतीय संविधान भारतीयों की इच्छानुसार ही होगा।' 1924 में मोतीलाल नेहरू ने ब्रिटिश सरकार के सामने संविधान सभा के निर्माण की मांग प्रस्तुत की। एम.एन. राय ने भी स्पष्ट रूप से संविधान सभा के गठन का विचार प्रस्तुत किया। पंडित जवाहर लाल नेहरू के प्रयत्नों से कांग्रेस ने औपचारिक रूप से यह घोषणा की कि 'यदि भारत को आत्म-निर्णय का अवसर मिलता है तो भारत के सभी विचारों के लोगों की प्रतिनिधि सभा बुलाई जानी चाहिए जो **'सर्वसम्मति से संविधान का निर्माण कर सके। यह संविधान सभा होगी।'**

1936 में लखनऊ में आयोजित कांग्रेस-अधिवेशन में संविधान सभा के विषय में चर्चा हुई और 1937 तथा 1938 के अधिवेशन में संविधान सभा की पुन: मांग की गई। 1938 के कांग्रेस-अधिवेशन में यह प्रस्तुत पारित किया गया कि 'एक स्वतंत्र देश के लिए संविधान-निर्माण का एकमात्र तरीका संविधान सभा है। सिर्फ प्रजातंत्र और स्वतंत्रता में विश्वास न रखने वाले ही इसका विरोध कर सकते हैं।' इस मांग की पुष्टि करते हुए महात्मा गांधी ने कहा कि 'हम ऐसी संविधान-सभा चाहते हैं जो भारतीय मस्तिष्क का वास्तविक दर्पण हो।'

भारतवासियों द्वार संविधान सभा की मांग का प्रारंभ में ब्रिटिश सरकार द्वारा विरोध किया गया किन्तु द्वितीय विश्व युद्ध से उत्पन्न परिस्थितियों और अंतर्राष्ट्रीय घटनाओं ने उसे इस मांग पर गम्भीरता से विचार करने के लिए मजबूर कर दिया। अगस्त 1940 में ब्रिटिश सरकार ने यह प्रस्ताव पारित किया कि 'भारत का संविधान स्वभावत: स्वयं भारतवासी ही तैयार करेंगे।' 1942 में क्रिप्स योजना के अंतर्गत ब्रिटिश सरकार ने यह घोषणा की कि भारत में एक निर्वाचित संविधान सभा का गठन किया जाएगा जो युद्ध के बाद भारत के लिए एक संविधान तैयार करेगी लेकिन भारतवासियों ने विविध कारणों से क्रिप्स योजना को ही अस्वीकार कर दिया।

संविधान सभा का निर्माण:

अगस्त 1946 में भारत में आए कैबिनेट मिशन द्वारा किए गए संविधान सभा के गठन के प्रस्ताव को भारतीय नेताओं ने स्वीकार कर लिया। मिशन का यह विचार था कि तत्कालीन परिस्थितियों में वयस्क मताधिकार के आधार पर संविधान सभा को निर्वाचित करना संभव न होगा। अत: प्रांतीय विधानसभाओं द्वारा संविधान सभा को निर्वाचित किए जाने का प्रावधान किया गया।

कैबिनेट मिशन योजना में 389 सदस्यीय संविधान सभा के गठन की व्यवस्था की गई थी। इसमें 292 ब्रिटिश प्रांतों के प्रतिनिधि, 04 चीफ कमिश्नर प्रांतों के प्रतिनिधि और 93 देशी रियासतों के प्रतिनिधि थे। इस योजना के अनुसार प्रांतों के बीच स्थानों का विभाजन इनकी जनसंख्या के आधार पर किया गया था और दस लाख की जनसंख्या पर एक प्रतिनिधि लेने का नियम अपनाया गया। प्रत्येक प्रांत के लिए निर्धारित स्थानों को, उनमें निवास करने वाली प्रमुख जातियों के बीच उनकी जनसंख्या के आधार पर विभाजित कर दिया गया। यह भी प्रावधान किया गया कि प्रत्येक जाति के प्रतिनिधि उस जाति-विशेष के सदस्यों द्वारा निर्वाचित किए जाएंगे। मतदाताओं को तीन श्रेणियों-साधारण, मुसलमान तथा सिख (केवल पंजाब) में बांटने का निश्चिय किया गया। देशी रियासतों के प्रतिनिधियों के चुनाव के लिए एक 'समझौता समिति' का प्रावधान किया गया था।

कैबिनेट मिशन योजना के अनुसार जुलाई 1946 में संविधान-सभा के चुनाव हुए। सभा की कुल सदस्य संख्या (389) में से प्रांतों के लिए निर्धारित 296 सदस्यों का चुनाव हुआ जिसमें कांग्रेस-पार्टी को 208, मुस्लिम लीग को 73 तथा शेष सात राजनैतिक दलों को एक-एक स्थान मिले। निर्दलीय उम्मीदवारों में से आठ विजयी हुए। इस दयनीय स्थिति को देखकर मुस्लिम लीग ने संविधान सभा का बहिष्कार करने का निर्णय लिया।

संविधान सभा का गठन : आपत्तियां और आलोचनाएं:

स्वतंत्रता के समय जो परिस्थितियां थीं उनमें यह संभव नहीं था कि जनसाधारण द्वारा संविधान का प्रत्यक्ष रूप से चुनाव कराया जाए या संविधान को जनमत संग्रह के लिए रखा जाए। इसलिए संविधान सभा का चुनाव प्रांतीय विधान मण्डलों और देशी रियासतों द्वारा कराया गया। कैबिनेट मिशन योजना को भारतीय

First IAS

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

नेताओं ने काफी वाद-विवाद के बाद से स्वीकार किया था, वह भारत पर जबदस्ती थोपी नहीं गई थी। अत: उसके पीछे भारतवासियों की सहमति थी।

संविधान सभा के गठन के संबंध में अनेक आपत्तियां और आलोचनाएं की गई जिनमें से कुछ का आगे उल्लेख किया जा रहा है:

1. संविधान सभा की प्रभुसंपन्नता:

संविधान सभा के एक सदस्य ने यह कहा कि 'संविधान सभा एक प्रभुसंपन्न संस्था नहीं है और उसकी शक्तियां, मूलभूत सिद्धांत और प्रक्रियाओं दोनों ही दृष्टि से मर्यादित है। उनका तर्क यह था कि यह संस्था ब्रिटिश सरकार द्वारा कैबिनेट मिशन के माध्यम से स्वीकृत किया गया था और संविधान सभा कैबिनेट मिशन योजना के अनुसार ही कार्य करने के लिए प्रतिबद्ध थी। यह आपत्ति एक सीमा तक ठीक थी लेकिन संविधान सभा ने जिस प्रकार कार्य किया उससे स्पष्ट है कि संविधान की रचना, उसके लिए अपनाई गई प्रक्रिया तथा स्थापित की गई शासन व्यवस्था, संक्षेप में आंतरिक और वाह्य दोनों तरह से संविधान सभा ने एक प्रभुतासंपन्न संस्था के रूप में कार्य किया। संविधान सभा ने सभा के संचालन की शक्ति अपने द्वारा निर्वाचित सभापति को दे दी और यह प्रस्ताव पारित किया कि संविधान सभा का विघटन ब्रिटिश सरकार या किसी अन्य शक्ति के निर्देश पर नहीं किया जाएगा। सभा उसी समय भंग की जा सकेगी जब स्वयं संविधान सभा इस आशय का प्रस्ताव अपने दो-तिहाइ बहुमत से पार करे। संविधान सभा के प्रभुत्व-संपन्न होने का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि उसने जो संविधान बनाया उसे किसी भी स्तर पर ब्रिटिश सरकार की सहमति अथवा अनुमोदन के लिए नहीं रखा गया।

15 अगस्त 1947 को भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम के पारित होने के बाद भारत ने एक प्रभुत्वसंपन्न राज्य का स्तर प्राप्त कर लिया। यह उल्लेखनीय है कि संविधान-निर्मात्री सभा का गठन जुलाई 1946 में हो गया था किन्तु संविधान स्वतंत्रता मिलने के दो वर्ष बाद तैयार हुआ अत: संविधान-निर्माण के मामले में ब्रिटिश सरकार के दबाव या हस्तक्षेप का प्रश्न ही नहीं उठता। निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि संविधान सभा के गठन की वैधानिक पहल भले ही कैबिनेट मिशन योजना के रूप में ब्रिटिश सरकार द्वारा की गई हो किन्तु संविधान सभा ने आंतरिक और वाह्य रूप से एक स्वतंत्र और प्रभुता-संपन्न संस्था के रूप में ही कार्य किया।

2. संविधान सभा का प्रतिनिध्यात्मक स्वरूप:

कांग्रेस के अंतर्गत समाजवादी वर्ग तथा कुछ अन्य दलों द्वारा यह आपत्ति की गई कि संविधान सभा वास्तव में भारतीय जनता का प्रतिनिधित्व नहीं करती क्योंकि इसका चुनाव जनता के द्वारा प्रत्यक्ष रूप से न होकर प्रांतीय विधानमण्डलों द्वारा किया गया। समाजवादी नेता जयप्रकाश नारायाण ने कहा कि 'यह संविधान सभा अपने गठन में उस संविधान सभा में बहुत भिन्न है जिसकी रूपरेखा पंडित नेहरू ने हमारे सामने रखी थी। इसकी रचना ब्रिटिश सरकार ने की है, अत: हम इसके द्वारा उस स्वतंत्रता को प्राप्त करने की आशा कदापि नहीं कर सते जिसके लिए हम संघर्ष करते रहे हैं।' उन्होंने इस बात पर बल दिया कि संविधान का चुनाव वयस्क मताधिकार के आधार पर जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से किया जाना चाहिए था।

सैद्धांतिक दृष्टि से उपर्युक्त विचार बिल्कुल ठीक लगता है किन्तु स्वतंत्रता की प्राप्ति के पूर्व और स्वतंत्रता मिलने के तुरन्त बाद की जो परिस्थितियां थीं, विशेषकर भारत विभाजन और उसके बाद बड़े पैमाने पर होने वाली हिंसा ने सांप्रदायिकता और देशव्यापी अशांति का जो वातावरण उत्पन्न कर दिया था उसमें संविधान सभा के गठन के लिए आम चुनाव कराया जाना संभव ही न था। यह भी उल्लेखनीय है कि अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित होने के कारण भले ही संविधान सभा को एक प्रतिनिधि संस्था न कहा जाए लेकिन अपनी सदस्यता की दृष्टि से वह देश के हर क्षेत्र, धर्म वर्ग और व्यवसाय का प्रतिनिधित्व करती थी। उसमें सभी दलों के चोटी के नेता, विधिवेत्ता, बुद्धिजीवी, तथा प्रशासनिक योग्यता रखने वाले लोग शामिल थे। उदाहरण के लिए पंडित नेहरू, सरदार पटेल, डॉ. राजेन्द्र प्रसद, मौलाना अबुल कलाम आजाद, राजगोपालचारी, पुरुषोत्तम दास टण्डन, के. एम. मुंशी आचार्य, जे.बी. कृपलानी, डॉ. बी.आर. अम्बेडकर, श्यामा प्रसाद मुखर्जी, डॉ. राधाकृष्णन, एन.जी. आयंगर, के. संस्थानम, बी. शिवराव आदि। मुस्लिम लीग के टिकट पर चुने गए वह सदस्य भी जो पाकिस्तान नहीं गए उन्हें भी संविधान सभा में शामिल किया गया। के. संस्थानम के अनुसार, 'जनमत का कोई भी ऐसा वर्ग नहीं था जिसे संविधान सभा में प्रतिनिधित्व प्राप्त न हो।' ग्रेनविल आस्टिन का कहना है कि 'अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित और इस दृष्टि से भारतीय जनता के प्रति उत्तरदायी न होने पर भी संविधान सभा अत्यधिक प्रतिनिध्यात्मक संस्था थी।'

3. संविधान के पीछे लोक -स्वीकृति (Popular sanction) का अभाव:

संविधान के विरूद्ध यह भी आपत्ति की गई कि उस पर जनमत संग्रह कराए बगैर ही उसे लागू कर दिय गया अत: संविधान को जन-अनुसमर्थन प्राप्त नहीं था। आलोचकों का यह कहना कि यदि तत्कालीन अशांतिपूर्ण परिस्थितियों में वयस्क मताधिकार के आधार पर संविधान सभा का चुनाव कराया जाना संभव नहीं था तो कम से कम संविधान को जनता के समक्षर रखकर उसका अनुमोदन तो कराया ही जाना चाहिए था। लेकिन इस आलोचना के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि जिन कारणों से स्वयं सविधान सभा का चुनाव प्रत्यक्ष रूप से जनता द्वारा नहीं कराया जा सका उन्हीं कारणों से संविधान पर जनमत संग्रह कराना भी संभव नहीं था। क्योंकि उसके लिए भी पूरे देश में मतदान कराना पड़ता जो उस समय की विषम परिस्थतियों में व्यावहारिक नहीं था।

संविधान सभा के समक्ष चुनौतियां:

संविधान सभा के सामने जो प्रमुख मुद्दे या चुनौतियां थी उनमें से कुछ का उल्लेख आगे किया जा रहा है:

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

(1) विरोधी हितों का समन्वय:

संविधान सभा का पहला कार्य था देश में पायी जाने वाली विविधताओं के बीच एकता स्थापित करना, परस्पर विरोधी हितों के बीच सामंजस्य कायम करना, धर्म, जाति, के आधार पर विभाजित सामाजिक वर्गों को एक मंच लाना और एक ऐसी शासन व्यवस्था को स्थापित करना जो समाज के सभी वर्गों के लिए स्वीकार्य हो।

स्वतंत्रता के बाद देश के सामने विभिन्न प्रकार के समस्याएं थीं जिनके निराकरण के लिए अलग-अलग विचाराधाराएं थीं जिनके बीच कुछ मुद्दों पर मतैक्य था और कुछ के विषय में मतभेद। विभिन्न राजनैतिक वैचारीकियों का प्रतिनिधित्व संविधान सभा में था। अतएव संविधान सभा की मौलिक समस्या यह थी कि इन परस्पर विरोधी विचारधाराओं के मानने वालों और विभिन्न वर्गों और हितों का प्रतिनिधित्व करने वालों को कैसे संतुष्ट किया जाए। इस समस्या को दृष्टि में रखते हुए संविधान सभा ने संविध ान-निर्माण प्रक्रिया में 'सहमति' और 'समायोजन' के सिद्धांतों को अपनाया। संविधान सभा की विभिन्न समितियों में सभी वर्गों, हितों और विचारधाराओं को प्रतिनिधित्व दिय गया और इस बात का प्रयास किया गय कि मात्र संख्या के आधार पर निर्णय न लिए जाएं वरन् सभी की सहमति से कार्य किया जाए। इस स्थिति पर प्रकाश डालते हुए एम.वी. पायली ने लिखा है कि ''संविधान सभा में वाद-विवाद के प्रति असंतोष नहीं दिखाया गया, अपने विचार दूसरों पर लादने एवं शीघ्रता से कार्य समाप्त करने का प्रयास नहीं किया गया। यह एक पूर्ण लोकतांत्रिक प्रक्रिया थी जिस पर भारत के लोग गर्व कर सकते हैं।''

संविधान सभा ने लगभग सभी महत्वपूर्ण और विवादास्पद मुद्दों पर जल्दबाजी के बजाए सहनशीलता से विचार किया। उदाहरण के लिए भाषाई विवाद को सर्वसम्मति से हल करने के लिए संविध ान सभा का लगभग तीन वर्षों तक विचार-विमर्श करना पड़ा और अंत में सर्वसम्मति से हिन्दी को राजभाषा के रूप में स्वीकार किया गया।

सभा यह भी चाहती थी कि संविधान मात्र बहुमत के बल पर नहीं वरन् सबकी सहमति से बनाया जाए, इस लक्ष्य को दृष्टि में रखते हुए संविधान सभा ने व्यावहारिकता को आधार बनाया और परस्पर विरोधी विचाराधाराओं में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया। जैसे संघात्मक और एकात्मक व्यवस्था के बीच, पूंजीवाद और समाजवाद के बीच तथा केन्द्रीकरण और विकेन्द्रीकरण के दृष्टिकोण के बीच सामंजस्य स्थापित किया गया। उदारहरण के लिए डॉ. राजेन्द्र प्रसाद तथा कुछ अन्य सदस्य यह चाहते थे कि संसद का चुनाव अप्रत्यक्ष रूप से पंचायतों और नगरपालिकाओं द्वारा किया जाए। नेहरू तथा कुछ अन्य सदस्य संसद का निर्वाचन वयस्क मताधिकार के आधार पर प्रत्यक्ष रूप से चाहते थे। संविध ान सभा ने दोनों ही बातों को मान लिया पर संसद का निर्वाचन प्रत्यक्ष कर दिया गया और पंचायती व्यवस्था को नीति-निदेशक सिद्धांतों का अंग बना दिया गया।

2. देशी रियासतों की समस्या:

स्वतंत्रता के समय भारत में लगभग 600 देशी रियासतें थी जो स्वतंत्र ढंग से शासन कार्य कर रही थीं। कैबिनेट मिशन योजना में देशी रियासतों को यह स्वतंत्रता दी गई थी कि वह स्वतंत्रत रह सकती है य भरत अथवा पाकिस्तान में मिल सकती हैं इनमें से कुछ रियासतें अपनी स्वतंत्रता को बनाए रखना चाहती थीं और भारतीय संघ में विलय के पक्ष में नहीं थीं। एक स्वतंत्र और प्रभुत्ता -संपन्न राज्य के भू-क्षेत्र में स्थित पूर्ण स्वायत्तता चाहने वाली इन इकाइयों की स्थिति क्या हो, संविधान सभा के सामने यह बहुत बड़ी चुनौती थीं। संविधान सभा ने संघीय व्यवस्था के विभिन्न पक्षों पर विचार-विमर्श में लगभग दो वर्ष का समय लगाया। वह न तो किसी देशी रियासत के विरूद्ध शक्ति का प्रयोग करने के पक्ष में थी और न ही किसी प्रांत या क्षेत्र (देशी रियासत) को संघ से बिल्कुल स्वतंत्र रहने का अधिकार ही दे सकती थी। इसलिए संघीय शक्ति समिति (Union Power Committee) में विभिन्न प्रांतों और रियासतों की राजनीति में प्रभाव रखने वाले व्यक्तियों को सम्मिलित किया गया। समुचित विचार-विमर्श के उपरांत भारतीय संविधान ने संघ-शासन की एक ऐसी योजना बनाई जिसमें तीन प्रकार की राजनैतिक इकाइयों को मान्यता दी गई और विशेषकर देशी रियासतों के हितों का पूरा ख्याल रखा गया। धीरे-ध ीरे एक ऐसी राजनैतिक वातावरण तैयार हो गया कि 1956 में राज्य-पुनर्गठन आयोग द्वारा देशी रियासतों का अंत ही कर दिया गया।

3. सांप्रदायिकता और संविधान का स्वरूप:

भारत-विभाजन के समय पूरे देश में बड़े पैमाने पर हिन्दू-मुस्लिम दंगे हो रहे थे। किन्तु हिन्दू-बहूमत का एक वर्ग देश में हिन्दू राज्य स्थापित करना चाहता था। इसके विपरीत मुसलमानों की एक बड़ी संख्या पाकिस्तान नहीं जाना चाहती थी और इसी देश में रहने के पक्ष में थी। मुसलमान भारत में सबसे बड़ा अल्प-संख्यक समूह था। संविधान सभा ने सांप्रदायिक उन्माद से भयभीत हुए बगैर धर्मतंत्र के बजाए एक धधर्म-निरपेक्ष संविधान का निर्माण किया और धर्म, जाति अथवा किसी अन्य आधार पर भेदभाव किए बिना सभी नागरिकों को समान राजनैतिक अधिकार देने का प्रावधान किया।

4. अल्पसंख्यकों की समस्या:

भारत में धर्म, भाषा, संस्कृति आदि के आधार पर अनेक अल्पसंख्यक समूह पाए जाते हैं। धर्म के आधार पर सबसे बड़ा अल्पसंख्यक समूह मुसलमान हैं जिसकी जनसंख्या देशी की कुल आबादी का लगभग 12 प्रतिशत है। शेष धार्मिक अल्प-संख्यक जैसे सिख, ईसाई आदि की संख्या 2-3 प्रतिशत से अधिक नहीं है। भाषायी दृष्टि से भी मुसलमान सबसे बड़ा भाषायी अल्पसंख्यक समूह है। धर्म और भाषा के अतिरिक्त सांस्कृतिक दृष्टि से भी भारत के विभिन्न क्षेत्रों में रहने वाले लोगों के बीच मूलभूत विषमताएं पाई

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

जाती हैं और विभिन्न सांस्कृतिक समूह अपनी पहचान बनाए रखने के लिए प्रयत्नशील रहे हैं।

एक जनतंत्रीय शासन व्यवस्था में जो बहुमत के सिद्धांत से संचालित होती है, अल्पसंख्यकों का विशेष महत्व होता है। भारत में स्वतंत्रता-पश्चात् हो रहे सांप्रदायिक दंगों के परिप्रेक्ष्य में अल्पसंख्यकों की सुरक्षा और उनके हितों का संरक्षण संविधान सभा के सम्मुख एक ज्वलंत मुद्दा था। मौलाना आजाद चाहते थे कि सामान्य चुनाव क्षेत्र होते हुए भी मुसलमान तथा अन्य अल्पसंख्यकों के लिए सीटें आरक्षित की जाएं। सरदार पटेल इस प्रकार के आरक्षण के खिलाफ थे। संविधान सभा के दो अल्पसंख्यक सदस्य राजकुमारी अमृत कौर (ईसाई अल्पसंख्यक) और बेगम एजाज रसूल (मुस्लिम अल्पसंख्यक) ने आरक्षण का विरोध किया। बेगम एजाज ने कहा कि जो मुसलमान भारत में रह गए हैं वे राष्ट्र का अभिन्न अंग हैं, इसलिए उन्हें विशेष संरक्षण की आवश्यकता नहीं है।

संविधान सभा ने मुसलमानों तथा अल्प-संख्यकों के लिए आरक्षण की मांग को तो नहीं माना किन्तु उसने अल्प-संख्यकों के विकास के लिए विशेष सुविधाएं देने का प्रावधान किया। संविधान के भाग 3 में मूल अधिकार के रूप में अल्प-संख्यकों को अपनी विशेष भाषा, लिपि या संस्कृति को बनाए रखने तथा राज्य-निधि से सहायता पाने वाली किसी शिक्षा संस्था में किसी प्रकार का भेदभाव के बिना प्रवेश पाने का अधिकार दिया गया है। अनुच्छेद 30 में धर्म या भाषा पर आधारित सभी अल्पसंख्यक वर्गों को अपनी रुचि की शिक्षा संस्थाओं की स्थापना और प्रशासन का अधिकार प्रदान किया गया है। यह भी प्रावधान किया गया है कि शिक्षा-संस्थाओं को सहायता देने में राज्य किसी अल्पसंख्यक शिक्षा-संस्था के विरूद्ध कोई भेदभाव नहीं करेगा।

उपर्युक्त प्रावधान इस बात को स्पष्ट करते हैं कि संविधान सभा अल्पसंख्यकों के हितों और अधिकारों के प्रति अत्यधिक सचेत और संवेदनशील थी और प्रतिकूल समाजिक वातावरण में भी। संविधान सभा ने अल्पसंख्यकों की समस्या का समाधान करने का प्रयास किया।

5. वैचारिक भिन्नता:

यद्यपि संविधान सभा में कांग्रेस पार्टी को भारी बहुमत प्राप्त था (कुल 296 में से 208 सदस्य) किन्तु इसमें मुस्लिम लीग तथा अनेक अन्य राजनैतिक दलों के प्रतिनिधि भी निर्वाचित होकर आए थे जिनकी राजनैतिक विचारधारा कांग्रेस से बिल्कुल भिन्न थी। संविधान सभा में विभिन्न धर्मों, जातियों, क्षेत्रों और विभिन्न भाषाओं के बोलने वालों को प्रतिनिधित्व प्राप्त था। इनकी विचारधाराओं तथा हितों में टकराव था।

मोटेतौर पर संविधान सभा में उदारवादी, पूंजीवादी, समाजवादी, साम्यवादी, गांधीवादी, परंपरावादी और प्रगतिशील विचारधाराओं के समर्थक सदस्य थे जो संविधान को अपनी-अपनी वैचारिकी के अनुसार बनाना चाहते थे। इन परस्पर विरोधी विचारधाराओं के बीच सामंजस्य स्थापित करना संविधान सभा का सबसे बड़ा कारनामा था। यही कारण है कि भारतीय संविधान किसी एक राजनैतिक विचारधारा से जुड़ा हुआ नहीं है उसमें उपर्युक्त लगभग सभी विचारधाराओं के तत्व विद्यमान हैं। इन परस्पर विरोधी विचारधाराओं के बीच सामंजस्य स्थापित करना संविधान बनाने वाले की विधिक क्षमता, दूरदर्शिता और इनकी सहनशीलता का परिचायक है।

6. केन्द्रीकरण और विकेन्द्रीकरण:

संविधान-निर्मात्री सभा में गांधीवादी दर्शन के समर्थक गांधी जी के ग्राम स्वराज्य के सपने को साकार करने के लिए राजनैतिक सत्ता का अधिक से अधिक विकेन्द्रीकरण चाहते थे। उनका कहना था कि देश में पंचायती राजव्यवस्था को स्थापित करके शासन व्यवस्था में ग्रामीण जनता की भागीदारी को बढ़ाया जाना चाहिए। उन्होंने यह भी सुझाव दिया कि पंचायतों का चुनाव मताधिकार के अनुसार होना चाहिए और संसद का चुनाव पंचायतों के सदस्यों के द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से किया जाना चाहिए। इस प्रकार ग्रामों को राजनैतिक सत्ता का वास्तविक केन्द्र बनाया जाना चाहिए।

ग्राम स्तर पर सत्ता के विकेन्द्रीकरण के प्रबल समर्थकों के विरूद्ध पंडित जवाहर लाल नेहरू तथा डॉ. बी.आर. अम्बेडकर ग्रामों को राजनैतिक सत्ता का केन्द्र बनाने के विरूद्ध थे। संविधान सभा ने इस समस्या के समाधान हेतु दोनों ही दृष्टिकोणों को संविधान में अपना लिया, उन्होंने शक्तिशाली केन्द्र की स्थापना तो की ही लेकिन गांधीवादियों की मांग को भी नकारा नहीं। संविधान सभा ने पंचायाती राज व्यवस्था को नीति-निदेशक सिद्धांतों में शामिल करते हुए राज्यों से यह अपेक्षा की कि वे आवश्यकता और परिस्थितियों के अनुसार ग्राम पंचायतों की स्थापना करेंगे और स्थानीय स्वशासन की दृष्टि से उन्हें आवश्यक शक्तियां प्रदान करेंगे। उल्लेखनीय है कि 1993 में किए गए 73वें संविधान-संशोधन द्वारा पंचयाती राज व्यवस्था को शासन की तृतीय इकाई के रूप में सांविधानिक मान्यता दे दी गई है।

7. संसदीय बनाम अध्यक्षीय शासन प्रणाली:

देश में कार्यपालिका का क्या स्वरूप होगा, यह एक मौलिक एवं महत्वपूर्ण प्रश्न था। संविधान सभा के समक्ष कार्यकारिणी के तीन मॉडल थे - इंग्लैण्ड की संसदीय प्रणाली, अमेरिका की अध्यक्षात्मक व्यवस्था और स्टिजरलैण्ड की बहुल कार्यपालिका। समुचित विचार विमर्श के बाद संविधान सभा ने भारत के लिए संसदीय शासन व्यवस्था का चयन किया क्योंकि अन्य कारणों के अतिरिक्त, भारतवासी इस प्रणाली से भलीभांति परिचित थे।

कार्यपालिका के स्वरूप से ही जुड़ा हुआ दूसरा प्रश्न राष्ट्रपति की चुनाव प्रणाली का था। संविधान सभा के सदस्यों के कए वर्ग की यह प्रबल इच्छा थी कि भारतीय गणतंत्र, के प्रधान का चुनाव जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से किया जाए। विचारों के आदान-प्रदान

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

औरा समुचित तर्क-वितर्क के बाद संविधान-निर्माताओं ने राष्ट्रपति का चुनाव एक निर्वाचन मण्डल के द्वारा किए जाने का निर्णय लिया।

राष्ट्रपति की शक्तियों के विषय में भी संविधान सभा में बड़ा वाद-विवाद रहा। कुछ सदस्यों ने यह विचार व्यक्त किया कि राष्ट्रपति को दी गई व्यापक शक्तियां, विशेषकर उसकी आपातकालीन शक्तियां राष्ट्रपति को आसानी से तानाशाह बना देंगी और यह शक्तियां जर्मनी के वेमार संविधान के समतुल्य हैं।

8. कुछ अन्य विवादास्पद प्रश्न:

केन्द्र और राज्यों के बीच शक्तियों के वितरण का प्रश्न गम्भीर विवाद का विषय रहा। संविधान सभा का एक वर्ग यह चाहता था कि राज्यों को अधिक शक्तियां प्रदान की जाए लेकिन निर्णय केन्द्र के पक्ष में हीं हुआ और आम सहमति यही बनी कि तत्कालीन राजनैतिक अस्थिरता की परिस्थितियों में देश की एकता और अखण्डता को बनाए रखने के लिए केन्द्र को ज्यादा शक्तिशाली बनाया जाना चाहिए।

नीति-निदेश सिद्धांतों को संविधान में समाहित करने के निर्णय का संविधान सभा में कुछ सदस्यों ने काफी मजाक उड़ाया। उनका तर्क यह था कि न्याय-योग्य न होने के कारण नीति-निदेशक सिद्धांतों की स्थिति नैतिक उपदेशों से ज्यादा नहीं है जिनका अनुपालन करना राज्य की इच्छा पर निर्भर करेगा। संविधान सभा के कुछ सदस्यों ने यह मांग की कि नीति निदेशक सिद्धांतों को क्रियान्वित करना राज्यों के लिए अनिवार्य कर देना चाहिए लेकिन अनेक कारणों से नीति-निदेशक सिद्धांतों को बाध्यकारी बनाना संभव नहीं पाया गया।

उपर्युक्त महत्वपूर्ण बिन्दुओं के अतिरिक्त संविधान सभा में कुछ और मुद्दों पर भी जैसे भारतीय संघ में जम्मू और कश्मीर की स्थिति, उपराष्ट्रपति के चुनाव तथा वयस्क मताधिकार आदि के विषय में काफी वाद-विवाद हुआ। संविधान सभा ने परस्पर विरोधी विचारधाराओं के बीच, हर वर्ग और हर सदस्य को अपने विचार व्यक्त करने का पूरा अवसर देते हुए पूरे संयम और सहनशीलता के साथ, 'सहमति और समन्वय' के आदर्श को अपनाकर स्वतंत्र भारत के संविधान की रचना की जो मौलिक न होते हुए भी अपनी अलग पहचान रखता है।

संविधान निर्माण की प्रक्रिया:

9 दिसम्बर 1946 को संविधान सभा की प्रथम बैठक हुई जिसमें सच्चिदानंद सिन्हा को अस्थायी अध्यक्ष चुना गया। सभा के सदस्यों ने रजिस्टर पर हस्ताक्षर करके अपनी उपस्थिति दर्ज करायी। 11 दिसम्बर 1946 को डॉ. राजेन्द्र प्रसाद को संविधान सभा का स्थायी अध्यक्ष चुना गया। 13 दिसम्बर 1946 को जवाहरलाल नेहरू ने 'उद्देश्य प्रस्ताव' प्रस्तुत किया जिसमें संविधान के आधारभूत सिद्धांतों और लक्ष्यों का उल्लेख किया गया था। उद्देश्य प्रस्ताव पेश करते हुए नेहरू ने कहा 'मैं आपके सामने जो प्रस्ताव प्रस्तुत कर रहा हूं उसमें हमारे उद्देश्यों की व्याख्या की गई, योजना की रूपरेखा दी गई और बताया गया है कि हम किस रास्ते पर चलने वाले हैं।'' 22 जनवरी 1947 का संविधान सभा ने सर्वसम्मपति से उद्देश्य प्रस्ताव को पास किया जिसके पश्चात् संविधान-निर्माण का रास्ता प्रशस्त हो गया।

उद्देश्य प्रस्ताव की रोशनी में संविधान के विभिन्न पक्षों पर विचार-विमर्श के लिए संविधान सभा ने अनेक समितियों को नियुक्त किया जैसे:

1. संघ संविधान समिति
2. प्रांतीय संविधान समिति
3. संघ शक्ति और समिति
4. मूल अधिकारों, अल्पसंख्यकों, आदि से संबंधित परामर्श समिति
5. प्रारूप समिति इत्यादि।

30 जून 1947 को ब्रिटिश सरकार द्वारा प्रकाशित की गई योजना के अनुसार देश का विभाजन स्वीकार कर लिया गया। विभाजन के उपरांत संविधान सभा की सदस्य संख्या घटकर 324 रह गई।

29 अगस्त 1947 को संविधान सभा ने प्रारूप समिति की नियुक्ति की। डॉ. बी. आर. अम्बेडकर को इस समिति का अध्यक्ष बनाया गया। इस समिति का कार्य यह था कि वह संविधान सभा की परामर्श शाखा द्वारा तैयार किए गए संविधान का परीक्षण करे और फिर उसे संविधान सभा के समक्ष प्रस्तुत करे। अक्टूबर 1947 में सांविधानिक परामर्शदाता बी.एन. राव के निर्देशन में संविधान सभा के सचिवालय की परामर्श शाखा ने संविधान का पहला प्रारूप तैयार कर लिया। प्रारूप समिति ने फरवरी 1948 में संविधान का प्रारूप संविधान सभा के अध्यक्ष के सुपुर्द कर दिया।

प्रारूप-संविधान के प्रकाशित होने के बाद उसमें संशोधन के बहुत से सुझाव प्राप्त हुए। एक विशिष्ट समिति ने इन सुझावों पर विचार-विमर्श करने के उपरांत प्रारूप-संविधान का पुनिरीक्षण संस्करण प्रकाशित किया। 15 नवम्बर 1948 से प्रारूप-संविधान पर विचार प्रारंभ हुआ, इस वाचन से लगभग 7,635 संशोधन प्रस्तुत किए गए जिनमें 2,473 संशोधनों पर सविस्तार विचार किया गया। 26 नवम्बर 1949 को संविधान अंतिम रूप से संविधान सभा द्वारा पारित किया गया और 26 जनवरी 1950 को उसे लागू किया गया। इसी दिन संविधान सभा ने स्वतंत्र भारत की अंतरिम संसद का रूप धारण कियाा।

भारतीय संविधान के निर्माण में 2 वर्ष 11 महीने और 18 दिन का समय लगा। संविधान के प्रारूप पर 114 दिनों तक चर्चा हुई। 26 नवम्बर 1949 को संविधान अंगीकृत हुआ और संविधान के कुछ अनुच्छेद उसी दिन से लागू कर दिए गए जबकि संपूर्ण संविधान 26 जनवरी 1950 को लागू हुआ। 1930 में इसी तारीख (26 जनवरी) को भारतीय कांग्रेस ने पूर्ण स्वतंत्रता का संकल्प लिया था।

FIRST IAS

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

भारत में संविधान का विकास

भारत में संवैधानिक विकास:

भारत के नये गणराज्य के संविधान का सुभारंभ 26 जनवरी 1950 को हुआ और भारत अपने लंबे इतिहास में प्रथम बार एक आधुनिक संस्थागत ढ़ांचे के साथ पूर्ण संसदीय लोकतंत्र बना। लोकतंत्र एवं प्रतिनिधि संस्थाएं भारत के लिए पूर्णतया नयी नहीं हैं। कुछ प्रतिनिधि निकाय तथा लोकतंत्रात्मक स्वशासी संस्थाएं वैदिक काल में भी विद्यमान थीं। ऋणवेद में 'सभा' तथा 'समिति' नामक दो संस्थाओं का उल्लेख है। उल्लेखनीय है कि ऋग्वेदिक काल में आर्यों का प्रशासन तंत्र कबीले के प्रधान के हाथों चलता था, क्योंकि वही युद्ध का सफल नेतृत्व करता था। वह राजा कहलाता था। प्रतीत होता है कि ऋग्वैदिक काल में राजा का पद आनुवांशिक हो चुका था। फिर भी प्रधान या राजा के हाथ में असीमित अधि कार नहीं रहते थे, क्योंकि उसे कबायली संगठनों से परामर्श लेना पड़ता था। कबीले की आम सभा को 'समिति' कहते थे और 'सभा' अपेक्षतया छोटा और चयनित वरिष्ठ लोगों का निकाय था, जो मोटे तौर पर आधुनिक विधानमंडलों में उच्च सदन के समान था। वहीं से आधुनिक संसद की शुरूआत मानी जा सकती है। आधुनिक अर्थों में, संसदीय शासन प्रणाली एवं विधायी संस्थाओं का उद्‌भव एवं विकास लगभग दो शताब्दियों तक ब्रिटेन के साथ भारत के संबंधों से जुड़ा हुआ है। परंतु यह मान लेना गलत होगा कि बिल्कुल ब्रिटेन जैसी संस्थाएं किसी समय भारत में प्रतिस्थापित हो गई थीं। जिस रूप में भारत की संसद और संसदीय संस्थाओं को आज हम जानते हैं उनका विकास भारत में ही हुआ। इनका विकास विदेशी शासन से मुक्ति के लिए और स्वतंत्र लोकतंत्रात्मक संस्थाओं की स्थापना के लिए किए गए अनेक संघर्षों और ब्रिटिश शासकों द्वारा रुक-रुक कर, धीरे-धीरे और छोटे-छोटे टुकड़ों में दिए गए संवैधानिक सुधारों के द्वारा हुआ।

1773का रेग्युलेटिंग एक्ट:

ईस्ट इंडिया कंपनी के कर्मचारियों में व्याप्त अनुशासनहीनता तथा स्वार्थपरक प्रवृत्ति के कारण कंपनी को हुई क्षति पर रिपोर्ट देने के लिए तत्कालीन ब्रिटिश्स प्रधानमंत्री लॉर्ड नॉर्थ द्वारा 1772 में गठित गुप्त समिति के प्रतिवेदन पर 1773 में ब्रिटिश संसद द्वारा रेग्युलेटिंग एक्ट पारित किया गया, जिसमें निम्नलिखित प्रावधान किए गए थे:

(1) कंपनी के डायरेक्टरों को कहा गया कि वे अब राजस्व से संबंधित सभी मामलों तथा दीवानी एवं सैनय प्रशासन के संबंध में किए गए सभी प्रकार के कार्यों से सरकार को अवगत करायेंगे।

(2) अब 500 पौंड के अंशधारियों के स्थान पर 1000 पौंड के अंशधारियों के संचालन चुनने का अधिकार दिया गया।

(3) संचालन मंडल का कार्यकाल चार वर्ष कर दिया गया। प्रति वर्ष उनमें से एक-चौथाई नये सदस्यों के निर्वाचन की पद्धति अपनायी गयी।

(4) इस अधिनियम द्वारा बंगाल में 1774 में एक उच्चतम न्यायालय (सुप्रीम कोर्ट) की
स्थापना की गई। इस न्यायालय को प्राथमिक तथा अपील के अधि कार की अनुमति थी। इस न्यायालय में एक मुख्य न्यायाधीश तथा तीन अन्य न्यायाधीश थे। सर एलिजा इम्पे को सुप्रीम कोर्ट का प्रथम मुख्य न्यायाधीश नियुक्त किया गया। न्यायालय को यह भी अधिकार था कि वह कंपनी तथा सम्राट की सेवा में लगे व्यक्तियों के विरूद्ध मामले, कार्यवाही अथवा शिकायत की सुनवायी कर सकता था।

(5) बंगाल में एक प्रशासक मंडल गठित किया गया, जिसमें गवर्नर-जनरल तथा चार पार्षद नियुक्त किये गये। ये पार्षद, नागरिक तथा सैन्य प्रशासन से संबंध थे। इस मंडल में निर्णय बहुमत के आधार पर लिये जाते थे। इस अधिनियम द्वारा प्रशासक मंडल में वारेन हेस्टिंग्स को गवर्नर-जनरल के रूप में तथा क्लैवरिंग, मॉनसन, बरवैल एवं फिलिप फ्रांसिस को पार्षदों के रूप में नियुक्त किया गया। इस सभी का कार्यकाल पांच वर्ष था तथा कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स की सिफारिश पर केवल ब्रिटिश द्वारा ही इन्हें हटाया जा सकता था।

(6) कानून बनाने का अधिकार गवर्नर-जनरल तथा उसकी परिषद को दे दिया गया किन्तु इन कानूनों को लागू करने पूर्व भारत के सचिव से अनुमति प्राप्त करना अनिवार्य था।

(7) बंगाल के गवर्नर को अब समस्त अंग्रेजी क्षेत्रों का गवर्नर कहा गया। सपरिषद गवर्नर-जनरल को बंगाल में फोर्ट विलियन की प्रेसीडेंसी के असैनिक तथा सैनिक शासन का अधि कार दिया गया। कुछ विशेष मामलों में उसे बंबई तथा मद्रास की प्रेसीडेंसियों का अधीक्षण भी करना था।

1781 का संशोधित अधिनियम:

सर्वोच्च न्यायालय कंपनी के कर्मचारियों के विरूद्ध उन कार्यों के लिए कार्यवाही नहीं कर सकता, जो उन्होंने एक सरकारी अधिकारी की हैसियत से किये हों।

(1) कंपनी के राजस्व कलेक्टरों एवं कानूनी अधि कारियों को भी सरकारी अधिकारी के रूप में किए गए कार्यों के संबंध में सर्वोच्च न्यायालय के कार्यक्षेत्र से मुक्त कर दिया गया।

(2) गवर्नर-जनरल एवं उसकी परिषद के सदस्यों को भी यह उन्मुक्तता प्रदान की गई।

(3) कानून बनाते तथा उनकी क्रियान्वयन करते समय भारतीयों के सामाजिक तथा धार्मिक रीति-रिवाजों का सम्मान किये जाने के निर्देश दिये गये।

Ist IAS

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

1784 ई. का 'पिट्स इंडिया एक्ट' :

गवर्नर जनरल वॉरेन हेस्टिंग की साम्राज्यवादी नीतियों को लेकर कंपनी एवं संसद के बीच मतभेद पैदा हो गये थे। इसी कारण 1782 में 'हाउस ऑफ कॉमर्स' में हेस्टिंग्स को वापस बुला लेने का प्रस्ताव भी पारित हुआ। परंतु 'कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स' ने संसद की इच्छा की अवहेलना कर दी। इन स्थितियों से निबटने के लिए कंपनी पर नियंत्रण के लिए 1783 ई. में इंग्लैण्ड के तत्कालीन नॉर्थ फॉक्स मंत्रिमंडल ने 'फॉक्स इंडिया बिल' संसद में पेश किया। 'हाउस ऑफ लॉर्डर्स' द्वारा विधेयक अस्वीकार कर दिया गया और फॉक्स मंत्रिमंडल को त्यागपत्र देनास पड़ा। अगली सरकार पिट द यंगर ने बनायी, जिसने 1784 में संसद में फिर से 'इंडिया बिल' पेश किया, पर फॉक्स के विरोध के कारण विधेयक गिर गया। संसद भंग कर नए चुनाव नए चुनाव कराए गये, जिसमें पिट भारी बहुमत से विजयी हुआ। उसने कुछ संशोधनों के साथ अपनी 'इंडिया बिल' फिर से संसद में रखा, जो पारित हो गया और 1784 के 'पिट्स इंडिया एक्ट' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस अधिनियम में निम्नलिखित प्रावधान किये गये थे:

(1) 6 कमिश्नरों के एक नियंत्रण बोर्ड की स्थापना की गयी, जिसे भारत में अंग्रेजी अधिकृत क्षेत्र पर पूरा अधिकार दिया गया। इसे 'बोर्ड ऑफ कंट्रोल' के नाम से जाना जाता था। इसके सदस्यों की नियुक्ति ब्रिटेन के सम्राट द्वारा की जाती थी। इसके 6 सदस्यों में -एक ब्रिटेन का अर्द्धमंत्री, दूसरा विदेश सचिव तथा 4 अन्य सम्राट द्वारा प्रिवी काउंसिल के सदस्यों में से चुने जाते थे।

(2) बंबई तथा मद्रास के गवर्नर पूर्णरूपेण गवर्नर-जनरल के अधीन कर दिये गये।

(3) भारत में गवर्नर-जनरल के परिषद की सदस्य संख्या चार से घटाकर तीन कर दी गयी। इस तीन में से एक स्थान मुख्य सेनापति को दे दिया गया।

(4) भारत में कंपनी के अधिकृत प्रदेशों को पहली बार नया नाम 'ब्रिटिश अधिकृत भारतीय प्रदेश' दिया गया।

(5) संचालन मंडल द्वारा तैयार किये जाने वाले पत्र व आज्ञाएं नियंत्रण बोर्ड के सम्मुख रखे जाते थे। संचालन मंडल को भारत से प्राप्त होने वाले पत्रों को भी नियंत्रण बोर्ड के सम्मुख रखना आवश्यक था। नियंत्रण बोर्ड पत्रों में परिवर्तन कर सकता था।

(6) कंपनी के डायरेक्टरों की एक गुप्त सभा बनायी गयी, जो अधिकार सभा या संचालक मंडल के सभी आदेशों को भारत में भेजती थी।

(7) मद्रास तथा मुंबई के गवर्नरों की सहायता के लिए तीन-तीन सदस्यी परिषदों का गठन किया गया।

(8) देशी राजाओं से युद्ध तथा संधि से पहले गवर्नर-जनरल को कंपनी के डायरेक्टरों स्वीकृति लेना अनिवार्य था।

(9) भारत में अंग्रेज अधिकारियों के ऊपर मुकदमा चलाने के लिए इंग्लैण्ड में एक कोर्ट की स्थापना की गयी।

1786 का अधिनियम:

इस अधिनियम का निम्नलिखत प्रावधान थे:

(1) गवर्नर-जनरल को मुख्य सेनापति की शक्तियां भी मिल गयीं।

(2) गवर्नर-जनरल को विशेष परिस्थितियों में अपनी परिषद के निर्णयों को रद्द करने तथा अपने निर्णय लागू करने का अधिकार दे दिया गया।

1793 का चार्टर एक्ट:

इस अधिनियम में निम्नलिखित प्रावधान थे:

(1) कंपनी के व्यापारिक अधिकारों को अगले 20 वर्षों के लिए और आगे बढ़ा दिया गया।

(2) नियंत्रण अधिकरण के सदस्यों का वेतन भारतीय कोष से दिया जाने लगा।

(3) गवर्नर जनरल एवं गवर्नरों की परिषदों के सदस्यों की योग्यता के लिए एक शर्त बना
दी गई कि सदस्य को कम से कम 12 वर्षों तक भारत में रहने का अनुभव हो।

(4) विगत शासकों के व्यक्तिगत नियमों के स्थान पर ब्रिटिश भारत में लिखित विधि-विधानों द्वारा प्रशासन की आध
ारशिला रखी गयी। नियमों तथा लिखित विधियों की व्याख्या न्यायालय द्वारा की जानी थी।

1813 का चार्टर अधिनियम:

कंपनी के एकाधिकार को समाप्त करने, ईसाई मिशनरियों द्वारा भारत में धार्मिक सुविधाओं की मांग, लॉर्ड वेलेजली की भारत में आक्रामक नीति तथा कंपनी की सोचनीय आर्थिक स्थिति के कारण 1813 का चार्टर अधिनियम ब्रिटिश संसद द्वारा पारित किया गया, जिसमें निम्नलिखित प्रावधान किये गये थे:

(1) कंपनी का भारतीय व्यापार का एकाधिकार समाप्त कर दिया गया यद्यपि उसका चीन से व्यापार एवं चाय के व्यापार पर अधिकार बना रहा।

(2) कंपनी के भागीदारों को भारतीय राजस्व से 10.5 प्रतिशत लाभांश दिये जाने की व्यवस्था की गयी।

(3) कंपनी को अगले 20 वर्षों के लिए भारतीय तथा राजस्व पर नियंत्रण का अधिकार दे दिया गया। किन्तु स्पष्ट कर दिया गया कि इससे इन प्रदेशों का क्राउन के प्रभुत्व पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।

(4) नियंत्रण बोर्ड की शक्ति को परिभाषित किया गया तथा उसका विस्तार भी कर दिया
गया।

(5) ईसाई धर्म प्रचारकों को आज्ञा प्राप्त करके भारत में धर्म-प्रचार के लिए आने की सुविधा
प्राप्त हो गयी।

ब्रिटिश व्यापारियों तथा इंजीनियरों को भारत आने तथा यहां बसने की अनुमति प्रदान कर दी गयी लेकिन इसके लिए उन्हें संचालन मंडल या नियंत्रण बोर्ड से लाइसेंस लेना आवश्यक था।

ETOS IAS

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

1833 का चार्टर अधिनियम:

इस अधिनियम में निम्नलिखित प्रावधान थे:

(1) चाय का व्यापार तथा चीन के साथ व्यापार करने के संबंधी कंपनी के अधिकार को समाप्त कर दिया गया।

(2) अंग्रेजों को बिना अनुमति-पत्र के ही भारत आने तथा रहने की आज्ञा दे दी गयी। वे भारत में भूमि खरीद सकते थे।

(3) भारत में सरकार का वित्तीय, विधायी तथा प्रशासनिक रूप से केंन्द्रीकरण करने का प्रयास किया गया।

(4) बंगाल के साथ मद्रास, बंबई तथा अन्य अधि कृत प्रदेशों को भी गवर्नर-जनरल के नियंत्रण में रख दिया गया।

(5) बंगाल का गवर्नर-जनरल, भारत का गवर्नर-जनरल हो गया।

(6) सपरिषद गवर्नर-जनरल को ही भारत के लिए कानून बनाने का अधिकार दिया गया और मद्रास और बंबई की कानून बनाने की शक्ति समाप्त कर दी गयी।

(7) इस अधिनियम द्वारा स्पष्ट कर दिया गया कि कंपनी के प्रदेशों में रहने वाले किसी भारतीय को केवल धर्म, वंश, रंग या जन्म स्थान इत्यादि के आधार पर कंपनी के किसी पद से जिसके वह योग्य हो, वंचित नहीं किया जायेगा।

(8) भारत में दास-प्रथा को गैर-कानूनी घोषित कर दिया तथा गवर्नर-जनरल को निर्देश दिया कि वह भारत के दास प्रथा को समाप्त करने के लिए आवश्यक कदम उठाये (1843 में दास प्रथा उन्मूलन किया गया)।

1853 का चार्टर अधिनियम:

इस अधिनियम में निम्नलिखित प्रावधान थे:

(1) कार्यकारणी परिषद के 'कानून सदस्य' को परिषद का पूर्ण सदस्य बना दिया गया।

(2) निदेशक मण्डल में सदस्यों की संख्या 24 से कम कर 18 कर दी गयी तथा इनमें से 6 सदस्यों को नियुक्त करने का अधिकार ब्रिटिश राजा को प्रदान किया गया। निदेशक मण्डल के सदस्यों के लिए योग्यता विहित की गयी।

(3) बंगाल के लिये पृथक् लेफ्टिनेंट-गवर्नर की नियुक्ति की गयी।

(4) कंपनी के कर्मचारियों की नियुक्ति के लिए प्रतियोंगिता परीक्षा की व्यवस्था की गयी।

(5) कंपनी को भारतीय प्रदेशों को 'जब तक संसद चाहे' तब तक के लिए अपने अधीन रखने की अनुमति दे दी गयी।

(6) गवर्नर जनरल को अपनी परिषद के उपाध्यक्ष की नियुक्ति का अधिकार प्रदान किया गया।

1858 का भारत शासन अधिनियम:

1784 के 'पिट्स इंडिया एक्ट' से नियंत्रण-मण्डल की स्थापना द्वारा क्रमिक कंपनी पर नियंत्रण की जो प्रक्रिया प्रारंभ हुई थी, वह 1853 में पूरी हो गई। 1853 के चार्टर में कंपनी को शासन के लिए चूंकि किसी निश्चित अवधि के लिए प्राधिकृत नहीं किया गया था, इसलिए किसी भी समय सत्ता का हस्तांतरण ब्रिटिश क्राउन को जाने की सम्भावना बनती थी। 1857 की क्रांति ने शासन की असंतोषजनक नीतियां उजागर कर दी थी, जिससे संसद की कंपनी को पदच्युत करने का बहाना मिल गया। इस अधिनियम द्वारा:

(1) भारत का शासन ब्रिटेन की संसद को दे दिया गया।

(2) अब भारत का शासन, ब्रिटिश साम्राज्ञी की ओर से भारत राज्य सचिव को चलाना था, जिसकी सहायता के लिए 15 सदस्यी भारत परिषद का गठन किया गया। अब भारत के शासन से संबंधित सभी कानूनों एवं कार्यवाहियों पर भारत सचिव की स्वीकृति अनिवार्य कर दी गयी।

(3) भारत परिषद के 15 सदस्यों में से 7 सदस्यों की नियुक्ति का अधिकार सम्राट तथा शेष सदस्यों के चयन का अधिकार कंपनी के डायरेक्टरों को दे दिया गया।

(4) अखिल भारतीय सेवाओं तथा अर्थव्यवस्था से संबंद्ध मसलों पर भारत सचिव, भारत परिषद की राय मानने को बाध्य था।

(5) भारत के गवर्नर-जनरल को भारत सचिव की आज्ञा के अनुसार कार्य करने के लिए बाध्य कर दिय गया।

(6) अब गवर्नर-जनरल भारत में क्राउन के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करने लगा तथा उसे 'वायसराय' की उपाधि दी गयी।

(7) संरक्षण-ताज, सपरिषद राज्य सचिव तथा भारतीय अधिकारियों में बंट गया।

(8) अनुबद्ध सिविल सेवा में नियुक्तियों खुली प्रतियोंगिता द्वारा की जाने लगीं।

(9) भारत राज्य सचिव एक निगम निकाया घोषित किया गया, जिस पर इंग्लैण्ड एवं भारत में दायर किया जा सकता था अथवा जो दावा दावा कर सकता था।

भारतीय परिषद अधिनियम, 1861:

इस अधिनियम में यह उपबंध किया गया कि गवर्नर-जनरल की कार्यकारी परिषद् जो अभी तक अनन्य रूप से सरकारी अधि कारियों का एक समूह थी, उस समय जब परिषद विधान परिषद के रूप में विधायी कार्य करेगी, इसमें कुछ गैर-सरकारी सदस्य भी सम्मिलित किए जाएंगे। किन्तु यह परिषद किसी लोक-प्रतिनिधि संस्था से किसी भी रूप में समान न थी। इसमें सदस्य मनोनीत किए जाते थे, जिनका कार्य गवर्नर-जनरल द्वारा उनके समय रखे गए प्रस्तावनों पर केवल विचार-विमर्श करने तक सीमित था। साथ ही ये किसी भी रीति से प्रशासनिक कार्यों की आलोचना का अधि कार नहीं रखते थे।

भारतीय परिषद अधिनियम 1892:

इस इस अधिनियम के निम्नलिखित प्रावधान थे:

(1) भारत सरकार की विधि निर्मात्री संस्था में

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

अतिरिक्त सदस्य 10 से 16 तक। कम-से-कम 40 प्रतिशत सदस्यों का गैर-सरकारी होना जरूरी।

(2) बम्बई, मद्रास, बंगाल की परिषदों में अतिरिक्त सदस्यों की संख्या 8 से लेकर 20 तक। उत्तरी-पश्चिमी प्रांत में 15 सदस्य।

(3) गैर-सरकारी सदस्यों को नियुक्त करने के लिए विशुद्ध नामांकन के स्थान पर सिफारिश के आधार पर नामांकन की पद्धति लागू।

(4) विधि निर्मात्री संस्थाओं को प्रश्न पूछने तथा बजट पर बहस करने का अधिकार सीमित रूप से प्राप्त।

समीक्षा: इस अधिनियम में बहुत सी त्रुटियां थीं, जिनके कारण भारतीय राष्ट्रवादी इससे असंतुष्ट रहे व भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने एक्ट की बार-बार आलोचना की। यह माना गया कि स्थानीय निकायों को चुनाव मण्डल बनाना एक प्रकार से इनके द्वारा मनोनीत करना ही है। विधानमंडलों की शक्यिां भी बहुत ही सीमित थीं। सदस्य अनुपूरक प्रश्न नहीं पूछ सकते थे। किसी प्रश्न का उत्तर देने से इनकार किया जा सकता था। कुछ वर्गों को कोई प्रतिनिधित्व नहीं मिल था तथा कुछ को अत्यधिक। बम्बई में दो स्थान यूरोपीय व्यापारियों को दिए गए, भारतीय व्यापारियों को एक भी नहीं। दो स्थान सिंध को दे दिए गए, पूना और सतारा को एक भी नहीं।

भारतीय परिषद् अधिनियम, 1909 (मार्ले-मिंटो सुधार):

भारत के तत्कालीन सचिव लॉर्ड मॉरले और वाइसराया लार्ड मिंटो के नाम पर प्रतिनिधिक और लोकप्रियता के क्षेत्र में किए गए सुधारों का समावेश 1909 के भारतीय परिषद अधिनियम में किया गया। इस सुधारों को प्रस्तुत करने के पीछे दो घटनायें मुख्य थी। अक्टूबर 1906 में आगा खां के नेतृत्व में एक मुस्लिम प्रतिनिधिमंडल वायसराय लार्ड मिंटों से मिला और मांगा की कि मुसलमानों के लिए पृथक् निर्वाचन प्रणाली की व्यवस्था की जाये तथा मुसलमानों को उनकी जनसंख्या के अनुपात में प्रतिनिधित्व दिया जाये। मुस्लिम लीन ने मुसलमानों को सम्राज्य की प्रति निष्ठा प्रकट करने की शिक्षा दी।

इस अधिनियम के मुख्य प्रावधान निम्नलिखित थे:

(1) इस अधिनियम के अनुसार, केन्द्रीय एवं प्रांतीय परिषदों में निर्वाचित सदस्यों की संख्या में वृद्धि कर दी गयी। प्रांतीय विधान परिषदों में गैर-सरकारी बहुमत स्थापित किया गया। किन्तु गैर-सरकारी सदस्यों में नामांकित एवं बिना चुने सदस्यों की संख्या अधिक थी, जिसके कारण निर्वाचित सदस्यों की तुलना में अभी भी उनकी संख्या बनी रही।

(2) केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा में 60 सदस्य और पदेन होते सदस्य होते थे। इन 69 सदस्यों में से 37 सरकारी अधिकारी और 32 गैर-सरकारी सदस्यों में से 5 नामांकित एवं 27 चुने हुये सदस्य थे। निर्वाचि 27 सदस्यों में 6 हिन्दू जमींदारों द्वारा, 5 मुसलमानों द्वारा, एक मुस्लिम जमींदारों द्वारा, एक बंबई के चैम्बर ऑफ कॉमर्स, एक बंगाल के चैम्बर ऑफ कॉमर्स तथा 13 अन्य प्रांतीय विधान परिषदों द्वारा चुने जाते थे।

(3) सभी निर्वाचित सदस्य प्रत्यक्ष रूप से चुने जाते थे। स्थानीय निकायों से निर्वाचन परिषद का गठन होता था। ये प्रांतीय विधान परिषदों के सदस्यों का निर्वाचन करती थीं। प्रांतीय विधान परिषदों के सदस्य केन्द्रीय व्यवस्थापिका के सदस्यों का निर्वाचन करते थे।

(4) सर्वप्रथम पहली बार पृथक् निर्वाचन का प्रारंभ किया गया। साथ ही मुसलमानों को प्रतिनिधित्व के मामले में विशेष रियायत दी गयी। उन्हें केन्द्रीय एवं प्रांतीय विधान परिषद में जनसंख्या के अनुपात में अधिक प्रतिनिधि भेजने का अधिकार दिया गया।

(5) गवर्नर जनरल की कार्यकारणी में एक भारतीय सदस्य को नियुक्त करने की व्यवस्था की गयी। पहले भारतीय सदस्य के रूप में सत्येंद्र सिन्हा को नियुक्त किया गया।

(6) इस अधिनियम द्वारा विधान परिषदों के विचार-विमर्श के कृत्यों में भी वृद्धि हुई। इससे उन्हें यह अवसर दिया गया कि वे बजट या लोकहित के किसी विषय पर संकल्प प्रस्तावित करके प्रशासन की नीति पर प्रभाव डाल सकें। कुछ विनिर्दिष्ट विषय इसके बाहर थे, जैसे-सशस्त्र बल, विदेश संबंध और देशी रिसासतें।

समीक्षा : इस अधिनियम के अंतर्गत जो चुनाव पद्धति अपनायी गयी, वह इतनी अस्पष्ट थी कि जन-प्रतिनिधित्व प्रणाली एक प्रकार की बहुत-सी छननियों में से छानने की क्रिया बन गयी। कुछ लोग स्थानीय निकायों का चुनाव करते थे, ये सदस्य चुनाव मंडलों का चुनाव करते थे और ये चुनाव मंडल प्रांतीय परिषदों के सदस्यों का चुनाव करते थे। सुधार को कार्यान्वित करते हुए बहुत-सी गड़बड़ियां उत्पन्न हो गयीं। संसदीय प्रणाली तो दे दी गयी परंतु उत्तरदायित्व नहीं दिया गया, जिससे सरकार की विवेकहीन तथा उत्तरदायी प्रक्रिया की आलोचना की जाने लगी।

1909 के सुधारों से जनता को केवल 'नाममात्र' के सुधार ही प्राप्त हुए, वास्तविक रूप से कुछ नहीं। इससे प्रभाव तो मिला पर शक्ति नहीं।

मोंटेग्यू-चेम्सफोर्ड प्रतिवेदन और भारत शासन अधिनियम, 1919:

भारत के तत्कालीन सेक्रेटरी ऑफ स्टेट श्री ई.एस. मोंटेग्यू और गवर्नर-जनरल लार्ड चेम्सफोर्ड को ब्रिटिश भारत में उत्तरदायी सरकार स्थापित करने की 20 अगस्त, 1917 की ब्रिटिश सरकार की घोषणा को कार्यरूप देने का कार्य सौंपा गयास। भारत शासन अधिनियम 1919 में इनकी सिफारिशों को एक विधिक रूप प्रदान किया गया। उक्त अधिनियम में निम्नलिखित व्यवस्थाएं की गई:

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

1. प्रांतीय सरकार : द्वैध-शासन प्रणाली का आरंभ:

(क) कार्यपालिका:

(1) वर्ष 1919 के अधिनियम की सबसे मुख्य विशेषता थी - प्रांतों में उत्तरदायी सरकार की स्थापना के लिये द्वैध शासन व्यवस्था की शुरूआत। इस प्रणाली के जन्मदाता सर लियोनिल कॉर्टिर्श थे, इस व्यवस्था को लार्ड मोंटेग्यू तथा चेम्सफोर्ड ने अपना कर प्रांतीय सरकारों में पूर्ण स्थान दिया। इस प्रणाली के आधार पर प्रांतीय कार्यकारणी परिषद को दो भागों में विभक्त किया गया। पहले भाग में गवर्नर तथा उसकी कार्यकारणी के सदस्य तथा दूसरे भाग में गवर्नर तथा उसके मंत्रीगण थे।

(2) प्रांतीय विषयों को दो भागों में विभाजित किया गया :

(क) आरक्षित विषय, तथा;

(ख) हस्तांतरित विषय।

आरक्षित विषयों में सभी महत्वपूर्ण विषय, जैसे - कानून एवं व्यवस्था, वित्त, भू-राजस्व, सिंचाई, खनिज संसाधन, प्रशासन, उद्योग, कृषि तथा आबकारी इत्यादि सम्मिलित थे। आरक्षित विषयों का शासन गवर्नर अपनी कार्यकारी परिषद के परामर्श से तथा हस्तांतरित विषयों का भारतीय मंत्रियों की परामर्श से करता था।

(3) मंत्री, व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी थे तथा यदि व्यवस्थापिका उनके विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव पारित कर दे, तो उन्हें त्याग-पत्र देना पड़ता था, जबकि गवर्नर की कार्यकारी-परिषद के सदस्य व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी नहीं थे।

(4) प्रांतों में संवैधानिक तंत्र के विफल होने पर गर्वनर राज्य के प्रशासन एवं
हस्तांतरित विषयों का दायित्व अपने ऊपर ले सकता था।

(5) भारत सचिव तथा गवर्नर-जनरल आवश्यकता पड़ने पर 'आरक्षित विषयों' में हस्तक्षेप कर सकते थे, किन्तु 'हस्तांतरित विषयों' में उन्हें हस्तक्षेप करने की शक्ति नहीं थी।

(ख) व्यवस्थापिका:

(1) प्रांतीय व्यवस्थापिका सभाओं की सदस्य संख्या में बहुत वृद्धि कर दी गयी। इन सदस्यों में 70 प्रतिशत सदस्य निर्वाचित सदस्य होते थे।

(2) मताधिकार में वृद्धि कर दी गयी तथा साम्प्रदायिक निर्वाचन पद्धति का और ज्यादा विस्तार कर दिया गया।

(3) महिलाओं को भी वोट देने का अधिकार प्रदान किया गया।

(4) प्रांतीय व्यवस्थापिका सभायें किसी भी प्रस्ताव को प्रस्तुत कर सकती थीं, किन्तु उसे पारित हाने के लिए गवर्नर की सहमति अनिवार्य थी। गवर्नर को प्रस्तावों को
अस्वीकार करने तथा अध्यादेश जारी करने का अधिकार था।

(5) व्यवस्थापिका सभाओं के सदस्य बजट को अस्वीकार कर सकते थे, किन्तु गवर्नर आवश्यक समझे तो सदस्यों की अनुमति के बिना भी उसे पास कर सकता था।

(6) प्रांतीय परिषदों को अब विधान परिषदों की संज्ञा दी गई।

2. केन्द्रीय सरकार : अनुत्तरदायी शासन की व्यवस्था यथावत:

(क) कार्यपालिका:

(1) गवर्नर-जनरल मुख्य कार्यपालिका अधिकारी था।

(2) सभी विषयों को दो भागों में बांटा गया - केन्द्रीय एवं प्रांतीय।

(3) गवर्नर-जनरल की कार्यकारणी के 8 सदस्यों में 3 भारतीय नियुक्त किये गये और उन्हें विधि, शिक्षा, श्रम, स्वास्थ्य तथा उद्योग विभाग सौंप दिए गए।

(4) प्रांतों के 'आरक्षित विषयों' में गवर्नर-जनरल को पूर्ण अधिकार प्राप्त था।

(5) गवर्नर-जनरल को मांगों पर कटौती का अधि कार था। साथ ही वह केन्द्रीय व्यवस्थापिका द्वारा अस्वीकार किये गये प्रस्तावों को पारित कर अध्यादेश जारी कर सकता था।

(ख) व्यवस्थापिका :

(1) केन्द्रीय व्यवस्थापिका को द्विसदनीय संस्था बना दिया गया - केन्द्रीय विधान सभा तथा राज्य परिषद। केन्द्रीय विधान सभा निम्न सदन थी तथा राज्य परिषद उच्च सदन।

केन्द्रीय विधान सभा की सदस्य संख्या 145 थी जिसमें 104 निर्वाचित तथा 41 मनोनीत किये जाने की व्यवस्था थी। 104 निर्वाचित सदस्यों में से- 52 सामान्य, 30 मुसलमान, 2 सिख तथा 20 विशेष सदस्य थे; जबकि उच्च सदन या राज्य परिषद की सदस्य संख्या 60 थी, जिसमें 26 मनोनीत एवं 34 निर्वाचित थे। 34 निर्वाचित सदस्यों में 20 सामान्य, 10 मुसलमान, 3 यूरोपीय और 1 सिख था।

(2) सदस्य प्रश्न पूछ सकते थे, अनुपूरक मांगें प्रस्तुत कर सकते थे, स्थगन प्रस्ताव ला सकते थे तथा बजट को अस्वीकार कर सकते थे। किन्तु अभी भी बजट का 75 प्रतिशत हिस्सा सदस्यों की सहमति के बिना भी पारित किया जा सकता था।

(3) राज्यपरिषद का कार्यकाल 5 वर्ष था केवल पुरुष ही इसके सदस्य बन सकते थे, जबकि केन्द्रीय विधान सभा का कार्यकाल 3 वर्ष था परंतु गवर्नर-जनरल की इच्छा पर बढ़ाया भी जा सकता था।

(4) कुछ भारतीय सदस्यों को सरकार की स्थायी समितियों, जैसे- वित्त समिति अथवा सार्वजनिक लेखा समिति में नियुक्त किया गया।

साइमन आयोग:

भारत में व्याप्त परिस्थितियों की जांच करने और उन पर अपना प्रतिवेदन देने हेतु तत्कालीन ब्रिटिश प्रधानमंत्री बाल्डविन ने

IFS IAS

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

8 नवम्बर, 1927 को सर जॉन साइमन की अध्यक्षता में एक सात सदस्यीय संवैधानिक आयोग की नियुक्ति की। इस आयोग में एक भी भारतीय को सदस्य नहीं बनाया गया था, जिससे भारतीयों ने स्वयं को काफी अपमानित और आहत महसूस किया और सम्पूर्ण देश ने आयोग का एक स्वर में विरोध किया। इसके विरोध में किए गए प्रदर्शन के दौरान पुलिस द्वारा किए गए लाठी चार्ज के फलस्वरूप लाला लाजपत राय की मृत्यु हो गई।

साइमन आयोग ने 1930 में अपनी रिपोर्ट की। इसमें आयोग द्वारा प्रांतों में प्रतिनिधि सरकार की सिफाशि तो की गई थी लेकिन केन्द्र में प्रतिनिधि सरकार की स्थापना की अनिश्चित काल हेतु स्थगित रखा गया था। रिपोर्ट में 1919 के अधिनियम द्वारा लागू द्वैध शासन प्रणाली समाप्त करने की संस्तुति की गई थी।

1935 का भारत सरकार अधिनियम:

भारत में सांविधानिक विकास जो प्रक्रिया 1861 से आरंभ हुई थी, उसका अंतिम चरण 1935 का 'भारत सरकार अधि नियम' था।

ब्रिटिश संसद ने अगस्त 1935 में भारत सरकार अधि नियम, 1935 पारित किया। इस अधिनियम के मुख्य प्रावधान निम्नानुसार थें:

(1) इस अधिनियम के अनुसार, प्रस्तावित संघ में सभी ब्रिटिश भारतीय प्रांतों, मुख्य आयुक्त
के प्रांतों तथा सभी भारतीय प्रांतों का सम्मिलित होना अनिवार्य था किन्तु देशी रियासतों का सम्मिलित होना वैकल्पिक था। इसके लिये दो शर्तें थीं:

(क) रियासत के प्रतिनिधियों में न्यूनतम आधे प्रतिनिधि चुनने वाली रियासतें संघ में
सम्मिलित न हों।

(ख) रियासतों की कुल जनसंख्या में से आधी जनसंख्या वाली रियासतें संघ में सम्मिलित न हों। जिन शर्तों पर इन सभी रियासतों को संघ में सम्मिलित होना था, उनका उल्लेख एक पत्र में किया जाना था। चूंकि ऐसा नहीं हो सका इसलिए यह संघ कभी अस्तित्व में नहीं आया तथा 1946 तक केन्द्र सरकार, भारत सरकार अधिनियम, 1919 के प्रावधानों के अनुसार ही चलती रही।

(2) गवर्नर-जनरल केन्द्र में समस्त संविधान का केन्द्र बिंदू था।

(3) प्रशासन के विषयों को दो भागों में विभक्त किया गया - सुरक्षित एवं हस्तांतरित। सुरक्षित विषयों में विदेशी मामले, रक्षा, जनजातीय, क्षेत्र तथा धार्मिक मामले थे, जिनका प्रशासन गवर्नर-जनरल को कार्यकारी पार्षदों की सलाह पर करना था। कार्यकारी पार्षद, केन्द्रीय व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी नहीं थे। हस्तांतरित विषयों में वे सभी अन्य विषय सम्मिलित थे, जो सुरक्षित विषयों में सम्मिलित नहीं थे। इन विषयों का प्रशासन गवर्नर जनरल को उन मंत्रियों की सलाह से करना, जिनका निर्वाचन व्यवस्थापिका द्वारा किया गया था। ये मंत्री केन्द्रीय व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी थे तथा अविश्वास प्रस्ताव पारित होने पर उन्हें त्याग-पत्र देना अनिवार्य था।

(4) देश की वित्तीय स्थिरता, भारतीय साख की रक्षा, भारत या उसके किसी भाग में शांति की रक्षा, अल्पसंख्यकों, सरकारी सेवकों तथा उनके आश्रितों की रक्षा, अंग्रेजी तथा बर्मी माल के विरूद्ध किसी भेदभाव में उसकी रक्षा, भारतीय राजाओं के हितों एवं सम्मान की रक्षा तथा अपनी निजी विवेकाधीन शक्तियों की रक्षा इत्यादि के संबंध में गवर्नर-जनरल को व्यक्तिगत निर्णय लेने का अधिकार था।

(5) संघीय विधान मंडल (व्यवस्थापिका) द्विसदनीय होना था, जिसमें राज्य परिषद (उच्च सदन) तथा संघीय सभा (निम्न सदन) थी। राज्य परिषद एक स्थायी सदन था, जिसके एक-तिहाई सदस्य प्रत्येक 3 वर्ष के पश्चात् चुने जाने थे। इसकी अधिकत सदस्य संख्या 260 होनी थी, जिसमें 156 प्रांतों के चुने हुए प्रतिनिधि और अधिकतम 104 रियासतों के प्रतिनिधि होने थे, जिन्हें सम्बद्ध राजाओं को मनोनीत करना था। संघीय सभा का कार्यकाल पांच वर्ष होना था। इसके सदस्यों में से 250 प्रांतों के और अधिकाधि 125 सदस्य रियासतों के होने थे। रियासतों के सदस्य सम्बद्ध राजाओं द्वारा मनोनीत किये जाने थे, जबकि ब्रिटिश प्रांतों के सदस्य प्रांतीय विधान परिषदों द्वारा चुने जाने थे।

(6) यह एक अत्यंत विचित्र व्यवस्था थी तथा साधारण प्रचलन के विपरीत थी कि उच्च
सदन के सदस्यों का चुनाव सीधे मतदाताओं द्वारा किया जाये तथा निम्न सदन, जो ज्यादा महत्वपूर्ण था, सदस्यों का का चुनाव अप्रत्यक्ष तरीके से हो।

(7) इसी प्रकार राजाओं को उच्च सदन के 40 प्रतिशत तथा निम्न सदन के 33 प्रतिशत सदस्य मानोनीत करने थे।

(8) समस्त विषयों का बंटवारा तीन सूचियों में किया गया -केन्द्रीय सूची, राज्य सूची तथा समवर्ती सूची।

(9) संघीय बजट का 75 प्रतिशत भाग ऐसा था, जिस पर विधानमंडल मताधिकार का प्रयोग नहीं कर सकता था।

(10) प्रांतों को स्वायत्तता प्रदान कर दी गयी।

(11) प्रांतों को स्वायत्तता एवं पृथक विधिक पहचान बनाने का अधिकार दिया गया।

(12) प्रांतों को भारत सचिव एवं गवर्नर-जनरल के 'आलाकमान वाले आदेशों' से मुक्त कर दिया गया। इस प्रकार अब वे प्रत्यक्ष और सीधे तौर पर ब्रिटिश क्राउन के अधीन आ गये।

(13) प्रांतों को स्वतंत्र आर्थिक शक्तियों एवं संसाध न दिये गये। प्रांतीय सरकारें अपनी स्वयं की साख पर धन उधार ले सकती थीं।

(14) गवर्नर प्रांत में ताज का मनोनीत प्रतिनिधि होता था, जो महामहिम ताज (Crown) की ओर से समस्त कार्यों का

GENIUS IAS

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

संचालन एवं नियंत्रण करता था।

(15) गवर्नर को अल्पसंख्यकों, लोक सेवकों के अधिकार, कानून एवं व्यवस्था, ब्रिटेन के व्यापारिक हितों तथा देशी रियासतों इत्यादि के संबंध में विशेष शक्तियां प्राप्त थीं।

(16) यदि गवर्नर यह अनुभव करे कि प्रांत का प्रशासन संवैधानिक उपबंधों के अनुरूप नहीं चलाया जा रहा है तो प्रशासन का भार वह अपने हाथों में ले सकता था।

(17) साम्प्रदायिक तथा अन्य वर्गों को पृथक् प्रतिनिधित्व दिय गया। अधिनियम के मतदाता मंडलों का निर्धारण साम्प्रदायिक निर्णय तथा पूना समझौते के अनुसार किया गया।

(18) प्रांतीय विधानमंडलों का आकार तथा रचना विभिन्न प्रांतों में भिन्न-भिन्न थी। अधिकांश प्रांतों में यह एक सदनीय तथा कुछ प्रांतों में यह द्विसदनीय थी। द्विसदनीय व्यवस्था में उच्च सदन-विधानपरिषद तथा निम्न सदन-विधान सभा थी।

(19) सभी सदस्यों का निर्वाचन सीधे तौर पर होता था। मताधिकार में वृद्धि की गयी पुरुषों के समान महिलाओं को भी मताधिकार प्रदान किया गया।

(20) सभी प्रांतीय विषयों का संचालन मंत्रियों द्वारा किया जाता था। ये सभी मंत्री एक प्रमुख (मुख्यमंत्री) के अधीन कार्य करते थे।

(21) मंत्री अपने विभाग के कार्यों के प्रति जवाबदेह थे तथा व्यवस्थापिका में उनके विरूद्ध मतदान कर उन्हें हटाया जा सकता था।

मूल्यांकन : संघ बनाने की योजना को कार्यान्वित नहीं किया जा सका और केन्द्रीय सरकार 1919 के अधिनियम के अनुसार ही चलती रही। फिर भी संघीय बैंक और संघीय न्यायालय क्रमशः 1935 तथा 1937 में स्थापित कर दिए गए और प्रांतीय स्वायत्तता 1 अप्रैल 1937 को अस्तित्व में आई।

अगस्त प्रस्तावः

अक्टूबर-नम्बर 1939 में प्रांतीय मंत्रिमंडलों ने त्यागपत्र दे दिया और इसके बाद भी कांग्रेस ने ब्रिटिश सरकार की ओर दोस्ती का हाथ बढ़ाया और केन्द्र में एक राष्ट्रीय सरकार की स्थापना की मांग को अंग्रेजों के समक्ष रखा, परंतु ब्रिटिश सरकार ने इस मांग की अवेहलना कर दी। भारतीयों की मांग की जगह लॉर्ड लिनिलिथिगो ने 8 अगस्त 1940 को एक प्रस्ताव रखा, जो 'अगस्त प्रस्ताव' के नाम से जाना जाता है। इस प्रस्ताव में निम्न प्रावधान थेः

(क) भारत के लिये डोमिनियन स्टेट्स मुख्य लक्ष्य।

(ख) भारतीयों को सम्मिलित कर युद्ध सलाहकार परिषद की स्थापना।

(ग) वायसराय की कार्यकारणी परिषद का विस्तार।

(घ) युद्ध के पश्चात् संविधान सभा का गठन किया जायेगा, जिसमें मुख्यतया भारतीय अपने सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक धारणाओं के अनुरूप संविधान के निर्माण की रूपरेखा सुनिश्चित करेंगे। संविधान ऐसा होगा कि रक्षा, अल्पसंख्यकों के हित, राज्यों से संधियां तथा अखिल भारतीय सेवायें इत्यादि मुद्दों पर भारतीयों के अधिकार का पूर्ण ध्यान रखा जायेगा।

(ङ) अल्पसंख्कों को आश्वस्त किया गया कि सरकार ऐसी किसी संस्था को शासन नहीं सौंपेगी, जिसके विरूद्ध सशक्त मत हो।

(च) उक्त आधारों पर भारतीय, सरकार को सहयोग प्रदान करेंगे।

वायसराय लॉर्ड लिनलिथगो को यह प्रस्ताव भारतीयों में भ्रामक स्थिति पैदा करने वाला था। इस प्रस्ताव द्वारा द्वितीय विश्वयुद्ध में भारतीयों का समर्थन प्राप्त करने की कोशिश की जा रही थी और उसके द्वारा भारतीयों में साम्प्रदायिकता का जहर घोला जा रहा था। इसलिए, कांग्रेस ने इस प्रस्ताव को अस्वीकृत कर दिया। मुस्लिम लीन ने भी इस प्रस्ताव का विरोध किया, क्योंकि इस प्रस्ताव में पृथक पाकिस्तान को स्वीकृति नहीं दी गई थी।

क्रिप्स मिशन :

जब द्वितीय महायुद्ध निर्णायक दौर से गुजर रहा था और जापन भारत के द्वार तक पहुंच गया तब मार्च 1942 में ब्रिटिश सरकार ने प्रस्तावों की घोषणा के प्रारूप के साथ कैबिनेट मंत्री सर स्टेफोर्ड क्रिप्स को भारत भेजा।

सर क्रिप्स द्वारा प्रस्तुत किए गए मुख्य प्रस्ताव इस प्रकार थेः

(1) भारत के संविधान की रचना भारत के लोगों द्वारा निर्वाचित संविधान सभा करेगी।

(2) संविधान भारत को डोमिनियन प्रास्थिति और ब्रिटिश राष्ट्रकुल में बराबरी की भागीदारी देगा।

(3) सभी प्रांतों और देशी रियासतों को मिलाकर एक संघ बनेगा।

(4) कोई प्रांत या देशी रियासत जो संविधान को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हो तो तत्समय विद्यमान अपनी संवैधानिक बनाए रखने के लिए स्वतंत्र होगा और इस प्रकार सम्मिलित न होने वाले प्रांतों से ब्रिटिश अलग संवैधानिक व्यवस्था कर सकेगी।

किन्तु इन प्रस्तावों को दोनों राजनीतिक दलों ने अस्वीकार कर दिया। मुस्लिम लीग ने इन प्रस्तावों को इसलिए अस्वीकार कर दिया क्योंकि देश का साम्प्रदायिक आधार पर विभाजन करने की उसकी मांग को नामंजूर कर दिया गया था। इधर कांग्रेस ने इन प्रस्तावों को मानने से इसलिए अस्वीकार किया क्योंकि इसमें भारत को छोटे-छोटे टुकड़ों में बांटने के संभावनाओं के लिए द्वार खोल दिया गया था और युद्ध के दौरान भारतयीयों प्रतिनिधियों को वास्तव में प्रभावी सत्ता का हस्तांतरण करने का कोई प्रावधान नहीं किया गया था। इस प्रकार क्रिप्स मिशन पूर्णतः असफल हो गया।

राजगोपालचारी फॉर्मूला, 1944:

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

राजगोपालचारी द्वारा कांग्रेस एवं मुस्लिम लीग के बीच सहयोग बढ़ाने के लिए 10 जुलाई 1944 को एक प्रस्ताव प्रस्तुत किया गया, जिसे 'राजगोपालचारी फॉर्मूला' के नाम से जाना जाता है। यह फॉर्मूला अप्रत्यक्ष रूप से पृथक पाकिस्तान की आवधारणा पर आधारित प्रस्ताव था।

इस प्रस्ताव की मुख्य विशेषताएं इस प्रकार थीं:

(1) मुस्लिम लीग भारतीय स्वतंत्रता की मांग का समर्थन करे।

(2) प्रांतों में अस्थायी सरकारों की स्थापना के कार्य में मुस्लिम लीग कांग्रेस के साथ सहयोग करे।

(3) युद्ध की समाप्ति के उपरांत एक कमीशन द्वारा उत्तरी-पूर्वी तथा-पश्चिमी भारत में उन क्षेत्रों को निर्धारित किया जाए, जिसमें मुसलमान स्पष्ट बहुमत में हैं। उन क्षेत्रों में जनमत

सर्वेक्षण कराया जाए तथा उसके आधार पर यह निश्चित किया जाए कि वे भारत से पृथक होना चाहते हैं या नहीं।

(4) देश के विभाजन की स्थिति में आवश्यक विषयों-प्रतिरक्षा, वाणिज्य, संचार तथा आवागमन इत्यादि के संबंध में दोनों राष्ट्रों के मध्य कोई संयुक्त समझौता किया जाये।

(5) ये बातें उस स्थिति में स्वीकृत होंगी, जब ब्रिटेन भारत को पूरी तरह से स्वतंत्र घोषित कर देगा।

इस प्रस्ताव को भी मुस्लिम लीग ने अस्वीकार कर दिया। हिन्दू नेताओं ने भी इसकी तीव्र आलोचना की। अंततः यह फॉर्मूला भी असफल साबित हुआ।

वेवल योजना:

द्वितीय विश्व-युद्ध में ब्रिटेन तथा उसके सहयोगी देशों में विजयी घोषित किए जाने के उपरांत भारत के तात्कालीन वायसराय लॉर्ड वेवल द्वारा 25 जून 1945 को शिमला में भारतीय नेताओं का एक सम्मेलन आयोजित किया गया। शिमला सम्मेलन में वेवल द्वारा एक प्रस्ताव प्रस्तुत किया गया। इस प्रस्ताव में कहा गया कि जब तक भारतीय स्वयं अपना संविधान नहीं बना लेते तब तक अंतरिम व्यवस्था के रूप में 'अधिशासी परिषद' का भारतीयकरण कर दिया जाएगा। किन्तु इसमें भारतीय राजनेताओं को, मुसलमानों तथा स्वर्ण हिन्दुओं के बीच समानता के आधार पर प्रतिनिधित्व दिया जाएगा तथा उसमें दलित वर्गों एवं सिखों का एक-एक प्रतिनिधि होगा। गवर्नर जनरल तथा सेनाध्यक्ष के अतिरिक्त सभी पद भारतीयों को सौंपी जाएंगे।

मुस्लिम लीग ने इस प्रस्ताव को अस्वीकृत कर दिया क्योंकि इसमें विभाजन के लिए कोई स्पष्ट प्रावधान नहीं किया गया था। कांग्रेस ने भी इस प्रस्ताव को ठुकरा दिया क्योंकि इसमें हिन्दुओं और मुसलमानों के प्रतिनिधित्व का अनुपात समान था। अंततः वार्ता विफल रही।

कैबिनेट मिशन: वेवेल योजना के विफल हो जाने के पश्चात् फरवरी 1946 में ब्रिटेन के प्रधानमंत्री एटली ने भारत में राजनीतिक गतिरोध दूर करने हेतु एक तीन सदस्यीय उच्चस्तरीय शिष्टमंडल भेजने की घोषणा की। इस शिष्टमण्डल में ब्रिटिश कैबिनेट के तीन सदस्य थे - लॉर्ड पैथिक लॉरेंस (भारत सचिव), सर स्टैफर्ड क्रिप्स (व्यापार बोर्ड के अध्यक्ष) तथा ए.वी. अलेक्जेंडर (एडमिरैलिटी के प्रथम लॉर्ड अथवा नौसेना मंत्री)। इस मिशन को विशिष्ट अधिकार दिए गए थे तथा इसका कार्य भारत को शांतिपूर्ण सत्ता हस्तांतरण हेतु उपायों एवं सम्भावनाओं की तलाश करना था। कैबिनेट मिशन मार्च 1946 से मई 1946 तक भारत में रहा।
कैबिनेट मिशन के प्रस्ताव इस प्रकार थे :

(1) ब्रिटिश भारत और देशी रियासतों को मिलाकर एक भारतीय संघ का गठन किया जाएगा। संघ के पास तीन विभाग होंगे- विदेश, रक्षा और संचार। इन विभागों के लिए धन जुटाने का अधिकार संघ को होगा।

(2) संघ की एक कार्यपालिका तथा विधायिका होगी जिसमें ब्रिटिश भारत तथा देशी रियासतों के प्रतिनिधि होंगे।

(3) संघ से संबंधित विषयों के अतिरिक्त सभी विषय तथा सभी अवशिष्ट अधिकार प्रांतों में निहित होंगे।

(4) प्रांतों को कार्यपालिका तथा विधायिका के साथ समूह बनाने की छूट होगी और प्रत्येक समूह सर्वसामान्य प्रांतीय विषयों का निर्धारण कर सकता है।

(5) सभी दलों की सहायता से जल्द ही एक अंतरिम सरकार की स्थापना की जाएगी, जिसमें सभी विभाग भारतीय नेताओं के पास रहेंगे।

(6) देश का संविधान बनाने के लिए एक संविधान सभा का गठन किया जाएगा।

(7) संघ तथा समूहों के संविधानों में एक ऐसी व्यवस्था होगी जिसके द्वारा कोई भी प्रांत अपनी विधान सभा के बहुमत से 10 वर्ष की प्रारंभिक अवधि के बाद और उसके पश्चात् प्रत्येक दस वर्ष के अंतराल में संविधान की शर्तों पर पुनर्विचार करने के लिए कह सके।

कैबिनेट मिशन ने इस बात को स्पष्ट कर दिया कि इसका उद्देश्य किसी संविधान का विवरण निर्धारित करना नहीं है बल्कि उस तंत्र को सक्रिय बनाना है, जिसके द्वारा भारतीयों के लिए संविधान तय किया जा सके।

एटली की घोषणा (20 फरवरी 1947):

20 फरवरी, 1947 को ब्रिटेन के प्रधानमंत्री क्लीमेंट एटली द्वारा की गयी घोषणा के मुख्य तथ्य हैं:

(1) अंग्रेज सरकार 30 जून 1948 तक भारतवासियों को सत्ता सौंप देगी।

(2) यदि इस तिथि तक संविधान नहीं बन सका तो उस स्थिति में ब्रिटिश सम्राट की सरकार
यह विचार करेगी कि निश्चित तिथि को ब्रिटिश शासित भारत की केन्द्रीय सरकार की सत्ता किसकों सौंपी जाये। क्या ब्रिटिश भारत की केन्द्रीय सरकार के किसी रूप को अथवा कुछ भागों में वर्तमान प्रांतीय सरकारों को अथव किसी अन्य ढंग से जो सर्वाधिक न्यायसंगत एवं भारतीयों के सर्वाधिक हित में हो, सत्ता दी जाये?

(3) लार्ड वैवेल के स्थान पर लार्ड माउंटबेटन को

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

भारत का नया वायसराय नियुक्त किया गया।

एटली की उपर्युक्त घोषणा में पाकिस्तान के निर्माण का भाव निहित था। साथ ही यह घोषणा राज्यों के बाल्कनीकरण एवं क्रिप्स प्रस्तावों के समर्थन का आभास दे रही थी।

भारतीयों को सत्ता हस्तांतरण हेतु तिथि का निर्धारण क्यों?:

(1) सरकार को आशा थी कि सत्ता हस्तांतरण के लिये तिथि निर्धारित करने पर भारत के राजनीतिक दल मुख्य समस्या के समाधान हेतु सहमत हो जाएंगे।

(2) सरकार तत्कालीन संवैधानिक संकट को टालना चाहती थी।

(3) सरकार इस बात को स्वीकार कर चुकी थी कि भारत से उसकी वापसी तथा भारतवासियों को सत्ता हस्तांतरण अपरिहार्य हो चुका है।

कांग्रेस की प्रतिक्रिया : कांग्रेस स्वायत्तशासी उपनिवेशों को सत्ता हस्तांतरित करने की योजना को इसलिये स्वीकार कर लिया क्योंकि इससे भारत के अधिक विखंडित होने की संभावना समाप्त हो गयी। इस योजना में प्रांतों एवं देशी रियासतों को अलग से स्वतंत्रता देने का कोई प्रावधान नहीं था। साथ ही तत्कालीन प्रांतीय व्यवस्थापिकायें स्वयं अपने क्षेत्रों के लिये संविधान का निर्माण कर सकती थीं तथा इससे गतिरोध को समाप्त करने में मदद मिलने की उम्मीद थी।

लेकिन शीघ्र ही मुस्लिम लीग के प्रयासों से कांग्रेस की यह उम्मीद धूल-धूसरित हो गयी। लीग ने पंजाब की गठबंधन सरकार के विरूद्ध आंदोलन प्रारंभ कर दिया तथा समझौते की संभावनाएं नगण्य दिखने लगीं।

कांग्रेस द्वारा संविधान सभा में शामिल होने तथा मुस्लिम लीग द्वारा अपनी स्वीकृति वापस ले लेने के कारण वायसराय ने लीग के प्रतिनिधित्व के बिन ही कार्यकारणी समिति का गठन कर लिया। वायसराय द्वारा उठाए गए इस कदम को अनुचित बताते हुए मुस्लिम लीग ने विरोध स्वरूप 16 अगस्त 1946 को 'प्रत्यक्ष कार्रवाई दिवस' का आह्वान किया।

अंतरिम सरकार का गठन:

24 अगस्त 1946 को अंतरिम राष्ट्रीय सरकार के गठन की घोषणा की गई। इसमें पंडित जवाहर लाल नेहरू, सरदार बल्लभाई पटेल, डॉ. राजेन्द्र प्रसाद, आसफ अली, शरतचन्द्र बोस, डॉ. जॉन मथाई, सर शराफत अहमद खां, जगजीवन राम, सरदार बलदेव सिंह, सैयद अली जहीर, सी. राजगोपालचारी और डॉ. सी. ए. भाभा शामिल किये गये।

जवाहर लाल के नेतृत्व में उनके ग्यारह सहयोगियों के साथ 2 सितम्बर 1946 को अंतरिम सरकार का गठन किया गया। इसमें मुस्लिम लीग के सदस्य शामिल नहीं हुए। हालांकि उनके शामिल होने के लिए विकल्प खुला रखा गया था। अंतत: 26 अक्टूबर 1946 को जब सरकार का पुनर्गठन किया गया तब मुस्लिम लीग के पांच प्रतिनिधियों को शामिल करके आरंभ में लिए गए तीन सदस्यों - सैयद अली जहीर, शरतचंद्र और बोस और सर शफात अहमद खां को परिषद से बाहर कर दिया गया।

अंतरिम सरकार में शामिल होने के बावजूद भी मुस्लिम लीग ने 'संविधान सभा' में शामिल होने से इंकार कर दिया। मुस्लिम लीग की अनुपस्थिति में ही 11 दिसम्बर 1946 को डॉ. राजेन्द्र प्रसाद की अध्यक्षता में संविधान सभा का गठन कर दिया गया। मुस्लिम लीग ने इस संविधान सभा का विरोध किया और अलग पाकिस्तान की मांग और अधिक प्रखर रूप में रखा।

राजनीतिक गतिरोध को दूर करने के लिए ब्रिटिश प्रधानमंत्री एटली ने 20 फरवरी 1947 को एक ऐतिहासिक घोषणा करते हुए कहा कि भारतीय राजनैतिक दलों के आपसी मतभेद, संविधान सभा के कार्य में योजनाबद्ध तरीके के बाधा डालते हैं। इस राजनीतिक अनिश्चिता को देखते हुए जून 1948 तक राजसत्ता भारत के जिम्मेदार लोगों को सौंप दी जाएगी।

माउंटबेटन योजना:

देश में सांप्रदायिक हिंसा और गृह युद्ध की स्थिति की तीव्रता को देखते हुए 3 जून, 1947 को भारत के तत्कालीन वायसराय लार्ड लुई माउंटबेटन की अध्यक्षता में भारत और पाकिस्तान के बीच बंटवारे के प्रश्न पर कांग्रेस और मुस्लिम लीग के नेताओं के साथ एक योजना तैयार की गयी, जिसे 'माउंटबेटन योजना' के नाम से जाना जाता है।

इस योजना के अंतर्गत हस्तांतरण प्रक्रिया को सुगम बनाने तथा दोनों मुख्य सम्प्रदायों का समायोजन करने के लिए देश को दो भागों भारत और पाकिस्तान, में विभाजित करने का परामर्श दिया गया।

योजना की मुख्य बातें इस प्रकार हैं: बंगाल और पंजाब की प्रांतीय विधान सभाओं को यह कहा जाए कि वे दो भागों में शेष प्रांत के। दोनों भागों के सदस्य पृथक् रूप से बैठकर इस बात के लिए मतदान देंगे कि क्या उस प्रांत का विभाजन किया जाए। यदि दोनों में सौदे बहुमत से विभाजन के पक्ष में निर्णय होता है तो प्रत्येक विधान सभा का वह भाग उन क्षेत्रों के बारे में जिनका वह प्रतिनिधित्व करता है यह निर्णय करेगा कि क्या वह विद्यमान संविधान सभा में सम्मिलित होगा या पृथक् संविधान सभा में।

उपर्युक्त योजना के अनुसार दोनों प्रांतों (पश्चिम पंजाब और पूर्वी बंगाल) के मुस्लिम बहुमत वाले क्षेत्रों के प्रतिनिधियों ने विभाजन और नए पाकिस्तान में शामिल होने के पक्ष में मतदान किया। पश्चिमी-सीमा प्रांत और सिलहट में जनमत पाकिस्तान के पक्ष में गया। 26 जुलाई, 1947 को माउंटबेटन ने पाकिस्तान के लिए अलग संविधान सभा की स्थापना की घोषणा की।

भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम, 1947:

माउंटबेटन की 3 जून 1947 की योजना पर दोनों समुदायों द्वारा सहमति प्रदान करने के उपरांत ब्रिटिश संसद ने उक्त योजना के आधार पर भारतीय स्वतंत्रता विधेयक का प्रारूप तैयार किया और इस विधेयक को ब्रिटिश संसद द्वारा बहुमत से पारित

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

करके भारतीय स्वतंतत्रता अधिनियम 1947 के नाम से स्थापित किया गया। 18 जुलाई 1947 को इस अधिनियम पर सम्राट द्वारा स्वीकृति प्रदान की गई।

माउंटबेटन योजना के आधार पर, ब्रिटिश संसद द्वारा पारित किये गये भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम 1947 के मुख्य प्रस्ताव अग्रलिखित हैं:

(1) इस अधिनियम में यह उपबंध किया गया है कि 15 अगस्त 1947 से दो स्वतंत्र
डोमिनियन स्थापित किए जाएंगे, जो भारत और पाकिस्तान के नाम से जाने जाएंगे।

(2) बंगाल तथा पंजाब के दो-दो प्रांत बनाए जाने का प्रस्ताव किया गया। पाकिस्तान को
मिलने वाले क्षेत्रों को छोड़कर ब्रिटिश भारत में सम्मिलित सभी प्रांत भारत में सम्मिलित माने गए।

(3) पूर्वी बंगाल, पश्चिमी पंजाब, सिंध और असम का सिलहट जिला पाकिस्तान में सम्मिलित होना था।

(4) भारत में महामहिम की सरकार का उत्तरदायित्व तथा भारतीय रियासतों पर महामहिम का अधिराजस्व 15 अगस्त 1947 को समाप्त हो जाएगा।

(5) प्रत्येक डोमिनियन के लिए पृथक् गवर्नर जनरल होगा और उसे महामहिम द्वार नियुक्त किया जाएगा, जो डोमिनियन की सरकार के प्रयोजनों के लिए महामहिम का प्रतिनिधत्व करेगा।

(6) भारत तथा पाकिस्तान के विधानमंडलों को कुछ विषयों पर कानून बनाने का पूर्ण
अधिकार होगा तथा इसमें ब्रिटिश संसद को हस्तक्षेप नहीं कर सकेगी।

(7) भारत सरकार अधिनिमय 1935 तब तक इन दोनों डोमिनियन राज्यों का शासन चलाने में सहायता देगा, जब तक कि नये संविधान दोनों राज्यों द्वारा अपना नहीं लिये जाते।

अनिवार्यता के अनुसार अधिनियम के परिवर्तन भी किया जा सकता है लेकिन इसके लिए गवर्नर-जनरल की स्वीकृति आवश्यक होगी।

(8) उन समस्त संधियों एवं अनुबंधों को रद्द कर दिया जाएगा जो महामहिम की सरकार तथा भारतीय राजाओं के मध्य हुए थे। शाही उपाधि से 'भारत का सम्राट' शब्द समाप्त हो जाएगा।

(9) भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम को क्रियान्वित करने के लिए गवर्नर-जनरल को अस्थायी आदेश जारी करने का अधिकार प्रदान किया गया।

(10) अंतत: इसमें 'सेक्रेटरी ऑफ स्टेट' की सेवाओं तथा भारतीय सशस्त्र बल, ब्रिटिश स्थल सेना, नौसेना और वायु सेना पर महामहिम की सरकार का अधिकार क्षेत्र अथवाप्राधिकार जारी रहने की शर्तें निर्दिष्ट की गई थीं।

इस प्रकार, भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम, 1947 के अनुसार, 14-15 अगस्त को पाकिस्तान तथा भारत दो डोमिनियनों का गठन कर दिया गया।

IAS

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

संविधान की विशेषता (प्रकृति)

संविधान की प्रकृति का आशय इस बात से है कि, संविधान के प्रावधान एकात्मक राज्य की स्थापना करते हैं या संघात्मक राज्य की। एकात्मक राज्या या शासन, शासन का वह स्वरूप है जिसमें शासन की समस्त शक्तियां एक केन्द्र में निहित होती हैं और इन शक्तियों की आवश्यकता पड़ने पर, प्रशासनिक सुविधा की दृष्टि से कानून के द्वारा किसी भी प्रकार (या तो केन्द्र द्वारा स्वयं या भौगोलिक क्षेत्रों में बंटे हुए प्रशासनिक विभागों द्वारा) प्रयोग किया जा सकता है। संघात्मक शासन में राज्य को संवैधानिक में ही यह लिख दिया जाता है कि, किन विषयों पर कानून का निर्माण केन्द्र करेगा और किन विषयों पर राज्य कानून बनाऐंगे। इसे हम 'शक्तियों का विभाजन' (Division of power) कहते हैं।

प्राचीन भारत में लगभग सभी राज्य, कुछ को छोड़कर, एकात्मक थे, फिर सल्तनत और मुगलकाल में भी एकात्मक शासन की प्रवृतियां ही प्रचलित रहीं। अंग्रेजों ने प्रथम बार प्रशासन की सुविधा की दृष्टि से गवर्नर-जनरल के शासन और गवर्नर के शासन की संकल्पना प्रस्तुत कर संघात्मक शासन का आरंभ किया। क्रिप्स मिशन (1942 ई.) तथा कैबिनेट मिशन (1946 ई.) ने जो सिफारिश की उसमें भी भारत में संघात्मक शासन प्रणाली लागू करने की बात कही गई थी। क्षेत्रीय आवश्यकताओं, सांस्कृतिक विविधताओं तथा ऐतिहासिक अनुभवों को ध्यान में रखकर भारत में संविधान बनाते समय, संबिधान के प्रथम अनुच्छेद में ही यह स्पष्ट कर दिया गया कि, 'इंडिया अर्थात् भारत राज्यों का एक संघ होगा।' राज्यों के संघ' शब्द के लिए हमनें संविधान में 'Union of States' शब्द का प्रयोग अंग्रेजी में किया है, 'Federation' शब्द का नहीं। 'यूनियन ऑफ स्टेट्स' शब्दावली 'फेडरेशन' से भिन्न अर्थ रखती है, जिसे संविधान में रखने के कारणों को डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने इस प्रकार स्पष्ट किया है:

1. भारत संघ, का निर्माण इकाई राज्यों के बीच हुए किसी समझौते से नहीं हुआ है और
2. भारत संघ से कोई भी इकाई राज्य पृथक नहीं हो सकता।

अनेक विद्वानों ने 'संघ' शब्द को अपने-अपने ढंग से परिभषित किया है। किसी एक परिभाषा पर सर्वस्वीकृति का अभाव है। अधिकांश विद्वान अमेरिका के संविधान को 'संघ' का एक आदर्श प्रतिरूप मानकर चलते हैं, जबकि हमें लिविंगस्टोन की यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि, 'संघ एक कृत्यआधारित संकल्पना है, न कि संस्था आधारित, और कोई भी सिद्धांत जो यह कहता है कि, कुछ ऐसे अनिवार्य लक्षण हैं, जिनके बिना कोई राजनीतिक प्रणाली संघ नहीं हो सकती, तो वह इस तथ्य की उपेक्षा करता है कि, विभिन्न सामाजिक और सांस्कृतिक पर्यावरण में संस्थाएं एक जैसी नहीं हो सकती।'' संघात्मक शासन का सर्वस्वीकृत परिभाषा के अभाव के बावजूद भी संघात्मक शासन के लक्षणों के मुद्दे पर एक आम सहमति पाई जाती है। ये लक्षण इस प्रकार हैं:

1. दोहरा शासन
2. लिखित संविधान और उसकी सर्वोच्चता
3. शक्तियों का विभाजन
4. स्वतंत्र एवं निष्पक्ष सर्वोच्च न्यायालय
5. केन्द्रीय व्यवस्थापिका के द्वितीय सदन में राज्यों का प्रतिनिधित्व
6. संविधान-संशोधन में राज्यों की सहभागिता।

1. दोहरा शासन:

संघात्मक शासन में सत्ता के दो स्तर या सोपान होते हैं, एक-राष्ट्रीय या केन्द्रीय सत्ता/शासन और दो-स्थानीय या इकाई राज्य द्वारा शासन। चूंकि संघात्मक राज्य दो या दो से अधिक इकाई राज्यों के पारस्परिक सम्मिलन से बनता है, अत: समझौता के बाद एक केन्द्रीय सत्ता का निर्माण होता है जिसमें विधिक सम्प्रभुता निवास करती है और दूसरी ओर इकाई राज्य भी अपनी सत्ता बनाए रखते हैं, इसी केन्द्रीय सत्ता के अधीन। जनता पर दोहरा शासन होता है केन्द्र और इकाई राज्य, दोनों का।

भारत का संविधान भी दोहरी सरकारों की स्थापना करता है। भारत का नागरिक एक ओर तो भारत सरकार के नियंत्रणाधीन है तो दूसरी ओर उसे उस राज्य की सरकार के आदेशों का भी पालन करना पड़ता है जिस राज्य में वह रहा हो। संविधान का अनु. 1 कहता है कि, 'भारत राज्यों का एक संघ होगा अर्थात् हमारे यहां इकाई राज्य और संघ दोनों पृथक किन्तु स्वतंत्र सत्ता रखते हैं और दोनों की शक्तियों का स्रोत भारत का संविधान है। नागरिक दोनों के ही अधीन हैं।

(2) लिखित संविधान और उसकी सर्वोच्चता:

संघात्मक शासन के लिए लिखित संविधान का होना अनिवार्य है, क्योंकि संघ और इकाई राज्य दोनों अपनी सत्ता संविध ान से ही प्राप्त करते हैं। संघ किन शर्तों पर बना है, केन्द्रीय सत्ता और इकाई राज्यों का सत्ता के पास कौन-कौन से अधिकार व शक्तियां होंगी, संसद की शक्तियां क्या होंगी, न्यायपालिका किन शक्तियों का प्रयोग करेगी आदि बातें संविधान में लिख दी जाती हैं। संघात्मक शासन में संविधान देश की सर्वोच्च विधि होता है, जिसका उल्लंघन कोई नहीं कर सकता। यह शासन की सभी शक्तियों को स्रोत होता है, कोई भी विधि संविधान सम्मत न होने पर अवैध घोषित कर दी जाएगी।

भारत का संविधान भी इन उपरोक्त कसौटियों पर खरा उतरता है। व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका तथा भारत की आम जनता सभी अपने अधिकार तथा शक्तियां देश के संविधान से ही प्राप्त करते हैं। संविधान देश के लोकतांत्रिक जीवन की दशा-दिशा तय करता है।

FIRST IAS

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

(3) शक्तियों का विभाजन:

संघात्मक शासन में केन्द्रीय सत्ता और इकाई राज्यों की सत्ता के बीच इस बात का समझौता या सहमति होती है कि, वे किन-किन अधिकारों और शक्तियों का प्रयोग करेंगे अर्थात् किन-किन विषयों पर वे कानून बनाएंगे, इसे ही शक्तियों का विभाजन कहते हैं। संविधान में ही उन विषयों का वर्णन कर दिया जाता है जिन पर केन्द्र व इकाई राज्य कानून बनाएंगे।

भारत के संविधान में भी इस बात का स्पष्ट उल्लेख है कि, संघ और राज्य किन-किन विषयों पर कानून बनाएंगे। भारतीय संविधान की 8वीं अनुसूची शक्तियों के विभाजन से ही संबंधित है। इस अनुसूची में शक्तियों का जिस प्रकार वितरण किया गया है, वह कनाडा के संविधान से मिलता-जुलता है, वस्तुत: हमारी संघात्मक व्यवस्था ब्रिटिश नॉर्थ अमेरिका ऐक्ट (कनाडा) से ही प्रेरित है। संविधान में संघ, राज्य, समवर्ती और अवशिष्ट शक्तियों के अंतर्गत संघीय व्यवस्था से सम्बद्ध सभी विषयों का वर्गीकरण किया गया है।

संघी सूची में 97 विषय हैं। ये सभी राष्ट्रीय महत्व हैं अर्थात् इन 97 विषयों पर कानून निर्माण केन्द्रीय सरकार द्वारा किया जाएगा और संसद कानून निर्मात्री संस्था की भूमिका निभाएगी। मुद्रा, बैंकिंग, विदेश, जहाजरानी, उड्डयन, प्रतिरक्षा, रेलवे, परमाणु ऊर्जा, दूरसंचार, आयकर तथा विदेशी ऋण आदि इस विषय के अंतर्गत आते हैं। संघ सूची के अंतर्गत वे सारे विषय आते हैं जिनके लिए 'संघ राज्य' का वास्तव में अस्तित्व होता है और जो 'सम्प्रभुता' से प्रत्यक्षत: संबंधित होते हैं।

राज्य सूची में सम्प्रति, 61 विषय हैं, इन विषयों पर कानून निर्माण का अधिकार प्रत्येक इकाई राज्य के विधानमंडल (जहां एक सदन है वहां विधानसभा को तथा जहां दो सदन है वहां विधानसभा एवं विधानपरिषद दोनों को) को होगा। पुलिस, सिंचाई, पेयजल, आदि इसमें शामिल हैं।

समवर्ती सूची में वे विषय आते हैं जिन पर केन्द्र और इकाई राज्यों दोनों को ही कानून निर्माण का अधिकार है। इन विषयों का महत्व स्थानीय और संघीय दोनों दृष्टियों से है। सम्प्रति, इसमें 52 विषय हैं। पर्यावरण, शिक्षा, वन, सामाजिक सुरक्षा, बीमा, आदि इसके अंतर्गत आते हैं। समवर्ती सूची का विचार हमने आस्ट्रेलिया के संविधान से ग्रहण किया है, वह सहयोगी संघवाद का एक प्रतिरूप है।

अवशिष्ट शक्तियों के अंतर्गत वे विषय आते हैं जिनका उपरोक्त वर्णित केन्द्र या संघ, राज्य और समवर्ती सूचियों के विषयों के अंतर्गत कोई वर्णन या उल्लेख नहीं है। अवशिष्ट शक्तियों के विषयों पर कानून निर्माण का अधिकार संघ की संसद को संविधान ने दिया है (अनु. 248) अर्थात् ऐसे विषय संघ सूची के अंतर्गत माने जाएंगे। कनाडा के अनुसरण करते हुए भारतीय संविधान निर्माताओं ने भी अवशिष्ट केन्द्र को दी है, जबकि अमेरिका में अवशिष्ट शक्तियों पर कानून निर्माण का अधिकार राज्यों को है।

(4) स्वतंत्र एवं निष्पक्ष सर्वोच्च न्यायालय:

संघात्मक शासन में सर्वोच्च न्यायालय न्यायिक सोपान में शीर्षस्थ स्तर पर होता है, जिसे स्वतंत्र एवं निष्पक्ष भूमिका निभाना होता है। संघात्मक शासन में संविधान लिखित होने के कारण सर्वोच्च न्यायालय का यह दायित्व होता है कि, वह संविधान के प्रावधानों का अर्थ अस्पष्ट होने पर उसकी व्याख्या करे और संघ, राज्य तथा जनता तीनों से संविधान के प्रावधानों का अनुपालन सुनिश्चित करे, वह किसी भी ऐसी विधि को अवैध घोषित करने का अधिकार रखता है जो संविधान के प्रावधानों का उल्लंघन कर बनाए गए हों। इस प्रकार, वह संविधान के संरक्षक की भूमिका निभाता है। केन्द्र व इकाई राज्य या राज्यों के बीच अथवा इकाई राज्यों के बीच उठने वाले किसी भी विवाद का एकमात्र निर्णयकर्ता सर्वोच्च न्यायालय ही होता है, इस प्रकार वह 'संघ' का भी संरक्षक बन जाता है। सर्वोच्च न्यायालय की स्वतंत्रता और निष्पक्षता को सुनिश्चित करने हेतु संविधान में अनेक प्रावधान किए जाते हैं।

उपरोक्त प्रावधानों का भारतीय संविधान अक्षरश: पालन करता है। 'विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया' का पालन सुनिश्चित कराना देश के सर्वोच्च न्यायालय का कार्य है। भारत में जब भी संविधान के प्रावधानों की उपेक्षा करते हुए संसद या राज्यों के विधानमंडल ने कानून का निर्माण किया है, तब सर्वोच्च न्यायालय ने उन कानूनों को असंवैधानिक ठहराकर अवैध घोषित कर दिया है। 39वें संविधान संशोधन का रद्द होना इसका प्रमाण है।

(5) केन्द्रीय व्यवस्थापिका के द्वितीय सदन में राज्यों का प्रतिनिधित्व:

संघात्मक शासन प्रणाली में केन्द्र या संघ की व्यवस्थापिका द्विसदनीय होती है। प्रथम सदन या लोकसभा या निम्न सदन (तीनों परस्पर पर्यायवाची हैं) जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से चुनकार आए प्रतिनिधियों का सदन होता है तथा द्वितीय या उच्च सदन राज्यों का सदन है जिसमें प्रत्येक राज्य से अप्रत्यक्ष रूप से कुछ व्यक्ति चुनकर आते हैं। इकाई राज्यों की मांगों और आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए इस सदन की स्थापना की जाती है, जिससे कि केन्द्र, इकाई राज्यों की आवश्यकताओं को जान सके। केन्द्रीय व्यवस्थापिका के इस द्वितीय सदन में राज्यों को दो आधार पर प्रतिनिधित्व देने की प्रणाली प्रचलित है। एक, समानता के आधार पर तथा दो, इकाई राज्य की जनसंख्या के आधार पर। अमेरिका संघ की केन्द्रीय व्यवस्थापिका अर्थात् कांग्रेस के द्वितीय सदन (सीनेट) में प्रत्येक इकाई राज्य को एक समान प्रतिनिधित्व दिया गया है, चाहे इकाई राज्य की जनसंख्या कम हो या अधिक। वहां प्रत्येक राज्य अपने दो प्रतिनिधियों को सीनेट में भेजते है और ये प्रतिनिधि जनता द्वारा प्रत्यक्षत: निर्वाचित होते हैं। भारत में संसद (केन्द्रीय व्यवस्थापिका) के द्वितीय सदन अर्थात राज्य सभा में प्रतिनिधित्व देने के लिए इकाई राज्य की जनसंख्या को आधार बनाया गया है। यहां जिस इकाई राज्य की जनसंख्या अधिक है उसे

Drishti IAS

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

राज्यसभा में अधिक प्रतिनिधि भेजने का अधिकार है तथा जिस राज्य की जनसंख्या कम है वहां से कम प्रतिनिधि भेजे जाते हैं। भारत में संसद के द्वितीय सदन के सदस्यों का चुनाव अमेरिका के विपरीत, जनता द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से होता है।

(6) संविधान के संशोधन में राज्यों की सहभागिता:

संघात्मक शासन में संविधान में संशोधन करने की शक्ति केन्द्र के साथ-साथ इकाई राज्यों को भी प्रदान की जाती है।

अनु. 368 के अनुसार, भारत के संविधान में संशोधन तीन पद्धतियों से होता है (1) संसद सदस्यों के सामान्य बहुमत से, (2) संसद सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से (उपस्थित एवं मतदान में भाग लेने वाले सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से) तथा (3) संसद में उपस्थित एवं मतदान में भाग लेने वाले दो-तिहाई सदस्यों के बहुमत एवं आधे राज्यों के विधानमंडलों के अनुमोदन से। भारत में इकाई राज्यों को संविधान संशोधन की प्रक्रिया आरंभ करने का अधिकार नहीं है। जिन संशोधनों के संदर्भ में इकाई राज्यों को सहभागी बनाया गया है, वे हमारी संघात्मक व्यवस्था से सम्बद्ध हैं, अर्थात् संघीय व्यवस्था में कोई भी परिवर्तन या संशोधन इकाई राज्यों की सहमति के बिना नहीं किया जा सकता।

(7) दोहरी नागरिकता:

संघात्मक शासन व्यवस्था में नागरिकों पर दोहरा शासन होता है। वह सदैव संघीय सरकार तथा इकाई राज्य की सरकार, दोनों के ही अधीन होता है। इसी कारण नागरिकों के पास दोहरी नागरिकता होती है। एक, संघ सरकार की तथा द्वितीय, उस राज्य सरकार की, जिसमें वह निवास कर रहा है। अमेरिका संघ में नागरिकों को दोहरी नागरिकता प्राप्त है।

किन्तु भारत का संविधान अपने नागरिकों को एकल नागरिकता प्रदान करता है, केवल संघ सरकार की, राज्य सरकार की नहीं।

उपरोक्त लक्षणों की कसौटी पर यह प्रतीत होता है कि भारत की संवैधानिक व्यवस्था संघीय है, किन्तु संविधान में अनेक प्रावधान ऐसे हैं जो यह प्रदर्शित करते हैं कि, भारत पूर्णरूपेण संघात्मक व्यवस्था वाला देश नहीं है। ऐसे प्रावधान हमारे देश को एकात्मक स्वरूप की ओर ले जाते हैं। वे प्रावधान इस प्रकार हैं जिनके आधार पर हम भारत की संवैधानिक व्यवस्था को एकात्मक प्रावधानों से युक्त कह सकते हैं:

(1) इकहरी नागरिकता:

संघात्मक शासन में नागरिकों के पास दोहरी नागरिकता होती है, जैसे- अमेरिका में, किन्तु भारत में नागरिक केवल एक ही नागरिकता रखते हैं। यहां प्रत्येक नागरिक भारत संघ की नागरिकता रखता है राज्य की नहीं।

(2) शक्तियों का विभाजन, केन्द्र के पक्ष में:

भारतीय संविधान में केन्द्र व इकाई राज्यों के बीच शक्तियों का विभाजन पाया जाता है, लेकिन ध्यान से देखने पर दूसरी ही तस्वीर उभरेगी। केन्द्र 97 विषयों पर कानून का निर्माण करता है और वे सभी महत्वपूर्ण विषय हैं। सभी प्रमुख कर (केन्द्रीय उत्पाद कर तथा आयकर आदि), जो कि आय की प्रमुख व बड़ी मदें हैं, केन्द्र के अधीन हैं। राज्यों के पास केवल 61 विषय हैं और इन विषयों का प्रबंधन आर्थिक रूप से लाभकारी नहीं है। राज्य सूची के विषयों पर केन्द्र सरकार सामान्यत: कानून नहीं बना सकती, किन्तु यदि राज्यसभा उपस्थित एवं मत देने वाले दो-तिहाई सदस्यों के बहुमत से प्रस्ताव पारित कर यह घोषणा कर दे कि, राज्य सूची का कोई विषय 'राष्ट्रीय महत्व' का है तो उस दशा में उस विषय पर संसद को विधि निर्माण की शक्ति मिल जाती है (अनु. 249) ऐसी विधि पूरे भारत में या कुछ राज्यों में (जैसी आवश्यकता हो) प्रभावी हो सकती है।

राज्य सभा द्वारा इस प्रकार प्रस्ताव पारित करके बनाए गए कानून एक वर्ष तक मान्य रहेंगे किन्तु राज्यसभा एक-एक वर्ष करके इसे लम्बे समय तक अनवरत बढ़ाती रह सकती है। सामान्य परिस्थितियों के अतिरिक्त जब देश में लागू हो तो संसद को राज्यसूची के विषयों पर कानून बनाने का अधिकार मिल जाता है (अनु. 250)। संसद द्वारा अनु. 249 तथा 250 के अधीन बनाई गई विधियों और राज्यों के विधानमण्डलों द्वारा बनाई गई विधियों में विरोध या असंगति होने की दशा में केन्द्र द्वारा बनाई गई विधि मान्य होगी (अनु. 251)। भारत में राज्य सूची के विषयों पर राज्य कानून बना सकते हैं, किन्तु इकाई राज्यों के कानून निर्माण की शक्ति पर कुछ प्रतिबंध भी हैं। वे कोई ऐसा कानून नहीं बना सकते जो उच्च न्यायालय की शक्तियों में कमी करते हों तथा साथ ही उनके द्वारा पारित विधेयकों को राज्यपाल स्वविवेक से राष्ट्रपति के विचार के लिए आरक्षित कर सकता है। (अनु. 201)। यह सभी प्रावधान भारत की संघीय व्यवस्था में शक्ति संतुलन को केन्द्र की ओर झुका देते हैं। अमेरिका में इस प्रकार के प्रावधान नहीं हैं, किन्तु कनाडा के संविधान में हैं।

समवर्ती सूची के विषयों पर कानून निर्माण करने के लिए केन्द्र और राज्य दोनों ही अधिकृत हैं लेकिन केन्द्र व इकाई राज्य यदि समवर्ती सूची के किसी एक ही विषय पर कानून बनाते हैं और वे कानून एक-दूसरे के प्रतिकूल हैं, तो ऐसी दशा में केन्द्र द्वारा बनाया गया कानून मान्य होगा तथा राज्य सरकार द्वारा बनाए गए कानून अविधिमान्य होंगे (अनु. 254), किन्तु यदि कोई इकाई राज्य समवर्ती सूची के किसी विषय पर केन्द्र द्वारा कानून निर्माण किए जाने के बावजूद भी कानून बनाना आवश्यक समझता है तथा उसके द्वारा बनाया गया यह कानून केन्द्र द्वारा पहले बनाए गए इकाई राज्य में कानून बनाने के पूर्व राष्ट्रपति से स्वीकृति ले ली हो तो वह कानून बना सकता है, भले ही उसके प्रावधान केन्द्र द्वारा बनाए गए कानूनों के विरूद्ध हों (अनु. 254(2)), किन्तु केन्द्रीय संसद बाद में कानून बनाकर इकाई राज्य के कानून को निरस्त कर सकती है। इस प्रकार समवर्ती सूची के विषयों पर विधायन की मुख्य अधि

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

कारिता केन्द्र के पास ही है, राज्य उसकी सहमति के बिना कुछ नहीं कर सकते।

अवशिष्ट शक्तियों के अंतर्गत के विषय आते हैं जिनका वर्णन न तो संघ सूची में है, न तो राज्य में है और न ही समवर्ती सूची में। इन विषयों पर कानून निर्माण की अधिकारिता संसद के पास है, राज्यों को कोई अधिकार नहीं है (अनु. 248), लेकिन केन्द्र इतना अवश्य कर सकता है कि वह अपने विवेक से अवशिष्ट शक्तियों के अंतर्गत आने वाले विषयों को राज्य सूची या समवर्ती सूची में डाल दे। अमेरिका में अवशिष्ट शक्तियां राज्यों के पास हैं।

इस प्रकार देखा जाय तो केन्द्र न केवल संघ सूची पर पर विधाय करने हेतु अर्ह है वरन् उसे राज्य और समवर्ती सूची के विषयों पर भी आवश्यकता पड़ने पर कानून बनाने की पूरी अधि कारिता प्राप्त है। संघात्मक शासन में इकाई राज्य पूरी तरह स्वतंत्र, स्वायत्त एवं अधिकारिता सम्पन्न होते हैं, किन्तु भारतीय संविधान में उनकी स्वतंत्रता काफी सीमित कर दी गई है, शक्तियों का विभाजन पूरी तरह केन्द्र के पक्ष में झुका हुआ है। वस्तुतः केन्द्रीकरण की इन प्रवृत्तियों के लिए ऐतिहासिक अनुभव और समकालीन परिस्थितियां अधिक उत्तरदायी थीं। इतिहास से हमें ज्ञात होता है कि जब भी केन्द्रीय अवज्ञा का भाव बढ़ा है। भारत की तत्कालीन दशाएं भी काफी असमतल थीं, नवस्वाधीन देश में अनेक रियासतें थीं जो पृथक होकर स्वतंत्र अस्तित्व बनाए रखना चाहती थी। इन परिस्थितियों में संविधान निर्माताओं ने एक मजबूत राष्ट्र के निर्माण को अपना लक्ष्य बनाया, फलतः केन्द्रीकरण की प्रवृत्तियों संविधान में अधिक हैं।

(3) इकाई राज्यों के क्षेत्र, सीमा या नाम में परिवर्तन की केन्द्रीय व्यवस्थापिका की शक्तिः

भारत में संसद को यह शक्ति दी गई है कि, किसी भी इकाई राज्य के क्षेत्र, सीमा या नाम में परिवर्तन कर दे। संविधान के अनु. 3 के अनुसार संसद विधि द्वारा

(क) किसी राज्य में से उसका राज्यक्षेत्र पृथक करके अथवा दो या दो से अधिक राज्यों को
मिलाकर या उनके किन्हीं भागों को मिलाकर अथवा किसी राज्य क्षेत्र को किसी राज्य के भाग से मिलाकर नये राज्य का निर्माण कर सकेगी,

(ख) किसी राज्य के क्षेत्र में वृद्धि कर सकेगी,

(ग) किसी राज्य का क्षेत्र घटा सकेगी,

(घ) किसी राज्य की सीमाओं में परिवर्तन कर सकेगी,

(ङ) किसी राज्य के नाम में परिवर्तन कर सकेगी,

किन्तु उपरोक्त से संबंधित कोई भी विधेयक राष्ट्रपति की पूर्व अनुमति से ही संसद में प्रस्तुत किया जा सकेगा और राष्ट्रपति इस विधेयक से प्रभावित होने वाले राज्य या राज्यों के विचार एक निश्चित समय के भीतर जानने के बाद ही अनुमति देगा, किन्तु राज्यों द्वारा दी गई सलाह को मानना या न मानना राष्ट्रपति के विवेकाधीन है।

उपरोक्त विधेयक संसद में सामान्य बहुमत से पारित किया जा सकता है (अनु. 4), इसे संविधान का संशोधन नहीं माना जाएगा। वस्तुतः भारतीय संघ में इकाई राज्यों का अस्तित्व संसद की इच्छा पर निर्भर है, भारतीय संविधान इकाई राज्यों की भौगोलिक अखण्डता की गारंटी नहीं देता। इससे संघीय सिद्धांत पर एक प्रबल प्रहार होता है किन्तु इस संदर्भ में संसद की शक्ति का वास्तविक मूल्यांकन ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और तत्कालीन राजनीतिक परिवेश का ध्यान में रखकर ही किया जा सकता है। वस्तुतः संविध ान निर्माता उन दशाओं से भलीभांति परिचित थे जिनके कारण इकाई राज्यों की स्थापना की गई थी और ऐसा लग रहा था कि भविष्य में भी राज्यों की सीमाओं में परिवर्तन वांछनीय होगा। आज भारत में 28 राज्य हैं। यदि हमारी संवैधानिक व्यवस्था लचीली नहीं रहती तो हम क्षेत्रीय जनता की आकांक्षाओं के अनुरूप नए-नए राज्यों का निर्माण नहीं कर पाते। भारतीय संविधान में राज्यों की क्षेत्रीय, अखण्डता की गारंटी इसलिए भी नहीं दी गयी, क्योंकि भारतीय संघ इकाई राज्यों के बीच समझौते का निर्माण नहीं है।

(4) प्रत्येक इकाई राज्य में संवैधानिक प्रमुख (राज्यपाल) के पद पर केन्द्र द्वारा नियुक्तिः

जिस प्रकार संघीय व्यवस्था में संवैधानिक प्रमुख राष्ट्रपति है, उसी प्रकार इकाई राज्यों में संवैधानिक प्रमुख के रूप में राज्यपाल होता है। भारतीय संविधान के अनु. 154 के अनुसार, प्रत्येक राज्य की कार्यपालिका शक्ति राज्यपाल में निहित होगी और वह सामान्यतः 5 वर्ष की अवधि तक पद ग्रहण करेगा (अनु. 156(3)) तथा राज्यपाल राष्ट्रपति के प्रसादपर्यन्त पद धारण करेगा। वह राज्य के विधानमंडल का आवश्यक अंग है और कोई विधेयक तब तक विधि (कानून) का रूप धारण नहीं कर सकता, जबतक कि राज्यपाल ने उस पर अपनी स्वीकृति न दे दी हो। कुछ विषयों में राज्यपाल 'स्वविवेक' से कार्य कर सकता है, आवश्यक नहीं कि वह राज्य मंत्रिमंडल की सलाह को स्वीकार करे (अनु. 116)। कुछ ऐसे विषय भी हैं जिनसे संबंधित विधयेक को राज्यपाल, राष्ट्रपति की सलाह के लिए आरक्षित कर सकता; जैसे- अनु. 201, 288(2), 304(ख)। ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय संविध ान के उपरोक्त प्रावधान संघीय व्यवस्था से मेल नहीं खाते, इससे राज्यों की स्वायत्तता एवं संवैधानिक स्थिति अत्यंत निम्न हो जाती है। राज्यपालों ने अब तक के संवैधानिक इतिहास में प्रायः केन्द्रीय एजेन्ट की ही भूमिका निभाई है, फलतः इस पद पर प्रायः उंगली उठती रही है।

(5) राज्यों में राष्ट्रपति शासन लागू करने के उपबंध (अनु. 356):

अनु. 356 के अनुसार, यदि किसी समय राष्ट्रपति का किसी राज्य के राज्यपाल से प्रतिवेदन मिलने पर या अन्यथा यह समाधान हो जाता है कि राज्य का शासन इस संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा रहा है तो राष्ट्रपति उस राज्य की

TYCS IAS

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

कार्यपालिका शक्ति राज्यपाल में और विधायी शक्तियां संसद में स्थानांतरित कर सकता है, सामान्यत: इसे हम 'राष्ट्रपति शासन' के नाम से जानते हैं क्योंकि ऐसे समय में राज्यपाल सीधे राष्ट्रपति द्वारा निर्देशित होता है और राज्य की कार्यपालिका (सरकार) और व्यवस्थापिका (विधानमंडल) दोनों ही शक्तिविहीन हो जाते हैं। भारतीय संविधान द्वारा प्रदत्त यह शक्ति केन्द्र को इसलिए दी गई है कि यदि कभी कोई राज्य संघीय सिद्धांतों के विरूद्ध या संविधान के विरूद्ध चलनें का प्रयास करे तो उसे रोका जाय या दंडित किया जाय। किन्तु स्वतंत्रता के बाद से अबतक इस उपबंध का 110 से अधिक बार प्रयोग हो चुका है और जब भी इसका प्रयोग किया गया, विवादों ने जन्म लिया। इसका कारण यह है कि अनेक बार केन्द्र में सत्तारूढ़ दल ने अन्य दलों की राज्य सरकारों को 'सबक सिखाने' के लिए भी इसका प्रयोग किया। केन्द्र को मिला हुआ यह अधिकार एक प्रकार का 'प्रशासनिक दंड' है किन्तु इसका प्रयोग राजनीतिक अस्त्र के रूप में प्राय: किया गया है, इसीलिए राजमन्नार समिति ने अनु. 356 को समाप्त करने की सिफारिश की थी।

(6) केन्द्रीय व्यवस्थापिका में राज्यों का प्रतिनिधित्व समानता के आधार पर नहीं:

भारतीय संघ की केन्द्रीय व्यवस्थापिका के द्वितीय सदन में इकाई राज्य को प्रतिनिधित्व की चौथी अनुसूची राज्यसभा में इकाई राज्यों के प्रतिनिधित्व से संबंधित है। इसके अनुसार जिस राज्य की जनसंख्या अधिक होगी, वह राज्य राज्यसभा में अधिक प्रतिनिधि भेजेगा और जिस राज्य की जनसंख्या कम है, वह कम प्रतिनिधि भेजेगा। इससे इस बात का भय सदा बना रहेगा कि अधिक प्रतिनिधि भेजने वाले बड़े राज्यों द्वारा कहीं छोटे राज्यों के हितों की अनदेखी न कर दी जाय। वास्तविक संघ तो तब होता जब राज्यसभा में सभी इकाई राज्यों को एक समान प्रतिनिधित्व मिलता, जैसा कि अमेरिका में है।

(7) आपातकालीन उद्घोषणा होने पर संघ का एकात्मक प्रतिरूप में परिणित हो जाना:

जब अनु. 352 के अंतर्गत आपाकाल की उद्घोषणा की जाती है तो संघ की कार्यपालिका शक्ति अत्यंत विस्तृत हो जाती है। वह राज्यों को अपनी कार्यपालिका शक्ति के प्रयोग करने संबंधी आवश्यक दिशा निर्देश जारी कर सकता है (अनु. 353)। यही नहीं, इस अवधि में केन्द्र व राज्यों के बीच राजस्व वितरण आपात परिस्थितियों से निबटने के लिए अधिक वित्तीय स्रोत एकत्र हो सके (अनु. 354)। ऐसी घोषणा होने पर संघ की संसद को राज्यसूची के विषयों पर कानून बनाने का अधिकार भी मिल जाता है (अनु. 250)।

(8) संघ द्वारा दिए गए निर्देशों का पालन आवश्यक :

भारतीय संविधान केन्द्र को यह अधिकार देता है कि वह इकाई राज्यों को आवश्यकता पड़ने पर कतिपय आदेश-निर्देश दे। इनका पालन करना राज्यों के लिए अत्यंत अनिवार्य है क्योंकि अनु. 365 इस संदर्भ में एक महत्वपूर्ण व्यवस्था देता है कि जहां इस संविधान के किसी भी उपबंध के अधीन केन्द्र की कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग करते हुए दिए गए किन्हीं निर्देशों का अनुपालन करने में या उनकी क्रियान्वित करने में कोई राज्य असफल रहता है, वहां राष्ट्रपति के लिए यह मानना विधिपूर्ण (उचित) होगा कि, ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है जिसमें उस राज्य का शासन इस संविधान के प्रावधानों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता या नहीं चलाया जा रहा है, जब राष्ट्रपति इस निष्कर्ष तक पहुंच जाय तो उसके पास एक ही विकल्प बचता है कि वह अनु. 356 का प्रयोग करके उस राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू करने की घोषणा कर दे। ये निर्देश इस प्रकार है:

संविधान के अनु. 256 के अनुसार, प्रत्येक राज्य को अपनी कार्यपालिका शक्ति का इस प्रकार प्रयोग करना है जिससे कि, संघ को अपनी कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग में कोई अड़चन न हो। इस संदर्भ में केन्द्र किसी भी राज्य को आवश्यक दिशा निर्देश दे सकता है जिसका अनुपालन उस राज्य के लिए आवश्यक होगा।

अनु. 253 के अनुसार, अंतर्राष्ट्रीय समझौता या संधियों को लागू कराना केन्द्र की जिम्मेदारी है और इस संदर्भ में केन्द्र किसी भी राज्य को आवश्यक दिशा-निर्देश दे सकता है जिसका पालन राज्य को करना होगा।

अनु. 258(2) के अनुसार संसद कानून बनाकर किसी भी राज्य के अधिकारियों या प्राधिकारियों को शक्तियां प्रदान कर सकती है और उनसे कुछ कार्य करने की अपेक्षा कर सकती है। इस संबंध में दिए गए कार्य या दायित्व को सम्पन्न कराना उस राज्य सरकार की जिम्मेदारी होगी।

उपरोक्त अधिकार संघात्मक शासन के सिद्धांतों के प्रतिकूल हैं, क्योंकि इन प्रावधानों का प्रयोग कर केन्द्र कभी भी किसी भी इकाई राज्य की सरकार को बरखास्त कर सकता है। ये प्रावधान राज्यों को केन्द्र सरकार के अधीनस्थ बना देते हैं।

संविधान के उपरोक्त लक्षणों या प्रावधानों का सम्यक विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि, भारत का संविधान संघात्मक संविधान की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। संविधान में संघात्मक शासन सदृश प्रावधान तो हैं किन्तु उनका प्रयोग एकात्मक शासन के सिद्धांतों की भांति किया जा सकता है। प्रो. के.सी. व्हीयर ने अपनी आरंभिक रचना 'फेडरल गवर्नमेन्ट' में भारत के संविधान को 'अर्द्ध संघीय' (क्वासी फेडरल) माना किन्तु अपनी पश्चातवर्ती पुस्तक 'मॉडर्न कॉन्स्टीट्यूशन' (1966 ई.) में भारत के संविधान को संघात्मक मानने से इनकार कर दिया। प्रो. एलेक्जेन्ड्रोविच ने के. सी. व्हीयर के विपरीत यह स्थापित करने का प्रयास किया कि, 'भारत का संविधान परिसंघीय है।' डी.डी. बसु भी भारत के संविधान को अनोखा संविधान कहते हैं। उनका कथन है कि, ''भारत का संविधान न तो शुद्ध रूप से संघीय है और न शुद्ध रूप से

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

एकात्मक। यह दोनों का संयोजन है। यह एक नए प्रकार का संघ या सम्मलित राज्य है। इसमें यह सिद्धांत अंतर्विष्ट है कि, परिसंघ होते हुए भी राष्ट्रीय हित सर्वोच्च होना चाहिए।''

वस्तुत: संघ के जो लक्षण बताए जाते हैं, वे सभी भारत के संविधान में उपलब्ध हैं। परिसंघ या संघ के सिद्धांतों पर एक सामान्य सहमति बनाई जा सकती है किन्तु उन सिद्धांतों का अक्षरश: पालन हर देश, काल एवं परिस्थिति में शास्वत रूप से और अक्षरश: होता रहे, यह कोई आवश्यक नहीं है। प्रत्येक देश की ऐतिहासिक दशाएं, समाकलीन परिस्थितियां, लोकतंत्र परिवेश और जनता की राजनीतिक चेतना, अलग-अलग प्रकार की होती है, फलत: प्रत्येक देश में संघीय सिद्धांतों का स्वरूप भी भिन्न-भिन्न हो सकता है।

यदि व्यावहारिक राजनीतिक प्रतिमान की बात की जाय तो ज्ञात होगा कि, भारतीय राजनीतिक-परिदृश्य में परितर्वतन के साथ भारतीय संघवाद के स्वरूप में भी परिवर्तन आता रहा। देखा गया है कि जब देश में केन्द्र और राज्यों में एक ही राजनीतिक दल की सरकार रहती है तो हमारी संघात्मक व्यवस्था 'केन्द्रीयकृत संघवाद' के प्रतिमान जैसी प्रतीत होती है।

1950 से 1967 ई. तक का युग ऐसा ही था, जब केन्द्र और इकाई राज्यों में एक ही राजनीतिक दल 'कांग्रेस' का शासन था, फलत: केन्द्र व राज्यों के संबंध मधुर एवं सामंजस्यपूर्ण बने रहते थे, इकाई राज्य केन्द्र के आदेशों को चुपचाप स्वीकार कर लेते थे। केन्द्र का विरोध नहीं होता था। 1990 ई. के बाद 'क्षेत्रीय राजनीतिक अस्तित्व' की चेतना ने पांव फैलाना शुरू किया और लगभग सभी राज्यों में क्षेत्रीय राजनीतिक दलों का वर्चस्व बढ़ा फलत: किसी एक राजनीतिक दल के लिए अकेले अपने बहुमत के बल पर सत्ता में बने रहना कठिन हो गया और मिली-जुली सरकारों के युग की शुरूआत हुई, तब हमारी संघात्मक व्यवस्था का प्रतिमान 'सौदेबाजी वाली संघीय व्यवस्था' में बदलता नजर आ रहा है, यद्यपि मॉरिस जोन्स ने 1967 के बाद ही यह आहट जान ली थी कि भारत में अब केन्द्र व राज्यों में एक ही राजनीतिक दल की सरकार को युग समाप्त हो रहा है और अब 'सौदेबाजी वाली संघीय व्यवस्था' प्रारंभ हो रही है। ऐसी व्यवस्था में क्षेत्रीय राजनीतिक दल, जिनकी कि किसी राज्य में सरकार है और वे केन्द्र में मिली-जुली सरकार में या तो शामिल हैं या उसे बाहर से समर्थन दे रहे हैं, केन्द्र सरकार से राजनीतिक सौदेबाजी करते रहते हैं और ऐसा करके वे अपने राज्य के लिए केन्द्रीय वित्तीय मदद की राशि बढ़ाने में प्राय: सफल हो जाते हैं। वैट को लेकर 2008 में गैर-कांग्रेसी दलों ने कांग्रेस पार्टी के नेतृत्व में बनी केन्द्र सरकार से जिस प्रकार सौदेबाजी की, उससे यह संकेत साफ हो गया कि अभी आने वाले एक-दो दशकों तक ऐसी सौदेबाजी चलती रहेगी और केन्द्र को कोई भी निर्णय लेने के पूर्व इकाई राज्यों को भी विश्वास में रखना होगा। क्षेत्रीय राजनीतिक दलों ने संघवाद को एक यथार्थपरक धरातल पर ला खड़ा किया है।

लेकिन संविधान निर्माता प्रतिस्पर्द्धा और सौदेबाजी पर आधारित संघात्मक व्यवस्था की जगह केन्द्र व राज्यों के बीच परस्पर सहयोग पर आधारित संघात्मक व्यवस्था चाहते थे। केन्द्र और राज्यों के बीच पर्याप्त आदान-प्रदान होता रहे, दोनों पृथक-पृथक द्वीप-समूहों की भांति न रहें, इसलिए संविधान के अनके अनुच्छेदों में 'सहकारी परिसंघ' के लक्षण व प्रावधान भी रखे गए हैं। वित्त आयोग (अनु. 280), अंतर्राज्यीय परिषद (अनु. 263), अनु. 252 अनु. 355, क्षेत्रीय परिषद तथा राष्ट्रीय विकास परिषद आदि इसके प्रमाण हैं। इसी आधार पर ग्रेनविल ऑस्टिन ने भारतीय संविधान को 'सहयोगी संघवाद' या 'मैत्रीपूर्ण संघ' (The amicable union) के प्रावधानों से युक्त बताया है।

निश्चित रूप से भारतीय संविधान एकात्मकता की ओर झुका हुआ संघीय संविधान है, फलत: कभी -कभी राज्यों के माध्यम से यह मांग उठायी जाती है कि राज्यों को और अधिक अधिकार (मुख्यत: वित्तीय अधिकार व शक्तियां) दिए जाएं, किन्तु कभी भी केन्द्र की शक्तियों को कम करने की मांग नहीं उठाई गई। राज्य भी समझ चुके हैं कि मजबूत केन्द्र से युक्त संघ ही उनके भविष्य और अस्तित्व का आधार बन सकता है। वस्तुत: अंतर्राष्ट्रीय युद्धों, परमाणु हथियारों का भय, वैज्ञानिक प्रगति, तकनीकी विकास और एक लोककल्याणकारी संस्था के रूप में 'राज्य' का उदय आदि तथ्यों ने संघ के स्वरूप और उसके अधिकार आदि के प्रति जनता के विचारों में एक बड़ा परितर्वन कर दिया है। इन सभी कारणों से आज राज्य की शक्तियों में काफी वृद्धि हो रही है और यह वृद्धि राज्य को केन्द्रीयकरण की ओर ले जा रही है। पूरे विश्व के संघात्मक संविधानों पर दृष्टिपात करें तो पता चलेगा कि स्विट्जरलैण्ड, आस्ट्रेलिया, अमेरिका, कनाडा, आदि देशों में भी केन्द्र की शक्तियां इकाई राज्यों की तुलना में अत्यधिक बढ़ गई हैं। भारत भी इसका अपवाद नहीं है। हमारे यहां संविधान निर्माण के दौरान राष्ट्रीय एकता व अखंडता सबसे बड़ी समस्या के रूप में सामने आयी थी, इसका समाधान अम्बेडकर और नेहरू दोनों को एक मजबूत केन्द्र के रूप में दिखाई दिया, लेकिन साथ ही वे इस तथ्य के प्रति भी सचेष्ट थे कि, एक बहुभाषीय, बहुसांस्कृतिक एवं बहुधर्मी समाज में इकाई राज्यों की स्वतंत्रता, सत्ता एवं गरिमा की संघात्मक शासन का आधार बन सकता है। इन्हीं दोनों कारणों से उन्होंने एक ऐसे संघात्मक राज्य की स्थापना की जिसमें एकात्मकता के तत्व अधिक हैं।

आज जिस प्रकार भारत की विभिन्न उप संस्कृतियां और नृजातीय तत्व अपनी पृथक राजनीतिक पहचान स्थापित करने हेतु (शांतिपूर्ण और हिंसात्मक दोनों ही साधनों से लैस होकर) आंदोलन कर रहे हैं और जिस प्रकार विदर्भ, तेलंगाना, जैसे अविकसित या पिछड़े क्षेत्र स्वयं को एक पृथक राजनीतिक अस्तित्व देने हेतु प्रयास कर रहे हैं, इन सभी समस्याओं (जनआकांक्षाओं) का समाधान 'और अधिक संघात्मक' बनकर ही किया जा सकता है, किन्तु बाह्य विदेशी दबाव, दिन-प्रतिदिन सिमटती-सिकुड़ती दुनिया तथा एक धुव्रीय विश्व में निरंतर बढ़ रहे खतरे का सामना करने के लिए

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

केन्द्र के पास ऐसे अधिकार व शक्तियां होने चाहिए जो सम्प्रभुता की रक्षा के के लिए परम आवश्यक हैं क्योंकि हमारे पास अनेक ऐसे उदाहरण भी हैं जैसे यूगोस्लाविया, चेकोस्लोवाकिया, को नियंत्रित करने में असफल हो गया और इसके परिणामस्वरूप उस राष्ट्र को खंडित होना पड़ा।

एस.आर. बोम्मई बनाम भारत संघ के वाद में सर्वोच्च न्यायालय के बहुमत के न्यायाधीशों ने भी संविधान को संघात्मक मानते हुए इसे संविधान की मौलिक संरचना घोषित किया है, जिसे संसद परिवर्तित नहीं कर सकती।

अन्त में कुल मिलाकर इतना कहा जा सकता है कि, भारत के संविधान में संघात्मक शासन के सभी लक्षण विद्यमान हैं किन्तु आवश्यकता पड़ने पर संघात्मक शासन में परिस्थितिजन्य परिवर्तन कर उसे एकात्मक रूप दिया जा सकता है और जब परिस्थिति सामान्य हो जाए तो इसे पुनः संघात्मक कर दिया जाएगा। ऐसा राष्ट्रीय सुरक्षा व सम्प्रभुता हेतु अपरिहार्य है।

फिशर IAS

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

संविधान की उद्देशिका और उसका महत्व

भारतीय संविधान की उद्देशिका का आधार जवाहरलाल नेहरू द्वारा तैयार किया गया वह 'उद्देश्य प्रस्ताव' है जिसे उन्होंने 13 दिसम्बर 1946 को संविधान-निर्मात्री सभा में प्रस्तुत किया था। इस प्रस्ताव में स्वतंत्र भारत के लिए बनाए जाने वाले संविधान के मूल-सिद्धांतों और शासन व्यवस्था की एक रूपरेखा प्रस्तुत की गई थी। यह एक प्रकार का घोषणा-पत्र था जिसमें यह बताया गया था कि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद हम किसी प्रकार के शासनतंत्र को स्थापित करेंगे, हमारा लक्ष्य क्या है और हमें किधर जाना है। संविधान-निर्मात्री सभा ने आठ दिनों तक उद्देश्य-प्रस्ताव पर विचार-विमर्श करने के उपरांत 22 जनवरी 1946 को उसे स्वीकार किया। यह उद्देश्य-प्रस्ताव ही संविधान की प्रस्तावना का मूल स्रोत था। स्वयं जवाहरलाल नेहरू ने कहा था कि संविधान की प्रस्तवाना एक प्रकार से 'उद्देश्य प्रस्ताव' में ही निहित है। इसी उद्देश्य प्रस्ताव के परिप्रेक्ष्य में संविधान की उद्देशिका तैयार की गई जिसे प्रारूप समिति ने फरवरी 1948 में और संविधान-निर्मात्री सभा ने 17 अक्टूबर 1948 को अंतिम रूप से स्वीकार किया।

संविधान की उद्देशिका का स्वरूप:

मूल संविधान की प्रस्तावना 85 शब्दों में निर्मित थी। 1976 में संविधान के 42वें संशोधन द्वारा उसमें 'समाजवादी', 'धर्मनिरपेक्ष' और 'अखण्डता' शब्दों को जोड़ दिया गया। इस संशोधन के बाद संविधान की प्रस्तावना का वर्तमान स्वरूप में निम्नवत हैं:

'हम भारत के लोग, भारत को एक संपूर्ण प्रभुत्व-संपन्न समाजवादी
पंथनिरपेक्ष, लोकतांत्रिक गणराज्य बनाने के लिए, तथा उसके समस्त
नागरिकों को;
सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय,
विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासाना की स्वतंत्रता
प्रतिष्ठा और अवसर की समता
प्राप्त कराने के लिए,
तथा उन सब में
व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता
और अखण्डता सुनिश्चित करने वाली बन्धुता
बढ़ाने के लिए

दृसंकल्प होकर अपनी इस संविधान सभा में आज तारीख 26 नवम्बर 1949 ई. (मिति मार्गशीर्ष शुक्लप सप्तमी, संवत् दो हजार छह विक्रमी) को एतद्द्वारा इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।''

संविधान की उद्देशिका यह बताती है कि संविधान किसके द्वारा किस लिए और कब बनाया गया? अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से प्रस्तावना को चार भागों में विभाजित किया जा सकता है?

1. सत्ता का स्रोत
2. राज्य और सरकार का स्वरूप
3. शासन व्यवस्था के लक्ष्य
4. संविधान का अधिनियम

1. सत्ता का स्रोत:

संविधान की प्रस्तावना 'हम भारत के लोग' शब्दों से प्रारंभ होती है जो इस तथ्य को स्पष्ट करता है कि भारतीय संविधान का स्रोत जनता है और राजनैतिक सत्ता अंतिम रूप से जनता में है जिसका प्रयोग करते हुए जनता से स्वेच्छा से संविधान का निर्माण अथवा अपनी पसंद की शासन व्यवस्था को स्थापित किया है। प्रस्तावना के अंतिम भाग में भी इसी तथ्य की पुष्टि की गई है कि (हम भारत के लोग)'... इस संविधान को अंगीकृत अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।'' इससे इस तथ्य का बोध होता है कि संविधान किसी वैदेशिक सत्ता या किसी वर्ग विशेष द्वारा भारतवासियों पर आरोपित नहीं किया गया है वरन् जनता ने स्वयं इसे बनयाया है, इसे स्वीकार किया है और स्वयं अपने को दिया है अर्थात् अपने ऊपर लागू किया है। दूसरे शब्दों में जनता शासक भी है और शासित भी।

2. राज्य और सरकार का स्वरूप :

प्रस्तावना का दूसरा भाग इस बात को निश्चित करता है कि राज्य और सरकार का स्वरूप क्या होगा। इसे बताने के लिए प्रस्तावना में पांच शब्दों को प्रयोग किया गया है। संपूर्ण प्रभुत्व-संपन्न समाजवादी पंथनिरपेक्ष लोकतंत्रात्मक गणराज्य।

(क) संपूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न शब्द से इस बात का बोध होता है कि भारत अपने आंतरिक और बाह्य मामलों में पूरी तरह स्वतंत्र होगा। संविधान प्रभुतासंपन्न व्यक्तियों द्वारा निर्मित प्रभुत्ता-संपन्न राज्य की स्थापना करता है।

(ख) समाजवादी शब्द से तात्पर्य यह है कि संविधान ऐसी शासन व्यवस्था को स्थापित करता है जिससे उत्पादन के साधनों का प्रयोग सामाजिक हित में किया जाएगा और आर्थिक शोषण का अंत करके हर व्यक्ति को जीविकोपार्जन की सुविधाएं उपलब्ध करायी जाएंगी। समाजवाद का स्वरूप भले ही कुछ हो इस घोषणा से यह तो स्पष्ट ही कर दिया गया है कि भारत एक पूंजीवाद राज्य नहीं होगा जहां एक वर्ग दूसरे वर्ग का और एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का शोषण करता है।

(ग) पंथनिरपेक्ष शब्द को जोड़कर यह सुनिश्चित किया गया है कि भारत में राज्य का अपना कोई धर्म न होगा। दूसरे शब्दों में संविधान धर्मतंत्र का निषेध करता है। यद्यपि इस देश में एक धर्म विशेष के मानने वालों की जनसंख्या 80 प्रतिशत से अधि

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

क है लेकिन संविधान ने धर्मतंत्र का तिरस्कार करते हुए ध र्मनिरपेक्षता के आदर्श को स्वीकार किया।

(4) लोकतंत्रात्मक शब्द से केवल सरकार के स्वरूप का ही नहीं वरन् एक विशेष प्रकार की सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था का भी बोध होता है। लोकतंत्रात्मक शब्द का अभिप्राय यह है कि समानता और स्वतंत्रता के सिद्धांतों पर आधारित सरकार जनता के द्वारा निर्वाचित और जनता के प्रति उत्तरदायी होगी। विस्तृत अर्थों में इसमें सामाजिक और आर्थिक समानता का भाव भी छिपा हुआ है।

(5) गणराज्य से तात्पर्य यह है कि देश का प्रधान जनता द्वारा एक निश्चित अवधि के लिए प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित होगा, वह वंशानुगत नहीं हो सकता।

3. शासन व्यवस्था के लक्ष्य:

प्रस्तावना में शासन व्यवस्था के निम्न लक्ष्य बताए गए हैं:

(क) न्याय-सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक:

प्रस्तावना में सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय देने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है। सामाजिक न्याय का अर्थ यह है कि सभी नागरिकों को उनके धर्म, जाति वर्ग के आधार पर भेदभाव किए बिना, अपने विकास के समान अवसर उपलब्ध हों और समाज के दुर्बल वर्गों का शोषण न किया जाए।

आर्थिक न्याय से अभिप्राय यह है कि उत्पादन के साधन का इस तरह वितरण किया जाए कि कोई व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का शोषण न कर सके और उत्पादन के साधनों का सार्वजनिक हित में प्रयोग किया जाए। सामाजिक और आर्थिक न्याय की स्थापना के लिए राज्य के नीति-निदेशक सिद्धांतों (अनुच्छेद 38 और 39) में विशेष रूप से निर्देश दिए गए हैं। अनुच्छेद 38 में कहा गया है कि 'राज्य ऐसी सामाजिक व्यवस्था की स्थापना और संरक्षण करके लोक-कल्याण की उन्नति का प्रयास करेगा, जिसमें सामाजिक आर्थिक और राजनैतिक न्याय भविष्य की सभी संस्थाओं को प्रेरित करे।' सर्वोच्च न्यायालय ने अपने एक निर्णय में कहा है कि उद्देशिका, अनुच्छेद 38 के परिप्रेक्ष्य में, अनुच्छेद 21 में दिए गए जीवन के अधिकार के अंतर्गत सामाजिक न्याय का भी समावेश होता है, अत: सामाजिक न्याय एक मूल अधिकार है।

नीति-निदेशक सिद्धांतों के अंतर्गत अनुच्छेद 39 में संपत्ति के न्यायपूर्ण वितरण, उत्पादन-साधनों का सर्वसाधारण के हित के लिए प्रयोग, समान कार्य के लिए समान वेतन, स्त्रियों और बच्चों के हितों के संरक्षण आदि के लिए विस्तृत प्रावधान किए गए हैं। यह अनुच्छेद आर्थिक जनतंत्र की स्थापना करता है और इसी कारण इसे मूल अधिकारों पर प्राथमिकता प्रदान की गई है।

(ख) स्वतंत्रता-विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की:

संविधान में दिए गए मूल अधिकारों में नागरिकों को समानता का अधिकार प्रदान किया गया है। इसके अंतर्गत अनुच्छेद 14 में कानून के समक्ष समानता और विधियों के समान संरक्षण की व्यवस्था की गई है। अनुच्छेद 15 में धर्म, मूलवंश, जाति आदि के आधार पर विभेद का प्रतिषेध किया गया है। अनुच्छेद 16 में सरकारी नौकरियों में सभी को समान अवसर देने और अनुच्छेद 17 में छुआछुत खत्म करने का प्रावधान किया गया है। कानून की दृष्टि में प्रत्येक नागरिक की हैसियत समान है और किसी को भी एक दूसरे के मुकाबले में कोई विशेषाधिकार प्राप्त नहीं है।

(घ) व्यक्ति की गरिमा, राष्ट्र की एकता, अखण्डता तथा बंधुता:

उद्देशिका की इन पंक्तियों में दो प्रमुख लक्ष्य राष्ट्र की एकता तथा अखण्डता निर्धारित किए गए हैं और इनकी प्राप्ति के लिए दो आदर्शों 'व्यक्ति की गरिमा तथा बन्धुत्व' का उल्लेख किया गया है। वास्तव में यह चारों अवधारणाएं एक दूसरे की पूरक है।

अखण्डता शब्द संविधान के 42वें संशोधन द्वारा जोड़ा गया था जो एकता शब्दा से भिन्न है। अखण्डता से तात्पर्य है भू-भागीय एकता (Territorial Unity) अर्थात् देश के विभिन्न क्षेत्र एक दूसरे से जुड़े रहें; वे देश से अलग न हो पाएं। यह स्मरणीय है कि अतीत में भारतीय संघ के कुछ राज्यों में संघ से अलग पृथक प्रभुतासंपन्न राज्य बनाने की मांग उठायी जा चुकी है। इसलिए मूल अधिकारों के अंतर्गत राष्ट्रविरोधियों को रोकने का प्रावधान किया गया है। साथ ही मूल कर्तव्यों वाले भाग में भी यह कहा गया है कि प्रत्येक नागरिक का यह कर्तव्य है कि वह 'भारत की प्रभुता, एकता और अखण्डता की रक्षा करे और उसे अक्षुण्ण बनाये रखे।' संक्षेप में, अखण्डता का अर्थ है कि देश भौगोलिक दृष्टि से अटूट रहे; बिखरे न पाए।

एकता शब्द का साधारण अर्थ यह है कि देश के विभिनन क्षेत्रों में रहने वाले विभिन्न भागों और जातियों के लोग आपस में मिल-जुल कर रहें। इस प्रकार की एकता उत्पन्न करने के लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक नागरिक को अधिकार और सुविधाएं समान रूप से और सम्मानपूर्वक दी जाएं तथा किसी व्यक्ति के स्वाभिमान और गरिमा को ठेस न पहुंचने पाए। हर व्यक्ति को यह महसूस हो कि वह प्रभुता-संपन्न राज्य की एक अभिन्न इकाई है।

'व्यक्ति की गरिमा' शब्द के अंतर्गत व्यक्ति की प्रधानता का विचार निहित है और यह सर्वाधिकारी राज्य का निषेध करता है।' इस विचार के अनुसार राज्य व्यक्ति के लिए है, व्यक्ति राज्य के लिए नहीं। संविधान-प्रारूप समिति के एक सदस्य के.एम. मुन्शी के अनुसार, ' व्यक्ति की गरिमा' शब्द हीगल के उस सिद्धांत का खण्डन करता है कि राज्य कोई अलौकिक शक्ति है जिसका

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

लक्ष्य व्यक्ति से स्वतंत्र रहकर और व्यक्ति को पीछे छोड़कर मात्र अपने अस्तित्व के बनाए रखना है। वास्तव में व्यक्ति राज्य के हाथों में कोई उपकरण नहीं है; राज्य व्यक्ति के लिए है और उसका कर्तव्य यह है कि यह प्रत्येक नागरिक का आदर करे और ऐसी परिस्थितियों का सृजन करे जिसमें हर व्यक्ति स्वतंत्रतापूर्व अपना विकास कर सके।

यदि सभी व्यक्ति एक दूसरे का परस्पर आदर करेंगे तो स्वाभाविक रूप से उनमें बंधुत्व की भावना उत्पन्न होगी। यह भावना कि हम सब एक ही राष्ट्र का अंग हैं, पूरे देश को एकता के सूत्र में बांध देगा। इसी लक्ष्य की पूर्ति के लिए मूल कर्तव्यों में यह कहा गया है कि प्रत्येक नागरिक का यह कर्तव्य है कि वह 'भारत के सभी लोगों में समरसता और समान भ्रातृत्व की भावना का निर्माण करे जो धर्म, भाषा, और प्रदेश या वर्ग पर आधारित सभी भेदभाव से परे हो...।

बंधुत्व की भावना को बढ़ावा देने के लिए एक ही नागरिकता दी गई है; राज्यों की अलग-अलग नागरिकता नहीं है। स्वतंत्रता के मूल अधिकार के अंतर्गत प्रत्येक व्यक्ति को देश के किसी भाग में आने-जाने, निवास करने अथवा बसने की स्वतंत्रता प्रदान की गई है।

4. संविधान का अधिनियमन:

प्रस्तावना के अंत में संविधान को अंगीभूत करने का उल्लेख किया गया है। इसमें कहा गया है कि (हम भारत के लोग)..... दृढ़ संकल्प होकर अपने इस संविधान सभा में आज तारीख 26 नवम्बर 1949 ई. को एतद्द्वारा इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मसमर्पित करते हैं। यहां यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि संविधान 26 नवम्बर 1949 को अंगीकृत किया गया था और उसी दिन अनुच्छेद 394 तथा उसमें उल्लिखित 15 अन्य अनुच्छेद लागू कर दिए गए थे। संविधान के शेष उपबंध 26 जनवरी 1950 को लागू किए गए।

उद्देशिका का महत्व:

भारतीय संविधान की प्रस्तावना को संविधान की आत्मा कहा गया है। संविधान-निर्मात्री सभा के एक सदस्य के.एम. मुंशी ने प्रस्तावना को 'संविधान की राजनीतिक कुण्डली' कहा था जिसका अर्थ यह है कि संविधान की वास्तविकताएं और उसकी मूल विशेषताएं एवं दर्शन प्रस्तावना में परिलक्षित होता है। संविधान की प्रस्तावना संविधान की व्याख्या का आधार प्रस्तुत करती है। यह संविधान का दर्पण है जिसमें पूरे संविधान की तस्वीर दिखाई देती है, यह संविधान का चेहरा है जिसे संविधान की पहचान होती है।

संविधान की प्रस्तावना संविधान का अंग है या नहीं, इस प्रश्न पर काफी विवाद रहा है। संविधान-निर्मात्री सभा की कार्यवाही को देखने से यह पता चलता है कि संविधान-निर्माताओं ने इसे संविधान के अंग के रूप में स्वीकार किया था। यह उल्लेखनीय है कि पूरे संविधान पर विचार करने के बाद अंत में उद्देशिका पर विचार किया गया था। उस समय कुछ सदस्यों द्वारा यह प्रस्ताव लाया गया था कि उद्देशिका पर किसी अन्य तिथि पर विचार किया जाए जिसे अस्वीकार करते हुए सभापति ने कहा था कि 'द्वितीय पाठन में संपूर्ण संविधान एक साथ पारित करना होगा और उद्देशिका संविधान का एक अंग है इसलिए उद्देशिका को आगे के लिए टाला नहीं जा सकता।'

उद्देशिका का मतदान के लिए रखते समय सभापति ने फिर से कहा:

'प्रश्न यह है कि उद्देशिका संविधान का अंग है।' संविधान सभा ने इस प्रस्ताव को पारित कर दिया।' इससे स्पष्ट है कि संविधान सभा ने उद्देशिका को संविधान के अभिन्न अंग के रूप में स्वीकार किया था।

उद्देशिका और संविधान के बीच क्या संबध है, इस विषय में न्यायपालिका का दृष्टिकोण परिवर्तित होता रहा है। 1960 में बेरूबारी मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने यह स्पष्ट रूप से कहा था कि 'उद्देशिका संविधान के प्रावधानों द्वारा सरकार को दी गयी सामान्य शक्तियों का स्रोत नहीं है।' दूसरे शब्दों में उद्देशिका संविधान का अंग नहीं है। सज्जन सिंह बनाम राजस्थान के मुकदमें में दिए गए निर्णय में न्यायाधीश हिदायतुल्ला ने प्रस्तावना के महत्व पर प्रकाश डालते हुए कहा था कि बेरूबारी मुकदमे में सर्वोच्च न्यायालय ने यह दृष्टिकोण अपनाया था कि प्रस्तावना संविधान का अंग नहीं हैं। किन्तु 'कुछ अर्थों में यह संविधान का अंग है औ कुछ अर्थों में नहीं। हमारी प्रस्तावना अपनी प्रकृति की दृष्टि से अमेरिकी संविधान की प्रस्तावना के बजाए अमेरिकी की स्वतंत्रता के घोषणा पत्र में ज्यादा निकट है। यह कोई शक्ति प्रदान नहीं करती लेकिन यह संविधान को एक दिशा और उद्देश्य प्रदान करती है जिसकी अभिव्यक्ति भाग 3 और 4 में पाई जाती है।'

1969 में गोलकनाथ बनाम पंजाब राज्य के मामले में भी न्यायमूर्ति वांचू ने इस दृष्टिकोण की पुष्टि की थी कि उद्देशिका संविधान का अंग नहीं है।

1976 में केशवानंद भारती बनाम केरल राज्य के मुकदमें में सर्वोच्च न्यायालय ने यह दृष्टिकोण प्रतिपादित किया कि प्रस्तावना संविधान का अंग है औरा इसमें संविधान की मूल विशेषताएं उल्लिखित हैं। इस मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने 'संविधान की मूल संरचना सिद्धांत' का प्रतिपादन करते हुए यह निर्णय दिया कि संसद पूरे संविधान में संशोधन कर सकती है किन्तु वह संविधान के मूल ढांचे को नहीं बदल सकती। इसी क्रम में सर्वोच्च न्यायालय ने यह कहा कि संविधान का मूल ढ़ांचा किन सिद्धांतों पर आधारित है इसका उल्लेख उद्देशिका में है।

अत: उद्देशिका को संशोधित नहीं किया जा सकता। भारतीय संविधान की उद्देशिका की एक प्रमुख विशेषता यह है कि

Hari IAS

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

इसमें ईश्वर अथवा किसी पारलौकिक शक्ति का कोई संदर्भ या प्रार्थना किसी वाक्य का प्रयोग नहीं किया गया है। इसमें प्रेरणा स्रोत के रूप में किसी बलिदानी पुरुष या दार्शनिक का नाम अथवा अपने इतिहास अथवा उन परिस्थितियों का कोई उल्लेख नहीं किया गया है जिनमें संविधान की रचना की गई। इसके विपरीत आस्ट्रेलिया कामनवेल्थ के संविधान-अधिनियम की प्रस्तावना में 'ईश्वर के आर्शीवाद' शब्द का प्रयोग किया गया था। ब्राजील के 1946 के संविधान में 'ईश्वर के संरक्षण' ; क्यूबा के 1940 के संविधान में 'ईश्वर की कृपा' शब्द का प्रयोग किया गया था। इसी प्रकार 1947 के चीन गणराज्य के संविधान की प्रस्तावना में 'डॉक्टर सन यात-सेन के उपदेशों के अनुसार शब्दों का प्रयोग किया गया था। 1949 में निर्मित हंगरी गणराज्य के संविधान में उक्त संविधान के निर्माण से पूर्व की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का संक्षेप में संदर्भ दिया गया है।

भारतीय संविधान की उद्देशिका की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि, अत्यधिक संक्षिप्त होते हुए भी यह उन समस्त आदर्शों और सिद्धांतों का उल्लेख करती है जो हमारे संविधान की आधारशिला हैं।

फिशर IAS

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

संविधान का संशोधन (अनु. 368)

संविधान किसी भी देश का एक ऐसा प्रलेख होता है जिसमें नागरिकों की आकांक्षाओं को ध्वनि मिलने के साथ-साथ नागरिकों के पारस्परिक संबंधों, नागरिकों का राज्य के साथ संबंध ों और शासन के विभिन्न अंगों के बीच संबंधों का विशद विवेचन होता है। किसी भी सुव्यवस्थित राज्य का मार्ग संविधान से होकर ही जाता है। जेलीनेक ने इसीलिए लिखा है कि संविधान के बिना कोई राज्य जीवित नहीं रह सकता, ठीक वैसे ही जैसे कोई व्यक्ति बिना कपड़े के नहीं रह सकता। संविधान शासन के निरंकुश कार्यों को सीमित करता है, जनता के अधिकारों व स्वतंत्रताओं की रक्षा करता है तथा प्रभुसत्ता के कार्यक्षेत्र का निर्धारण करता है। चाहे संविधान लिखित हो या अलिखित या परम्पराओं पर आधारित प्रकृति का हो, उसके प्रति सम्मान एवं आस्था की निरंतरता भावी पीढ़ियों में भी बनी रहे, यह अति आवश्यक है। लोकतांत्रिक स्थिरता, संवैधानिक गतिशीलता और परिवर्तनशील सामाजिक-राजनीतिक परिस्थितियों के साथ साम्य व संतुलन ही संविधान की गरिमा और उसके प्रति जनसम्मान का आधार है।

संविधान का एक धर्म होता है कि बदलती हुई परिस्थितियों में, उभरती हुई जनआकांक्षाओं के साथ स्वयं को समायोजित कर ले अन्यथा उसे उपेक्षा एवं अनादर सहना होगा। संविधान का अस्तित्व, भविष्य, प्रासंगिकता एवं उपयोगिता का आधार उसकी संशोधन करने की शक्ति एवं क्षमता होती है। यदि संविधान में संशोधन की प्रणाली या प्रक्रिया न रहे तो समय के साथ समाज आगे बढ़ जाएगा और संविधान के प्रावधान पीछे छूट जाएंगे, फलत: संविधान अप्रासंगिक हो जाएगा। समय के साथ-साथ मानव समाज वृद्धि एवं विकास की ओर अग्रसर होते हैं और यदि उनके यहां अपने आंतरिक विकास हैं आवश्यकताओं को देखते हुए संवैध ानिक परितर्वन की व्यवस्था न हो तो संविधान गतिरोध व गिरावट के शिकार हो जाते है।। अत: लिखित संविधान का प्रमुख व महत्वपूर्ण लक्षण या भाग संशोधन प्रणाली ही होती है।

संविधान सभा में पं. नेहरू ने कहा था कि, ''यह हो सकता है कि जिस संविधान को यह सदन बना रहा है वह स्वतंत्र भारत को संतुष्ट न कर सके। यह सदन आने वाली पीढ़ी या जनता को इस प्रकार बांध नहीं सकता, जो कि किसी कार्य के लिए सम्यक रूप से हमारे उत्तराधिकारी होंगे। उन्होंने पुन: कहा था कि, ''जब नया सदन संविधान के प्रावधानों के अनुसार निर्वाचित होता है, चाहे उसका नाम जो भी हो और भारत का प्रत्येक नागरिक मत देने का अधिकार रखता है, तब जिस सदन का जन्म होगा वह निश्चित रूप से भारतीय जनता के प्रत्येक वर्ग का पूर्ण प्रतिनिधित्व करेगा। इस प्रकार रूप से निर्वाचित सदन को जैसा वह चाहे, परिवर्तन करने का सरल अवसर होना चाहिए।''

भारतीय संविधान के भाग 20 का एकमात्र अनुच्छेद, अनु. 368 भारतीय संविधान में संशोधन की प्रक्रिया सुनिश्चित करता है।

अनु. 368(1) के अनुसार, इस संविधान में किसी बात के होते हुए भी संसद अपनी संविधायी शक्ति का प्रयोग करते हुए इस संविधान के किसी उपबंध की परिवर्तन, परिवर्द्धन एव निरसन के रूप में संशोधन इस अनुच्छेद में वर्णित प्रक्रिया के अनुसार करेगी।

इससे स्पष्ट है कि 'संशोधन' का संविधान के परिप्रेक्ष्य में 3 अर्थ निकलता है- परिवर्तन, परिवर्द्धन एवं निरसन। 'परिवर्द्धन' का तात्पर्य है कि समय की मांग को देखते हुए संविधान में कतिपय नए प्रावधानों को जोड़ देना। 'परिवर्तन' का तात्पर्य है, संविधान के किसी या कुछ भाग को हटाकर नए प्रावधानों का समावेश करना और 'निरसन' का अर्थ है संविधान के किसी उपबंध को (प्रगति के मार्ग में बाधक होने या अप्रासंगिक होने के कारण) निकाल देगा। इस प्रकार, भारतीय संसद को संविधान के किसी प्रावधान को हटाने का, संविधान में कोई नया प्रावधान जोड़ने का और किसी पुराने प्रावधान के स्थान पर नए प्रावधान लाने का अधिकार है। इस प्रकार का कोई भी काम संविधान का संशोधन माना जाएगा। संविध ान का संशोधन करने की प्रक्रिया क्या होगी, इसका प्रावधान अनु. 368(2) में वर्णित है, जिसके अनुसार,

संविधान का संशोधन करने वाले विधेयक को संसद के किसी भी सदन (या तो लोकसभा या राज्यसभा) में पहले प्रस्तुत किया जा सकता है। संसद के दोनों सदन अलग-अलग अपनी कुल सदस्य संख्या के बहुमत तथा उपस्थित व मतदान करने वाले सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से संविधान संशोधन विधेयक को पारित करेंगे और तब फिर यह विधेयक राष्ट्रपति के समक्ष प्रस्तुत किया जाएगा, जो विधेयक को अपनी अनुमति देगा और उसके बाद संविधान तद्नुरूप संशोधित हो जाएगा (अनु. 368(2))।

परंतु निम्नलिखित संशोधन प्रावधानों से संबंद्ध विधेयक को राष्ट्रपति के समक्ष, अनुमति (हस्ताक्षर) के लिए प्रस्तुत किए जाने के पूर्व कम-से-कम आधे राज्यों के विधानमंडलों का संकल्प द्वारा पारित अनुसमर्थन भी आवश्यक होगा। ये प्रावधान इस प्रकार हैं:

(क) अनु. 54(राष्ट्रपति का निर्वाचन मंडल), अनु. 55 (राष्ट्रपति के निर्वाचन की रीति), अनु. 73(केन्द्र की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार), अनु. 162 (राज्यों की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार) और अनु. 241 (संघ राज्य क्षेत्रों के लिए उच्च न्यायालय),

(ख) संविधान के भाग 5 का अध्याय 4 (संघ की न्यायपालिका अर्थात् उच्चतम न्यायालय से संबंधित कोई विषय), भाग 6 का अध्याय 5 (राज्यों के उच्च न्यायालय से संबंधित कोई विषय), भाग 11 का अध्याय 1 (संघ और इकाई राज्यों के बीच विधायी शक्तियों का वितरण),

FREE IAS

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

(ग) सातवीं अनुसूची की किसी सूची (संघ, राज्य या समवर्ती सूची) से सम्बद्ध कोई विषय,

(घ) संसद में राज्यों का प्रतिनिधित्व,

(ङ) स्वयं अनु. 368 के किसी प्रावधान में कोई संशोधन।

संविधान के अनके प्रावधानों में संसद को सामानय विधि निर्माण प्रक्रिया द्वारा संशोधन करने का अधिकार है। ऐसे संशोधनों को अनु. 368 में वर्णित प्रक्रिया (दो तिहाई बहुमत) की आवश्यकता नहीं होगी और नही उसे 'संविधान का संशोधन' माना जाएगा। इस प्रकार के संवैधानिक प्रावधानों में परिवर्तन संसद के दोनों सदनों द्वारा अलग-अलग अपने बहुमत से किया जा सकेगा। इस प्रकार के परिवर्तन निम्नलिखित प्रावधान या अनुच्छेदों में किए जा सकते हैं:

संघ में नए राज्यों का प्रवेश या नए राज्यों का निर्माण, वर्तमान राज्यों के क्षेत्रों, नाम या सीमाओं में परिवर्तन में परिवर्तन या पुनर्गठन (अनु. 2,3,4), नागरिकता से संबंधित प्रावधान (अनु. 11), संसदीय विशेषाधिकारों से संबंधित प्रावधान (अनु. 105(3)), उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की संख्या (अनु. 124(1)), राज्यों में विधानपरिषदों के सृजन एवं उत्सादन से संबंधित प्रावधान (अनु. 169), अनुसूचित जाति एवं जनजाति से संबंद्ध प्रावधान (5वीं अनुसूची का भाग घ), अनु. 59 (3), मंत्रियों के वेतन भत्ते (अनु. 75(6)), राज्यसभा के सभापति एवं उपसभापति और लोकसभा के अध्यक्ष एवं उपाध्यक्ष के वेतन-भत्ते एवं सेवा-शर्तें (अनु. 125(2)), नियंत्रक महालेखापरीक्षक के वेतन, भत्ते एवं विशेषाधिकार संबंधी नियम (अनु. 158(3)), उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों का वेतन (अनु. 221(2)), अनुसूची 2 में वर्णित अन्य महत्वपूर्ण संवैधानिक पदाधिकारियों के वेतन भत्ते, इसके अतिरिक्त निम्नलिखित अनुच्छेद भी इसी श्रेणी में आते हैं: अनुच्छेद 10, 53(3), 65(3), 73(2), 97 98(3), 106, 120(2), 135, 142(1), 146(2), 148(3),149, 171(2), 186, 187(3), 189(3), 194(3), 195, 210(2), 221(2), 225, 229(2), 239(1), 241(3), 283(1)(2), 285(2), 287, 300(1), 313, 345 एवं 373

इस प्रकार हम देखते हैं कि, भारतीय संविधान में तीन प्रकार से संशोधन किए जा सकते हैं:

(A) सामान्य बहुमत से (जिसे अनु. 368 के अंतर्गत 'संविधान का संशोधन' ही नहीं माना
जाएगा),

(B) संसद के प्रत्येक सदन के बहुमत तथा उपस्थित एवं मतदान करने वाले सदस्यों के
दो-तिहाई बहुमत से और

(C) संसद के प्रत्येक सदन के बहुमत तथा उपस्थित एवं मतदान करने वाले सदस्यों के
दो-तिहाई बहुमत और आधे राज्यों के विधानमंडलों द्वारा पारित अनुसमर्थन संकल्प द्वारा।

यदि हम उपरोक्त 'C' को छोड़ दे तो कह सकते हैं कि भारतीय संविधान की संशोधन प्रणाली नम्य अर्थात् लचीली है। संघात्मक शासन और लिखित संविधान होने के बावजूद भी संशोध न प्रणाली के नम्य/सरल रहने पर जवाहर लाल नेहरू ने कहा था कि, 'हम चाहते हैं कि संविधान को यथाशक्ति ठोस व स्थायी बनाएं किन्तु संविधान शास्वत नहीं होता, उमसें कुछ नम्यता होनी चाहिए। यदि संविधान को अनम्य व अपरिवर्तनशील बन दिया जाय तो देश की प्रगति अवरूद्ध हो जाएगी और एक सजीव, क्रियाशील एवं सावयव राष्ट्र की गति व हित में बाधा पड़ेगी। जो भी हो हमें कुछ अन्य बड़े राष्ट्रों जैसा संविधान नहीं बनाना चाहिए जो इतना कठोर हो कि उसे आसानी से बदलती हुई परिस्थितियों के अनुकूल ढ़ाला न जा सके।''

संविधान संशोधन के लिए सुगम प्रक्रिया अपनाने का राजनीतिक महत्व भी था। वह यह था कि, यदि राजनीतिक प्रणाली में संशोधन की मांग जनता करती है और वह मांग विशाल रूप ध रण कर लेती है तो परिवर्तन करना संभव होना चाहिए। ऐसा न हो कि जनता की मांग आंदोनल का रूप धारण कर ले और संविधान इतन अनम्य/कठोर हो कि उसे चाहकर भी तत्काल संशोधित नहीं किया जा सके।

इन परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए प्रारूप समिति ने ही फुल्टन के फार्मूले (कनाडा के संबंध में जब ब्रिटिश नार्थ अमेरिका ऐक्ट पारित किया गया तब डी. फुल्टन द्वार निर्धारित प्रक्रिया के अनुसार, पूरे ऐक्ट को 5 श्रेणियों में बांटा गया था और प्रत्येक श्रेणी में संशोधन करने की प्रक्रिया भिन्न-भिन्न थी) पर चलते हुए संविधान के विभिन्न अनुच्छेदों में संशोधन करने की भिन्न-भिन्न प्रक्रिया लागू की-सामान्य बहुमत, दो-तिहाई बहुमत और दो तिहाई बहुमत एवं आधे राज्यों क अनुसमर्थन। डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने संविधान सभा में संशोधन के प्रावधान को प्रस्तुत करते हुए कहा था कि, ''जो संविधान से असंतुष्ट हैं उन्हें बस दो-तिहाई बहुमत प्राप्त करना होगा। यदि वे वयस्क मताधिकार के आधार पर निर्वाचित संसद में दो-तिहाई बहुमत भी नहीं पा सकते हैं, तो यह समझा जाना चाहिए कि, संविधान के प्रति असंतोष में (अर्थात् संविधान में संशोधन करने के प्रश्न पर) जनता उनके साथ नहीं है।''

भारतीय संविधान की संशोधन-व्यवस्था से जो स्पष्ट संकेत मिलता है उसके अनुसार, संविधान-संशोधन की निम्नलिखित विशेषताएं द्रष्टव्य हैं:

(1) संविधान में संशोधन करने की शक्ति एक निश्चित प्रक्रिया के अधीन संघीय व्यवस्थापितका
(संसद) में निहित है और संवैधानिक-सम्मेलन बुलाने में जैसी कोई व्यवस्था नहीं है,

(2) राज्य विधानमंडल संविधान संशोधन के लिए कोई विधेयक या प्रस्ताव प्रारंभ नहीं कर सकते, संशोधन की पहल करने का अधिकार केवल संसद को ही है,

TRUST IAS

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

(3) अनु. 368 के उपबंधों के अधीन रहते हुए संसद संविधान संशोधन विधेयक को उसी प्रकार पारित करती है जैसे कि कोई सामानय विधेयक। सामान्य एवं संविधान संशोधन विधेयक में दो अंतर हैं। एक -सामान्य विधेयकों के संदर्भ में संसद के दोनों सदनों में मतभेद की स्थिति में दोनों सदनों की संयुक्त बैठक (अनु. 108) आहूत की जा सकती है, लेकिन संशोधन के विधेयक पर दोनों सदनों में असहमति होने की दशा में संयुक्त बैठक नहीं बुलायी जा सकती क्योंकि संविधान संशोधन विधेयक दोनों सदनों द्वारा पृथक-पृथक पारित होना चाहिए। दो-सामान्य विधेयकों को राष्ट्रपति संसद को पुनर्विचार के लिए वापस कर सकता है, लेकिन संसद के दोनों सदनों द्वारा सम्यक रूप से पारित संविधान संशोधन विधेयक को राष्ट्रपति संसद को पुनर्विचार के लिए वापस नहीं लौटा सकता,

(4) संविधान संशोधन विधेयक संसद के किसी भी सदन में प्रस्तुत किया जा सकता है, इसे प्रस्तुत करने के पूर्व राष्ट्रपति की अनुमति की आवश्यकता नहीं होती,

(5) अमेरिका में जहां संविधान संशोधन के लिए तीन-चौथाई राज्यों के विधानमंडलों के अनुसमर्थन की आवश्यकता होती है, वहीं भारत में मात्र आधे राज्यों की स्वीकृति अपेक्षित है।

अनु. 368 की प्रक्रिया के संबंध में अभी भी कुछ ऐसे प्रश्न हैं जिसके कारण स्थिति अभी तक अस्पष्ट बनी हुई है।

संविधान के सर्वाधिक महत्वपूर्ण भाग 'संशोधन प्रणाली' पर संविधान सभा ने अंत में विचार किया था और अत्यंत शीघ्रतापूर्वक सदन ने इसे निपटा दिया था। सदस्यों की जल्दबाजी के कारण इमें अनके कमियां रह गयी जिनकी और प्रो. के.वी. राव ने संकेत करते हुए यह कहा कि, न्यायपालिका को इन्हें दूर करना होगा, जैसे-

(1) संविधान संशोधन के संदर्भ में राज्यों की इच्छा जानने की पद्धति कौन सी है? भारतीय संविधान में अमेरिका की भांति इकाई राज्यों को अपनी इच्छा व्यक्त करने के संबंध में एक निश्चित अवधि का प्रावधान नहीं है। एक प्रश्न यह भी है कि, क्या संशोधन प्रस्ताव सभी राज्यों के विधानमंडलों को भेजा जाएगा या केवल आधे राज्यों को भेजना पर्याप्त होगा? स्मरणीय है कि, तृतीय संविधान संशोधन आधे राज्यों द्वारा स्वीकृत होने पर ही पारित घोषित कर दिया गया था, जबकि कुछ राज्यों के विधानमंडलों में अभी उस पर विचार ही चल रहा था।

तत्कालीन मैसूर सरकार ने इस पर आपत्ति भी की थी। यह प्रश्न इस दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है कि, अमेरिका राज्यों के विधानमंडल की भांति भारतीय राज्यों के विधानमंडल स्थाई नहीं हैं। वे कभी भी स्थगित या विघटित हो सकते हैं। इस बात की संभावना से इनकार नहीं किया जा सकता है कि, विपक्षी दलों द्वारा शासित राज्यों की विधानसभाएं भंग कर**के केन्द्र किसी संविधान संशोधन को अपने समर्थक राज्यों द्वारा पारित कराने** का प्रयास करे। यह भी संभव है कि केन्द्र सरकार केवल अपने समर्थक राज्यों को ही संविधान संशोधन को अपने समर्थक राज्यों द्वारा पारित कराने का प्रयास करे। यह भी संभव हे कि केन्द्र सरकार केवल अपने समर्थन राज्यों को ही संविधान संशोधन का प्रस्ताव भेजे और उन्हीं राज्यों के विधानमंडलों से प्रस्ताव पारित करा ले, अन्य राज्यों को संविधान संशोधन प्रस्ताव भेजा ही न जाय।

यह भी संभव है कि, राज्य व्यवस्थापिका के उच्च सदन (विधान परिषद) द्वार अस्वीकृत होने पर भी उस संशोधन प्रस्ताव को विधान सभा की स्वीकृति मिल जाने पर उसे पूरे विधानमंडल द्वारा पारित मान लिया जाए, अर्थात् राज्य विधानमंडल के दोनों सदनों में संविधान संशोधन के प्रश्न पर असहमति की दशा में क्या होगा, क्या विधानसभा की स्वीकृति या अस्वीकृति ही महत्वपूर्ण होगी या विधानपरिषद की इच्छा का भी सम्मान किया जाएगा? संविधान में यह भी स्पष्ट नहीं है कि विधानमंडल का अर्थ द्विसदनीय (विधानसभा एवं विधानपरिषद) से है या ऐसे राज्य जहां केवल विधानसभा ही अस्तित्व में है, उसे भी यह अधिकार होगा।

(2) भारतीय संविधान में न तो केन्द्र को यह निर्देश है कि कितने समय सीमा के भीतर संविधान संशोधन विधेयक पारित होना चाहिए और न ही राज्यों को यह निर्देश है कि, उन्हें कितने समय के भीतर अपने विधानमंडल द्वारा संविधान संशोधन विधेयक का अनुमोदन कराना अनिवार्य है। संविधान संशोधन विधेयक प्रस्ततु होने तथा उस पर कार्यवाही आरंभ होने के बाद यदि सामाजिक-राजनीतिक परिस्थितियां अचानक बदल जाय तो क्या ऐसी दशा में किसी प्रारंभ हो चुके संविधान संशोधन विधेयक को केन्द्र सरकार वापस ले सकती है?

(3) क्या कोई राज्य एक बार किसी संविधान संशोधन के बारे में व्यक्त अपने विचार को बदल सकता है? अमेरिका में यह प्रावधान है कि, राज्यों द्वारा एक बार व्यक्त विचार बदला नहीं जा सकता, लेकिन यदि राज्य ने संविधान संशोधन प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया है तो वह पुनः स्वीकार कर सकता है।

संविधान के प्रथम संशोधन के बाद ही प्रश्न उठाया गया कि क्या वैकल्पिक संसद, जो एकसदनीय है, इसे पूर्ण संशोधन निकाय मान जाय? क्योंकि संविधान द्वारा संशोधन शक्ति एक ऐसे निकाय को सौंपी गई है जिसके दो सदन हैं। यद्यपि न्यायाधीशों ने उस संसद के स्वरूप को व्यापक मानते हुए प्रथम संशोधन को मान्यता प्रदान कर दी, लेकिन यह प्रश्न पूर्ण विधिक संतुष्टि प्राप्त नहीं कर सका।

संविधान संशोधन की सीमाएं और उसका औचित्यः

संविधान संशोधन को लेकर जो भी बौद्धिक संवाद तथा विधिक वाद-विवाद उपस्थित हुए, उनमें यह प्रश्न बार-बार उठता रहा है कि, संसद की संशोधन शक्ति की सीमाएं एवं परिधि क्या है? यह प्रश्न इस बात पर निर्भर करता है कि, हम 'संशोधन' शब्द का क्या अर्थ लेते हैं? मौलिक अधिकारों तथा संविधान संशोधन

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

को लेकर जो वाद (मुकद्दमें) न्यायालय में संविधान लागू होने के बाद, दो दशकों के बीच आए, उनमें यह तर्क दिया गया कि, संसद की संविधान संशोधन की शक्ति के दायरे में सम्पूर्ण संविधान का पूरी तरह निराकरण करके उसके स्थान पर बिलकुल नया संविधान बनाने की शक्ति निहित है।

न्यायापूर्ण हंसराज खन्ना का विचार है कि, संविधान के संशोधन का आशय यह है कि, पुराने संविधान का मूल स्वरूप कायम रहे तथा उसमें परिस्थितिजन्य कुछ परिवर्तन किया जाए। संशोधन की शक्ति के अंतर्गत संविधान में बड़े-से-बड़े महत्वपूर्ण परितर्वन करने तथा युग की दशाओं एवं आवश्यकताओं को देखते हुए व्यवस्था में अपेक्षित परिवर्तन करने की अनुमति है, किन्तु संविधान की बुनियाद को या आधारभूत सांस्थानिक स्वरूप को हाथ लगाने की अनुमति नहीं है। अनु. 368 का ऐसा अर्थ नहीं लगाया जा सकता जिससे कि वह स्वयं संविधान को ही समाप्त करने का साधन बन जाए। क्राफोर्ड ने 'द कॉन्स्ट्रक्शन ऑफ स्टैचयूट्स' में लिखा है कि, जब किसी कानून को पूर्णत: या अशंत: यथापूर्व रखते हुए उसमें कोई चीज घटा या बढ़ा दी जाए, या उसमें कोई परिवर्तन या फेरबदल कर दिया जाए, जिसका उद्देश्य उसे और भी पूर्ण, त्रुटिहीन या प्रभावशाली बनाना हो तो उसे उस कानून के 'संशोधन' की संज्ञा दी जाती है, लेकिन यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि, किसी भी कानून में संशोधन करन तथा उसे रद्द करना एक ही बात नहीं है।

इस प्रसंग में सूदरलैण्ड का कहना है कि, किसी वर्तमान कानून की व्याप्ति या उसके प्रभाव में उसके उपबंधों को बढ़ाकर, घटाकर या बदलकर किए गए वे सभी परिवर्तन 'संशोधन' हैं, जिनके फलस्वरूप उस कानून का अस्तित्व पूरी तरह समाप्त नहीं होता, फिर चाहे ये संशोधन, निराकरण या पुनरीक्षण आदि इस सीमित उद्देश्य के लिए कोई अधिनियम लाकर किए गए हों या एक सर्वथा स्वतंत्र व मौलिक अधिनियम के जरिए किए गए हों।

संसद की संशोधन शक्ति की सीमाओं के निर्धारण को केशवानंद भारती वाद में मुख्य विषय बनाया गया। एक तरफ संसदीय सर्वोच्चता की स्थापना के लिए असीमित, अनियंत्रित एवं व्यापक संशोधन शक्ति का दावा था और दूसरी ओर, संविधान के व्याख्यता एवं संरक्षक के रूप में सर्वोच्च न्यायालय के सामने यह प्रश्न था कि क्या संसद की संशोधन शक्ति न्यायिक पुनरावलोकन से परे होगी? 24 अप्रैल, 1973 को सर्वोच्च न्यायालय की उस समय तक की सबसे बड़ी पीठ ने, अधिकतम समय की सुनवाई, अधिकतम विद्वान अधिवक्ताओं के तर्कों एवं साक्ष्यों के बाद अधिकतम निर्णय संख्या और अधिकतम विस्तृत रूप में 7:6 के बहुमत से केशवानंद वाद में निर्णय देते हुए कहा कि, अनु. 368 में वर्णित संशोधन शक्ति अत्यंत व्यापक है तथा संसद सविधान में संशोधन करने के लिए सक्षम है, वह मूल अधिकारों में भी कोई संशोधन कर सकती है, किन्तु संसद कोई ऐसा संशोधन नहीं कर सकती जो संविधान की मूल संरचना को अथवा उसके मूलभूत तत्वों को अथवा उसके बुनियादी ढ़ांचे को ही विनष्ट करता हो।

इस वाद में माननीय सर्वोच्च न्यायालय ने कहा कि, संसद के सदस्य पद ग्रहण करते समय संविधान के प्रतिरक्षण, परिरक्षण तथा संरक्षण की शपथ लेते हैं और संविधान में 'संशोध न' करने के लिए सक्षम हैं, लेकिन 'संशोधन' शब्द का प्रयोग संविधान की निरन्तरता को भंग करने के क्रम में नहीं किया जा सकता। इस वाद में न्यायाधीश खन्ना ने कहा था कि, 'संविधान सार्वजनिक जीवन को व्यवस्थित रखने का साधन है, भूतकाल में उसकी जड़े हैं, वर्तमान में उसके बने रहने का प्रतिविम्ब है और उसे एक अज्ञात व अनिश्चित भविष्य के लिए ही बनाया गया है।''

संशोधन की असीम शक्ति का दावा इस तर्क के आध ार पर किया जाता है कि, संसद जनता की इच्छाओं की लोकतांत्रिक अभिव्यक्ति है और यह जनता के सर्वोच्च अभिव्यक्ति है। जनप्रतिनिधि योंकी शक्ति को सीमित मानना, वस्तुत: जनता की शक्ति को सीमित माना है। सम्पत्ति के अधिकार पर संविधान निर्मात्री सभा में बोलते हुए पं. नेहरू ने कहा था कि, 'कोई सर्वोच्च न्यायालय अथवा कोई न्यायपालिका संसद की संप्रभु इच्छा को स्वयं के विचाराधीन नहीं बना सकती। संसद सम्पूर्ण देश की इच्छा का प्रतीक है... सम्पूर्ण संविधान संसद की कृति है।

न्यायाधीशों का कार्य यह देखना है कि, कुछ ऐसा न कर दिया जाए जो संविधान के प्रतिकूल हो अथवा देश के कल्याण के प्रतिकूल हो अथवा व्यापक अर्थों में समाज के हितों के प्रतिकूल हो।'' पं. नेहरू ने यह भी स्पष्ट किया कि न्यायालय को सार्वजनिक कल्याण के संदर्भ में अधिनियमों पर पुनर्विचार करना है। यह बात समझ में नहीं आती कि, सार्वजनिक कल्याण की व्याख्यता संसद है या न्यायपालिका। यदि दो संस्थाएं सार्वजनिक कल्याण की व्याख्या कर रही हैं तो यह संभव है कि, कभी ऐसा समय आए कि दोनों की व्याख्याएं एक-दूसरे से भिन्न हो जायं। पं. नेहरू के अनुसार, ऐसी दशा में संसद सर्वोच्च है और सामाजिक सुधारों को क्रियान्वयन करने के लिए संसद द्वारा उठाए गए कदमों में न्यायाध ीशों का हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए। यदि हस्तक्षेप किया गया तो पं. नेहरू ने चेतावनी दी थी कि, या तो संविधान को बदला जा सकता है या न्यायपालिका में ऐसे न्यायाधीशों को नियुक्त किया जा सकता है जो सरकार के मनोनुकूल हों। बाद में आगे चलकर जब उनकी बेटी इंदिरा गांधी प्रधानमंत्री बनी तो उन्होंने सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायधीश के पद पर ए.एन. रे को बैठाया तथा उनसे वरिष्ठ न्यायाधीश शैलेट, हेगड़े तथा ग्रोवर के वरिष्ठता की उपेक्षा कर दी, और उन्होंने भी वहीं तर्क दिया जो पं. नेहरू ने दिया था।

यह बात स्वीकार नहीं की जा सकती कि, एकमात्र संसद ही जनता की इच्छाओं को प्रतिविम्बत करती है, क्योंकि प्रतिनिधि तो एक निर्धारित समय के लिए चुने जाते हैं, लेकिन संशोधन संविधान का स्थायी अंग बन जाता है। इसलिए एक निश्चित अवधि के लिए निर्वाचित प्रतिनिधियों को संविधा**न मूलभूत परिवर्तन**

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

करने का अधिकार नहीं दिया जाना चाहिए। संविधान में संशोधन का आकार और अधिकार नहीं दिया जाना चाहिए। संविधान में संशोधन का आकार और अधिकार एक निश्चित सीमा के बाहर नहीं होना चाहिए। यही सीमाएं वर्तमान राजनीतिक सभ्यता व संस्कृति की उपलब्धि है और प्रत्येक देश का शासन इन सीमाओं का अतिक्रमण करने से बचने का प्रयास करता है।

यह सत्य है कि, संसद जन इच्छाओं का प्रतीक व प्रतिनिधि है लेकिन इस उच्च स्थिति के बाद भी उसकी अपनी मर्यादाएं व सीमाएं बनी हुई हैं। वह जनइच्छा के नाम पर मनमाने निर्णय लेकर संविधान संशोधन नहीं कर सकती, जैसे संसद यह कभी नहीं कह सकती कि, यदि देश की जनता मांग करे कि देश में लोकतांत्रिक शासन की जगह तनाशाही लायी जाए, तो संसद को तानाशाही लाने का कानून बना देना चाहिए अथवा यदि देश की जनता बहुमत के नाम पर मांग करे कि देश को दो टुकड़ों में बांट देना चाहिए, तो क्या संसद ऐसा कानून बना सकती है? कभी नहीं। वस्तुतः राजनीतिक जीवन में सामान्य जन की मानसिकता पर बहुत सारे दबाव दिखाई देते हैं। इसलिए यह संभव है कि जनता अपने निर्णय से अपनी स्वतंत्रता एवं अपने गणतांत्रिक-लोकतांत्रिक ढ़ांचे को ही समाप्त करने की मांग शुरू कर दे।

इस प्रकार के जननिर्णयों तथा उनके प्रभावमें आकार बनाए गए कानूनों को यदि न्यायपालिका अवैध घोषित कर दे तो इसे न्यायपालिका का विधायिका के कार्यों में हस्तक्षेप माना जाएगा? संविधान में संशोधन करने की शक्ति एवं क्षमता के दुरुपयोग की संभावनाएं काल्पनिक नहीं हैं। 39 वें संविधान संशोधन का प्रावधान (जिसमें कहा गया था कि राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, प्रधानमंत्री तथा लोकसभाध्यक्ष के निर्वाचन को चुनौती देने वाली कोई याचिका स्वीकार नहीं की जाएगी अर्थात् इन पदों पर यदि कोई व्यक्ति गलत तरीके से चुनावा जीतकर भी पहुंच जाए तो इनका निर्वाचन रद्द नहीं कराया जा सकता क्योंकि कोई न्यायिक उपचार उनके विरूद्ध नहीं मिलेगा) तथा 42वें संविधान संशोधन में छिपी महत्वाकांक्षाएं इस संभावना को बल प्रदान करती हैं। वस्तुतः भारतीय राजनीति के चरित्र को देखते हुए संसद की संशोधन शक्ति को असीमित मानना आत्माघाती विनाशकारी होगा।

संविधान के मौलिक ढ़ांचे का सिद्धांतः

संविधान के दुरुपयोग की चर्चा इसलिए की गयी कि यह सुनिश्चित किया जा सके कि संशोधन शक्ति पर सीमाएं होनी चाहिए। चूंकि संविधान निर्माताओं ने संशोधन शक्ति पर कोई स्पष्ट परिसीमा नहीं लगायी, इससे कार्यपालिका एवं व्यवस्थापिका ने यह माना लिया कि, संशोधन शक्ति पर कोई सीमा ही नहीं है। इससे व्यक्तियों के मूल अधिकार, लोकतांत्रिक मानदंड तथा संवैधानिक मूल्य खतरे में पड़ गए, परंतु यह खतरा जड़ जमाए, उसके पूर्व ही सर्वोच्च न्यायालय ने (जिसे संविधान निर्माताओं ने संविधान का व्याख्याता एवं संरक्षक माना है) केशवानंद भारती वाद में, संविधान संशोधन पर सीमा के रूप में 'संविधान की मौलिक संरचना' का सिद्धांत देकर न केवल एक वैधानिक तथ्य का प्रतिपादन किया, बल्कि एक राजनीतिक मापदंड या कसौटी भी दे दिया।

एक अल्प राजनीतिक चेतना वाले समाज में न्यायालय द्वारा निर्धारित मापदंड ही वहां की कार्यपालिका एवं व्यवस्थापिका को सीमाओं में रख सकता है। यद्यपि मौलिक संरचना को अस्पष्ट, स्थैतिक, गतिहीन या असंशोध्य बताकर उसकी आलोचना की जाती है किन्तु व्यावहारिक राजनीतिक अनुभव यह बताता है कि, मौलिक संरचना की अवधारणा वह धुरी है जो हमारे राजनीतिक व संवैधानिक जीवन को स्थिरता प्रदान करती है और साथ ही यह अवधारणा एक ऐसा केन्द्र है जो हमारे सामाजिक एवं आर्थिक प्रगति के अधिनियमों का निरंतर संदर्भ बनी रह सकती है। प्रगतिशील एवं समयानुकूल अधिनियमों का यह उद्देश्य नहीं होता कि वे उपलब्ध संवैधानिक-राजनीतिक आदर्शों/मूल्यों को नष्ट करते रहें। कुल मिलाकर मौलिक संरचना के उपकरण न तो सामाजिक अधिनियमों के प्रतिकूल हैं और नहीं सभ्य, स्वतंत्र एवं उन्नत राजनीतिक समाज में इनकी अवहेलना की जा सकती है।

संसद की संशोधन शक्ति की क्षमता पर मौलिक संरचना का सिद्धांत एक प्रभावी एंव स्पष्ट सीमा आरोपित करता है। वस्तुतः इस सीमा का निर्धारण परिस्थितिजन्य निर्णय था। तत्कालीन कार्यपालिका (श्रीमती गांधी के नेतृत्व में), व्यवस्थापिका में अपने बहुमत का प्रयोग अविवेकपूर्ण ढ़ंग से संविधान में मनमाने संशोधन करने में कर रही थी, इन संशोधनों का जनहित से कोई संबंध नही था। ऐसी दशा में सर्वोच्च न्यायालय ने संशोधनों की गति रोकर संविधान की गरिमा को सुरक्षित रखने का सफल व सार्थक प्रयास किया।

संसद की संशोधन शक्ति का सीमांकन सर्वोच्च न्यायालय की एक विशिष्ट उपलब्धि है। संविधान मूल्यों से है, जिनकी प्राप्ति के लिए हमने संविधान का निर्माण किया है। वे मूल्य हमारे संवैधानिक यात्रा के लक्ष्य हैं, इस लक्ष्य तक पहुंचना ही हमारी राजनीतिक व्यवस्था का अभिष्ट है। यदि ये मूल्य रूपी लक्ष्य समाप्त हो जाएंगे, तब हमारी लोकतांत्रिक यात्रा पथ से भटक जाएगी और जब लोकतंत्र ही भटक जाएगा तो मूल अधिकार व्यक्ति की गरिमा आदि बातें थोथी व निरर्थक हो जाएंगी। यह स्थिति अराजकता की होगी। सवोच्च न्यायालय किसी भी कानून या संविधान संशोधन का संवैधानिक पुनरीक्षण कर सकता है और यदि वह संविधान की मौलिक संरचना के प्रतिकूल है तो उसे रद्द घोषित कर सकता है।

संविधान निर्माताओं ने सर्वोच्च न्यायालय की शक्तियों को सीमित रखना चाहा था, किन्तु संसद की शक्तियों पर वे किसी प्राकर की कोई सीमा आरोपित नहीं करना चाहते थे। इसलिए अमेरिका संविधान में निहित 'विधि की उचित प्रक्रिया' के स्थान पर उन्होंने जापान के संविधान में वर्णित 'विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया' शब्दावली को ग्रहण किया। लगभग दो दशकों तक

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

सर्वोच्च न्यायालय ने इस व्यवस्था को स्वीकार किया, किन्तु सर्वोच्च न्यायालय के ऊपर संविधान की रक्षा का दायित्व भी है। इस दायित्व के उचित निर्वहन तथा तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों की दिशा को देखते हुए सर्वोच्च न्यायालय ने संविधान संशोधन की असीमित शक्ति में निहित संसदीय सर्वोच्चता के तर्क को अस्वीकार कर दिया। कहा जा सकता है कि, सर्वोच्च न्यायालय ने संविधान की मौलिक संरचना के सिद्धांत के सहारे संसदीय वर्चस्व के भ्रमजाल को तोड़ दिया। इस सिद्धांत ने सर्वोच्च न्यायालय **को वह शक्ति प्रदान की जो अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय के** पास भी नहीं है और वह शक्ति है, संविधान संशोधन का पुनरीक्षण करते हुए उसे वैध या अवैध ठहराना। संविधान संशोधन की सीमा के रूप में मौलिक संरचना का सिद्धांत इतना महत्वपूर्ण बन गया है कि, इसके अभाव में जनता और देश को लोकप्रतिनिधियों क अनुचित एवं असंवैधानिक कार्यों से बचाना कठिन हो जाता।

संसद की संशोधन शक्ति पर मर्यादा की आवश्कता को संसद ने 39वें संशोधन द्वारा सर्वोच्च न्यायालय को काफी सीमा तक महसूस करा दिया था। 'एलेक्शन केश के निर्णय को महत्वाकांक्षी राजनेता एवं संसदीय सम्प्रभुता के समर्थक सांसद एक चुनौती के रूप में स्वीकार किए, धीरे-धीरे यह प्रयास होने लगा कि, संसद को एक-एक करके सम्पूर्ण बंधनों तथा सीमाओं से मुक्त करा दिया जाए। 42वां संशोधन, जो एक लघु संविधान कहा जा सकता है, सत्ताधारी दल के इस प्रयास का सुन्दर व स्पष्ट उदाहरण है। इसके द्वारा अनु. 368(4) में यह प्रावधान जोड़ा गया कि संसद द्वारा पारित संविधान संशोधन विधेयक (यदि वह समुचित बहुमत से पारित न हुआ तो भी हमारे संघात्मक ढ़ांचे को प्रभावित करने वाला विधेयक आधे राज्यों के विधानमंडलों को नहीं भेजा जाता है तो भी) राष्ट्रपति के पास भेजे जाने पर उसे अपनी अनिवार्य सहमति देनी पड़ेगी और न्यायालय ऐसे किसी विधेयक की संवैधानिकता पर विचार नहीं कर सकते। इस प्रकार संसद को संविधान संशोधन संबंधी प्रक्रियात्मक बंधनों से भी मुक्त कर दिया गया। 29 अक्टूबर को उपरोक्त आशय का एक संविधान संशोधन विधेयक लोकसभा में प्रस्तुत किया गया और 2 नवंबर 1976 को पारित कर लिया गया।

राज्यसभा में प्रेषित होने पर 14 नवंबर 1976 को तत्कालीन विधिमंत्री श्री एच. आर. गोखले ने इस संशोधन विधेयक के उद्देश्य की ओर इशारा करते हुए कहा कि, 'विधेयक न केवल संविधान के संशोधन की सर्वोपरिता को स्थापित करता है, वरन् किसी भी शंका से परे यह स्पष्ट करता है कि, संविधान संशोधनों की वैध ानिकता को सुनिश्चित करना न्यायालय का कार्य नहीं है। संसद द्वारा किए गए संविधान संशोधन पर विचार करने की शक्ति किसी भी न्यायालय को नहीं होगी और संविधान संशोधन किसी भी प्रकार के न्यायिक पुनरावलोकन से परे होगा।'

उपरोक्त विचार केवल इसलिए रखे गए हैं कि, जिससे यह सिद्ध हो सके कि, जब तक जनता एवं संसद न्यायपालिका एवं संविधान के ऊपर अपन प्रभुत्व कायम रखने की कोशिश करती रहेगी, मौलिक संरचना का सिद्धांत अपरिहार्य सीमा के रूप में अपनी शास्वत उपयोगिता व प्रासंगिकता से निखार पाता रहेगा।

आज हम देख सकते हैं कि भारत का सर्वोच्च न्यायालय 'कानून की उचित प्रक्रिया' की ओर कदम बढ़ा चुका है। जनहित याचिकाएं इसी की एक कड़ी के रूप में देखी जा सकती हैं। लोकप्रियता की राजनीति जब सत्ता में बने रहने का सूत्र या माध्यम बन गयी तो ऐसे में सर्वोच्च न्यायालय ने उस पर विचारपूर्वक एक विवेकसम्मत सीमा लगा दी। संविधान संशोधन की शक्ति एवं इसके दुरुपयोग के बारे में न्यायपालिका की चिन्ता को भली-भांति समझा जा सकता है।

मौलिक संरचना सिद्धांत की समीक्षात्मक आलोचना:

न्यायपालिका द्वारा प्रस्तुत मौलिक संरचना सिद्धांत एक ऐसा लिट्मस टेस्ट है जिससे होकर ही कोई संविधान संशोधन वैध ता प्राप्त कर सकता है। यह सिद्धांत सर्वोच्च न्यायालय को संविध ान निर्मात्री संस्था के रूप में प्रतिष्ठित कर देता है। यह निरंतर बनी रहने वाली स्थायी संविधान निर्माण की प्रक्रिया है जिसे सर्वोच्च न्यायालय मौलिक संरचना सिद्धांत के बहाने चला रही है। आलोचकों ने इसे 'न्यायापालिका द्वारा शासन करने की प्रवृत्ति' का श्रीगणेश बताया। न्यायपालिका को तो किसी भी अर्थ में जनता का प्रतिनिधि नहीं का जा सकता। वस्तुत: न्यायपालिका की कोई धारणा जनादेश पर आधारित नहीं होती, वह तो न्यायाधीशों की व्यक्तिगत मान्यताएं हैं जो उकने गंभीर संवैधानिक चिंतन से उत्पन्न होती हैं। परंतु यह कहां तक उचित व लोकतांत्रिक है कि व्यक्तिगत धारणाओं को संविधान पर आरोपित करते हुए जन प्रतिनिधियों के विचारों की अनदेखी की जाए?

मौलिक संरचना के तत्व स्पष्ट व सम्पूर्ण रूप से घोषित न होने के कारण न्यायपालिका को असीमित अधिकार मिल गया है कि, वह जब जैसे चाहे संविधान की व्याख्या कर सकती है। जब संविधान में कार्यपालिका एवं व्यवस्थापिका की सीमाएं वर्णित हैं तो न्यायपालिका का यह असीम अधिकार संविधान में वर्णित तीनों अंगों के पारस्परिक संतुलन के प्रतिकूल है। व्यवस्थापिका की उत श्रृंखला से संविधान को बचाने के लिए ही न्यायपालिका को मौलिक संरचना सिद्धांत प्रतिपादित करने की आवश्यकता पड़ी थी, लेकिन जब न्यायपालिका ही उत्श्रृंखला का शिकार हो जाए तो क्या उपाय है? यह न्यायपालिका की निरंकुशता का जीवंत प्रतीक बनता प्रतीत हो रहा है और लोकतंत्र में कोई भी संवैधानिक संस्थान निरंकुश व्यवहार करके जनता की उपेक्षा एवं जनाक्रोश का शिकार बन जाएगा।

आलोचकों के अनुसार, मौलिक संरचना सिद्धांत ने एक प्रकार के अनिश्चित को भी जन्म दिया है। संसद यह जान नहीं पाती कि, उसका अधिकार क्षेत्र क्या है? ऐसी दशा में संसद निरंतर न्यायपालिका का मुंह देखती रहेगी, पर क्या न्यायपालिका भी

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

जानती है कि मौलिक संरचना सिद्धांत न्यायपालिका के अधिकारों को कहां तक विस्तृत कर सकता है? अर्थात् न्यायपालिका की सीमाएं क्या हैं? जितना भ्रम संसद को है, उतना ही अनिश्चिय न्यायापालिका के मन में भी है। यह स्थितियां सुखद नहीं हैं। उदाहरण के लिए, सर्वोच्च न्यायालय ने अपने निर्णयों में 'शक्ति पृथक्करण' तथा 'संसदीय शासन' दोनों को ही भारतीय संविधान की मौलिक संरचना घोषित कर रखा है।

लेकिन यदि ध्यान से देंखे तो ज्ञात होता है कि किसी भी संवैधानिक व्यवस्था में ये दोनों साथ-साथ चल हीं नहीं सकते, क्योंकि शक्ति पृथक्करण (अर्थात् व्यवस्थापिका, कार्यपालिका तथाा न्यायपालिका, तीनों की शक्तियों एवं अधिकार-क्षेत्र का पृथक-पृथक एवं स्वतंत्र होना) अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली की मुख्य विशेषता है और संसदीय शासन में कार्यपालिका एवं व्यवस्थापिका परस्पर अंतर्संबंधित होती हैं। भारत के संबंध में संसदीय शासन की बात की जाती है और यहां अमेरिका की भांति शक्ति पृथक्करण संभव नहीं है, लेकिन सवोच्च न्यायालय ने दोनों को एक साथ संभव मानते हुए दोनों को ही मौलिक संरचना घोषित कर दिया है, कैसे? भारत के संदर्भ में व्यवस्थापिका एवं कार्यपालिका, न्यायपालिका से तो पृथक रह सकते हैं (ऐसा संविधान के अनु. 50 में वर्णित है) किन्तु आपस में नहीं। यदि ऐसा हुआ तो वह संसदीय प्रणाली नहीं रह जाएगी। अब प्रश्न उठता है कि हम सर्वोच्च न्यायालय (जो संविधान का संरक्षक एवं व्याख्याता है) की बात मानें या अपने संविधान की?

संविधान के मौलिक तत्व कौन से हैं? इसका निर्धारण कौन करे? किसी व्याख्या उचित मानी जाए? यदि न्यायालय मौलिक संरचना के तत्वों का निर्धारण कर सकती है तो सर्वोच्च जनप्रतिनिधि निकाय/संस्था होने के कारण संसद इन तत्वों का निधारण क्यों नहीं कर सकती? संसद की संवैधानिक व्याख्या को क्यों स्वीकार नहीं किया जाए?

किसी भी जनतांत्रिक समाज में जनता के प्रतिनिधि ही लोक नीतियों के निर्णायक होते हैं क्योंकि वे चुनकर आते हैं, न्यायाधीश निर्वाचित नहीं होते। वे जनप्रतिनिधियों की भांति अपने कार्यों (निर्णयों) के लिए उत्तरदायी भी नहीं होते। इसके बावजूद भी यह देखा गया है कि न्यायालय के निर्णय के प्रकाश में कानून व संविधान में संशोधन तक किए गए हैं, जैसे शिक्षा के अधिकार को सर्वोच्च न्यायालय ने अपने अनके निर्णयों में मूल अधिकार के परिप्रेक्ष्य में परिभाषित किया है और इसे 'जीवन के अधिकार' के साथ जोड़कर देखा है, क्योंकि शिक्षा ही किसी बच्चे को उसके राष्ट्र एवं संस्कृति से जोड़ने कें मदद करती है और अशिक्षित व्यक्ति का जीवन गरिमामय नहीं हो सकता क्योंकि वह अपने अधि कारों, कर्त्तव्यों तथा सामाजिक सरोकारों से अनभिज्ञ हो जाएगा। फलत: 86वां संविधान संशोधन (2002 ई.) द्वार संसद ने अनु. 21 'A' जोड़कर यह व्यवस्था की कि, ''-14 वर्ष की आयु के बच्चों को अनिवार्य व नि:शुल्क शिक्षा प्राप्त करना उनका मूलाधिकार होगा।'

सर्वोच्च न्यायालय ने अपने निर्णयों में कई बार इस बात की आवश्यकता बताई कि, जोड़-तोड़ द्वारा सरकार बनाने की प्रवृत्ति ठीक नहीं है, इससे सरकारें अस्थिर हैं और वे उत्तम ढ़ंग से काम नहीं कर पाती। यदि मंत्रिमंडल की सदस्य संख्या सीमित व सुनिश्चित हो तो इससे दल-बदल तथा राजनीतिक सौदेबाजी रोकने में मदद मिलेगी। इसे ध्यान में रखकर ही 91वां संविधान संशोधन विधेयक पारित किया गया, जिसके अनुसार, केन्द्र व राज्यों में क्रमश: प्रधानमंत्री व मुख्यमंत्री सहित मंत्रियों की कुल संख्या निचले सदन में सदस्यों की कुल संख्या के 15% से अधिक नहीं होनी चाहिए। छोटे राज्यों में, जहां विधायकों की संख्या कम है, मंत्रियों की अधिकतत संख्या 12 होगी। यह कानून जम्मू-कश्मीर में लागू नहीं होगा। दिल्ली के मामले में, विधानसभा की सदस्य संख्या 70 होने के बावजूद राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र दिल्ली अधिनियम (1993) के अंतर्गत मंत्रियों की अधिकतम संख्या 7 ही हो सकती है।

इसी प्रकार, यूनियन ऑफ इंडिया बनाम एसोसिएशन फॉर डेमोक्रेटिक रिफॉर्म (2002) तथा पीपुल्स यूनियन फॉर सिविल लिबर्टीज बनाम भारत संघ (2003) के वाद में सर्वोच्च न्यायालय का जो निर्णय आया उसके अनुरूप ही जनप्रतिनिधित्व अधिनियम (1951) में संशोधन करके यह अनिवार्य कर दिया गया कि, चुनाव लड़ने वाले उम्मीदवारों को अपने आपराधिक रिकार्ड, चल-अचल सम्पत्ति, बकायों, शैक्षिक योग्यता आदि के बारे में पूरी जानकारी देनी होगी।

एस.पी. गुप्ता बनाम द यूनियन ऑफ इण्डिया (1982) तथा बाम्बे इन्वायरमेन्टल ऐक्शन ग्रुप और अन्य बनाम पुणे कैन्टोन्मेन्ट बोर्ड आदि के मामलों में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा दिए गए निर्णय के अनुरूप ही ससद ने सूचना के अधिकार विधेयक (2205 ई.) को पारित कर यह कानून बनाया कि, किसी व्यक्ति के जीवन व स्वतंत्रता से जुड़े मुद्दों पर 48 घंटों के भीतर सूचना सुलभ करानी होगी। ऐसा कानून सूचना अधिकारी हेतु बाध्यकारी है। कोई भी सूचना 30 दिन से अधिक समय के लिए टाली नहीं जा सकती। इस विधेयक में गलत या झुठी सूचना देने पर या समय से सूचना न देने पर दंड की व्यवस्था है।

अब तक वायु प्रदूषण, जल प्रदूषण तथा ध्वनि प्रदूषण पर जितने भी कानून बने हैं, उनमें से अधिकांश सर्वोच्च न्यायालय द्वारा दिए गए निर्णयों के अनुपालन हेतु बनाम गए हैं।

उपरोक्त उदाहरण तो कुछ नमूने मात्र हैं, जहां न्यायपालिका ने निर्णय दिया और संसद ने उन निर्णयों के आलोक में कानूनों का निर्माण किया, कहीं हम न्यायिक विधायन (न्यायिक निर्णयों के प्रकाश में कानून का निर्माण) के युग में तो प्रवेश नहीं कर रहे हैं? एस. के. त्रिपाठी का यह मत है कि, 'सर्वोच्च न्यायालय ने जनहित याचिकाओं के माध्यम से अपनी सीमाओं का काफी विस्तार कर लिया है, यह एक प्रकार से न्यायालय द्वारा सम्पूर्ण देश के प्रशासन को चलाने का कार्यपालिकाई अंदाज है।'' ऑकीबाल्ड कॉक्स ने

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

अपनी पुस्तक 'द रोल ऑफ सुप्रीम कोर्ट इन अमेरिका गवर्नमेन्ट एण्ड द वैरन कोर्ट कॉन्स्टीट्यूशनल डिसीजन ऐज ऐन इन्स्ट्रूमेन्ट ऑफ रिफार्म' में कुछ अति महत्वपूर्ण एंव मूलभूत प्रश्न न्यायपालिका एवं कार्यपालिका के बीच द्वन्द के बारे में उठाए हैं। यद्यपि ये प्रश्न अमेरिकी सरकार के बारे में है, लेकिन इन प्रश्नों का परिप्रेक्ष्य एवं प्रासंगिकता भारत के बारे में भी विचारणीय है।

कॉक्स लिखते हैं कि, क्या न्यायपालिका के कार्य की सीमाओं का विस्तार उसकी 'वैधता' को प्रभावित नहीं करेगा? क्या इससे वह जन आस्था के केन्द्र से पदच्यूत नहीं हो जाएगी? न्यायपालिका के इस कार्यपालिकाई अंदाज को क्या व्यवस्थापिका सीमा में बांधने का प्रयास नहीं करेगी?

न्यायपालिका की इस उभरती प्रवृत्ति पर जॉन बेल ने भी 3 कारणों से आपत्ति की है:

(1) न्यायिक प्रक्रिया एवं विधायी प्रक्रिया में अंतर है। विधायी प्रक्रिया में निर्णय निर्माता कानून बनाने के पूर्व व्यापक जांच करते हैं, वे समाज के विभिनन हितों एवं विचारों को सुनते हैं, जबकि न्यायाधीश किसी एक विशेष वाद के परिप्रेक्ष्य में निर्णय देते हैं, न कि विभिनन बाह्य स्रोतों से मिल सूचनाओं एवं तर्कों को आधार बनाते हैं,

(2) लोकतंत्र में कानून निर्माण का उचित मंच निर्वाचित प्रतिनिधियों की संस्था (अर्थात् संसद) ही हो सकती है क्योंकि यह जनता द्वारा निर्वाचित एवं उसके प्रति उत्तरदायी होती है। न्यायपालिका भविष्य में बनने वाले कानूनों की प्रकृति व स्वरूप के बारे में मानकों का निर्धारण कर सकती है लेकिन वह जनाकांक्षाओं का निर्धारण व उसका प्रतिनिधित्व कदापि नहीं कर सकती। न्यायाधीशगण अपनी शक्तियों के संदर्भ में 'अनिर्वाचित अभिजन' होते हैं, इसलिए कानून निर्माण में उनकी भूमिका सर्वोच्च एवं अंतिम नहीं हो सकती।

(3) न्यायाधीश किसी मुकद्दमें/वाद का निर्णय देते समय कानून की व्याख्या करते हैं ओर उसे समयानुसार नवीन अर्थ देते हैं और ये सारे कार्य न केवल अतीत में बनाए गए कानूनों को परखने की कसौटी प्रदान करते हैं, बल्कि भविष्य के कानूनों का निर्देशन करते हैं, जो कि गलत है, क्योंकि इन मामलों में अंतिम संसद के पास होनी चाहिए, न कि न्यायपालिका के पास।

आज न्यायपालिका के बढ़ते दावे और दायरे के बीच संविधान सभा में डॉ. अम्बेडकर के ये शब्द महत्वपूर्ण मार्गदर्शन करते हैं 'हम एक राज्य के भीतर न्यायपालिका का राज्य स्थापित नहीं करना चाहते हैं लेकिन हम न्यायपालिका को कार्यपालिका के भय या पक्षपात से मुक्त करके पूरी स्वतंत्रता देना चाहते हैं... इसके बावजूद भी न्यायिक स्वतंत्रता का सिद्धांत इतना ऊपर नहीं उठा देना चाहिए कि न्यायपालिका का कार्य सिर्फ संविधान की व्याख्या करना या संबंधित पक्षों के अधिकारों के संबंध में न्यायिक निर्णय देना ही है।' इस संबंध में जवाहर लाल नेहरू ने भी संविधान सभा में कहा था कि, संसद, जो सम्पूर्ण समुदाय की इच्छाओं का प्रतिनिधित्व कर रही है, कोई भी न्यायालय या सर्वोच्च न्यायालय उसकी सर्वोच्च सत्ता या इच्छा के ऊपर अपने निर्णय नहीं थोप सकता। यदि व्यवस्थापिका कोई गलती करती है तो उसे संकेत किया जा सकता है लेकिन जहां तक समुदाय के भविष्य का प्रश्न है कोई भी न्यायालय संसदीय निर्णय के ऊपर नहीं हो सकता और संविधान भी संसद की ही कृति है।

इसके बावजूद भी हम सभी उच्च न्यायालयों तथा सर्वोच्च न्यायालय का सम्मान करते हैं... बुद्धिमान लोगों की भांति सर्वोच्च न्यायालय को यह देखना चाहिए कि भाववशे के क्षण में, उत्तेजना के क्षण में, जनता के प्रतिनिधि भी गलत रास्ते पर न चले जायं, क्योंकि वे जा सकते हैं। न्यायालयों के एकांतिक वातावरण में उन्हें यह ध्यान रखना चाहिए कि ऐसा कोई काम नह हो जाए जो संविधान के विरूद्ध हो। इसलिए यदि ऐसे घटना हो जाए, जो संविधान के विरूद्ध हो या देश के हित में न हो या व्यापाक अर्थों में जनसमुदायस के प्रतिकूल हो तो उन्हें इस तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहिए, मगर यह स्पष्ट है कि, कोई न्यायालय या कोई न्याय-व्यवस्था एक तीसरे सदन के रूप में काम नहीं कर सकती, इसलिए यह महत्वपूर्ण है कि न्यायपालिका इस सीमा के भीतर ही काम करे।'

संविधान निर्माताओं के उपरोक्त वक्तव्यों के आधार पर प्रसिद्ध विधिवेत्ता श्री एलेक्जेन्ड्रोविच ने भारतीय न्यायपालिका की स्थिति एवं भूमिका पर निम्न सटीक टिप्पणी की है 'भारतीय सर्वोच्च न्यायालय की संकल्पना एक अतिरिक्त विधि-निर्माता निकाय के रूप में नहीं की गई है, अपितु एक ऐसे निकाय के रूप में की गयी है जिसका कार्य मात्र अभिव्यक्त विधि (स्थापित विधि अर्थात् संसद द्वारा बनाई गई विधि) को लागू करना है।''

न्यायपालिका की अप्रत्याशित रूप से उभरती हुई शक्तियों की उपरोक्त सशक्त आलोचनाओं के बाद भी इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि, न्यायपालिका को निरंतर परिवर्तित होती सामाजिक आवश्यकताओं एवं सामाजिक मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में संविधान के प्रावधानों की प्रगतिशील एवं सकारात्मक व्याख्या करनी चाहिए। यह दायित्व संसद का भी है कि वह कानूनों व संवैधानिक प्रावधानों को समयानुकूल अर्थ प्रदान करती रहे, चूंकि संसद में कानूनों का निर्माण एवं संवैधानिक परिवर्तनों का सूत्रपात कार्यपालिका (मंत्रिमंडल) द्वारा होता है, अत: उस पर भी असान दायित्व है। इस प्रकार व्यवस्थापिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका तीनों ही समान रूप से जिम्मेदार नहीं है। यदि संविधान समयानुकूल नहीं रह जाता या वह असम्मान का शिकार हो जाता है तो इसका दायित्व भी शासन के इन्हीं तीनों अंगों पर समान रूप से होगा। केवल किसी एक अंग पर नहीं।

भारत में शासन का कोई भी अंग हो या हम भारत के लोग, हम सभी लोकतंत्र के अधीन हैं और भारतीय लोकतंत्र का

FREE IAS

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

प्राण है – 'विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया', यदि यह प्रक्रिया उचित एवं न्यायपूर्ण नहीं हुई तो हमारी लोकतांत्रिक संस्थाओं के अस्तित्व एवं भविष्य पर प्रश्नचिन्ह् लग जाएगा। इंदिरा गांधी के कार्यकाल में जिस प्रकार संविधान के प्रावधानों में मनमाने संशोधन किए गए (मुख्य रूप से 39, 40, 41 तथा 42वां संविधान संशोधन) औ मनमोहन सिंह सरकार के कार्यकाल में 'लाभ के पद' मामले में संसद ने (2006-07 ई. में) अपने 58 सांसदों को बचाने के लिए जो कानून बनाया, क्या हम उसे भी 'विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया' की 'मूल भावना' के अनुसार बनाए गए कानून ही कहेंगे? यदि 'विधि' वही है जो संसद में बहुमत प्राप्त दल बनाता है, तो ध्यान रखना चाहिए कि बहुमत सदैव न्यायपूर्ण नहीं होता, कभी-कभी इसके निर्णय स्वार्थ और तात्कालिक राजनीतिक लाभ से भी प्रेरित होते हैं। शाहबानों प्रकरण में न्यायालय के निर्णय को बहुमत दल से बदल दिया। यदि विधि द्वार स्थापित प्रक्रिया के नाम पर मनमाने निर्णय लिए जाएंगे तो संसद (देश की सर्वोच्च पंचायत) की गरिमा धूल धूसरित हो जाएगी और साथ ही लोकतंत्र को बचाने में असफल रहे तो ऐसी दशा में न्यायपालिका की स्वतंत्रता की बात नहीं की जा सकती। यद्यपि संविधान निर्माताओं ने सर्वोच्च न्यायालय को संविधान के संरक्षक की भूमिका सौंपी है लेकिन अकेले न्यायपालिका ही सबकुछ नहीं कर सकती, क्योंकि उसके निर्णय कार्यपालिका द्वारा ही लागू किए जाते हैं।

सर्वोच्च न्यायालय की शक्तियों में विधायी और संवैध ानिक अधिकार अंतनिर्हित रूप से शामिल हैं। इन शक्तियों का प्रयोग करके न्यायालय ने मूलाधिकार तथा प्राकृतिक न्याय के क्षितिज का काफी विस्तार किया है और इस प्रक्रिया में उसने अनेक ऐसे सिद्धांत प्रस्तुत किए या निर्णय दिए जो संविधान के एक प्रतिष्ठित और महत्वपूर्ण भाग बन गए। मौलिक संरचना सिद्धांत इसी प्रकार की एक व्यवस्था है। न्यायाधीश पी.एन. भगवती इसे 'संविधान की सकरात्मक व्याख्या का उत्तरदायित्व' मानते हैं। वे न्यायाधीशों की 3 भूमिकाएं या कर्त्तव्य मानते हैं,

(1) न्यायाधीशों की प्रशासनिक शक्तियां तथा इसके अंतर्गत किले अधिकारों का क्रियान्वयन करना,

(2) न्यायालय द्वारा यह देखना कि, राज्य, कानून निर्माण संबंधी शक्तियों का कहीं दुरुपयोग तो नहीं कर रहा है या अपनी सीमा से आगे जाकर तो विधायन नहीं कर रहा है, क्योंकि संघात्मक राज्य में शक्तियों का विभाजन होता है औश्र इस परिप्रेक्ष्य में सर्वोच्च न्यायालय ने संरक्षक की स्थिति प्राप्त है और

(3) न्यायालय द्वारा संविधान के उपबंधों की प्रगतिशील व सकारात्मक व्याख्या करते हुए संविधान को समयानुकूल बनाए रखना।

वस्तुत: न्यायालय केवल संविधान की तथ्यसम्मत व्याख्या ही नहीं करता, बल्कि पूरे संविधान को एक आंगिक-प्रपत्र के रूप में देखता है, जो जनता की आशाओं एवं अपेक्षाओं की प्रतिमूर्ति है। न्यायाधीश पी.एन. भगवती के अनुसार, यद्यपि संविधान निर्माताओं ने 'विधि की उचित प्रक्रिया' का अमेरिकी सिद्धांत भारत में लागू नहीं किया है तथापि वर्तमान समय में संवैधानिक मूल्यों की रक्षा के लिए यह अपरिहार्य है। मेनका गांधी वाद में अनु. 21 की व्याख्या करते हुए न्यायाधीश भगवती ने सकारात्मक अधिकारों की लम्बी श्रृंखला प्रस्तुत की है। ये सकारात्मक अधिकार व्यक्ति की गरिमा तथा मानवीय मूल्यों/आदर्शों से जुड़े हुए हैं, जिनसे न्यायाध ीशगण बच नहीं सकते। ऐसे वाद में न केवल कानूनों का निर्माण (न्यायिक विधायन) होता है, बल्कि संवैधानिक प्रावधान भी एक नया संदर्भ प्राप्त करते हैं। ऐसा करते समय न्यायाधीशों की भूमिका को ध्यान में रखना होता है। ऐसा करते समय वे संविधान द्वार निध ारित स्वतंत्रता की सीमाओं को व्यापक तथा समयानुकूल बनाते हैं। आज न्यायालय 'युगधर्म' निभाते हुए मौलिक अधिकारों तथा निदेशक तत्वों के साथ-साथ विचार करने लगा है जिससे संविधान के भाग 3 (मौलिक अधिकार) को एक नवीन दिशा मिल गई है। आज न्यायालय भी यह मानने लगा है कि, मूलाधिकारों तथा मानवाधिकारों का अनुपालन सुनिश्चित कराना तथा समाज से विषमताओं का उन्मूलन करना उसका भी दायित्व है, क्योंकि वह भी शासन/व्यवस्था का एक अंग है। यह प्रवृत्तियां सामयिक, सकारात्मक, एवं स्वच्छंद विधायिका पर एक नियंत्रण हैं।

संसद की शक्ति या संविधान की गरिमा अथवा सर्वोच्च न्यायालय का दायित्व बोध-सभी जनहित के दायरे सं बंधे हुए हैं। भारतीय संविधान की कल्याणकारी अवधारणा में 'व्यक्ति की गरिमा' एवं 'राष्ट्र की अखंडता' प्रचुर महत्व प्राप्त कर चुका है। इन दशाओं में यह स्वीकार किया जा चुका है कि, लिखित संविधान होने के कारण संसद की संविधान संशोधन शक्ति अनियंत्रित एवं असीमित नहीं है, क्योंकि सर्वोच्च न्यायालय ने 'संसद की संविध ान संशोधन की सीमित' को संविधान का मौलिक ढ़ांचा माना है। आज संसद की संशोधन शक्ति को सीमित दायरे में बांधकर भारतीय न्यायपालिका अपने न्यायिक निर्वचनों/व्याख्याओं के माध्यम से 'कानून की उचित प्रक्रिया' की ओर परिवर्तनोन्मुख है।

TRUST IAS

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

संघीय विधानमंडल (संसद)

'संसद' शब्द अंग्रेजी के 'पार्लियामेंट' का हिन्दी रूपान्तर है। इसकी उत्पत्ति फ्रेंच शब्द 'Parler' (जिसका अर्थ है बोलना या बातचीत करना) और लैटिन शब्द 'Parliamentum' से हुई है। लैटिन भाषा-भाषी लोग इसे भोजन के बाद की जाने वाली वार्ताओं के लिए प्रयोग करते थे। यह वार्ता पादरी लोग अपने-अपने पूजा गृहों में करते थे और इन वार्ताओं को 13वीं सदी की एकलवादी सरकारों ने 'गरिमाविहीन' कहकर निंदा की थी। मैथ्यू पेरिस ऑफ सेन्ट अल्बान्स, वह प्रथम व्यक्ति था जिसने 1239 और पुन: 1249 ई. में 'Parliament' शब्द का पादरियों, अर्लों, और लार्डों की महान परिषद के लिए प्रयोग किया था। तब से यह शब्द विभिन्न मुद्दों एवं समसामयिक विषयों पर बातचीत करने का मंच सुलभ कराने वाली सभाओं के लिए प्रयोग किया जाने लगा।

भारत की संघात्मक व्यवस्था में केन्द्रीय विधानमंडल को संसद कहते हैं। एक विचारधारा और जनता की प्रतिनिधिक संस्था के रूप में संसद युगों से उन सिद्धांतों की चिरस्थायी स्मारक रही है जिनका हम नैतिक और राजनीतिक रूप से सदैव समर्थन करते रहे हैं। जब तक संसद जनाकांक्षाओं की अभिव्यक्ति तथा उसे पूरा करने वाला निकाय के रूप में कार्य करती रहेगी, तब तक यह देश में अशांति, असंतोष एवं अराजकता को रोकने का सबसे सशक्त माध्यम बनी रहेगी। संभवत: इन्हीं कारणों से महात्मा गांधी ने कहा था कि, 'संसदीय सरकार के बिना हमारा अस्तित्व कुछ भी नहीं रहेगा।'

भारतीय संविधान के अनु. 79 के अनुसार संघ के लिए एक संसद होगी जो राष्ट्रपति और दो सदनों से मिलकर बनेगी जिनके नाम राज्यसभा और लोकसभा होंगे। राज्यसभा को उच्च सदन या द्वितीय सदन भी कहा जाता है, इसी प्रकार लोकसभा को निम्न सदन या प्रथम सदन कहते हैं। राज्यसभा को उच्च सदन तथा लोकसभा को निम्न सदन कहने का कारण उसमें चुनकर आने वाले सदस्यों की तुलनात्मक योग्यता है। परम्परागत रूप में ऐसा माना जाता है कि लोक सभा में जनता द्वारा चुनकर ऐसे लोग आते हैं जो लोकप्रिय तो हाते हैं किन्तु यह आवश्यक नहीं कि वे अत्यंत योग्य एवं विद्वान ही हों, इसमें एसे लोग भी प्राय: आते रहे हैं जिनके पास अत्यंत मामूली किताबी ज्ञान भी न रहा हो, जबकि राज्यसभा के सदस्यों का चुनाव जनता द्वारा चुने हुए लोग करते हैं, अत: उसके सदस्य लोकसभा के सदस्यों की तुलना में अधिक योग्य तथा जानकार होंगे, इसीलिए लोकसभा को निम्न सदन तथा राज्यसभा को उच्च सदन कहते हैं।

इसके साथ ही राज्यसभा को द्वितीय सदन तथा लोकसभा को प्रथम सदन कहा जाता है, इसका कारण यह है कि, प्राय: सभी विधेयक पहले लोकसभा में प्रस्तुत किए जाते हैं और यहां से पारित हो जाने के बाद वे राज्यसभा में भेजे जाते हैं। चूंकि अधिकांश विधेयक पहले लोकसभा में आते हैं और बाद में वे राज्यसभा में भेजे जाते हैं। अत: विधयेयकों के प्रस्तुतीकरण की दृष्टि से लोकसभा को प्रथम सदन तथा राज्यसभा को द्वितीय सदन कहा जाता है। प्रथम और द्वितीय सदन कहने का एक आधार और भी है। लोकतंत्र में जनता सर्वोच्च होती है। चूंकि लोकसभा के सदस्यों का चुनाव जनता द्वारा प्रत्यक्ष होता है और राज्यसभा का चुनाव जनता द्वारा अप्रत्यक्ष अर्थात् जनता के प्रतिनिधियों द्वारा होता है, इसलिए भी लोकसभा को प्रथम सदन तथा राज्यसभा को द्वितीय सदन कहा जाता है।

अनु. 79 में राष्ट्रपति को संसद का अनिवार्य अंग बताया गया है क्योंकि वह संसद के सत्र को आहूत करता है, उसका स्थगन कर सकता है और लोकसभा का विघटन कर सकता है। कोई भी विधेयक, जिसे संसद के दोनों सदनों ने पारित कर दिया है, वह राष्ट्रपति की अनुमति से ही 'विधि' के रूप धारण करता है। संसद से पारित हुए विधेयकों का तबतक कोई अर्थ नहीं है जबतक कि, राष्ट्रपति के उसपर अपनी अनुमति न दे दी हो।

राज्यसभा का संगठन:

अनु. 80 के अनुसार, राज्यसभा की अधिकतम सदस्य संख्या 250 है। इसमें से 238 सदस्य समस्त ईकाई राज्यों और संघ शासित प्रदेशों से चुनकर आते हैं और 12 सदस्य राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत होंगे। मनोनीत सदस्यों के लिए निम्नलिखित विषयों में से किसी के भी संबंध में विशेष ज्ञान या व्यावहारिक अनुभव आवश्यक है:

साहित्य, विज्ञान कला और समाज सेवा

राज्यसभा भारतीय संघ व्यवस्था में राज्यों का प्रतिनिधि सदन है। प्रत्येक राज्य के प्रतिनिधियों का निर्वाचन उस राज्य की विधानसभा के निर्वाचन सदस्यों द्वार आनुपातिक प्रतिनिधित्व की एकल संक्रमणीय मत-पद्धति द्वारा किया जाएगा (अनु. 80(4))।

लोकसभा का संगठन:

लोकसभा की अधिकत सदस्य संख्या 552 हो सकती है। 530 सदस्य विभिन्न राज्यों के प्रादेशिक निर्वाचित क्षेत्रों से चुने जाएंगें और 20 सदस्य संघ-शासित प्रदेशों से। दो सदस्य एंग्लों इण्डियन समुदाय से मनोनीत किए जाएंगे। वर्तमान समय में लोकसभा के सदस्यों की संख्या 545 है। 543 सदस्य देश के विभिन्न लोकसभा क्षेत्रों से चुनकर आते हैं और 2 सदस्य अनु. 331 के उपबंधों के अनुसार ऐंग्लो-इण्डियन समुदाय के सदस्यों में से राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत किए जाते हैं। लोकसभा की यह सदस्य संख्या 2026 ई. तक अपरिवर्तित रहेगी।

यद्यपि संविधान का अनु. 82 यह कहता है कि, प्रत्येक जनगणना की समाप्ति पर राज्यों को लोकसभा में स्थानों के आवंटन और प्रत्येक राज्य के प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्रों में विभाजन का ऐसे

FREE IAS

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

प्राधिकारी द्वारा और ऐसी पद्धति से पुनः समायोजन किया जाएगा जो संसद विधि द्वारा निर्धारित करे। 1971 ई. की जनसंख्या के सुसंगत आंकड़े जब प्रकाशित हुए तो लोकसभा की सदस्य संख्या 525 से बढ़ाकर 545 कर दी गई (31वें संविधान संशोधन, 1973 द्वारा)। यह भी उपबंध किया गया कि जब तक 2000 ई. के पश्चात् की गई प्रथम जनगणना के सुसंगत आंकड़े प्रकाशित नहीं हो जाते हैं तबतक राज्यों को लोकसभा में स्थानों के आवंटन का और इस अनुच्छेद के अधीन प्रत्येक राज्य के प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्रों में विभाजन का पुनः समायोजन आवश्यक नहीं होगा। परंतु जब 2001 ई. में की गई जनगणना के आंकड़े सामने आ गए तो राजनीतिक दलों ने अनु. 82 की भावना को आहत करते हुए लोकसभा की सीटों का समायोजन नहीं किया और 84वें संविधान संशोधन द्वारा यह व्यवस्था कर दी कि, 31वें संविधान संशोधन द्वारा सुनिश्चित किए गए लोकसभा के स्थानों की संख्या 2026 ई. तक अपरिवर्तित रहेगी। इसके पीछे अपने राजनीतिक स्वार्थ थे।

18 वर्ष की आयु प्राप्त प्रत्येक भारतीय नागरिक लोकसभा के सदस्य के निर्वाचन में मतदान कर सकता है (अनु. 326), बशर्ते वह किसी संसदीय अधिनियम द्वारा 'अयोग्य' न ठहराया गया हो।

संसद के दोनों सदनों का कार्यकाल:

अनु. 83(1) के अनुसार, राज्यसभा का विघटन नहीं होगा, यह एक स्थायी सदन है। किन्तु इसके सदस्यों में से यथासंभव, निकटतम 1/3 सदस्य, प्रत्येक दूसरे वर्ष की समाप्ति पर सेवानिवृत्त होंगे। राज्यसभा के सदस्यों का कार्यकाल 6 वर्ष है।

अनु. 83(2) के अनुसार, लोकसभा यदि पहले विघटित नहीं कर दी जाती है तो अपने प्रथम अधिवेशन के लिए नियत तारीख से 5 वर्ष तक बनी रहेगी, इससे अधिक नहीं, और 5 वर्ष की उक्त अवधि की समाप्ति का परिणाम लोकसभा का विघटन होगा। लोकसभा के सदस्यों का कार्यकाल 5 वर्ष होगा।

किन्तु यदि आपातकाल (अनु. 352) की उद्घोषणा लागू है तो संसद कानून द्वारा लोकसभा के कार्यकाल को एक बार में अधिकतम 1 वर्ष के लिए बढ़ा सकेगी और जब आपातकाल लागू न हो या उसे समाप्त कर दिया गया हो तो उसके समाप्ति की तिथि के 6 माह से अधिक की अवधि तक लोकसभा का कार्यकाल विस्तारित नहीं होगा (अनु. 352(4), (5)) अर्थात् 6 माह के भीतर लोकसभा का चुनाव कराना अनिवार्य होगा।

संसद की सदस्यता के लिए योग्यता:

अनु. 84 के अनुसार, कोई भी व्यक्ति संसद के किसी भी सदन का सदस्य बनने के लिए तभी योग्य होगा, जब:

(क) वह भारत का नागरिक हो और निर्वाचन आयोग द्वारा इस निमित्त प्राधिकृत किसी व्यक्ति के समक्ष, तीसरी अनुसूची में इस प्रयोजन के लिए दिए गए प्रारूप के अनुसार शपथ लेता है, या प्रतिज्ञान करता है और उसपर अपने हस्ताक्षर करता है। बिना शपथ ग्रहण किए और शपथ पत्र पर अपने हस्ताक्षर किए यदि कोई निर्वाचित सदस्य संसद के किसी सदन में बैठता है तो उसे आर्थिक दण्ड देना पड़ेगा। अनु. 104 के प्रावधानों के अनुसार

ऐसी दशा में उस व्यक्ति को प्रतिदिन की बैठक में भाग लेने हेतु 500 रुपये का दंड देना पड़ेगा, जो संघ को देय ऋण के रूप में वसूल किया जाएगा।

(ख) राज्यसभा का सदस्य बनने के लिए या उसका चुनाव लड़ने के लिए प्रत्याशी की आयु 30 वर्ष तथा लोकसभा का सदस्य बनने के लिए प्रत्याशी की आयु 25 वर्ष होनी चाहिए और

(ग) उसके पास ऐसी अन्य अर्हताएं/योग्यताएं हो जो संसद द्वारा बनाई गई किसी विधि द्वारा या उसके अधीन इस निमित्त विहित की जाय जैसे, वह लाभ के पद पर न हो, पागल या दिवालिया न हो, वह किसी गंभीर या निकृष्ट अपराध के आरोप में अपराधी न ठहराया गया हो आदि।

संसद के सत्र, सत्रावसान और विघटन:

अनु. 85(1) के अनुसार, भारत का राष्ट्रपति समय-समय पर संसद के प्रत्येक सदन को ऐसे समय और स्थान पर जो वह ठीक समझे, अधिवेशन के लिए आहूत करेगा, किन्तु उसके एक सत्र की अंतिम बैठक और आगामी सत्र की प्रथम बैठक के लिए नियत तारीख के बीच 6 माह का अंतर नहीं होगा।

अनु. 85(2) के अनुसार, राष्ट्रपति समय-समय पर:

(क) सदनों का या किसी एक सदन का सत्रावसान कर सकता है,

(ख) लोकसभा का विघटन कर सकता है।

लोकसभा के विघटन का तात्पर्य नए चुनावों से है।

राज्यसभा के सभापति और उपसभापति:

संविधान के अनु. 89(1) के अनुसार, भारत का उपराष्ट्रपति राज्यसभा का पदेन सभापति होगा।

अनु. 89(2) के अनुसार, राज्यसभा यथाशीघ्र अपने किसी सदस्य को अपना उपसभापति चुनेगी और जब-जब, उपसभापति का पद रिक्त होता है, तब-तब राज्यसभा किसी अन्य सदस्य को अपने उपसभापति चुनेगी।

उपसभापति का पद रिक्त होना, पदत्याग और पद से हटाया जाना:

अनु. 90 के अनुसार, राज्यसभा के उपसभापति के रूप में पद धारण करने वाला सदस्य:

(क) यदि किसी कारण से वह राज्यसभा का सदस्य नहीं रह जाता है तो वह अपना पसभापति का पद रिक्त कर देगा,

(ख) वह किसी भी समय सभापति को सम्बोधित,

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

अपने हस्ताक्षर सहित लेख द्वारा अपना पदत्याग सकेगा और

(ग) वह राज्यसभा के तत्कालीन समस्त सदस्यों के बहुमत से पारित संकल्प द्वारा अपने पद स` हटाया जा सकेगा। परंतु ऐसा कोई संकल्प तब तक प्रस्तुत नहीं किया जाएगा तब तक कि उस संकल्प को प्रस्तुत करने के आशय की कम-से-कम 14 दिन पहले सूचना न दे दी गई हो।

सभापति के पद के कर्त्तव्यों का पालन करने या सभापति के रूप में कार्य करने की उपसभापति या अन्य व्यक्ति की शक्ति:

अनु. 91 के अनुसार, जब सभापति का पद रिक्त या खाली है (जैसे सभापति, जो कि राष्ट्रपति भी है, यदि किसी कारणवश राष्ट्रपति के पद का दायित्व देख रहा है तो वह उस समय सभापति का कार्य नहीं कर सकता, या वह सभापति का दायित्व निभाने में शारीरिक रूप से अक्षम हो गया है या वह अस्वस्थ है या वह उपलब्ध नहीं है आदि) और उपसभापति का पद भी खाली हो गया है तो ऐसी दशा में भारत का राष्ट्रपति, राज्यसभा के किसी सदस्य को, जिसको कि वह उचित एवं योग्य समझता है, सभापति के पद का कार्य देखने के लिए नियुक्त करेगा और वह व्यक्ति उस पद के कर्त्तव्यों का पालन करेगा।

अनु. 91(2) के अनुसार, राज्यसभा की किसी बैठक में यदि सभापति और उपसभापति दोनों ही अनुपस्थिति हैं तो ऐसा व्यक्ति, जो राज्यसभा की प्रक्रिया के नियमों द्वार अवधारित किया गया हो या यदि कोई ऐसा व्यक्ति उपस्थित नहीं है, तो ऐसा अन्य व्यक्ति जो राज्यसभा द्वारा अवधारित किया जाय, सभापति के रूप में कार्य करेगा। प्रक्रिया के नियमों का निधारिण करते समय क्रमशः वरिष्ठ सदस्यों को रखा जाता है।

जब सभापति या उपसभापति को पद से हटाने का कोई संकल्प विचाराधीन है तब उसका पीठासीन न होना या पद पर न बैठना:

अनु. 92(1) के अनुसार, राज्यसभा की किसी बैठक में जब सभापति को उसके पद से हटाने का कोई संकल्प विचाराधीन है तब सभापति या जब उपसभापति को उसके पद से हटाने का संकल्प विचाराधीन है, तब उपसभापति उपस्थित रहने पर भी पद पर नहीं बैठेगा और ऐसा माना जाएगा कि वह अनुपस्थित है।

अनु. 92(2) के अनुसार, जब सभापति को उसके पद से हटाने का कोई संकल्प राज्यसभा में विचारधीन है, तब सभापति का राज्य सभा में बोलने और उसकी कार्यवाही में भाग लेने का अधिकार होगा (यह अधिकार इसलिए दिया गया है कि, सभापति भी अपना पक्ष प्रस्तुत कर अपना बचाव कर सके) किन्तु वह उसे हटाने के संकल्प पर किए जाने वाले मतदान में भाग नहीं लेगा।

लोकसभा का अध्यक्ष और उपाध्यक्ष:

अनु. 93 के अनुसार, लोकसभा अपने सामान्य निर्वाचन के बाद यथाशीघ्र अपने दो सदस्यों को अपना अध्यक्ष और उपाध्यक्ष चुनेगी और जब-जब अध्यक्ष या उपाध्यक्ष के पद खाली होंगे, तब-तब लोकसभा किसी अन्य सदस्य को, यथास्थिति अध्यक्ष या उपाध्यक्ष चुनेगी। लोकसभा के अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष अपने-अपने प द की शपथ नहीं लेते, वे केवल संसद सदस्य के रूप में ही शपथ लेते हैं। लोकसभा के प्रथम अध्यक्ष जी.वी. मावलंकर थे। 15वीं लोकसभा की अध्यक्षता मीरा कुमार रही हैं। इस पद पर आने वाली यह प्रथम महिला हैं।

अध्यक्ष और उपाध्यक्ष का पद रिक्त होना, पदत्याग और पद से हटाया जाना:

अनु. 94 के अनुसार, लोकसभा के अध्यक्ष या उपाध्यक्ष के रूप में पद धारण करवे वाला सदस्य,

(क) यदि लोकसभा का सदस्य नहीं रहता है तो अपना पद रिक्त कर देगा,

(ख) वह किसी भी समय यदि वह अध्यक्ष है, तो उपाध्यक्ष को और उपाध्यक्ष है तो अध्यक्ष को सम्बोधित हस्ताक्षर सहित लेख द्वारा अपना पद त्याग कर सकेगा और

(ग) लोकसभा के तत्कालीन समस्त सदस्यों के बहुमत से पारित संकल्प द्वारा अपने पद से हटाया जा सकेगा। परंतु ऐसा कोई भी संकल्प प्रस्तुत करने के 14 दिन के पूर्व लोकसभा के अध्यक्ष को उसकी सूचना दे देनी होगी।

किन्तु यदि लोकसभा का विघटन हो जाता है तो विघटन के बाद होने वाले नवीन लोकसभा (क्योंकि लोकसभा के विघटन के बाद लोकसभा का चुनाव कराना होगा अर्थात् नयी लोकसभा का निर्माण होगा) के प्रथम अधिवेशन के ठीक पूर्व तक अध्यक्ष अपने पद को रिक्त नहीं करेगा। वह तब तक अपने पद पर बना रहेगा जब तक कि नए अध्यक्ष का चुनाव नहीं हो जाता।

अध्यक्ष के पद के कर्त्तव्यों का पालन करने या अध्यक्ष के रूप में कार्य करने की उपाध्यक्ष या अन्य व्यक्ति की शक्ति:

अनु. 95(1) के अनुसार, जब अध्यक्ष के पद में रिक्त हो (रिक्ति कई कारणों से हो सकती है जैसे, अध्यक्ष का स्वास्थ्य ठीक न होना, उसका कहीं चला जाना, उसका अनुपस्थित होना आदि) तब उपाध्यक्ष, और जब उपाध्यक्ष का पद भी रिक्त हो, तो लोकसभा का ऐसा सदस्य जिसको राष्ट्रपति इस प्रयोजन के लिए नियुक्त करे, उस पद के कर्तव्यों का पालन करेगा, ऐसा व्यक्ति तभी तक पद धारण कर सकेगा जब तक कि सदन नए अध्यक्ष का विधिवत चुनाव नहीं कर लेता या पूर्ववर्ती अध्यक्ष आकर अपना कार्यभार संभाल नहीं लेता

अनु. 95(2) के अनुसार, लोकसभा की बैठक यदि चल रही हो और अध्यक्ष अनुपस्थित है, तब उपाध्यक्ष और यदि उपाध्यक्ष भी अनुपस्थित है तो ऐसा कोई व्यक्ति जो लोकसभा की प्रक्रिया के नियमों द्वारा अवधारित किया जाय या यदि कोई ऐसा व्यक्ति भी उपस्थित न हो तो ऐसा अन्य व्यक्ति जो लोकसभा के सदस्यों द्वारा तय किया जाय, अध्यक्ष के रूप में काम करेगा।

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

अर्थात् बैठक जारी रहने के दौरान अध्यक्ष और उपाध्यक्ष की अनुपस्थिति में सदन का कार्यभार कौन सँभालेगा, यह निर्धारित करने का अधिकार सदन को है किन्तु यदि दोनों पद स्थायी रूप से खाली हो गए हैं तो सदन का कामकाज चलाने या उसकी अध्यक्षता के लिए किसी व्यक्ति को नियुक्त करने की शक्ति राष्ट्रपति के पास है। यही स्थिति राज्यसभा के बारे में भी हैं। (देखें, अनु. 91)

जब अध्यक्ष या उपाध्यक्ष को पद से हटाने का कोइ संकल्प विचाराधीन है तब उसक पद पर न बैठना:

अनु. 96(1) के अनुसार, लोकसभा की किसी बैठक में, जब अध्यक्ष को पद से हटाने का कोई संकल्प विचाराधीन है तब अध्यक्ष या जब उपाध्यक्ष को उसके पद से हटाने का कोई संकल्प विचारधीन है तो उपाध्यक्ष सदन में उपस्थित रहने पर भी, अपने पद पर नहीं बैठेगा, और यह माना जायेगा कि, ऐसी दशा में यथास्थिति अध्यक्ष या उपाध्यक्ष अनुपस्थित हैं।

अनु. 96(2) के अनुसार, जब अध्यक्ष को पद से हटाने का प्रस्ताव सदन में विचाराधीन है तो लोकसभा का अध्यक्ष सदन की कार्यवाही में भाग लेगा और अपनी बात कहेगा तथा साथ ही वह अपने पद से हटाने वाले प्रस्ताव पर मतदान भी करेगा किन्तु यदि उसे हटाने के प्रस्ताव पर पक्ष एवं विपक्ष में बराबर-बराबर मत पड़ जाय तो ऐसी दशा में वह 'निर्णायक मत' के रूप मतदान नहीं करेगा।

राज्यसभा के सभापति को उसके हटाने के प्रस्ताव पर किसी भी दशा में मतदान (न तो प्रथमत: और न ही निर्णायक मत देने का) का अधिकार नहीं है। उसे प्रथमत: मतदान का अधिकार इसलिए नहीं दिया गया है कि वह राज्यसभा का सदस्य नहीं होता, वह तो उपराष्ट्रपति के रूप में चुनकर आता है और वह राज्यसभा का पदेन सभापति होता है। लोकसभा के अध्यक्ष को अपने को हटाने के संकल्प प्रस्ताव पर प्रथमत: मतदान का अधिकार इसलिए दिया गया है क्योंकि वह लोकसभा का सदस्य भी होता है। लेकिन राज्यसभा के सभापति और लोकसभा के अध्यक्ष, दोनों को निर्णायक मत देने से इसलिए वंचित कर दिया गया है, क्योंकि ऐसी दशा में उनकी स्थिति 'अपने ही मामलों में न्यायाधीश बनने' जैसी हो जाएगी जो संवैधानिक रूप से अन्यायपूर्ण होगा और प्राकृतिक न्याय के विपरीत भी।

संसद के सदस्यों द्वारा शपथ या प्रतिज्ञा करना:

संविधान के अनु. 99 के अनुसार, संसद का प्रत्येक सदस्य (अर्थात् राज्यसभा और लोकसभा का प्रत्येक सदस्य, चाहे वह मनोनीत हो या निर्वाचित) अपना स्थान ग्रहण करने के पूर्व राष्ट्रपति या उसके द्वारा इसके लिए नामित व्यक्ति के समक्ष संविध ान की तृतीय अनुसूची में दिए गए शपथ-प्रारूप के अनुरूप शपथ ग्रहण करेगा या प्रतिज्ञान करेगा और उस शपथ पत्र पर अपन हस्ताक्षर करेगा। बिना शपथ ग्रहण किए कोई सांसद या अनु. 101 या अनु. 102 के अधीन अयोग्य घोषित हो चुके संसद सदस्य संसद की किसी भी कार्यवाही में भाग नहीं ले सकते हैं **लेकिन यदि कभी कोई ऐसा सदस्य जिसने शपथ ग्रहण किये बिना ही सदन की किसी कार्यवाही में भाग लिया है** तो भी सदन की कार्यवाही मान्य होगी, किन्तु उस सदस्य को 500 रु. प्रतिदिन की दर से आर्थिक दंड देना पड़ेगा।

सदनों में मतदान, और रिक्तियों (स्थानों का खाली होना) के होते हुए भी सदनों की कार्य करने की शक्ति और गणपूर्ति:

अनु. 100(1) के अनुसार, संसद के किसी भी सदन की बैठक या संयुक्त बैठक में किसी भी प्रश्न का निर्धारण उपस्थित और मत देने वाले सदस्यों के बहुमत से किया जाएगा। राज्यसभा का सभापति या लोकसभा का अध्यक्ष अथवा उस रूप में कार्य करने वाले व्यक्ति को किसी विधेयक पर मतदान के दौरान प्रथमत: मत देने का अधिकार नहीं होगा किन्तु किसी विधेयक पर किसी भी सदन में पक्ष और विपक्ष में बराबर-बराबर मत पड़ने की दशा में सभापति और अध्यक्ष को मत देने का अधिकार होगा। इन्हें इस प्रकार की शक्ति देकर उस विधेयक के संबंध में, 'निर्णायक' बना दिया गया है अत: इस प्रकार मत देने की शक्ति को 'निर्णायक मत देने का अधिकार' कहते हैं।

अनु. 100(2) के अनुसार, यदि संसद के किसी भी सदन में कोई स्थान रिक्त है तो उस सदन को अपनी कार्यवाही संचालित करने का अधिकार होगा। यदि कोई ऐसा व्यक्ति जो ऐसा करने का हकदार नहीं था सदन की कार्यवाहियों में उपस्थित रहा है, या उसने मत दिया है या कार्यवाही में भाग लिया है, या किसी ऐसे सदस्य की सदस्यता किसी कारण से रद्द कर दी जाती है जिसने सदन की कार्यवाहियों में भाग लिया है या मतदान किया है तो भी संसद की प्रत्येक कार्यवाही (जो हो चुकी है) मान्य होगी।

प्रत्येक संसदीय व्यवस्था में संसद के किसी भी सदन की कार्यवाही संचालित करने के लिए कुछ न्यूनतम सदस्यों की उपस्थिति आवश्यक होती है। यदि ये न्यूनतम सदस्य उस दिन अनुपस्थित हैं तो सदन के अध्यक्ष का कर्तव्य होता है कि उस दिन सदन की बैठक स्थगित करे दे, या सदन की बैठक को तब तक स्थगित रखे जब तक कि सदन में यह न्यूनतम संख्या उपस्थित नहीं हो जाती। सदन की कार्यवाही संचालित करने हेतु आवश्यक सदस्यों की न्यूनतम संख्या को ही 'गणपूर्ति या कोरम' कहते हैं। संसद के किसी भी सदन के लिए गणपूर्ति उस सदन की कुल सदस्य संख्या का 1/10 है। अर्थात् राज्यसभा के लिए 25 तथा लोकसभा के लिए 55 सदस्य (वास्तव में राज्यसभा के लिए 24. 5(245×1/10) तथा लोकसभा के लिए 54.5 (545×1/10) सदस्य होने चाहिए) अनु. 100(3)।

वे कारण जिनसे किसी संसद सदस्य की सदस्यता समाप्त हो सकती है:

IRS IAS

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

संविधान के अनु. 101 के अनुसार, कोई भी व्यक्ति संसद के दोनों सदनों का एक समय या संसद और किसी राज्य के विधानमंडल के किसी सदन का एक साथ सदस्य नहीं बन सकता। यदि कोई व्यक्ति संसद के दोनों सदनों का एक साथ सदस्य चुन लिया जाता है तो संसद कानून बनाकर उस व्यक्ति को कोई एक स्थान छोड़ने को कह सकती है, किन्तु जब कोई व्यक्ति एक साथ संसद और विधानमंडल दोनों की सदस्यता वहन कर रहा है तो उस व्यक्ति को ऐसा करने से रोकने हेतु नियम बनाने की शक्ति भारत के राष्ट्रपति के पास है।

संसद के दोनों सदनों की सदस्यता एक साथ कोई व्यक्ति न ले पाए, इसके लिए संसद ने कानून बनाए हैं। लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951 यह प्रावधान करता है कि, यदि कोई व्यक्ति संसद के दोनों सदनों का सदस्य चुन लिया जाता है तो उसे चुने जाने के घोषणा के दिन से 10 दिन के अंदर यह सूचित करना होगा कि वह किस सदन का सदस्य बने रहना चाहता है। यदि 10 दिन के भीतर उसने यह सूचना नहीं दिया कि वह किस सदन का सदस्य बने रहना चाहता है तो यह माना जायेगा कि उसने उस सदन की सदस्यता छोड़ दी है जिसका कि वह पहले सदस्य था, जैसे यदि वह लोकसभा का सदस्य रहा हो और बाद में राज्यसभा हेतु चुन लिया गया हो अथवा राज्यसभा का पहले सदस्य रहा हो और बाद में लोकसभा हेतु चुन लिया गया हो और उसने 10 दिन के भीतर स्वयं घोषणा नहीं की हो कि वह किस सदन का सदस्य बने रहना चाहता है तो 10 दिन के बाद उपरोक्त दशाओं में उसे क्रमशः लोकसभा और राज्यसभा की सदस्यता से हाथ धोना पड़ेगा।

प्रोहिबिशन ऑफ साइमल्टेनियस मेम्बरशिप रुल्स, 1950 के अनुसार यदि कोई व्यक्ति संसद तथा किसी राज्य के विधानमंडल के लिए साथ-साथ चुल लिया जाता है तो 14 दिन के पश्चात् संसद में उसका स्थान रिक्त हो जाएगा, यदि उसने राज्य विधानमंडल में अपने स्थान को पहले ही त्याग न दिया हो। यदि कोई व्यक्ति दो या दो से अधिक राज्यों के विधानमंडलों का सदस्य चुन लिया जाता है तो 10 दिन के पश्चात एसे सभी विधानमंडलों से उसका स्थान रिक्त हो जाएगा, यदि उसने किसी एक को छोड़कर अन्य सभी स्थानों से अपने त्यागपत्र की घोषणा न कर दी हो। इसी प्रकार लोकप्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951 के धारा 68 के अनुसार, यदि कोई व्यक्ति संसद या विधानमंडल के किसी एक सदन में दो या दो से अधिक स्थानों के लिए चुन लियसा जाता है तो उसे एक स्थान को छोड़कर अन्य सभी स्थानों से त्यागपत्र देना होगा।

उपरोक्त प्रावधान इसलिए किए गए हैं क्योंकि कोई भी व्यक्ति अपनी लोकप्रियता का लाभ उठाकर संसदीय व्यवस्था को मजाक न बना डाले।

अनु. 101(3) के अनुसार, यदि कोई लोकसभा सदस्य सदन के अध्यक्ष को या राज्यसभा का सदस्य सभापति को अपने त्यागपत्र, हस्ताक्षर सहित लेख द्वारा भेजता है उसका त्यागपत्र यथास्थिति अध्यक्ष या सभापति स्वीकार कर लेता है तो उस सदस्य का स्थान रिक्त हो जाएगा लेकिन सदन के अध्यक्ष या सभापति को यह जांच करने का अधिकार है कि वह त्यागपत्र स्वैच्छिक है या 'दबाव' के कारण दिया जा रहा है। यदि वह त्यागपत्र स्वैच्छिक नहीं है तो वह इस त्यागपत्र को अस्वीकार भी कर सकता है।

अनु. 101(4) के अनुसार, यदि संसद के किसी सदन का कोई सदस्य 60 दिन की अवधि तक सदन की आज्ञा के बिना उसे सूचित किए बिना उसके सभी अधिवेशनों से अनुपस्थित रहता है तो सदन उसके स्थान को रिक्त घोषित कर सकता है। इन 60 दिनों की गणना करते समय किसी ऐसी अवधि को नहीं गिना जाएगा, जब सदन 4 दिनों की गणना करते समय किसी ऐसी अवधि को नहीं गिना जाएगा, जब सदन 4 या अधिक दिनों के लिए लगातार स्थगित या सत्रावसित रहा हो। यह प्रावधान इसलिए किया गया है कि संसद की गरिमा बनी रहे। सांसद जनता के प्रतिनिधि होते हैं। वे जनभावनाओं तथा जनाकांक्षाओं को संसद के माध्यम से ही सरकार तक पहुंचाते हैं। यदि वे लगातार संसद के बैठकों से अनुपस्थित रहते हैं तो यह माना जाना चाहिए कि वे अपने प्रतिनिधित्व का समुचित उपयोग नहीं कर रहे हैं, और अपने को निर्वाचित करने वाली जनता से छल कर रहे हैं ऐसी दशामें उन्हें सदस्य बने रहते का कोई अधिकार नहीं है। जनता पार्टी के नेता सुब्रह्मण्मय स्वामी की सदस्यता इसी आधार पर समाप्त हो गयी थी। परन्तु यदि कोई संसद शारीरिक अस्वस्थता का शिकार हो गया है तो उसके ऊपर उपरोक्त प्रावधान लागू नहीं होंगे।

यदि कोई सांसद रिश्वत लेकर सदन में प्रश्न पूछता है तो उसे भी ऐसा अपराध प्रमाणित हो जाने पर सदन की सदस्यता से हाथ धोना पड़ेगा। इस संबंध में सर्वोच्च न्यायालय के संविधान पीठ का निर्णय है कि यदि किसी सांसद (चाहे वह लोकसभा का हो या राज्यसभा का) के आचारण या कार्य-व्यवहार से संसद की गरिमा नष्ट होती है तो संसद को उसे निष्कासित करने का पूरा अधिकार है।

इसी प्रकार यदि कोई सांसद किसी महिला एवं उसके पुत्र को अवैध रूप से अपनी पत्नी या पुत्र बताकर विदेश भिजवाने के (कबुतरबाजी) मामले में पकड़ा जाता है तो उसके इस कार्य को सदन की गरिमा के प्रतिकूल तथा उसके आचरण को असंसदीय कहकर उसकी सदन की सदस्यता समाप्त की जा सकती है। भाजपा के सांसद बाबूभाई कटारा को इसी आधार पर 14वीं लोकसभा (2004-09) से 2008 ई. में निष्कासित कर दिया गया।

इस प्रकार प्रणव मुखर्जी की अध्यक्षता वाली विशेषाधिकार समिति ने पत्नी के नाम पर किसी अन्य महिला को विदेश दौरे पर ले जाने वाले सांसद राजेश कुमार मांझी को लोकसभा की 30 बैठकों के लिए 30 अगस्त 2007 को निलंबित कर दिया। विशेषाधिकार समिति ने मांझी को अपनी पत्नी या साथी, किसी को भी 14वीं लोकसभा की समाप्ति तक राजकीय दौरे पर ले जाने पर रोक

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

लगा दी। लोकसभाध्यक्ष ने बेहद अफसोस जताते हुए इस समिति की रिपोर्ट प्रस्तुत करने को कहा था, जिसे लोकसभा ने ध्वनी मत से पारित कर दिया।

यदि किसी भी सांसद या विधायक को दो वर्ष से अधिक के कारावास की सजा हो जायात तो उसे अयोग्य घोषित कर संसद की सदस्यता से वंचित कर दिया जाएगा, किन्तु यदि उसकी अपील उच्च न्यायालय (यदि पूर्ववर्ती निर्णय अधीनस्थ उच्च न्यायालय ने दिया है) विचारार्थ स्वीकार कर ले तो वह अंतिम निर्णय आने तक सदस्य बना रहेगा।

अनु. 102, उन अयोग्यताओं का वर्णन करता है जिनके कारण कोई व्यक्ति सांसद नहीं बन सकता अर्थात् संसद का चुनाव लड़ने के पूर्व उसे ये शर्तें पूरी करनी होगी। अनु. 102(1) के अनुसार, कोई व्यक्ति संसद के किसी सदन का सदस्य चुने जाने के लिए और संसद का सदस्य बनने के लिए अयोग्य माना जाएगा, यदि वह

(क) भारत सरकार या किसी राज्य सरकार के अधीन किसी भी लाभ के पद पर काम कररहा हो,

(ख) विकृतचित्त है किसी न्यायालय ने उसे विकृतिचित्त या पागल करार दिया हो,

(ग) दिवालिया हो,

(घ) भारत का नागरिक न हो या उसने किसी विदेशी राज्य की नागरिकता स्वेच्छा से स्वीकार कर ली हो,

(ङ) संसद द्वारा बनाई गयी किसी विधि द्वारा उसके अधीन वह अयोग्य ठहरा दिया गया हो।

यदि यह प्रश्न उठता है कि संसद के किसी सदन का कोई वर्तमान सदस्य अनु. 102(1) में वर्णित किसी अयोग्यता से ग्रसित हो गया है या नहीं, तो यह किन्तु ऐसे किसी प्रश्न का निधरिण करने के पूर्व राष्ट्रपति निर्वाचन आयोग की राय लेगा तथा उस राय के अनुसार कार्य करेगा। राष्ट्रपति यह राय तभी लेगा जब किसी वर्तमान सांसद पर इस प्रकार के आरोप लगें। यदि कोई व्यक्ति सामान्य नागरिक है और वह अनु. 102(1) में वर्णित किसी अयोग्यता से ग्रस्त है तो उसके चुनाव न लड़ने का निर्णय या निधरिण निर्वाचन आयोग स्वयं करेगा (अनु. 103)।

अनु. 102(2) के अनुसार, कोई सांसद यदि 10वीं अनुसूची (दल-बदल) अधिनियम) अधीन अयोग्य ठहरा दिया जाय तो भी उसे संसद की सदस्यता से मुक्त होना पड़ेगा।

संसद सदस्यों के विशेषाधिकार:

संसद के भीतर या उसकी समितियों में संसद के किसी सदस्य द्वारा कही गयी किसी बात या दिए गए किसी मत के संबंध में उसे वाकस्वातंत्र्य के अंतर्गत उन्मुक्ति रहेगी और इस संबंध में उसके विरूद्ध कोई कार्यवाही नहीं की जाएगी। संसद सदस्यों के विशेषाधिकार, शक्तियां और उन्मुक्तियां सुनिश्चित एवं निर्धारित करने का कार्य संसद का है। जिन व्यक्तियों को (जैसे-जैसे मंत्री और महान्यायवादी) इस संविधान के अनुसार संसद के किसी सदन या उसकी समितियों में भाग लेने या बोलने का अधिकार है, उन्हें भी वे सभी विशेषाधिकार मिलेंगे जो सांसदों हेतु स्वीकृत हैं (अनु. 105)। संसद सदस्यों के वेतन भत्ते आदि निर्धारित करने का अधिकार भी संसद को ही है (अनु. 106)।

प्रत्येक सदन के विशेषाधिकारों को दो समूहों में विभाजित किया जाना चाहिए:

(क) वे जो सदस्यों द्वारा व्यक्तिगत रूप से उपभोग में लाए जाते हैं और

(ख) वे जो संसद के प्रत्येक सदन में सामूहिक रूप से विद्यमान हैं।

(क) प्रत्येक सदस्य द्वारा वैयक्तिक रूप से उपभोग किए जाने वाले विशेषाधिकार इस प्रकार हैं:

(1) गिरफ्तारी से उनमुक्ति:

सिविल प्रक्रिया की धारा 135 क, सदस्य के सदन या उसकी किसी समिति के, जिसकी वह सदस्य है, अधिवेशन के चलते रहने के दौरान या सदनों या समितियों की संयुक्त बैठक के दौरान तथा बैठक या अधिवेशन के पूर्व या पश्चात् 40 दिन की अवधि के दौरान गिरफ्तारी से छूट देती है। यह उन्मुक्ति केवल सिविल मामलों में गिरफ्तारी तक ही सीमित है, आपराधिक मामले या निवारक निरोध कानून के अधीन गिरफ्तारी की जा सकती है।

(2) जब संसद सत्र में हो, तो सदन की अनुमति के बिना किसी सदस्य को साक्ष्य देने केलिए समन जारी नहीं किया जा सकता।

(3) संसद के सदस्यों को संसद या उसकी किसी समिति में कही गई किसी बात के लिए न्यायालय में उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। इसका यह अर्थ नहीं कि सदस्य सदन की प्रतिष्ठा की परवाह किए बिना, इच्छानुसार कुछ भी कह सकते हैं। वाक-स्वातंत्र्य सदन द्वारा अपनी आतंरिक प्रक्रिया विनियमित करने हेतु बनाए गए नियमों के अधीन है। संविधान भी संसद में वाक-स्वातंत्र्य पर एक मार्यादा आरोपित करता है। उच्च या उच्चतम न्यायालय के किसी न्यायाधीश के अपने कर्त्तव्यों के निर्वहन में किए गए आचरण के विषय में संसद में कोई चर्चा उस न्यायाधीश को पद से हटाने वाले प्रस्ताव (महाभियोग) पर ही होगी अन्यथा नहीं (अनु. 121)।

(ख) सदन के सामूहिक विशेषाधिकार इस प्रकार हैं:

(1) चर्चा और कार्यवाहियां स्वयं प्रकाशित करने और अन्य व्यक्तियों को प्रकाशित करने से रोकने का अधिकार,

(2) अन्य व्यक्तियों को कभी भी दीर्घा से बाहर हटाने की शक्ति,

(3) सदन के आंतरिक मामलों को विनियमित करने

TRUST IAS

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

और चारदीवारी के भीतर उत्पन्न होने वाले मामलों को निपटाने का अधिकार,

(4) संसदीय कदाचार को प्रकाशित करने का अधिकार,

(5) सदस्यों को और बाहरी व्यक्तियों को सदन में विशेषाधिकारों को भंग करने के लिए दंड देने का अधिकार।

विधेयकों के प्रस्तुत करने और पारित किए जाने के बारे में में नियम:

भारतीय संविधान के अनु. 107 के अनुसार, धन विधेयकों को छोड़कर अन्य सभी सामान्य विधेयक (जिसमें संविधान संशोधन विधेयक भी शामिल हैं) संसद के किसी भी सदन में पहले प्रस्तुत किए जा सकते हैं। कोई भी विधेयक तब तक पारित नहीं समझा जाएगा जब तक कि, उसे दोनों सदन सहमतिपूर्वक (संयुक्त बैठक (अनु. 108)) तथा धन विधेयकों के संबंध में विशेष प्रक्रिया (अनु. 109) के नियमों के अंतर्गत रहते हुए पारित न कर दें।

सदन के स्थगन, सत्रावसान तथा लोकसभा के विघटन का विधेयकों पर प्रभाव:

सदन के स्थगन का विधेयकों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। सदन के सामान्य काम-काज में 'स्थगन' केवल विलंब कर सकता है। स्थगन का आदेश स्पीकर या राज्यसभा का सभापति तब देता है जब सदन में किसी बात पर भारी शोर-शराबा होने के कारण सदन सामान्य रूप से कार्य नहीं कर सकता हो।

सत्रावसान का अर्थ सदन के किसी एक सत्र के समापन की घोषणा से है। राष्ट्रपति को संसद के दोनों सदनों का एक साथ या किसी एक सदन का अकेले भी सत्रावसान करने का अधिकार है (अनु. 85(2))। ऐसा करते समय प्राय: यह कह दिया जाता है कि सदन अनिश्चितकाल हेतु स्थगित किया जाता है, किन्तु अनिश्चितकल अंतहीन नहीं हो सकता, क्योंकि सदन के दो सत्रों या अधिवेशनों के बीच अधिकतम 6 माह का अंतर नहीं हो सकता है। 'अनिश्चितकाल' को केवल शाब्दिक अर्थ यह है कि सदन के अगले सत्र को आहूत करने की तिथि तुरंत घोषित नहीं की जा रही है। प्रतिवर्ष दोनों सदनों के तीन सत्र आहूत किए जाते हैं: मानसून सत्र, शीतकालीन सत्र तथा बजट सत्र।

अनु. 107(3) के अनुसार, संसद में लंबित विधेयक सदनों के सत्रावसान के कारण समाप्त नहीं होगे अर्थात् यदि कोई विधेयक जिसे संसद के किसी भी एक सदन में पारित कर दिया गया हो तथा दूसरे सदन में उस विधेयक पर चर्चा हो रही हो या चर्चा होने वाली हो तो सदन के सत्रावसान का उस विधेयक पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा और इस विधेयक पर सदन में तब पुन: कार्रवाई या चर्चा प्रारंभ की जाएगी जब सदन का अगला सत्र आरंभ होगा। सत्रावसान के कारण सदन उस विधेयक पर कार्रवाई को अगले सत्र तक केवल, 'टाल' सकता है, उस विधेयक को समाप्त नहीं कर सकता।

कोई ऐसा विधेयक जो राज्यसभा में लंबित है अर्थात् उसपर राज्यसभा में चर्चा हो रही है या होने वाली है और जिसकी लोकसभा ने पारित नहीं किया है, लोकसभा के विघटन पर वह विधेयक समाप्त नहीं माना जाएगा क्योंकि अभी तो इस सदन में चर्चा शुरू ही नहीं हुई थी (अनु. 107(4)। किन्तु कोई ऐसा विधेयक जिसे लोकसभा ने पारित कर दिया हो और उसे राज्यसभा में प्रस्तुत कर दिया गया है तथा वहां उस विधेयक पर बहस चल रही हो यदि इस बीच लोकसभा भंग हो जाती है तो वह विधेयक समाप्त माना जायेगा यदि उस विधेयक को दोनों सदनों की संयुक्त बैठक के अधीन पारित करने की उद्घोषणा लोकसभा के विघटन की घोषणा के पूर्व न कर दी गयी हो।

कुछ दशाओं में दोनों सदनों की संयुक्त बैठक (अनु. 108):

संविधान के अनु. 108(1) के अनुसार संसद के दोनों सदनों की संयुक्त बैठक निम्नलिखित दशाओं में आहूत की जा सकती है:

(क) कोई विधेयक संसद के किसी एक सदन द्वारा पारित किए जाने और दूसरे सदन को भेज जाने के पश्चात् दूसरे सदन द्वारा विधेयक अस्वीकार कर दिया जाय, या

(ख) एक सदन द्वारा पारित विधेयक, जब दूसरे सदन में जाय तो दूसरा सदन उसमें कुछ ऐसे संशोधनों का प्रस्ताव रखे, जिससे पूर्ववर्ती सदन (जहां विधेयक पहली बार प्रस्तुत व पारित हुआ था) असहमत हो, या

(ग) दूसरे सदन में वह विधेयक छ: माह से अधिक समय बीत जाने के बाद भी पारित न हो सका हो,

तो उपरोक्त में से किसी भी एक दशा में (लोकसभा के विघटन के कारण विधेयक समाप्त होने की दशा/शर्त के अतिरिक्त) राष्ट्रपति विधेयक पारित कराने हेतु संयुक्त अधिवेशन आहूत करने की सूचना, यदि संसद के दोनों सदन चल रहे हों तो 'संदेश' द्वारा और यदि संसद के दोनों सदनों की बैठक न हो रही हो तो 'लोक अधिसूचना' द्वारा देगा, परंतु धन विधेयकों पर दोनों सदनों में असहमति की दशा में संयुक्त बैठक के प्रावधान लागू नहीं होंगे।

अनु. 108(2) के अनुसार, उपरोक्त संदर्भ में 6 माह की गणना करते समय उस अवधि को शामिल नहीं किया जाएगा जिसमें दूसरा सदन सत्रावसित या निरंतर चार से अधिक दिनों के लिए स्थगित कर दिया गया हो। ऐसा इस कारण है कि हो सकता कि स्थगन और सत्रावासान दोनों ही दशाओं में सदन को कार्य करने का अवसर नहीं मिल पाया हो, लेकिन वह सदन उस विधेयक को लेकर गंभीर रहा हो।

अनु. 108(3) के अनुसार, राष्ट्रपति द्वारा संयुक्त बैठक की सूचना जारी होने के बाद कोई भी सदन उस विधेयक पर आगे कार्रवाई नहीं करेगा। संयुक्त बैठक की सूचना जारी होने के बाद राष्ट्रपति कभी भी संयुक्त बैठक की तिथि घोषित कर सकेगा।

FIRST IAS

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

अनु. 108(4) के अनुसार, संयुक्त बैठक में कोई विधेयक तभी पारित माना जाएगा जब दोनों सदनो के उपस्थित और मत देने वाले सदस्यों की कुल संख्या के बहुमत द्वारा उसे पारित कर दिया जाय संयुक्त बैठक में उस विधेयक के बारे में में कोई संशोधन तभी प्रस्तुत होगा या उस संशोधन पर तभी चर्चा शुरू की जाएगी जब दूसरे सदन ने विधेयक प्राप्त होने के बाद पूर्ववर्ती सदन को कुछ संशोधनों के साथ लौटा दिया हो। यदि दूसरे सदन ने विधेयक लौटाया नहीं है, केवल उसे अपने पास पड़ा रहने दिया है तो केवल वे ही संशोधन संयुक्त बैठक में चर्चा के लिए प्रस्तुत होंगे जो विधेयक के पारित होने में देरी के कारण आवश्यक हो गए हों। सदन के संयुक्त बैठक में पीठासीन व्यक्ति (अर्थात् स्पीकर) का इस बारे में निर्णय अंतिम होगा कि किसी नए संशोधन पर चर्चा होगी या केवल वे ही संशोधन रखे जायंगे जो विधेयक पारित होने में देरी के कारण आवश्यक हो गए हों।

अनु. 108 (5) एक महत्वपूर्ण प्रावधान करता है कि, सदनों की संयुक्त बैठक आहूत करने की सूचना जारी होने के बाद यदि लोकसभा भंग भी हो जाती है तो इस अनुच्छेद के अधीन संयुक्त बैठक होगी और उसमें विधेयक पर चर्चा होगी।

अनु. 118 के अनुसार राज्यसभा और लोकसभा अपने कार्य संचालन के लिए अपने-अपने नियम स्वयं बनाएंगी किन्तु दोनों सदनों की संयुक्त बैठक में संबंधित प्रक्रिया का निर्धारण राष्ट्रपति करेगा और ऐसा नियम बनाने में वह लोकसभा अध्यक्ष तथा राज्यसभा के सभापति से परामर्श लेगा (अनु. 108(3))। दोनों सदनों की संयुक्त बैठक की अध्यक्षता स्पीकर (लोकसभाध्यक्ष) करता है किन्तु वह न रहे तो संयुक्त बैठक की अध्यक्षता कौन करेगा, यह नियम बनाने की शक्ति भी राष्ट्रपति के पास ही है (अनु. 118(4))। इस शक्ति का प्रयोग करते हुए राष्ट्रपति ने जो नियम बनाया है, उसके अनुसार, लोकसभाध्यक्ष की अनुपस्थिति में, लोकसभाध्यक्ष संयुक्त बैठक की अध्यक्षता करेगा और यदि वह भी अनुपस्थित है तो राज्यसभा के उपसभापति को यह दायित्व देखना होगा।

धन विधेयक और संविधान संशोधन विधेयकों पर दोनों सदनों में असहमति की दशा में संयुक्त बैठक नहीं होगी। इस प्रकार के विधेयक दोनों सदनों द्वारा पृथक-पृथक पारित करने होंगे।

धन विधेयक:

संसद की प्रस्तुत किए जाने वाले विधेयक 3 प्रकार के होते हैं- सामान्य विधेयक, संविधान-संशोधन विधेयक तथा धन विधेयक। सामान्य विधेयक वे होते हैं जो सामान्य कानून के निर्माण या उनमें संशोधन से जुड़े होते हैं जैसे नागरिक प्रक्रिया संहिता (सी.पी.सी) तथा भारतीय दंड प्रक्रिया संहिता (आई.पी.सी.) आदि। संविधान संशोधन विधेयक वे होते हैं जो संविधान के प्रावधानों से जुड़े होते हैं और साथ ही वे संविधान के संशोधन से संबंधित होते हैं (किन्तु संविधान के प्रावधानों से संबंध कुछ ऐसे विधेयक भी होते हैं जो संविधान से जुड़े होने के बावजूद भी संविधान संशोधन विधेयक की प्रक्रिया के अनुसार पारित नहीं होते जैसे- नागरिकता के प्रावधानों में या महत्वपूर्ण संवैधानिक पदाधिकारियों के वेतन या शपथ प्रारूप में परिवर्तन करने वाला कोई विधेयक आदि)। धन विधेयक की परिभाषा संविधान के अनु. 110 में दी गयी है। निम्नलिखित सभी या उनमें से किसी भी एक से सम्बद्ध प्रावधान धन विधेयक की श्रेणी में आएगा:

(क) किसी कर का अधिरोपण (कर का लगाया जाना), उत्सादन (किसी को समाप्त करना), परिहार (किसी कर को कुछ समय के लिए स्थगित करना), परिवर्तन (कर की दरों में कमी या वृद्धि करना) या विनियमन,

(ख) भारत सरकार द्वारा धन उधार लेने का या कोई गारंटी देने का नियम बनाना अथवा भारत सरकार द्वारा अपने ऊपर ली गयी या ली जाने वाली आर्थिक जिम्मेदारियों से संबंधित कानून का संशोधन,

(ग) भारत की संचित निधि या आकस्मिक निधि की अभिरक्षा, ऐसी किसी निधि में धन जमा करना या उसमें से धन का निकालना,

(घ) भारत की संचित निधि में से धन का विनियोग,

(ङ) किसी व्यय को भारत की संचित निधि पर भारित व्यय घोषित करना या ऐसे किसी व्यय की राशि को बढ़ाना,

(च) भारत की संचित निधि या भारत के लोक लेखा के लिए धन प्राप्त करना अथवा ऐसे धन की अभिरक्षा या उसका निर्गमन अथवा संघ या राज्य के लेखाओं की संपरीक्षा, या

(छ) उपखंड (क) से उपखंड (च) में विनिर्दिष्ट किसी विषय का आनुषंगिक कोई लक्षण।

संविधान के अनु. 117 (1) के अनुसार, अनु. 110 के खंड (1) के उपखंड (क) से (च) तक वर्णित किसी विषय के लिए उपबंध करने वाला विधेयक या संशोधन राष्ट्रपति की सिफारिश (अर्थात् राष्ट्रपति की अनुमति) के बाद ही संसद में प्रस्तुत किया जाएगा अन्यथा नहीं और ऐसा उपबंध करने वाला कोई भी विधेयक पहले लोकसभा में प्रस्तुत होगा, राज्यसभा में नहीं।

परंतु किसी कर को घटाने या समाप्त करने का उपबंध करने वाले किसी संशोधन के प्रस्ताव के लिए इस खंड के अधीन राष्ट्रपति की सिफारिश की आवश्यकता नहीं होगी।

अनु. 117(3) के अनुसार, जिस विधेयक को अधिनियममित और लागू किए जाने पर भारत की संचित निधि में से धन व्यय करना पड़े, वह विधेयक संसद के किसी भी सदन द्वारा तब तक पारित नहीं समझा जाएगा जब तक ऐसे विधेयक पर विचार करने हेतु उस सदन ने राष्ट्रपति से सिफारिश नहीं की है अर्थात्

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

अनुमति नहीं ली है।

कोई विधेयक केवल इस कारण धन विधेयक नहीं समझा जाएगा कि वह जुर्मानों या अन्य धन संबधी दंड के अधि रोपण का अथवा अनुज्ञप्तियों के लिए फीसों का या की गई सेवाओं के लिए फीसों की मांग का या उसके संदाय का उपबंध करता है अथवा इस कारण धन विधेयक नहीं समझा जाएगा कि वह स्थानीय प्राधिकारी या निकाय द्वारा स्थानीय प्रयोजनों के लिए किसी कर के अधिरोपण, उत्सादन, परिवर्तन, परिहार या विनियमन का उपबंध करता है अर्थात् आर्थिक दंड की राशि को घटाने या बढ़ाने, किसी विशेष सेवा हेतु वसूली जाने वाली धनराशि को बढ़ाने या घटाने वाले स्थानीय प्राधिकारी या स्थानीय निकायों द्वारा अपने वैयक्तिक आर्थिक क्रियाकलापों से जुड़े विधेयक धन विधेयक नहीं माने जाएंगे (अनु. 108(2))।

वित्त विधेयक और धन विधेयक में अंतर:

वित्त विधेयक वे होते हैं जो आर्थिक क्रियाकलापों से जुड़ी गतिविधियों को विनियमित करते हैं। धन विधेयकों का स्वरूप भी आर्थिक ही होता है किन्तु इनकी अपनी एक विशिष्ट परिभाषा व पहिचान है जो अनु. 110 में दी गई है और जिसका उल्लेख किया जा चुका है। प्रत्येक धन विधेयक, वित्त विधेयक होता है किन्तु प्रत्येक वित्त विधेयक धन विधेयक नहीं होता, केवल वे वित्त विधेयक ही धन विधेयक माने जाते हैं जिन्हें लोकसभाध्यक्ष ने इस आशय का प्रमाणपत्र दे दिया हो। धन विधेयकों के पारित होने की एक विशेष प्रक्रिया है, (जैसे राष्ट्रपति की पूर्व सहमति से उनका अनिवार्य रूप से लोकसभा में पहले प्रस्तुत होना; राज्यसभा द्वारा इसे 14 दिन के भीतर लोकसभा को वापस करना, इस विध ेयक पर दोनों सदनों में असहमति की दशा में संयुक्त बैठक का अभाव तथा दोनों सदनों में पारित होने के बाद राष्ट्रपति का अनुमति देने के लिए बाध्य होना) जबकि वित्त विधेयकों पर ये सारे प्रावध ान लागू नहीं होते।

वित्त विधेयक सामान्य विधेयकों की तरह ही पारित होते हैं लेकिन कोई भी ऐसा वित्त विधेयक जिसमें व्यय करने के प्रावध ान हों, राष्ट्रपति की अनुमति से ही संसद के किसी सदन में प्रस्तुत किया जाएगा। राष्ट्रपति लोक वित्त का संरक्षक होता है अत: कोई भी व्यय उसकी स्वीकृति से ही किया जा सकेगा चाहे वह धन विधेयक से जुड़ा हो या वित्त विधेयक से। राष्ट्रपति की स्वीकृति के बाद व्यय से जुड़े समस्त वित्त विधेयक सामान्य विधेयकों की ही भांति पारित होंगे, जैसे उसे संसद के दोनों सदनों में से किसी भी सदन में पहले प्रस्तुत किया जा सकता है, उस पर दोनों सदनों में असहमति की दशा में संयुक्त बैठक बुलायी जा सकती है।

यदि यह विवाद उठता है कि कोई विधेयक धन विधेयक है या नहीं तो उस पर लोकसभा के अध्यक्ष का निर्णय अंतिम होगा (अनु. 108(3))। जब धन विधेयक अनु. 109 के अधीन राज्यसभा को (लोकसभा से पारित होने के बाद) भेजा जाता है और जब वह अनु. 111 के अधीन राष्ट्रपति के पास उसकी अनुमति के लिए (संसद के दोनों सदनों द्वारा पारित होने के बाद) भेजा जाता है तो उस पर लोकसभा के अध्यक्ष का हस्ताक्षर सहित प्रमाणपत्र पृष्ठांकित किया जाता है कि यह धन विधेयक है।

धन विधेयक पारित करने के संबंध में विशेष प्रक्रिया:

अनु. 109 के अनुसार, धन विधेयक अनिवार्य रूप से पहले लोकसभा में ही प्रस्तुत होगा, राज्यसभा में नहीं। जब धन विधेयक लोकसभा द्वारा पारित कर दिया जाए तो वह राज्यसभा में भेजा जाता है। राज्यसभा को उस विधेयक को 14 दिन के भीतर लोकसभा को वापस कर देना होगा। यदि राज्यसभा धन विधेयक के प्रावधानों से सहमत है तो वह विधेयक को पारित कर देती है, यदि राज्यसभा विधेयक के कुछ प्रावधानों या सम्पूर्ण विधेयक से असहमत है तो कतिपय संशोधनों के साथ वह इसे लोकसभा का वापस कर देगी यदि लोकसभा, राज्यसभा द्वारा किए गए संशोधनों को स्वीकार करते हुए धन बिधेयक पारित कर देती है तो यह दोनों सदनों द्वारा पारित मान लिया जायेगा।

यदि लोकसभा विधेयक में किए गए संशोधनों को स्वीकार **नहीं करना चाहती तो भी वह विधेयक** दोनों सदनों द्वारा पारित मान लिया जायेगा। यदि लोकसभा विधेयक में किए गए संशोधनों को स्वीकार नहीं करना चाहती तो भी वह विधेयक पारित मान लिया जायेगा, अर्थात् राज्यसभा द्वारा धन विधेयक में किए गए किसी भी संशोधन को मानने हेतु लोकसभा बाध्य नहीं है। यदि राज्यसभा धन विधेयक को 14 दिन के भीतर लोकसभा को वापस नहीं करती है तो भी यह माना जाएगा कि, राज्यसभा को वापस नहीं करती है तो भी यह माना जाएगा कि, राज्यसभा विधेयक के प्रावध ानों से सहमत है और उसने इसे पारित कर दिया है।

विधेयक और राष्ट्रपति:

जब कोई विधेयक संसद के दोनों सदनों द्वारा पारित कर दिया जाता है तब वह राष्ट्रपति के समक्ष प्रस्तुत किया जाएगा और राष्ट्रपति यह घोषित करेगा कि वह विधेयक पर अनुमति देगा या नहीं। धन विधेयक से भिन्न विधेयक की दशा में राष्ट्रपति यदि विधेयक के प्रावधानों से संतुष्ट नहीं है तो उसमें कोई संशोधन चाहता है तो वह उसे विधेयक को उस सदन को वापस कर सकात है जिस सदन में उस विधेयक का सूत्रपात हुआ था। राष्ट्रपति विध ेयक वापस करते समय 'संदेश' द्वारा यह बता सकता है कि वह विधेयक में किस प्रकार का संशोधन चाहता है। इस प्रकार राष्ट्रपति द्वारा लौटाए गए विधेयक पर दोनों सदन पुनर्विचार करेंगे।

इसके बाद वह विधेयक राष्ट्रपति द्वारा सुझाए गए संशोध नों के सहित संशोधनों के बिना पारित कर दिया जाता है और दुबारा राष्ट्रपति के पास हस्ताक्षर हेतु भेजा जाता है तो राष्ट्रपति उस विध ेयक पर अनुमति देने हेतु विवश है। किसी विधेयक को पुनर्विचार हेतु सदन में वापस भेजने का निर्णय राष्ट्रपति के निजी विवेक का विषय है सामान्यत: मंत्रिमंडल इसपर कुछ नहीं कहता। किन्तु भारत के इतिहास में एक बार मंत्रिमंडल ने स्वयं राष्ट्रपति से विधेयक पर

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

वीटो करने को कहा था। पेप्सू एप्रोप्रिएशन बिल को राष्ट्रपति ने मंत्रिमंडल की सलाह पर तकनीकी आधार पर वीटो किया था। चूंकि विधेयक को पारित करने की आवश्यकता ही समाप्त हो चुकी थी अत: मंत्रिमंडल की सिफारिश को राष्ट्रपति ने मान लिया था।

वार्षिक वित्तीय विवरण (बजट):

अनु. 112 (1) के अनुसार, राष्ट्रपति प्रत्येक वित्तीय वर्ष के संबंध (1 अप्रैल से 31 मार्च तक वित्तीय वर्ष होता है) आरंभ में संसद के दोनों सदनों के समक्ष भारत सरकार की उस वर्ष के लिए प्राक्कलित (अनुमानित) प्राप्तियों (आय) और व्यय का विवरण रखवाएगा, जिसे इस भाग में 'वार्षिक वित्तीय विवरण' (बजट) कहा गया है। बजट पहले लोकसभा से प्रस्तुत किया जाता है, फिर राज्यसभा में उस पर चर्चा होती है, राज्यसभा को 75 दिन के भीतर बजट पर चर्चा करके इसे पारित करना होता है।

बजट में जो व्यय दिखाए जाते हैं, वे दो प्रकार के होते हैं:

112,(2) (क): भारत की संचित निधि पर भारित व्यय के रूप में वर्णित व्यय की पूर्ति हेतु अपेक्षित राशियां अर्थात् वह सेवाएं जिसके लिए होने वाले खर्च भरपाई अनिवार्य रूप से संचित निधि से की जाएगी, और

112,(2) (ख): कुछ अन्य खर्चों हेतु, जिनके लिए राशि संचित निधि से ही ली जाएगी।

उपरोक्त वर्णित 112(2)(क) के अंतर्गत किए जाने वाले व्यय (अर्थात् वे व्यय जिनके लिए संचित निधि से व्यय करना आवश्यक है) इस प्रकार हैं:

(क) राष्ट्रपति के वेतन, उपलब्धियां और भत्ते तथा उसके पद से संबंधित अन्य व्यय,

(ख) राज्यसभा के सभापति और उपसभापति तथा लोकसभा के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष के वेतन तथा भत्ते,

(ग) ऐसे समस्त ऋण और उन पर लगने वाला ब्याज तथा अन्य व्यय, जिसका दायित्व भारत सरकार पर है,

(घ) (1) उच्चतमन न्यायालय के न्यायाधीशों को या उनके संबंध में संदेय वेतन, भत्ते तथा पेंशन,

(2) फेडरल न्यायालय के न्यायाधीशों को या उनके संबंध में संदेय पेंशन (इस प्रकार

के न्यायाधीशों की कोटि अब नहीं रह गई है लेकिन जब संविधान बन रहा था तब इस प्रकार के न्यायाधीश थे, अत: यह प्रावधान किया गया था),

(3) उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को मिलने वाली पेंशन (ध्यातव्य रहे कि इनके वेतन तथा भत्ते उस राज्य की संचित निधि पर भारित होते हैं जहां ये काम करते हैं),

(ङ) भारत के नियंत्रक महालेखापरीक्षक को या उसके संबंध में संदेय वेतन, भत्ते और पेंशन,

(च) किसी न्यायालय या दो पक्षों के बीच मध्यस्थता करने वाले अभिकरण (जिसका दर्जा न्यायालय के बराबर है) के निर्णय, डिक्री या पंचाट की तुष्टि के लिए अपेक्षित राशियां,

(छ) कोई अन्य व्यय, जो इस संविधान द्वारा या संसद द्वारा कानून बनाकर संचित निधि पर भारित घोषित कर दिया गया है।

वह व्यय जिस पर संसद में मतदान होगा या नहीं होगा (अनु. 113):

वह प्रत्येक व्यय जो अनिवार्य रूप से भारत की संचित निधि पर भारित होगा, उसपर सदन में चर्चा तो हो सकती है किन्तु उस पर मतदान नहीं हो सकता, अर्थात् अनु. 112(2) (क) के अंतर्गत किये जाने वाले व्यय। लेकिन संचित निधि पर भारित 'अन्य व्यय' (जिसका प्रावधान अनु. 112(2) (ख) के अंतर्गत' की पूर्ति हेतु लोकसभा के समक्ष अनुदान की मांग की जाएगी और लोकसभा को यह अधिकार होगा कि, वह किसी मांग या व्यय की अनुमति दे या न दे या उस व्यय हेतु मांगी गयी राशि को कम कर दे। संचित निधि का संरक्षक चूंकि राष्ट्रपति होता है अत: अनुदान की कोई मांग संसद में प्रस्तुत करने के पूर्व राष्ट्रपति की अनुमति लेनी होगी।

विनियोग विधेयक (अनु. 114):

भारत की संचित निधि में से कोई धन, विनियोग विधेयक के द्वारा ही निकाला जा सकता है, अन्यथा नहीं। विनियोग विधेयक इस प्रकार पारित होता है:

लोकसभा द्वारा अनुदान की मांग किए जाने के पश्चात् भारत की संचित निधि में से,

(क) लोकसभा द्वारा इस प्रकार किए गए अनुदानों की,

(ख) भारत की संचित निधि पर भारित व्यय की पूर्ति के लिए अपेक्षित और धन के विनियोग का उपबंध करने हेतु विधेयक प्रस्तुत किया जाएगा।

यह विधेयक धन-विधेयक के रूप में प्रस्तुत किया जाएगा किन्तु इस प्रकार मांगे जाने वाली अनुदान की राशि में कमी या वृद्धि करने का या अनुदान के लक्ष्य में परिवर्तन करने का या संचित निधि पर भारित व्यय की राशि में किसी प्रकार का परिवर्तन करने वाला कोई संशोधन विधेयक, संसद के किसी भी सदन में प्रस्तुत नहीं किया जायेगा (अनु. 114)।

सरकार द्वारा की गई व्यय की मांग पर मतदान करने का कार्य केवल लोकसभा ही कर सकती है, राज्यसभा नहीं। लोकसभा में बजट पर सामान्य चर्चा के बाद बजट की प्रत्येक मदों पर सदन में मतदान करके ही निर्णय लेता है, चूंकि सदन में सरकार का बहुमत होता है अत: बजट उसी स्वरूप में पारित हो जाता है, जैसा कि सरकार चाहती है।

अनुपूरक, अतिरिक्त अर्थात् अधिक अनुदान (अनु. 115):

यदि वार्षिक वित्तीय विवरण (बजट) में किसी मद पर

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

व्यय के लिए स्वीकृति धनराशि आगे चलकर किसी कारण से कम पड़ जाती है तो व्यय की पूर्ति के लिए अनुपूरक अनुदान की मांग पारित की जाएगी। यदि किसी वित्तीय वर्ष के दौरान, किसी सेवा/मद पर बजट में स्वीकृति धनराशि की तुलना में अधिक खर्च हो गया है तो अतिरिक्त या अधिक अनुदान की मांग वाला विधेयक लाकर उस व्यय की स्वीकृति संसद से ली जाएगी।

अनुपूरक और अतिरिक्त या अधिक अनुदान की मांग वाल विधेयक राष्ट्रपति की स्वीकृति से ही लोकसभा में प्रस्तुत किया जायेगा। ऐसा कोई विधेयक अनु. 112, 113 एवं 114 के प्रावधानों का अनुपालन करते हुए पारित किया जाएगा।

लेखानुदान, प्रत्ययानुदान और अपवादानुदान (अनु. 116):

लेखानुदान विधेयक वह होता है जिसके माध्यम से किसी वित्तीय वर्ष के किसी भाग के लिए (दो माह, तीन माह आदि) खर्च की जाने वाली राशि को लोकसभा की स्वीकृति हेतु प्रस्तुत किया जाता है। लेखानुदान, कार्यपालिका के लिए धन प्राप्त करने का त्वरित तरीका है क्योंकि अनु. 113 और 114 के अधारित प्रक्रिया काफी समय लेती है, यदि सरकार के पास समय नहीं है और धन की प्राप्ति आवश्यक है, तो ऐसी दशा में लेखानुदान प्रस्तुत किया जाता है (अनु. 116(1)(क))।

जब किसी सेवा की महत्ता या उसके अनिश्चित स्वरूप के कारण मांग ऐसे ब्यौरे के साथ वर्णित नहीं की जा सकती है जो सामान्यतया बजट में दिया जाता है, तब भारत के संपत्ति स्रोतों से अप्रत्याशित मांग की पूर्ति के लिए अनुदान करने वाला विधेयक प्रत्ययानुदान कहलाता है। इसके अंतर्गत युद्ध, प्राकृतिक आपदा आदि के समय धन की मांग शामिल की जाती है (अनु. 116(1)(ख))।

ऐसे अनुदान की मांग, जो किसी वित्तीय वर्ष में चलायी जा रही सेवाओं से संबंधित नहीं है, उस मांग को अपवादानुदान कहते हैं, जैसे पिछले वित्तीय वर्ष की किसी योजना पर किए जाने वाले आकस्मिक व्यय, प्राकृतिक आपदा आदि।

उपरोक्त तीनों प्रकार के अनुदान भारत की संचित निधि पर भारित होंगे। लेकिन इस त्वरित व्यय की पूर्ति 'आकस्मिक निधि' (अनु. 267) से ही की जाएगी।

कटौती प्रस्ताव:

अनुदान की मांगों पर चर्चा के दौरान मंत्रालयों की नीतियों की सूक्ष्मता से छानबीन की जाती है। संसद सदस्य सहायक प्रस्ताव प्रस्तुत कर या मंत्रालय की नीतियों का विरोध करते हुए उसका अनुमोदन न करके या मितव्ययिता का सुझाव लगाकर किसी विशिष्ट क्षेत्र में मंत्रालय का ध्यान आकृष्ट कर सकते हैं। ये सहायक प्रस्ताव ही 'कटौती प्रस्ताव' कहलाते हैं। ये 3 प्रकार के हैं:

(1) सांकेतिक कटौती प्रस्ताव:

इसका उद्देश्य प्रस्ताव/विपक्ष द्वारा सरकार का उत्तरदायित्व के क्षेत्र में विशिष्ट शिकायत दर्जा कराना होता है। इस कटौती में कहा जाता है कि मांग की संपूर्ण राशि में से 100 रुपये की कटौती की जाय। यह केवल सांकेतिक होती है।

(2) मितव्ययिता कटौती प्रस्ताव:

इस प्रकार के कटौती प्रस्ताव का उद्देश्य सार्वजनिक व्यय में मितव्ययिता (कमी) लाने के लिए मांग की राशि में निश्चित (एक उल्लिखित राशि) मात्र की कमी करना है।

(3) नीतिगत कटौती प्रस्ताव:

इस प्रकार के प्रस्ताव उसके प्रस्तावक/विपक्ष द्वारा सरकार की पूरी नीति से असहमति दर्शाते है। इसमें संपूर्ण व्यय की राशि को घटाकर 1 रु. कर दिया जाता है।

वस्तुत: सभी कटौती प्रस्ताव विपक्ष द्वारा लाया जाता है और लोकसभा में सरकार का बहुमत होता है फलत: कोई भी कटौती प्रस्ताव पारित नहीं होता। यदि ये प्रस्ताव पारित हो जाय तो मानना पड़ेगा कि सरकार ने बहुमत खो दिया है फलत: सरकार को त्यागपत्र देना पड़ेगा।

संसद में प्रयोग की जाने वाली भाषा (अनु. 120):

अनु. 120(1) के अनुसार, संविधान के भाग 17 (राजभाषा से संबंधित संवैधानिक प्रावधान) में किसी बात के होते हुए भी, किन्तु अनु. 348 के उपबंधों के अधीन रहते हुए संसद में कार्य हिन्दी में या अंग्रेजी में किया जाएगा, परंतु कोई ऐसा सदस्य जो हिन्दी में या अंग्रेजी में अपनी बात नहीं कह सकता वह यथास्थिति राज्यसभा के सभापति या लोकसभा के अध्यक्ष की अनुमति लेकर अपनी मातृभाषा में सदन को सम्बोधित कर सकता है।

संसद में चर्चा पर नियंत्रण (अनु. 121):

उच्चतम न्यायालय या किसी उच्च न्यायालय के किसी न्यायाधीश के कार्य और आचरण के विषय में संसद में कोई चर्चा केवल महाभियोग प्रस्ताव पर बहस के दौरान ही की जा सकती है अन्यथा नहीं।

न्यायालय द्वारा संसद की कार्यवाहियों की जांच न किया जाना (अनु. 122):

किसी न्यायालय में इस बात पर चर्चा नहीं की जा सकती है कि कोई कानून बनाते समय क्या कोई कार्यवाही करते समय सदन ने किसी प्रक्रिया विशेष का पालन नहीं किया (अनु. 122(1))। कोई भी न्यायालय इस बात पर चर्चा नहीं करेंगे कि संसद के भीतर व्यवस्था बनाए रखने या कार्यसंचालन का विनियमन करने के लिए अधिकृत किसी अधिकारी या संसद सदस्य ने अपनी शक्तियों का अनुपालन करते हुए क्या नियम बनाए हैं (अनु. 122 (2))।

राष्ट्रपति की अध्यादेश प्रख्यापित करने की शक्ति (अनु. 123) का वर्णन 'संघ' की कार्यपालिका' वाले अध्याय में कियाजा

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

चुका है।

क्या राज्यसभा द्वितीय या गौड़ या महत्वहीन या शक्तिहीन सदन है?:

भारत में संसदीय व्यवस्था का कार्यसंचालन जिस प्रकार से प्राय: होता है उसे देखकर कोई भी प्रेक्षक यह कह सकता है कि राज्यसभा का महत्व लोकसभा के तुलना में गौंण या अत्यंत कम है। राज्य सभा, जिसे उच्च सदन (सदस्यों की प्रतिभा, योग्यता एवं गुणों के आधार पर) कहा गया है उसके अधिकार एवं शक्तियां काफी कम हैं। राज्यसभा की शक्ति एवं स्थिति को न्यून करने के लिए निम्नलिखित कारण उत्तरदायी हैं:

(1) कोई भी विधेयक प्राय: लोकसभा में पहले प्रस्तुत किया जाता है उसके बाद राज्यसभा
में भेजा जाता है।

(2) धन विधेयक राष्ट्रपति की अनुमति मिलने के बाद अनिवार्य रूप से पहले लोकसभा में प्रस्तुत किए जाते हैं उसके बाद इसे राज्यसभा में भेजा जाता है। राज्यसभा को केवल 14 दिन के भीतर इस पर विचार कर लोकसभा को वापस भेजना होता है। धन विधेयक उसी रूप में पारित होता है, जिस रूप लोकसभा चाहती है क्योंकि असहमति की दशा में राज्यसभा, लोकसभा से अपनी बात बलपूर्वक नहीं मना सकती।

(3) सामान्य विधेयकों पर (इसमें धन विधेयक तथा संविधान संशोधन विधेयक शामिल नहीं हैं) राज्यसभा यदि लोकसभा द्वारा किए गए प्रावधानों से असहमत है तो दोनों सदनों की संयुक्त बैठक (अनु. 108) बुलायी जा सकती है, किन्तु लोकसभा की सदस्य संख्या अधिक होने के कारण विधेयक उसी रूप में पारित हो जाता है जिस रूप में लोकसभा चाहती है।

(4) लोकसभा में जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से चुनकर आए प्रतिनिधि होते हैं और मंत्रिपरिषद भी लोकसभा के प्रति ही उत्तरदायी होता है। मंत्रिपरिषद यदि लोकसभा में पराजित हो जाय तो उसे त्यागपत्र देना पड़ता है किन्तु राज्यसभा में यदि वह पराजित हो जाय तो उसको त्यागपत्र नहीं देना पड़ता है।

(5) राज्यसभा की सरंचना इस प्रकार की गई किह यह संघीय व्यवस्था का प्रतिविम्ब बन सकें। राज्यसभा में इकाई राज्यों के प्रतिनिधि होते हैं। इनका चुनाव उस राज्य की विधानसभा के सदस्यों द्वारा होता है, जनता की प्रत्यक्ष रूप से कोई सहभागिता नहीं होती। साथ ही इनका लंबा कार्यकाल (6 वर्ष) भी इन्हें अपने राजनीतिक भविष्य के प्रति निष्क्रिय कर देता है। राज्यसभा के सदस्यों के चुनाव में उस प्रकार शोरगुल नहीं होता और न ही उसे मीडिया में उस प्रकार का कवरेज मिलता है जैसा कि लोकसभा के चुनावों को मिलता है।

इन उपरोक्त प्रावधानों के अतिरिक्त राज्यसभा के पास कुछ ऐसी विशिष्ट शक्तियां हैं जो लोकसभा के पास नहीं है और जो इस बात को स्थापित करने में सक्षम है कि राज्यसभा महत्वहीन सदन नहीं है, अपितु वह भी संसदीय व्यवस्था का एक महत्वपूर्ण भाग है, बिना उसके काम नहीं चल सकता:

(1) संविधान के अनु. 249 के अनुसार, यदि राज्यसभा अपने उपस्थित एव मतदान करने वाले दो-तिहाई सदस्यों के बहुमत से यह संकल्प या प्रस्ताव पारित कर दे कि राज्य सूची में वर्णित कोई विषय 'राष्ट्रीय महत्व' का है तो उस विषय पर कानून बनाने का अधिकार केन्द्रीय संसद को मिल जाता है। संसद ऐसा कानून पूरे भारत के संदर्भ में एक साथ या उसके कुछ भाग विशेष के लिए भी बना सकती है। ऐसा कानून बनने के बाद एक वर्ष की अवधि तक मान्य रहेगा, लेकिन राज्यसभा यदि चाहे तो इसे एक-एक वर्ष करके अनन्त काल तक बढ़ा सकती है। अनु. 249 के द्वारा राज्यसभा को मिली शक्ति के अभाव में लोकसभा अकेले ऐसा नहीं कर सकती।

(2) संविधान के अनु. 312 के अनुसार, लोकसभा को यह अधिकार है कि वह अपने उपस्थित एवं मतदान करने वाले दो-तिहाई सदस्यों के बहुमत द्वारा संघ या राज्यों के लिए सम्मिलित रूप से एक या अधिक, अखिल भारतीय सेवाओं/नौकरियों का निर्माण कर सकती है यदि राष्ट्रीय हित में ऐसा करना आवश्यक है।

उपरोक्त दोनों अधिकार यदि केवल लोकसभा के पास होते तो इस बात की संभावना से इनकार नहीं किया जा सकता है कि राज्यों की शक्तियां दुर्भावनावश कभी भी कम की जा सकती थी, किन्तु दोनों अधिकार राज्यसभा को दिए गए हैं क्योंकि वह इकाई-राज्यों की प्रतिनिधि है। राज्यों की प्रतिनिधि होने के कारण राज्यसभा को यह अधिकार दिया गया है कि वह राज्यों के अधिकारों/शक्तियों में परिस्थितियों के अनुसार आवश्यक एवं सामयिक परिवर्तन कर सके।

(3) संविधान संशोधन विधेयक एक ऐसा विधेयक है जिसे दोनों सदनों में से किसी भी सदन में प्रस्तुत किया जा सकता है किन्तु दोनों सदनों द्वारा पृथक-पृथक बहुमत से इसे पारित करना होगा, किसी भी एक सदन में विधेयक पारित न होने की दशा में वह विधेयक समाप्त या नष्ट या पराजित हो जाएगा। संशोधन विधेयक पर मतभेद की स्थिति में संयुक्त बैठक की व्यवस्था नहीं है। अबतक 3 बार संविधान संशोधन के प्रस्ताव पर लोकसभा और राज्यसभा में मतभेद की स्थिति पैदा हुई है:

सर्वप्रथम, 1970 ई. में प्रिवीपर्स समाप्त करने से संबंधित संविधान संशोधन का प्रस्ताव लोकसभा में पारित होकर जब राज्यसभा में गया तो राज्यसभा के द्वारा उसे अस्वीकार कर दिया गया, परिणामत: यह संविधान संशोधन विधेयक पारित न हो सका।

द्वितीय, 1978 ई. में जब लोकसभा द्वारा 45वें संविधान संशोधन विधेयक को पारित कर राज्यसभा में भेजा गया, तो राज्यसभा के द्वारा इस संशोधन विधेयक को 2 संशोधनों सहित पारित करके लोकसभा को भेज दिया गया। ऐसी दशा में लोकसभा

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

के सामने दो ही विकल्प थे, या तो वह उस संविधान संशोधन विधेयक का परित्याग कर दे या उसे उन संशोधनों के साथ स्वीकार कर ले जो राज्यसभा उसे विधेयक में किए हैं। उस समय लोकसभा ने राज्यसभा की इच्छा के अनुरूप संशोधनों को स्वीकार करते हुए विधेयक पारित कर दिया।

तृतीय, 1989 ई. में 64वें और 65वें संविधान संशोधनों को लोकसभा में पारित किए जाने के बावजूद राज्यसभा में दो-तिहाई समर्थन नहीं मिल सका, फलतः ये दोनों विधेयक पारित न हो सके।

इस प्रकार राज्यसभा ने संविधान संशोधन विधेयकों पर आंख मूंदकर लोकसभा का समर्थन नहीं किया है अपितु अपने विवेक का प्रयोग करके निर्णय लिया है और अपने संवैधानिक शक्ति एवं दायित्व का परिचय दिया है।

(4) संविधान में महत्वपूर्ण संवैधानिक पदों पर बैठे व्यक्तियों को पद से हटाने के लिए महाभियोग की प्रक्रिया अपनानी पड़ती है महाभियोग का प्रस्ताव तब तक पारित नहीं समझा जाएगा, जब तक कि संसद के दोनों सदनों ने इसे अपने बहुमत से पारित न कर दिया हो। यदि लोकसभा महाभियोग का प्रस्ताव पारित कर देती है और राज्यसभा उसे पारित नहीं करती तो ऐसी दशा में वह व्यक्ति अपने पद से हटाया नहीं जा सकता।

(5) जहां तक धन विधेयकों के संबंध में राज्सभा में दुर्बल स्थिति का प्रश्न है, इतिहास में अब तक दो बार राज्यसभा ने अपनी सिफारिशों के साथ धन विधेयक लोकसभा को लौटाया है और दोनों ही बार लोकसभा ने राज्यसभा का सम्मान करते हुए उसकी सिफारिशों को स्वीकार कर लिया। इससे यह सिद्ध होता है कि लोकसभा, राज्यसभा की महत्ता को स्वीकार करती है। ये दोनों विधेयक इस प्रकार थे:

(क) ट्रावनकोर - कोचीन विनियोग (लेखानुदान) विधेयक, 1956 तथा

(ख) संघ उत्पादन शुल्क (वितरण) विधेयक, 1957

6. सामान्य विधेयकों पर असहमति की दशा में संसद के दोनों सदनों का संयुक्त अधिवेशन बुलाया जा सकता है किन्तु किसी विधेयक को जब राज्यसभा अस्वीकार कर देती है या उसमें कोई संशोधन कर देती है तो उसके अपने तर्क होते हैं। यह भी सही है कि संयुक्त अधिवेशन में विधेयक उसी रूप में पारित होता है जिस रूप में लोकसभा चाहती हैं, लेकिन राज्यसभा के तर्कों पर मीडिया में जो बहस होती है उससे प्रायः राज्यसभा की गरिमा ही बढ़ती है। अब तक कुल 3 बार लोकसभा एवं राज्यसभा की संयुक्त बैठक किसी विधेयक को पारित करने के संबंध में हुई है:

प्रथम, 1961 ई. में दहेज निषेध विधेयक पर,

द्वितीय, 1978 ई. में बैंकिंग सेवा आयोग विधेयक पर

और

तृतीय, 2002 ई. में पोटा (P.O.T.A. -प्रीवेंशन ऑफ टेररिस्ट ऐक्टिविटीज ऐक्ट) पर विचार करने के लिए।

(7) जब अनु. 352 के अधीन (युद्ध या बाह्य आक्रमण या सशस्त्र विद्रोह) आपातकाल की उद्घोषणा की जाती है याजब अनु. 356 के अधीन राज्यों में संवैधानिक तंत्र की विफलता के कारण राष्ट्रपति शासन लगाया जाता है या जब अनु. 360 के अधीन वित्तीय आपातकाल की उद्घोषणा की जाती है तो इन सभी प्रावधानों का अनुमोदन संसद के दोनों सदनों द्वारा क्रमशः एक माह, दो माह तथा एक माह के अंदर होना आवश्यक है। यदि आपातकाल से संबंधित उपरोक्त प्रावधान लोकसभा से तो पारित हो जाय किन्तु राज्यसभा से पारित न हो तो आपातकाल की उद्घोषणा लंबे समय तक जारी नहीं रह सकती। यदि आपातकाल के उपरोक्त किसी प्रावधान के तहत राष्ट्रपति द्वारा उद्घोषणा जारी होने के 30 दिन के भीतर लोकसभा का विघटन हो जाता है तो राज्यसभा को यह अधिकार है कि वह आपातकाल के प्रावधान का अनुमोदन करे। यदि राज्यसभा अनुमोदन नहीं करेगी तो यह आपातकालीन प्रावधान समाप्त हो जाएगा।

(8) राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति के निर्वाचन हेतु बनने वाले निर्वाचन मंडल में राज्यसभा के सदस्य शामिल होते हैं और वे लोकसभा के सदस्यों के समान ही मतदान का अधिकार रखते हैं।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि राज्यसभा अनेक मामलों में लोकसभा के बराबर है और अनु. 249 तथा 312 के संदर्भ में उसकी विशिष्ट संवैधानिक स्थिति है। द्वितीय सदन भले ही कहा जाय किन्तु उसे गौण या महत्वहीन या शक्तिहीन सदन कहना अनुचित है।

IFS IAS

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

राज्य विधानमंडल या व्यवस्थापिका

भारतीय संविधान संघात्मक होने के कारण प्रत्येक इकाई राज्य को अपने राज्य की भौगोलिक सीमाओं के भीतर राज्य सूची और समवर्ती सूची के विषयों पर कानून निर्माण का कार्य राज्य के विधानमंडल को सौंपता है। अनु. 168 में विधानमंडल के संगठन का वर्णन है, जिसमें कहा गया है कि प्रत्येक राज्य के लिए एक विधानमंडल होगा जो राज्यपाल और विधानसभा तथा विधानपरिषद (यदि विधानपरिषद का गठन उस राज्य में किया गया है तो) से मिलकर बनेगा। सम्प्रति, विधानपरिषद का अस्तित्व बिहार, कर्नाटक, कश्मीर, उत्तर-प्रदेश, महाराष्ट्र तथा आन्ध्रप्रदेश में है। शेष सभी राज्यों के विधानमंडल केवल एक सदनीय है अर्थात् वहां केवल विधानसभा है।

अनु. 169 के अनुसार, विधानपरिषद का निर्माण और उसका उत्सादन दोनों राज्य की इच्छा पर निर्भर है। विधानपरिषद को राज्यसभा की भांति स्थायी सदन इसलिए नहीं बनाया गया क्योंकि जो राज्य संसाधनों तथा अर्थ/वित्त की दृष्टि से दुर्बल हैं वे एक और सदन पर अतिरिक्त धन खर्च न करें। जो राज्य सम्पन्न हैं वे विधानपरिषद रख सकते हैं। इसके अतिरिक्त जिन राज्यों की जनसंख्या कम है या भौगोलिक क्षेत्रफल कम है उनके लिए भी विधानपरिषद का निर्माण आवश्यक नहीं माना गया। जिन राज्यों में विधानपरिषद नहीं है, वे विधानपरिषद की स्थापना के लिए तथा जिन राज्यों में विधानपरिषद है वे विधान परिषद को समाप्त करने के लिए प्रावधान कर सकते हैं।

ऐसे राज्यों को अपनी विधासनसभा से विशेष बहुमत (कुल सदस्य संख्या का बहुमत और उपस्थित एवं मतदान में भाग लेने वाले सदस्यों का 2/3 बहुमत) द्वारा एक संकल्प परित करना होगा और उस संकल्प के अनुसरण में संसद एक कानून बनाएगी और तदनुरूप राज्य में विधानपरिषद की स्थापना या समापन हो सकेगा। यह ध्यान देने योग्य है कि विधानसभा, विधानपरिषद की स्थापना या उत्सादन हेतु पहले संकल्प पारित करती है, फिर संसद कानून बनाती है। संकल्प पारित होने की प्रक्रिया और कानून निर्माण की प्रक्रिया में अंतर है। कानून पारित होने के पूर्व विधेयक को 3 वाचन (प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय) से गुजरना होता है और प्रत्येक वाचन में मतदान होता है जबकि संकल्प या प्रस्ताव पारित होने में केवल संकल्प को एक बार अक्षरशः पढ़ा जाता है और बहस के बाद बिना किसी वाचन के उस पर तुरंत मतदान हा जाता हैं मतदान में उपयुक्त मत मिलने पर संकल्प पारित माना जाता है अन्यथा उसे पराजित मान लिया जाता है।

जब संसद इस संदर्भ में कानून बनाएगी तो उसे विधानपरिषद की स्थापना या उत्सादन हेतु संविधान में जो कुछ भी करना होगा वह करने हेतु या तत्सम्बन्धी कानून बनाने हेतु सक्षम होगी। विधान परिषद की स्थापना या उत्सादन संबंधी संविधान में होने वाले परिवर्तनों को, अनु. 368 के अधीन संविधान का संशोधन नहीं माना जाएगा।

विधान परिषद की संरचना (अनु. 170):

अनु. 333 के उपबंधों के अधीन रहते हुए (इसके अंतर्गत राज्यपाल को ऐंग्लों इण्डियन समुदाय से एक सदस्य को विधानसभा में मनोनीत करने का अधिकार है) प्रत्येक राज्य की विधानसभा उस राज्य में प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्रों से प्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा चुने हुए (जिस प्रकार लोकसभा के चुनावों में पूरे देश को 543 लोकसभा क्षेत्रों में बांट दिया जाता **है उसी प्रकार प्रत्येक राज्य को विधान सभा क्षेत्रों में बांट दिया जाता है**) अधिकतम 500 तथा न्यूनतम 60 सदस्य से मिलकर बनेगी। राज्य के अंतर्गत प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र में जनसंख्या का वितरण यथासंभव एक समान होगा। 'जनसंख्या' पद का यहाँ तात्पर्य 1971 ई. के जनगणना के अनुसार सुनिश्चित की गई जनसख्या से है जो 2026 तक अपरिवर्तित रहेगी।

यद्यपि संविधान निर्माताओं की मंशा थी कि, प्रत्येक 10 वर्ष बाद, जनगणना हो तथा इसके बाद जनसंख्या के अनुसार, विधानसभा की सीटों का पुनर्निधारण हो, लेकिन दुर्भाग्य से ऐसा नहीं हो सका है। ऊपर कहा गया है कि, विधानसभा की न्यूनतम संख्या 60 से कम नहीं होगी, किन्तु इसके अपवाद हैं, जैसे अरुणाचल प्रदेश, गोवा तथा मिजोरम में विधानसभा के स्थानों की संख्या 40 है, पुडूचेरी में 30 तथा सिक्किम में 32 है।

विधानपरिषद की संरचना (अनु. 171):

अनु. 171(1) के अनुसार, जिन राज्यों में विधानपरिषद होगा, उन राज्यों में विधानपरिषद की अधिकतम सदस्य संख्या, विधानसभा की कुल सदस्य संख्या के 1/3 से अधिक नहीं होगी तथा किसी भी दशा में 40 से कम नहीं होगी। राज्य विधानपरिषद में समाज के विभिन्न वर्गों को प्रतिनिधित्व देने की व्यवस्था की गयी है, यह प्रतिनिधि कार्यमूलक प्रकृति का है। विधानपरिषद के सदस्य निर्वाचित और मनोनीत दोनों ही प्रकार के होते हैं। मोटे तौर पर विधानपरिषद की कुल सदस्या संख्या के 5/6 सदस्य निर्वाचित होते हैं तथा 1/6 सदस्य राज्यपाल द्वारा मनोनीत किए जाते हैं। निर्वाचन इस प्रकार होता है:

अनु. 171(3) के अनुसार, किसी राज्य के विधानपरिषद के सदस्यों की कुल संख्या का,

(क) 1/3 भाग, उस राज्य की नगरपालिकाओं, जिला बोर्डों और अन्य ऐसे स्थानीय प्राधिकारियों के (जो संसद विधि द्वारा निर्धारित करे) सदस्यों से मिलकर बनने वाले निर्वाचक मण्डल द्वारा निर्वाचित होगा;

(ख) 1/12 भाग, उस राज्य में निवास करने वाले कम-से-कम 3 वर्ष के स्नातकों से मिलकर बनने वाले निर्वाचक मंडल द्वारा निर्वाचित होगा,

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

(ग) 1/12 भाग, राज्य के भीतर आने वाले माध्यमिक विद्यालयों से अनिम्न स्तर की शिक्षण संस्थाओं में कम-से-कम 3 वर्ष से अध्यापन के कार्य में लगे हुए व्यक्तियों से मिलकर बनने वाले निर्वाचक मंडल के द्वारा निर्वाचित होगा,

(घ) 1/3 भाग, राज्य के विधानसभा सदस्यों द्वारा ऐसे व्यक्तियों में से चुना जाएगा जो विधानसभा के सदस्य नहीं हैं और

(ङ) शेष सदस्य राज्यपाल द्वारा ऐसे व्यक्तियों में से मनोनीत किए जाएंगे जिन्हें साहित्य, विज्ञान, कला, समाजसेवा तथा सहकारिता आंदोलन के संबंध में विशेष ज्ञान या अनुभव है।

उपरोक्त (क), (ख) तथा (ग) के अधीन निर्वाचित होने वाले सदस्यों का चुनाव प्रादेशिक-निर्वाचन क्षेत्रों के आधार पर होगा जो संसद द्वारा बनायी गयी विधि के अनुसार तय किया जाय। उपरोक्त वर्णित (क), (ख), (ग) तथा (घ) के अधीन आने वाले सदस्यों का चुनाव आनुपातिक प्रतिनिधित्व की एकल संक्रमणीय मत प्रणाली द्वारा होगा।

विधानमंडल के सदन/सदनों की अवधि (अनु. 172):

अनु. 172(1) के अनुसार, विधानसभा का यदि पहले विघटन नहीं होता है तो यह अपने प्रथम अधिवेशन के लिए नियत तिथि से 5 वर्ष तक बनी रहेगी, इससे अधिक नहीं। 5 वर्ष की समाप्ति का परिणाम विधानसभा का विघटन होगा। परंतु जब आपतकाल (अनु. 352) लागू हो तो संसद विधि बनाकर विधानसभा के कार्यकाल को एक बार में अधिकतम 1 वर्ष के लिए विस्तारित कर (बढ़ा) सकती है। ऐसा 1-1 वर्ष करके तब तक विस्तारित होता रहेगा, जब तक कि आपातकाल लागू हो, किन्तु आपातकाल की उद्घोषणा समाप्त होने के बाद विधानसभा का कार्यकाल किसी भी दशा में 6 मास से अधिक नहीं होगा, और इसी 6 माह के भीतर राज्य विधानसभा के चुनाव कराने होंगे क्योंकि आपातकाल लगने के पूर्व विधानसभा ने 5 वर्ष का कार्यकाल पूर्ण कर लिया था।

अनु. 172(2) के अनुसार, राज्य की विधानपरिषद का विघटन नहीं होगा, किन्तु उसके सदस्यों में से निकटतम 1/3 सदस्य प्रति दूसरे वर्ष सेवानिवृत्त होंगे। यह व्यवस्था संसद के द्वितीय सदन राज्य सभा के ही समान है।

विधानमंडल की सदस्यता हेतु योग्यता (अनु. 173):

राज्य विधानमंडल का सदस्य बनने हेतु किसी व्यक्ति को,

(क) भारत का नागरिक होना चाहिए तथा

(ख) विधानसभा के लिए चुने जाने हेतु कम-से-कम 25 वर्ष तथा विधानपरिषद के लिए चुने
जाने हेतु उसकी आयु कम-से-कम 30 वर्ष अवश्य होनी चाहिए।

इसके अतिरिक्त उसके पास ऐसी अन्य योग्यताएं भी होनी चाहिए जो संसद विधि द्वारा निर्धारित करें लोक/प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951 द्वारा यह उपबंध किया गया है कि, कोई व्यक्ति किसी विधानसभा या विधानपरिषद के लिए तब तक निर्वाचन के योग्य नहीं माना जाएगा, जब तक कि उसका नाम उस राज्य की किसी विधानसभा की निर्वाचन सूची में मतदाता के रूप में दर्ज न हो।

विधानमंडल का सत्र, सत्रावसान तथा विघटन (अनु. 174):

अनु. 174(1) के अनुसार, राज्यपाल समय-समय पर राज्य के विधानमंडल के सदन या प्रत्येक सदन को ऐसे समय और स्थान पर, जो वह ठीक समझे, अधिवेशन के लिए आहूत करेगा, किन्तु उसके एक सत्र की अंतिम बैठक तथा अगले सत्र की प्रथम बैठक के लिए निर्धारित तिथि के बीच 6 माह का अंतराल नहीं होगा।

जे.आर. सीवाच ने लिखा है कि, विधानसभा का सत्र बुलाने के संबंध में यह पूछा जा सकता है कि, जहां द्विसदनात्मक विधानमंडल है वहां पर दोनों सदनों का सत्र एक साथ बुलाया जाय या उन्हें भिन्न-भिन्न तिथियों को भी बुलाया जा सकता है? ऐसा प्रतीत होता है कि राज्यपाल यदि चाहे तो उसका सत्र भिन्न-भिन्न तिथियों को भी बुला सकता है, क्योंकि अनु. 213(2) में यह स्पष्ट कहा गया है कि, जब विधानमंडल के दोनों सदन अलग-अलग तिथियों पर आहूत हों तो अध्यादेश के अनुमोदन के संदर्भ में 6 सप्ताह की समयावधि की गणना करने में उस तिथि का सहारा लिया जाएगा जो पश्चातवर्ती हो या अर्थात् बाद में आती हो। विधानसभा के दोनों सदनों को एक साथ आहूत करना तब परम आवश्यक है, जब आम चुनाव के बाद पहली बार विधानमंडल की बैठक हो तथा प्रत्येक वर्ष के प्रथम सत्र में, क्योंकि इन दोनों स्थितियों में राज्यपाल दोनों सदनों की संयुक्त बैठक में अपना 'विशेष अभिभाषण' देता है (अनु. 176), इसके अतिरिक्त अन्य सत्रों में विधानमंडल के सदनों की बैठक अलग-अलग तिथियों में आहूत की जा सकती है।

सामान्यतः राज्यपाल मुख्यमंत्री की सलाह पर विधानमंडलन का सत्र आहूत करता है, लेकिन उस समय राज्यपाल स्वविवेक से भी विधानमंडल का सत्र बुला सकता है जब उसे लगे कि मुख्यमंत्री का विधानसभा में बहुमत संदिग्ध हो गया है। एक प्रश्न उठता है कि, जब मुख्यमंत्री अपने बहुमत की संदिग्धता का परीक्षण कराने **से बचने हेतु विधानसभा का सत्र न बुलाएं और सत्र आहूत न करने** में राज्यपाल की भी सहमति हो तो ऐसी दशा में राज्य के विपक्ष के पास क्या उपाय है? इस संदर्भ में लोकसभा के सदस्य नाथपाई ने 19 नवम्बर, 1970 ई. को लोकसभा में एक विधेयक प्रस्तुत किया कि, ''यदि विधानसभा या संसद के 50 प्रतिशत से अधिक सदस्य लिखित रूप से सत्र बुलाने की मांग करें तो विधानसभा तथा लोकसभा के अध्यक्ष को 15 दिनों के भीतर

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

सत्र आहूत करना चाहिए।'' सीताराम जयपुरिया ने भी राज्यसभा में इसी प्रकार का एक विधेयक प्रस्तुत किया था। प्रशासनिक सुधार आयोग ने भी एक ऐसी ही सिफारिश की है जिससे कि राज्यपाल और मुख्यमंत्री के अलोकतांत्रिक व्यवहार की संभावना से बचा जा सके।

अनु. 174(2) के अनुसार, राज्यपाल समय-समय पर विधानमंडल के किसी भी सदनों का सत्रावसान कर सकेगा। जब मुख्यमंत्री का विधानसभा में बहुमत है तो उस समय सामान्यत: इस अधिकार का प्रयोग मुख्यमंत्री का विधानसभा में बहुमत है तो उस समय सामान्यत: इस अधिकार का प्रयोग मुख्यमंत्री की ही सिफारिश पर किया जाता है, लेकिन मुख्यमंत्री स्वयं अपने या अध्यक्ष के विरूद्ध सदन में अविश्वास प्रस्ताव पर बहस को रोकने के लिए यदि राज्यपाल से सत्रावसान की सिफारिश करे तो उस समय राज्यपाल को स्वविवेक का प्रयोग करते हुए संविधान की गरिमा बनाए रखने वाल निर्णय लेना चाहिए तथा ऐसी दशा में सत्रावसान नही करनी चाहिए। इसी प्रकार किसी विवादास्पद विधेयक पर बहस से बचने हेतु विधानमंडल का सत्रावासान करके अध्यादेश द्वारा उस विधेयक पर कानून बनाने की प्रवृत्ति भी असंवैधानिक है। राज्यपाल को ऐसी दशा में भी सदन का सत्रावसान नहीं करना चाहिए। राज्यपाल किसी असंवैधानिक कार्य हेतु अपने अधिकारों को प्रयोग/दुरुपयोग नहीं कर सकता। विश्वनाथ अग्रवाल बनाम उत्तर प्रदेश राज्य (1956) तथा पंजाब राज्य बनाम सत्यपाल (1969) के वाद में क्रमश: इलाहाबाद उच्च न्यायालय तथा सर्वोच्च न्यायालय का यही मत था। अनु. 174(2) (ख) के अनुसार, राज्यपाल समय-समय पर विधानसभा का विघटन कर सकेगा। सामान्यतया राज्यपाल संवैधानिक प्रमुख होने के कारण मंत्रिमंडल की सलाह से काम करता है, लेकिन कुछ अवसरों पर वह अपने विवेक की सलाह से काम करता है।

विधानसभा भंग करने राष्ट्रपति शासन (अनु. 356) लगाने की सिफारिश करते समय राज्यपाल 'विवेक' के अनुसार काम करेगा। जे.आर. सीवाच ने लिखा है कि, राज्यपाल विवेक का प्रयोग करते हुए मुख्यमंत्री द्वारा विधानसभा भंग करने की सिफारिश को उस समय नहीं मान सकता जब बजट सत्र के कुछ दिन पूर्व मुख्यमंत्री अपना त्यागपत्र दिए बिना विधानसभा भंग करने की सिफारिश करे। वह उस सिफारिश को इसलिए नहीं मान सकता क्योंकि ऐसा करने का अभिप्राय यह होगा कि, मंत्रिमंडल बजट पारित किए बिन कामचलाऊ सरकार के रूप में चुनाव हाने तक पद पर बना रहेगा। जब मुख्यमंत्री का विधानसभा का बहुमत संदेहजनक हो तब राज्यपाल मुख्यमंत्री की सिफारिश पर विध ानसभा को भंग कर सकता है और नहीं भी कर सकता है। यदि राज्यपाल को लगे कि मंत्रिमंडल को पदच्युत करने के बाद राज्य विधानमंडल की दलीय संरचना तथा राजनीतिक स्थितियां ऐसी हैं कि किसी भी दल द्वारा मंत्रिमंडल का निर्माण कर विधानसभा में बहुमत सिद्ध करना असंभव है तो वह विधानसभा का **विघटन कर सकता है लेकिन यदि इसकी संभावना है कि, इस मंत्रिमंडल के पतन के बाद दूसरा मंत्रिमंडल बन सकता है, तो वह विध ानसभा का विघटन** करने से इनकार भी कर सकता है।

इस संदर्भ में राज्यपाल को चाहिए कि, विधानसभा के 5 वर्ष के कार्यकाल के पूर्व अत्यंत अपरिहार्य दशाओं में ही विध ानसभा को भंग करे। यहां पर यह चर्चा करना आवश्यक है कि, अनु. 174(2)(ख) की भांति अनु. 85(2)(ख) भी है, जिसमें राष्ट्रपति को लोकसभा भंग करने का अधिकार दिया गया है। इस अनु. पर (अनु. 85(2)(ख)) पर) बोलते हुए डॉ. अम्बेडकर ने कहा था कि, लोकसभा को भंग करने के पूर्व राष्ट्रपति को यह देखना होगा कि, लोकसभा के सदस्य क्या चाहते हैं? यदि लोकसभा के सदस्य किसी अन्य नेता के नेतृत्व में कार्य करने हेतु तैयार हैं, तो राष्ट्रपति को ऐसी दशा में लोकसभा का विघटन नहीं करना चाहिए। इसका तात्पर्य यह है कि, डॉ. अम्बेडकर के अनुसार, राष्ट्रपति लोकसभा को भंग करने हेतु प्रधानमंत्री की सिफारिश मानने के लिए विवश नहीं है और यही स्थिति राज्यों में राज्यपाल की भी है।

एक प्रश्न उठता है कि विधानसभा में बहुमत खो चुके या अविश्वास प्रस्ताव पर हार चुके मंत्रिमंडल द्वारा (जो अगली सरकार के गठन तक पद धारण किए हुए हैं और जिसे किसी उपयुक्त शब्द के अभाव में हम 'कामचालाऊ मंत्रिमंडल या सरकार' कहते हैं) यदि राज्यपाल को अध्यादेश जारी करके कोई कानून बनाने हेतु कहा जाए तो राज्यपाल को क्या करना चाहिए? वस्तुत: कामचालाऊ सरकार को भी आवश्यकतानुसार लोकहित को ध्यान में रखकर ही काम करना चाहिए और यदि इस संदर्भ में आवश्यक हो तो निर्णय लेकर राज्यपाल को अध्यादेश जारी करने हेतु कहा जा सकता है किन्तु यह निर्णय लोकहित की कसौटी पर कसा जाना चाहिए। ऐसी संवैधानिक और लोकतांत्रिक अपेक्षा है कि नीति संबंधी निर्णय किसी भी कामचालाऊ सरकार को नहीं लेना चाहिए, किन्तु संविधान में यह कहीं भी नहीं लिखा है कि कामचलाऊ सरकार अध्यादेश्या जारी नहीं कर सकती या कामचालाऊ मंत्रिमंडल की सलाह राज्यपाल नहीं मानेंगे। वस्तुत: विधानसभा के भंग हो जाने पर मंत्रिमंडल तो भंग नहीं होता, वह अपने पद बना रहता है अत: राज्यपाल को वह 'उचित सलाह' दे सकता है।

सदन या सदनों में अभिभाषण का और उनको संदेश भेजने का राज्यपाल का अधिकार (अनु. 175) तथा राज्यपाल का विशेष अभिभाषण (अनु. 176):

अनु. 175 (1) के अनुसार, राज्यपाल विधानमंडल के किसी भी एक सदन में या दोनों में एक साथ समवेत अभिभाषण कर सकेगा और उस प्रयोजन के लिए सदस्यों की उपस्थिति की अपेक्षा कर सकेगा।

अनु. 175(2) के अनुसार, राज्यपाल राज्य विधानमंडल में उस समय लंबित किसी विधेयक के संबंध में संदेश या कोई

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

अन्य संदेश उस राज्य के विधानमंडल के सदन या सदनों को भेज सकेगा और फिर उस सदन या सदनों में संदेश में अभिव्यक्त विषय पर शीघ्रतापूर्वक विचार किया जाएगा। राज्यपाल विधानमंडल का अंग होने के कारण किसी भी विषय पर अपने विचार से सदन को अवगत करा सकता है जिससे कि किसी विधेयक को सदन को पुर्नविचार हेतु लौटाने से बचा जा सके। कई बार निजी विधेयक भी सदन/सदनों में प्रस्तुत किए जाते हैं तो ऐसी स्थिति में राज्यपाल का संदेश उक्त विधेयक पर सरकार के दृष्टिकोण का भी प्रतीक बन सकता है क्योंकि राज्यपाल कार्यपालिका शक्तियों का स्वामी भी है।

अनु. 176 राज्यपाल के विशेष अभिभाषण का उपबंध करता है। अनु. 176(1) के अनुसार, राज्यपाल, विधानसभा के लिए प्रत्येक साधारण निर्वाचन के पश्चात् प्रथम सत्र के आरंभ में विधानसभा में या विधान परिषद वाले राज्य की दशा में एक साथ समवेत दोनों सदनों में अभिभाषण करेगा और विधानमंडल को उसके आह्वान का कारण बताएगा।

अनु. 176(2) के अनुसार, सदन या प्रत्येक सदन की प्रक्रिया का विनियमन करने वाले नियमों द्वारा ऐसे अभिभाषण में निर्दिष्ट विषयों की चर्चा के लिए समय नियत करने हेतु उपबंध किया जायेगा। संविधान लागू होने के कुछ ही दिनों के बाद यह प्रश्न उठाया गया कि, सदन का सत्र कब से शुरू हुआ माना जाय-राज्यपाल के अभिभाषण वाले दिन से या सदन के सदस्यों के शपथ-ग्रहण वाले दिन **से।**

संविधान में प्रथम संशोधन द्वारा यह निश्चित कर दिया गया है कि राज्यपाल केवल नयी विधानसभा के गठन के समय तथा प्रत्येक वर्ष सत्र आरंभ होने पर (प्रत्येक सत्र आरंभ होने पर नहीं केवल वर्ष का प्रथम सत्र आरंभ होने पर ही) दोनों सदनों को समवेत सम्बोधित करेगा। इसका अर्थ यह है कि विधानमंडल के अन्य सत्र राज्यपाल के अभिभाषण के बिना भी आहूत किए जा सकते हैं अत: जिस दिन शपथ ग्रहण हो, उसी दिन से विधानसभा का कार्यकाल या सदस्यों का कार्यकाल शुरू मान लिया जाना चाहिए।

एक प्रश्न यह उठता है कि राज्यपाल के अभिभाषण के दौरान सदन या सदनों (अनु. 176(1)) के अधीन अभिभाषण दोनों सदनों में एक साथ होगा तथा अन्य अवसरों पर राज्यपाल किसी एक सदन को अकेले भी सम्बोधित कर सकता है) की अध्यक्षता कौन करता है? एक विचारधारा के अनुसार, ऐसी बैठक की अध्यक्षता विधानसभा का अध्यक्ष करता है और दूसरी विचारधारा के अनुसार, उस बैठक की अध्यक्षता राज्यपाल के द्वारा की जाती है। प्रथम विचारधारा के लोगों का तर्क है कि चूंकि अध्यक्ष उस समय मंच पर बैठा होता है इसलिए वही उस बैठक का सभापति होता है और यदि उस समय कोई भी व्यवधान हो तो उसे रोकना अध्यक्ष का कर्त्तव्य होता है।

1966 में राजस्थान के राज्यपाल ने तथा 1967 में महाराष्ट्र के राज्यपाल ने अभिभाषण पढ़ने के दौरान बाधा पहुंचाने वाले विधायकों को मार्शल से कहकर सदन से बाहर करवा दिया और अपना अभिभाषण पूरा किया। ऐसे ही उत्तर प्रदेश में जब वी. वी. गिरि अपना भाषण अंग्रेजी में पढ़ रहे थे तो उस पर राजनारायाण ने आपत्ति की और कहा कि राज्यपाल या तो हिन्दी में अभिभाषण पढ़े या तेलुगु में जो उनकी मातृभाषा है। राज्यपाल ने उनके उत्तर में कहा कि, यदि वह तेलगु पढ़ेंगे तो तो उसे कोई भी नहीं समझ पाएगा और विधानसभा की प्रक्रिया के नियम भी इसकी अनुमति नहीं देते और हिन्दी में वह पढ़ने में असमर्थ हैं। लेकिन जब राजनारायण ने इस तर्क को मानने से इनकार कर दिया तब राज्यपाल ने कहा कि, 'यदि तुम समझते हो कि तुम गुंडे हो तो तुम्हें मालूम होना चाहिए कि मैं तुमसे बड़ा गुंडा हूँ। मैं तुम्हें बाहर फेकने के लिए मार्शल की प्रतीक्षा नहीं करूंगा।'' इस पर राजनारायण की बोलती बंद हो गयी।

सदन की अध्यक्षता के संदर्भ में एक बार जब राजस्थान के राज्यपाल के व्यवहार पर संसद में चर्चा हुई तो तत्कालीन गृहमंत्री ने विपक्ष से कहा कि, 'राज्यपाल के भाषण के समय बैठक की कार्यवाही पर राज्यपाल का नियंत्रण होता हैं जब वह अनु. 176 के अनुसार भाषण देता है (अर्थात् विशेष अभिभाषण) उस समय वह विधानमंडल का अंग होता है। इसलिए वह उस समय सदन की कार्यवाही को सुचारू रूप से चलाने के लिए, सदन की गरिमा को ध्यान में रखते हुए उचित व्यवस्था कर सकता है। राजस्थन विध ानमंडल की विशेषाधिकार समिति एवं तत्कालीन विधि आयोग का भी यही मत है कि राज्यपाल विशेष अभिभाषण के दौरान सदन की व्यवस्था बनाए रखने हेतु आदेश-निर्देश दे सकता है।

जो विचारधारा यह मानती है कि, जब राज्यपाल अपना भाषण पढ़ता है, उस समय उस बैठक की अध्यक्षता करता है, वे लोग ब्रिटिश परम्परा का उल्लेख करते हैं। इंग्लैण्ड में जब महारानी भाषण देने के लिए आती हैं तब लार्ड चांसलर क्लर्क की कुर्सी पर बैठता है।

भारत में अध्यक्ष, राज्यपाल के साथ मंच पर बैठता है, अत: हमारे यहां ब्रिटिश व्यवस्था लागू नहीं हो सकती। यदि यह हम यह मान लें कि अध्यक्ष उस बैठक की अध्यक्षता करता है तो एक संभावना यह भी हो सकती है कि, राज्यपाल को अन्य सदस्यों के ही समान अध्यक्ष के आदेशों को मानना पड़ेगा और यदि कोई अध्यक्ष राज्यपाल को अभिभाषण की आज्ञा न दे तो क्या होगा? यह संवैधानिक प्रावधान है तथा कलकत्ता एवं उड़ीसा उच्च न्यायालयों का भी यही मत है कि, राज्यपाल के अभिभाषण के बिन चुनावोपरान्त प्रथम सत्र तथा प्रत्येक वर्ष का प्रथम सत्र प्रारंभ नहीं हो सकता। यदि हम यह मान भी लें कि, अध्यक्ष उस बैठक की अध्यक्षता करता है तो एक संभावना यह भी हो सकती है कि, अध्यक्ष, राज्यपाल के अभिभाषण को यदि कार्यवाही से निकाल दे तो क्या होगा? इसके अतिरिक्त जिन राज्यों में द्वि-सदनात्मक विधानमंडल हो, वहां पर विधानसभा का अध्यक्ष तथा विधानपरिषद का सभापति

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

दोनों ही राज्य के राज्यपाल के साथ मंच पर बैठते हैं तो उस सयम यह प्रश्न उठेगा कि यह संयुक्त बैठक है और इसमें अध्यक्ष सदन की अध्यक्षता कर रहा है यद्यपि विधानमंडल में संयुक्त बैठक का प्रावधान ही नहीं है अत: ऐसी बैठकों की अध्यक्षता या सभापतित्व का प्रश्न अनिर्णित है।

संयुक्त बैठक के संदर्भ में संसद का प्रावधान महत्वपूर्ण संकेत देता है। अनु. 108 के अनुसार संसद के दोनों सदनों की संयुक्त बैठक हाती है जिसकी अध्यक्षता लोकसभा का अध्यक्ष करता है लेकिन संयुक्त बैठक में राष्ट्रपति का अभिभाषण नहीं होता। जब अनु. 87 के अधीन राष्ट्रपति अभिभाषण करता है तो अनु. 108 के समान संविधान में यह कहीं भी नहीं लिखा है कि, इस बैठक की अध्यक्षता लोकसभा का अध्यक्ष करेगां ऐसी स्थिति में यह माना जाना चाहिए कि राष्ट्रपति स्वयं निर्देश देने की शक्ति रखता है।

इसलिए कहा जा सकता है कि, जब राज्यपाल विध ानमंडल के सामने अपना भाषण पढ़ता है तो उस समय वहीं उसकी अध्यक्षता भी करता है। कलकत्ता उच्च न्यायालय तथा लोकसभा की एक समिति का भी यही मत है।

क्या राज्यपाल मंत्रिमंडल द्वारा तैयार किए गए अभिभाषण को पढ़ने हेतु विवश है:

सामान्यत: राज्यपाल का भाषण मंत्रिमंडल द्वारा तैयार किया जताा है, फिर भी इस संबंध में प्रश्न पूछा जा सकता है कि, वे कौन सी संवैधानिक सीमाएं हैं जिनके भीतर रहकर मंत्रिमंडल राज्यपाल के भाषण को तैयार करता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि, राज्यपाल का भाषण सरकारी वक्तव्य होता है और सामान्यत: इसे राज्यपाल को वैसे ही पढ़ना चाहिए, जैसे कि इसे तैयार किया गया है।

लेकिन कुछ संवैधानिक विशेषज्ञों ने यह माना है कि, कुछ विशेष परिस्थितियों में राज्यपाल मंत्रिमंडल द्वारा तैयार भाषण के कुछ अंशों को अपने विवेकानुसार, संवैधानिक दायित्वों तथा पद की गरिमा को देखते हुए पढ़ने से इनकार भी कर सकता है। राज्यपाल केवल मंत्रिमंडल का ही प्रतिनिधि नहीं है, उसके ऊपर संविधान के संरक्षण का दायित्व भी है। इस संदर्भ में ब्रिटेन का एक उदाहरण द्रष्टव्य है। 1841 ई. में महारानी विक्टोरिया, मंत्रिमंडल **द्वारा तैयार की किये गये भाषण के कुछ अंशों से सहमत नहीं थी तो उन्होंने उन अंशों को भाषण से निकाल देने का सुझाव भी दिया था लेकिन मंत्रिमंडल** ने उस सुझाव को मानने से इंकार कर दिया और अन्त में उन्हें वहीं भाषण अक्षरश: पढ़ना पड़ा। इसका अर्थ यह है कि जो कुछ मंत्रिमंडल का निर्णय था, महारानी को उसे मानना पड़ा। लेकिन इस संबंध में हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि जो कुछ वह भाषण में पढ़ती हैं उसका उत्तरदायित्व मंत्रिमंडल पर होता है। वहां परंपरा और मान्यता है कि, 'राजा कोई गलती नहीं करता, ' लेकिन भारत में यह स्थिति नहीं है।

भारत में संवैधानिक दृष्टिकोण से मंत्री राष्ट्रपति या राज्यपाल को दी गयी 'सलाह' के लिए उत्तरदायी नहीं है और मंत्रियों द्वारा दी गयी 'सलाह' की जांच न्यायालय के दायरे में भी नहीं आती। यदि मंत्रिमंडल की सलाह पर राष्ट्रपति संविधान का उल्लंघन करे तो उस पर महाभियोग लगाया जा सकता है। इसलिए यदि मंत्रिमंडल राष्ट्रपति या राज्यपाल को अपने अभिभाषण में संविधान के प्रतिकूल टिप्पणियां करने को कहे तो राष्ट्रपति या राज्यपाल का यह संवैधानिक कर्त्तव्य होता है कि, वह उसका पालन न करे अर्थात् अपने अभिभाषण में उसका उल्लेख न करे क्योंकि वह संविधान के प्रति निष्ठा की शपथ लेकर ही पद ग्रहण करता है। केन्द्र में जिस प्रकार राष्ट्रपति को संविधान के उल्लंघन पर महाभियोग द्वारा पद से हटा दिया जाता है, उसी प्रकार यदि राज्यपाल संविधान के प्रति निष्ठा की शपथ का उल्लंघन करे तो उसे भी राष्ट्रपति इसी आधार पर पद से हटा सकता है। इस संबंध में राज्यपाल को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि, 'यदि किसी विषय पर यह प्रश्न उठे कि क्या उस विषय पर राज्यपाल को अपने विवेक का प्रयोग करना चाहिए या नहीं तो उस पर राज्यपाल का निर्णय अंतिम होगा और उस निर्णय को न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती है।''

वस्तुत: संविधान निर्माण के दौरान इस बात पर बहस हुई थी कि, क्या राज्यपाल मंत्रिमंडल की सलाह को मानने के लिए बाध्य होगा? इस पर डॉ. अम्बेडकर ने यह कह था कि, राज्यपाल के पास विवेकाधिकार का विस्तृत फलक है। संविधान सभा में हुए वाद-विवाद से यह स्पष्ट इनकार किया था कि, राज्यपाल मंत्रिमंडल की सलाह मानने हेतु बाध्य होगा, इससे यह परिणाम निकलता है कि राज्यपाल मंत्रिमंडल द्वारा तैयार किए गए भाषण को अक्षरश: पढ़ने हेतु विवश नहीं है।

इसमें कोई संदेह नहीं है कि, कुछ सीमाओं में रहते हुए राज्य सरकार राज्यपाल के अभिभाषण के माध्यम से केन्द्रीय सरकार की आलोचना कर सकती है। यदि राज्य को विकास संबंध ी कार्यों के लिए केन्द्र से पर्याप्त धन न मिले तो वह उसकी आलोचना कर सकती है। कुछ सीमा तक केन्द्र तथा राज्यों के वित्तीय तथा प्रशासनिक संबंधों की भी आलोचना की जा सकती है लेकिन केन्द्र-राज्य संबंधों के कुछ ऐसे पक्ष भी हैं जिनकी विध ानसभा में संवैधानिक दृष्टि से कोई चर्चा नहीं की जा सकती जैसे यदि चुनाव के बाद उसी दल की सरकार फिर बन जाय, जिसे राज्यपाल ने चुनाव के पूर्व बरखास्त कर दिया था। यदि ऐसी सरकार चुनाव के बाद होने वाली विधानमंडल की प्रथम बैठक में राज्यपाल के अभिभाषण के माध्यम से इस बरखास्तगी को अप्रजातांत्रिक, असंवैधानिक तथा अवैध ठहरोने का प्रयास करे तो राज्यपाल के पास भाषण के उन अंशों को न पढ़ने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं होगा।''

राज्यपाल की रिपोर्ट पर या स्वयं केन्द्र सरकार द्वारा अनु. 356 के अधीन राष्ट्रपति शासन लागू कर दिए जाने पर या राज्यपाल

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

द्वारा राष्ट्रपति के पास भेजे गए बिल पर राष्ट्रपति द्वारा अनुमति न दिए जाने पर उसे अनुचित, मनमाना या अवैध कहकर राज्यपाल के अभिभाषण के माध्यम से राष्ट्रपति या केन्द्र सरकार की आलोचना राज्य सरकार नहीं कर सकती और यदि मंत्रिमंडल राज्यपाल के भाषण में ऐसे अंश को डाल भी दे तो भी राज्यपाल को यह अधि कार है कि अभिभाषण के ऐसे अंशों को वह न पढ़े। राज्यपाल के अभिभाषण में उन विषयों पर भी चर्चा नहीं हो सकती जिनपर संवैधानिक दृष्टि से विधानसभा में बहस नहीं हो सकती जैसे उच्च या सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश के व्यवहार के बारे में विध ानसभा में कोई बहस नहीं हो सकती। इससे यह सिद्ध होता है कि यदि राज्यपाल के भाषण का विषय संवैधानिक औचित्य की सीमा में नहीं है तो वह आपत्तिजनक वाक्यों को पढ़ने से इनकार कर सकता है।''

जब राज्यपाल के भाषण में कुछ आपत्तिजनक वाक्य हों तो क्या राज्यपाल उन अंशों को पढ़ने के स्थान पर भाषण के कुछ वाक्य पढ़कर शेष को सभा के पटल पर रखकर अपने संवैधानिक कर्त्तव्यों को पूरा नहीं कर सकता? ऐसे कई उदाहरण मिलते हैं जहां पर भाषण विधानसभा के पटल पर रखे जाने के पश्चात् पढ़ा हुआ मान लिया गया है। उदाहरणार्थ - पश्चिम बंगाल के राज्यपाल ध र्मवीर जब शोरगुल के कारण अपना अभिभाषण नहीं पढ़ सके तो उन्होंने अपना भाषण विधानसभा के पटल पर रख दिया और वह पढ़ा हुआ मान लिया गया था।

उससे पूर्व पश्चिम बंगाल में ही पद्मजा नायडू भी एक बार अपना पूरा भाषण अस्वस्थता के कारण नहीं पढ़ सकी थीं, उन्होंने अपने भाषण के केवल कुछ ही अंश या शब्द बोले थे, लेकिन कलकत्ता उच्च न्यायालय ने उस भाषण को पूरा पढ़ा हुआ मान लिया था। इसमें कोई संदेह नहीं है कि, राज्यपाल के लिए पूरा भाषण अक्षरशः पढ़ना अनिवार्य नहीं है और वह कुछ अंश पढ़ने के बाद उसे सभा के पटल पर रखकर अपने संवैधानिक कर्त्तव्य को पूरा कर सकता है, और ऐसी दशा में सम्पूर्ण अभिभाषण पढ़ा हुआ मान लिया जाएगा। इसलिए यदि वह आपत्तिजनक अंशों को न पढ़कर भी उसे सभा के पटल पर रख दे तो उससे भी उसकी शपथ का तथा संविधान का उल्लंघन नहीं होता, और यही बेहतर विकल्प है उस दशा में अपने बचाव का जब मंत्रिमंडल अभिभाषण के माध्यम से राजनीतिक चालें चले और संविधान के प्रावधानों का दुरुपयोग करे।

राज्य विधानसभा के अधिकारी:

प्रत्येक राज्य की विधानसभा को अपने निर्वाचन के तुरंत बाद यथाशीघ्र, अपना अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष चुनना होता है और जब कभी अध्यक्ष या उपाध्यक्ष का पद रिक्त होता है तब विध ानसभा किसी अन्य सदस्य को यथाशीघ्र अध्यक्ष या उपाध्यक्ष चुनेगी (178)।

अध्यक्ष एवं उपाध्यक्ष का पद रिक्त होना, पद त्याग करना और पद से हटाया जाना (अनु. 179):

विधानसभा के अध्यक्ष या उपाध्यक्ष के रूप में पद धारण करने वाल सदस्य

(क) यदि किसी समय विधानसभा का सदस्य नहीं रहता है तो वह अपना पद रिक्त कर देगा या वह रिक्त माना जाएगा क्योंकि अध्यक्ष या उपाध्यक्ष होने के लिए विधानसभा की सदस्यता आवश्यक है,

(ख) किसी भी समय, यदि वह अध्यक्ष है तो उपाध्यक्ष को और यदि वह उपाध्यक्ष है तो अध्यक्ष को सम्बोधित अपने हस्ताक्षर सहित लेख द्वारा अपना पदत्याग कर सकेगा और

(ग) अध्यक्ष या उपाध्यक्ष को विधानसभा के तत्कालीन समस्त सदस्यों के बहुमत से पारित संकल्प द्वारा अपने पद से हटाया जा सकेगा, परंतु इस प्रयोजन के लिए कोई संकल्प तब तक प्रस्तावित नहीं किया जाएगा जब तक कि, उस संकल्प को प्रस्तावित करने के आशय की कम-से-कम 14 दिन पूर्व सूचना न दे दी गई हो, लेकिन जब कभी विधानसभा का विघटन किया जाता है तो विघटन के पश्चात् होने वाली विधानसभा की प्रथम बैठक तक अध्यक्ष अपने पद पर बना रहेगा, जब तक की नए अध्यक्ष का विधानसभा चुनाव नहीं कर लेती।

अनु. 180 के अनुसार, जब अध्यक्ष का पद 'रिक्त' है तो उपाध्यक्ष और यदि उपाध्यक्ष की पद भी 'रिक्त' है तो ऐसा कोई सदस्य जिसे राज्यपाल इस निमित्त नियुक्त करे, वह 'अध्यक्ष' पद के कर्त्तव्यों का संपादन करेगा। जहां 'रिक्त' स्थायी न होकर अस्थायी हो अर्थात् विधानसभा की बैठक के दौरान अध्यक्ष एवं उपाध्यक्ष दोनों अनुपस्थित हों तब विधानसभा की अध्यक्षता का निर्णय विधानसभा संचालन की प्रक्रिया के नियमों द्वारा होगा अर्थात ऐसी दशा में राज्यपाल द्वारा निर्णय न लिया जाकर विधानसभा द्वारा लिया जाएगा।

अनु. 181(1) के अनुसार, विधानसभा की किसी बैठक में, जब अध्यक्ष को हटाने का संकल्प विचाराधीन हो तो अध्यक्ष तथा जब उपाध्यक्ष को पद से हटाने का संकल्प विचाराधीन हो तो उपाध्यक्ष अपने पद पर नहीं बैठेगा। ऐसी दशा में इन्हें बैठक में उपस्थित रहने और सदन में बोलने एवं कार्यवाही में भाग लेने का अधिकार तो होगा और विधानसभा का सदस्य होने के कारण मत देने का अधिकार भी होगा लेकिन मत बराबर होने की दशा में मत देने का अधिकार नहीं होगा। तात्पर्य यह है कि, जब कभी अध्यक्ष या उपाध्यक्ष को पद से हटाने का संकल्प प्रस्तुत होगा तब तुरंत ही अध्यक्ष या उपाध्यक्ष को मिले विशेषाधिकार भी समाप्त हो जाएंगे और ये लोग मात्र सदन के सदस्य बनकर रह जाएंगे।

विधान परिषद के अधिकारी:

जिन राज्यों में विधानपरिषद है, वहां की विधानपरिषद अपने दो सदस्यों को अपने सभापति एवं उपसभापति चुनती है और जब कभी सभापति और उपसभापति के पद रिक्त होंगे तो किसी

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

अन्य सदस्य को सभापति या उपसभापति चुना जाएगा।

सभापति एवं उपसभापति का पद रिक्त होना, पदत्याग करना और पद से हटाया जाना (अनु. 183):

विधानपरिषद के सभापति या उपसभापति के रूप में पद धारण करने वाला सदस्य,

(क) यदि किसी कारण से विधानपरिषद की सदस्यता खो देता है या विधानपरिषद का सदस्य नहीं रह जाता है तो वह अपना पद (सभापति या उपसभापति) छोड़ देगा अर्थात् पद रिक्त कर देगा,

(ख) किसी भी समय यदि सभापति है तो उपसभापति को और यदि उपसभापति हो तो सभापति को सम्बोधित अपने हस्ताक्षर सहित लेख द्वारा अपना पद त्याग कर सकेगा और

(ग) विधानपरिषद के सभापति या उपसभापति को, विधानपरिषद के तत्कालीन समस्त सदस्यों के बहुमत से पारित संकल्प द्वारा पद से हटाया जा सकेगा, परंतु इस प्रयोजन के लिए कोई संकल्प तबतक प्रस्तुत नहीं किया जाएगा, जब तक कि, उस संकल्प को प्रस्तावित करने के आशय की सूचना कम-से-कम 14 दिन पूर्व न दे दी गई हो।

अनु. 184 के अनुसार, जब सभापति का पद 'रिक्त' है तो उप सभापति या उप सभापति का पद भी 'रिक्त' हो तो कोई ऐसा सदस्य राज्यपाल इस निमित्त नियुक्त करे, वह 'सभापति' पद के कर्त्तव्यों का संपादन करेगा। यहां 'रिक्त' शब्द का तात्पर्य पद से स्थायी रिक्ति से है, लेकिन जब सभापति या उपसभापति सदन की बैठकों के दौरान अनुपस्थित हों (अर्थात् पद में रिक्ति अस्थायी हो) तो विधानपरिषद के सभापति का निर्णय विधानपरिषद के सदस्यों द्वारा किया जाएगा, प्राय: वरिष्ठतम: सदस्य को ही सभापति पद पर तब तक बैठाया जाता है जब तक कि, स्थायी सभापति या उपसभापति आकर सभापतित्व न करने लगे।

अनु. 185(1) के अनुसार, विधानपरिषद की किसी बैठक में जब सभापति को पद से हटाने का संकल्प विचाराधीन हो तो सभापति, या जब उपसभापति को पद से हटाने का संकल्प विचाराधीन है तो उपसभापति को पद से हटाने का संकल्प विचाराधीन है तो उपसभापति अपने पद पर नहीं बैठेगा। ऐसी दशा में उसे बैठक में उपस्थित रहने, अपनी बात कहने तथा सदन की कार्यवाही में भाग लेने का अधिकार तो होगा, और विधानपरिषद का सदस्य होने के कारण उसे मत देने का भी अधिकार होगा, लेकिन मत बराबर होने की दशा में उसे मत देने का अधिकार नहीं होगा क्योंकि ऐसी बैठक में वह पदासीन नहीं रहता अर्थात् जब कभी सभापति या उपसभापति को पद से हटाने का संकल्प प्रस्तुत होगा तब तुरंत ही सभापति या उपसभापति को मिले विशेषाधिकार समाप्त हो जाएंगे और वे केवल सदन के सदस्य मात्र बनकर रह जाएंगे।

सदनों के कार्य संचालन के नियम (अनु. 189):

अनु. 189(1) के अनुसार, राज्य विधानमंडल के किसी भी सदन की बैठक में सभी प्रश्नों का निर्धारण अध्यक्ष या सभापति के रूप में कार्य करने वाले व्यक्ति को छोड़कर उपस्थित एवं मत देने वाले सदस्यों के बहुमत से किया जाएगा।

अध्यक्ष या सभापति या उस रूप में कार्य करने वाला व्यक्ति प्रथम बार मत नहीं देगा लेकिन यदि किसी विधेयक, प्रस्ताव या संकल्प पर पक्ष एवं विपक्ष में बराबर-बराबर मत पड़ते हैं तो यथास्थिति अध्यक्ष या सभापति को मत देने का अधिकार होगा, इसे 'निर्णायक मत' (Casting vote) कहते हैं क्योंकि बराबर मत पड़ने के बाद अध्यक्ष या सभापति का मत ही निर्णय करेगा कि वह विधेयक, संकल्प या प्रस्ताव पारित होगा या नहीं।

अनु. 189(2) के अनुसार, राज्य विधानमंडल के किसी भी सदन की सदस्यता में कोई रिक्ति होने पर भी, उस सदन को कार्य करने की शक्ति होगी, और यदि बाद में यह पता चलता है कि, कोई व्यक्ति, जो सदन की कार्यवाही में भाग लेने का हकदार नहीं था, वह भी सदन में उपस्थित रहा है और मतदान किया है या कार्रवाई में भाग लिया है तो भी राज्य विधानमंडल की कार्यवाही मान्य होगी।

अनु. 189(3) के अनुसार, राज्य विधानमंडल के किसी सदन का अधिवेशन चलने हेतु सदस्यों की न्यूनतम संख्या अर्थात् गणपूर्ति सदन की कुल सदस्य संख्या का 1/10 या 10 सदस्य, जो भी अधिक हो, होगी। यदि इतने सदस्य भी सदन की बैठक में उपस्थित नहीं रहते हों तो अध्यक्ष या सभापति का यह कर्तव्य होगा कि, वह सदन की बैठक को स्थगित कर दे या अधिवेशन को तबतक के लिए निलंबित कर दे जबतक कि गणपूर्ति नहीं हो जाती हो।

वे दशाएं, जिनमें विधानमण्डल की सदस्यता त्यागनी पड़ेगी (अनु. 190):

अनु. 190(1) के अनुसार, कोई भी व्यक्ति राज्य के विधानमंडल के दोनों सदनों का सदस्य नहीं होगा और जो व्यक्ति दोनों सदनों का सदस्य चुन लिया जाता है, उसे एक सदन की सदस्यता का त्याग करना होगा, इसके लिए विधानमण्डल उस समय सीमा का निर्धारण कर सकता है जिसमें दोनों सदनों हेतु चुने गए व्यक्ति को एक सदन की सदस्यता त्याग देनी होगी।

अनु. 190(2) के अनुसार, कोई भी व्यक्ति दो या अधिक राज्यों के विधानमंडल का सदस्य नहीं होगा और यदि ऐसा हो जाता है तो राष्ट्रपति को यह अधिकार है कि वह नियम बनाकर उस अवधि की (समय-सीमा) घोषणा कर सकेगा जिसके भीतर उस व्यक्ति को किसी एक राज्य के विधानमंडल की सदस्यता ग्रहण करके शेष की सदस्यता त्याग देनी होगी, यदि वह व्यक्ति राष्ट्रपति द्वारा निर्धारित समय सीमा के भीतर ऐसा नहीं कर पाता है

FREE IAS

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

तो उस व्यक्ति को दोनों या सभी राज्यों के विधानमंडल में स्थान रिक्त घोषित कर दिया जाएगा।

उपरोक्त अनु. 190(1) और 190(2) के संदर्भ में लोकप्रतिनिधित्व अधिनियम (1950) में व्यवस्था की गयी है। प्रोहिबिशन ऑफ साइमल्टेनियस मेम्बरशिप रूल्स, 1950 के अनुसार, यदि कोई व्यक्ति राज्य विधानमंडल के दोनों सदनों का सदस्य चुन लिया जाता है तो उसे 10 दिन के भीतर किसी एक सदन की सदस्यता का त्याग करना होगा। यदि वह अपने एक सदन की सदस्यता का त्याग नहीं करता या इस प्रकार की कोई सूचना नहीं देता तो उसका उस सदन में स्थान खाली माना जाएगा जिसका कि वह पहले सदस्य रहा हो। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति दो या दो से अधिक राज्यों के विधानमंडल में सदस्य चुने जाने पर 10 दिन के भीतर यह सूचना नहीं दे देता कि वह किस राज्य के विध ानमंडल का सदस्य बने रहना चाहता है तो 10 दिन के बाद उसका सभी राज्यों के (जहां विधामंडल का वह सदस्य चुना गया है) विध ानमंडल में स्थान रिक्त घोषित कर दिय जाएगा।

अनु. 190(3) के अनुसार, यदि राज्य के विधानमंडल के किसी सदन का सदस्य :

(क) अनु. 191 के खण्ड (1) या खण्ड (2) में वर्णित किसी अयोग्यता से ग्रस्त हो जाय या,

(ख) अध्यक्ष या सभापति को सम्बोधित (विधानसभा का सदस्य है तो अध्यक्ष को, यदि विधानपरिषद का सदस्य है तो सभापति को) अपने हस्ताक्षर सहित लेख द्वारा अपनी

सदस्यता को त्याग देता है और उसका त्यागपत्र स्वीकार कर लिया जाता है,

तो ऐसी दशा में उसका स्थान रिक्त हो जाएगा, लेकिन यदि त्यागपत्र स्वैच्छिक नहीं है या फर्जी होने की संभावना दिखाई दे तो यथास्थिति, अध्यक्ष या सभापति उस त्यागपत्र को स्वीकार नहीं करेगा।

अनु. 190(4) के अनुसार, यदि किसी राज्य के विध ानमंडल के किसी सदन का सदस्य 60 दिन की अवधि तक सदन की आज्ञा के बिना उसके सभी अधिवेशनों से अनुपस्थित रहता है तो सदन उसके स्थान को रिक्त घोषित कर सकेगा, परंतु 60 दिन की उक्त अवधि की गणना करने में किसी ऐसी अवधि को गणना में शामिल नहीं किया जाएगा जिसके दौरान सदन का सत्रावसान रहा हो या सदन निरंतर 4 या अधिक दिनों के लिए स्थगित रहा हो।

कुछ अन्य दशाएं, जिनमें विधानमंडल के सदस्य सदस्यता खो देंगे (अनु. 191):

अनु. 190 में उन स्थितियों का वर्णन है जिनमें कोई वर्तमान विधानमंडल सदस्य अपनी सदस्यता खो देगा। इस अनुच्छेद में आने वाली दशाओं के संबंध में विधामंडल को कानून बनाने या निर्णय करने का अधिकार है, लेकिन अनु. 191 में उन स्थितियों का वर्णन है जिनसे ग्रस्त होने पर कोई भी व्यक्ति विधानमंडल के किसी भी सदन का चुनाव ही नहीं लड़ सकता और यदि कोई वर्तमान विधानमंडल सदस्य भी इन दशाओं में ग्रस्त हो जाय तो उसे सदन की सदस्यता त्याग देनी होगी। अनु. 191 में वर्णित अयोग्यता/निरर्हता से ग्रस्त होने या न होने का निर्णय राज्यपाल करता है।

अनु. 191 में वर्णित दशाएं इस प्रकार है:

अनु. 191(1) के अनुसार, यदि विधानमंडल का कोई सदस्य,

(क) भारत सरकार या किसी राज्य सरकार द्वारा दिए गए किसी ऐसे पद को ग्रहण कर लिया है जिसे राज्य विध ानमंडल ने 'लाभ का पद' घोषित कर रखा है,

(ख) पागल है, या ऐसी घोषणा किसी सक्षम न्यायालय ने उसके संबंध में की हो,

(ग) दिवालिया हो जाय,

(घ) भारत का नागरिक नहीं रह जाता या उसने किसी विदेशी राज्य की नागरिकता स्वेच्छा से ग्रहण कर ली हो या किसी विदेशी राज्य के प्रति निष्ठा का वचन दे दिया हो,

(ङ) संसद द्वारा बनाई गयी किसी विधि द्वारा या उसके अधीन इस प्रकार अयोग्य घोषित कर दिया गया हो,

तो वह विधानमंडल का सदस्य नही रह जाएगा।

अनु. 191(2) के अनुसार, कोई व्यक्ति राज्य विध ानमंडल के किसी सदन का सदस्य होने के लिए अयोग्य माना जाएगा यदि वह संविधान की 10वीं अनुसूची में वर्णित दल-बदल कानून द्वारा दोषी ठहरा दिया जाय।

अनु. 191(1) में वर्णित किसी अयोग्यता से ग्रस्त होने या न होने का निर्णय राज्यपाल करेगा और ऐसा करते समय उसे निर्वाचन आयोग की सलाह लेनी होगी तथा वह ऐसी सलाह के अनुसार काम करेगा। राज्यपाल का इस संदर्भ में निर्णय अंतिम होगा (अनु. 192)।

अनु. 191(2) में वर्णित अयोग्यता के प्रश्न का निर्धारण विधान सभा का अध्यक्ष करेगा। बिना शपथ लिए विधानमंडल की कार्यवाही में भाग लेने पर प्रतिबंध अनु. 188 के अनुसार विध ानमंडल के किसी सदन हेतु निर्वाचित या मनोनीत हो जाने के बाद भी कोई व्यक्ति संबंधित सदन में अपना स्थान तब तक ग्रहण नहीं करेगा जबतक कि वह राज्यपाल या उनकी अनुपस्थिति में इस निमित्त प्राधिकारी से शपथग्रहण न कर ले।

यदि कोई सदस्य शपथ ग्रहण किए बिना या यह जानते हुए भी कि वह सदन का सदस्यता से वंचित कर दिया गया है या उसे राज्य विधानमंडल या संसद द्वारा बनाए गए किसी कानून द्वारा सदन की कार्यवाही में भाग लेने से वंचित कर दिय गया है, फिर भी वह सदन के सदस्य के रूप में बैठता है, यह मतदान करता है

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

तो वह प्रतिदिन के लिए, जबतक वह इस प्रकार बैठता हे या मत देता है, 500 रु. प्रतिदिन के दंड का भागी होगा जो राज्य को देय ऋण के रूप में वसूला जायेगा (अनु. 193)। इस संदर्भ में संसद में भी 500रु. प्रतिदिन का ही दंड निर्धारित है। वास्तव में इस राशि को बढ़ाने या दंड को कठोर करने की आवश्यकता है अन्यथा कभी भी किसी महत्वपूर्ण विधेयक के भाग्य को प्रभावित किया जा सकता है।

विधानमंडल में सामान्य विधेयकों के प्रस्तुत और पारित होने की प्रक्रिया:

सामान्य विधेयक विधानमंडल के किसी भी सदन में प्रस्तुत किया जा सकता है। यदि कोई सामान्य विधेयक विधानसभा से पारित होने के बाद विधानपरिषद में भेजा जाता है और विध
ानपरिषद को भेजे जाने के पश्चात्

(क) विधानपरिषद द्वारा विधेयक अस्वीकार कर दिया जाता है, या

(ख) विधानपरिषद का समक्ष विधेयक रखे जाने की तिथि से 3 माह का समय बीत चुका
है और विधयेक पारित नहीं हुआ है (3 माह के समय की गणना उस दिन से की जाएगी, जब विधेयक को विधानपरिषद में प्रस्तुत किया गया था, उस दिन से नहीं की जाएगी जब विधानसभा ने भेजा था), या

(ग) विधान परिषद ने विधानसभा द्वारा भेजे गए विधेयक में कतिपय संशोधन कर दिए हों,

तो उपरोक्त तीनों ही स्थितियों में विधान परिषद उस विधेयक को पुन: विधानसभा को भेज देगी। यदि विधानसभा उसी सत्र में या अगले सत्र में विधानपरिषद द्वारा सुझाए गए संशोध नों के बिना उस विधेयक को पुन: पारित कर देती है तो इस प्रकार दुबारा पारित विधेयक पुन: विधानपरिषद की स्वीकृति हेतु भेजा जाएगा और यदि पुन:

(क) विधानपरिषद द्वारा विधेयक अस्वीकार कर दिया जाता है, या

(ख) विधानपरिषद में विधेयक रखे जाने की तिथि से, 1 मास का समय बीत गया है और विधेयक पारित नहीं हुआ है, या

(ग) विधानपरिषद ने उसमें पुन: कुछ ऐसे संशोधन सुझाएं हो जिनसे विधानसभा असहमत हो,

तो उपरोक्त तीनों ही दशाओं में विधेयक राज्य विध
ानमंडल के दोनों सदनों द्वारा पारित समझा जाएगा जिस रूप में दूसरी बार विधानसभा ने पारित किया था अर्थात् विधानपरिषद किसी विधेयक के पारित होने में अधिकतम 4 माह का विलम्ब कर सकती है और विधेयक प्राय: विधानसभा द्वारा तैयार किया गए या स्वीकार किए गए प्रारूप में ही पारित हो जाता है। राज्य विध
ानमंडल के दोनों सदनों में असहमति की दशा में संयुक्त बैठक का प्रावधान नहीं है अत: विधानसभा ही विधेयकों के जीवन का निर्णय करती है।

यदि कोई विधेयक पहले विधानपरिषद में प्रस्तुत किया गया है और वहां से पारित होने के बाद वह विधानसभा में पहुंचता है और यदि विधानसभा उस विधेयक को पारित कर देती है तो वह विधेयक राज्यपाल के पास भेजा जाएगा और उसकी स्वीकृति के बाद वह विधेयक विधि/कानून बन जाएगा। लेकिन यदि विध
ानपरिषद द्वारा पारित विधेयक को विधानसभा अस्वीकार कर दे या उसमें कोई ऐसा संशोधन करे जिससे विधानपरिषद असहमत हो जाए तो वह विधेयक तुरंत समाप्त हो जाएगा। विधानपरिषद में प्रारंभ हुए विधेयक पर क्रमश: 3 माह और 1 माह के प्रावधान लागू नहीं होते। राज्यसभा के विधेयक से असहमति की दशा में संसद के दोनों सदनों की संयुक्त बैठक आहूत की जाती है, लेकिन राज्यों के विधानमंडल के संबंध में यह प्रावधान नहीं है, क्योंकि विध
ानपरिषद राज्यसभा की भांति कोई स्थायी सदन नहीं है उसका उत्सादन व सृजन किया जा सकता है।

वस्तुत: संविधान निर्माताओं ने विधानपरिषद को केवल एक को शक्तियां देने में ब्रिटिश पार्लियामेंट ऐक्त, 1911 का प्रारूप अपनाया, जिसमें द्वितीय या उच्च सदन को जनता के प्रतिनिधि सदन के सामने झुकना ही पड़ता है। इस ऐक्ट के अनुसार उच्च सदन विधेयक को पारित करने में केवल कुछ विलंब कर सकता है, वह निम्न या प्रथम सदन के कार्य में बाधा नहीं डाल सकता।

धन विधेयक के संबंध में विशेष प्रक्रिया (अनु. 198):

धन विधेयक पहले विधानसभा में ही प्रस्तुत किया जाएगा, विधान परिषद में नहीं। यदि विधानमंडल दो सदनीय है तो विधानसभा द्वारा पारित किए जाने के बाद धन विधेयक विध
ानपरिषद को भेजा जाएगा और विधानपरिषद धन विधेयक प्राप्त होने के बाद 14 दिन के भीतर या तो विधेयक से सहमत होकर उसे पारित कर देगी और यदि वह उसमें कुछ संशोधन चाहती है तो उन संशोधनों के साथ विधेयक को पारित करेगी या यदि वह विधेयक से पूरी तरह असहमत है तो विधेयक को अस्वीकार कर देगी।

विधानपरिषद द्वारा पारित होकर धन विधेयक पुन: विध
ानसभा में जाएगा। यदि विधानपरिषद द्वारा किए गए संशोधन से विधानसभा सहमत है तो विधेयक उस रूप में पारित समझा जाएगा जिस रूप में विधानपरिषद ने पारित किया था। यदि विधानसभा, ध
न विधेयक में विधानपरिषद द्वारा किए गए संशोधन से सहमत नहीं है तो विधेयक उस रूप में पारित समझा जाएग जिस रूप में पहली बार विधानसभा ने पारित किया था। यदि विधानपरिषद ने धन विध
ेयक को 14 दिन के भीतर न तो पारित किया और न ही लौटाया, तो ऐसी दशा में 14 दिन के बाद, वह धन विधेयक दोनों सदनों द्वारा उसी रूप में पारित हुआ मान लिया जाएगा, जिस रूप में वह विधानसभा द्वारा पारित हुआ था।

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

धन विधेयक की परिभाषा और तत्सम्बंधी प्रावधान:

अनु. 199(1) के अनुसार, निम्नलिखित सभी या किन्हीं विषयों से संबंधित उपबंध वाले विधेयक धन विधेयक होंगे:

(क) किसी कर का अधिरोपण (कर लगाना), उत्सादन (कर को समाप्त करना), परिहार (किसी कर का कुछ समय के लिए स्थगित करना), परिवर्तन (कर में कमी या वृद्धि) या विनियमन,

(ख) राज्य द्वारा धन उधार लेने का या कोई गारंटी देने का नियम बनाना अथवा राज्य द्वारा अपने ऊपर ली गयी वित्तीय जिम्मेदारियों से संबंधित कानून का संशोधन,

(ग) राज्य की संचित निधि या आकस्मिक निधि की रक्षा, ऐसी किसी निधि में धन जमा करना, या उससे धन निकालना,

(घ) राज्य की संचित निधि में से धन का विनियोग,

(ङ) किसी व्यय को राज्य की संचित निधि पर भारित घोषित करना, या ऐसे किसी व्यय की राशि को बढ़ाना,

(च) राज्य की संचित निधि या राज्य के लोक लेखों के लिए धन प्राप्त करना अथवा ऐसे धन की अभिरक्षा या उसका निर्गमन, या

(छ) उपरोक्त खण्ड (क) से (च) तक में वर्णित किसी विषय का आनुषंगिक कोई विषय।

उपरोक्त खण्ड (क) से (च) तक के प्रावधानों से संबंधित कोई विधेयक राज्यपाल को सिफारिश से ही विधानसभा में प्रस्तुत किया जाएगा। परंतु किसी कर को घटाने या समाप्त करने का उल्लंघन करने वाले किसी संशोधन के प्रस्ताव हेतु इस खण्ड के अधीन राज्यपाल की पूर्व अनुमति की आवश्यकता नहीं होती।

कोई भी विधेयक केवल उस इस कारण धन विधेयक नहीं समझा जाएगा कि वह जुर्मानों या अन्य धन संबंधी दंड के आरोपण का या अनुज्ञप्तियों के लिए फीसों का या ली गयी सेवाओं के लिए फीसों की मांग का या उनके संदाय का उपबंध करता है अथवा केवल इस कारण धन विधेयक नहीं समझा जाएगा कि वह किसी स्थानीय प्राधिकारी या निकाय द्वारा स्थानीय प्रयोजनों के लिए किसी कर का अधिरोपण, उत्सादन, परिहार, परितर्वन या विनियमन का उपबंध करता है (अनु. 199(2))।

यदि यह प्रश्न उठता है कि विधेयक धन विधेयक है या नहीं तो इसका निर्धारण विधानसभा का अध्यक्ष करेगा और उसका निर्णय अंतिम होगा। जब धन विधेयक विधानसभा से पारित होकर विधानपरिषद में भेजा जाता है या जब दोनों सदनों द्वारा पारित होकर वह राज्यपाल के पास भेजा जाता है तो दोनों ही बार विधेयक के साथ विधानसभा के अध्यक्ष का हस्ताक्षर सहित प्रमाणपत्र संलग्न होता है कि यह धन विधेयक है।

सदन के सत्रावसान या विघटन का विधेयकों पर प्रभाव (अनु. 196):

किसी राज्य के विधानमंडल (विधानसभा एवं विधानपरिषद दोनों में) में लंबित विधेयक सदन या सदनों के सत्रावसान के कारण व्यपगत/समाप्त नहीं होंगे।

किसी राज्य के विधानपरिषद में लंबित विधेयक, जिसकी विधानसभा ने पारित नहीं किया है, विधानसभा के विघटन पर व्यपगत/समाप्त नहीं होगा।

कोई भी विधेयक जो राज्य की विधानसभा में लंबित है या जो विधानसभा द्वारा पारित कर दिया गया है और विधानपरिषद में लंबित है, विधानसभा के विघटन पर समाप्त हो जाएगा।

विधेयक और राज्यपाल (अनु. 200):

जब कोई विधेयक राज्य विधानमंडल द्वारा (यदि एक सदनीय है तो विधानसभा द्वारा तथा यदि दो सदनीय है तो विधानसभा एवं विधानपरिषद द्वारा) पारित कर दिया जाता है तो उसे राज्यपाल के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है क्योंकि राज्यपाल भी विधानमंडल का एक हिस्सा है। यदि राज्यपाल विधेयक के प्रावधानों से संतुष्ट है तो वह उस विधेयक पर अपनी अनुमति दे देता है और विधेयक विधि/कानून बन जाता है। यदि वह विधेयक के प्रावधानों से असहमत है तो वह उसे उस सदन को लौटा देता है जहा वह विधेयक प्रथम बार प्रस्तुत किया गया था। विधानमंडल को विधेयक लौटाते समय (पुनर्विचार हेतु लौटाते समय) राज्यपाल यदि चाहे तो उस विधेयक में जिन बिन्दुओं पर वह परिवर्तन चाहता है, उसका उल्लेख भी कर सकता है।

यदि विधानमंडल उसके द्वारा संकेत किए गए संशोधनों की वांछनीयता पर विचार करके (विधानमंडल चाहे तो राज्यपाल के परिवर्तन संबंधी सुझावों को माने या न माने) उस विधेयक को पुनः पारित कर देता है तो राज्यपाल को इस प्रकार दुबारा पारित किए विधेयक पर अपनी अनिवार्य सहमति देनी पड़ेगी। परंतु एक तीसरी स्थिति यह है कि, जिस विधेयक के विधि बनने पर राज्यपाल की दृष्टि में, उच्च न्यायालय की शक्तियां कम होंगी या उसके अधिकारों में ऐसी कमी होगी, जिससे कि वह अपनी संविधान सम्मत भूमिका का निर्वाह नहीं कर पाएगा, उस विधेयक पर राज्यपाल अपनी स्वीकृति नहीं देगा और उसे राष्ट्रपति के विचार हेतु आरक्षित कर देगा।

विधेयक और राष्ट्रपति (अनु. 201):

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

जब कोई विधेयक राज्यपाल द्वारा राष्ट्रपति के विचारार्थ आरक्षित कर दिया जाता है तो उस विधेयक पर राज्यपाल की भूमिका वहीं समाप्त हो जाती है, फिर राष्ट्रपति ही यह निर्णय लेता है कि, उस विधेयक पर अनुमति दी जाय या नहीं।

राज्य विधानमंडल द्वारा पारित होकर जब कोई विधेयक राष्ट्रपति के पास पहुंचता है तो वह या तो उसे स्वीकृति दे देगा जिससे वह विधेयक कानून क रूप धारण कर लेता है। राष्ट्रपति यदि विधेयक के प्रावधानों से असहमत है तो वह राज्यपाल को यह निर्देश दे सकेगा कि राज्य विधानमंडल विधेयक पर पुनर्विचार करे। राष्ट्रपति चाहे तो विधेयक के उन प्रावधानों के बारे में स्पष्ट संकेत या उल्लेख कर दे जिससे वह परिवर्तन चाहता है।

जब कोई विधेयक राष्ट्रपति द्वारा इस प्रकार पुनर्विचार हेतु लौटा दिया जाता है तो 6 माह के भीतर विधानमण्डल विचार-विमर्श करके उस विधेयक को राष्ट्रपति द्वारा सुझाए गए संशोधनों के साथ या बिन उसके पारित करेगा जैसा कि वह उचित समझे (ध्यान रहे जब राज्यपाल किसी विधेयक को पुनर्विचार हेतु वापस करता है तो इस बात की समय सीमा नहीं है कि विधानमंडल कितने समय के भीतर विधेयक पर पुनर्विचार करेगी, लेकिन जब राष्ट्रपति किसी विधेयक को विधानमंडल में पुनर्विचार करेगी, लेकिन जब राष्ट्रपति किसी विधेयक को विधानमंडल में पुनर्विचार हेतु भेजता है तो विधानमंडल को 6 माह के भीतर ही पुनर्विचार करके उसे पारित करना होगा, तथा राष्ट्रपति के पास भेज देना होगा। यदि 6 माह के भीतर ऐसा नहीं होता तो वह विधेयक समाप्त मान लिया जाएगा)। पुनर्विचारोपरान्त पारित विधेयक राष्ट्रपति के समक्ष प्रस्तुत किया जाएगा। यदि राष्ट्रपति उस विधेयक पर अनुमति दे देता है तो वह कानून बन जाता है और यदि अनुमति नहीं देता है तो वह विधेयक वहीं समाप्त हो जाएगा। इस प्रकार, भारत के राष्ट्रपति को राज्य विधानमंडल द्वारा पारित विधेयक के संदर्भ में पूर्ण निषेधाधिकार की शक्ति (Absolute veto) प्राप्त है।

प्राय: जब राष्ट्रपति किसी विधानमंडल को कोई विधेयक पुनर्विचार हेतु वापस लौटाता है तो वह विधानमंडल उसके सुझावों का स्वागत करते हुए उक्त विधेयक में यथोचित परिवर्तन कर लेता है, लेकिन यदि परिवर्तन नहीं हुआ रहता है तो राष्ट्रपति ऐसे विधेयकों पर अपनी स्वीकृति देने हेतु बाध्य नहीं है। जब राष्ट्रपति ऐसे विधेयकों को स्पष्ट शब्दों में अपनी अनुमति देने से इनकार कर देता है तो वह 'पूर्ण निषेधाधिकार' कहलाता है।

कभी-कभी ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं जहां पर राज्यपाल द्वारा राष्ट्रपति के विचारों हेतु आरक्षित विधेयकों को राष्ट्रपति ने निरंतर अपने पास रोके रखा और ऐसा करके उन्होंने 'पॉकेट वीटो' का प्रयोग किया। उदाहरणतया पश्चिम बंगाल विधानसभा ने 1969 ई. में औद्योगिक मजदूरों से संबंधित विधेयक पास किया था। उसे राष्ट्रपति ने लगभग 12 वर्षों तक अपनी अनुमति नहीं दी। इसी प्रकार पश्चिम बंगाल भूमि सुधार संशोधन विधेयक, 1981 को भी राष्ट्रपति ने 4 वर्ष तक अपनी अनुमति नहीं दी। इससे यह सिद्ध होता है कि, संघीय सरकार इस अनुच्छेद का प्रयोग करके उन राज्य सरकारों के, जहां पर विपक्ष की सरकार है, किसी भी विधेयक के पास होने में रूकावट डाल सकती है। इसी कारण से राजमन्नार समिति ने अनु. 201 को (राष्ट्रपति द्वारा राज्य विधानमंडल द्वारा पारित विधेयकों को अनुमति देने वाले प्रावधान) संविधान से निकाल देने की मांग की थी लेकिन सरकारिया आयोग ने यह सिफारिश की है कि, इन अनुच्छेदों को संविधान में तो रखा जाय, परंतु जब कभी राष्ट्रपति किसी एक विधेयक को अनुमति नहीं देना चाहता तो वह उसका सूचना राज्यों को दे दे।

राज्य की संचित निधि पर भारिती होने वाले व्यय (अनु. 202):

अनु. 202 (3) के अनुसार, निम्नलिखित व्यय प्रत्येक राज्य की संचित निधि पर भारित व्यय होगा:

(क) राज्यपाल की उपलब्धियां, भत्ते तथा उसके पद से संबंधित अन्य व्यय,

(ख) विधानसयभा के अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष एवं विधानपरिषद के सभापति एवं उपसभापति (यदि विधानपरिषद हो तब) के वेतन तथा भत्ते,

(ग) ऐसे ऋण एवं उससे जुड़े ब्याज आदि, जिसका भार राज्य सरकार पर है,

(घ) उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के वेतन, भत्ते एवं अन्य व्यय (इस संदर्भ में यह ध्यातव्य रहे कि इनकी पेंशन केन्द्र की संचित निधि पर भारित है),

(ङ) किसी न्यायालय के या माध्स्थम् अधिकरण के निर्णय, डिक्री या पंचाट की तुष्टि के लिए अपेक्षित राशियां,

(च) कोई ऐसा अन्य व्यय जो इस संविधान द्वारा या राज्य के विधानमंडल द्वारा कानून बनाकर राज्य की संचित निधि पर भारित घोषित किया गया हो।

उपरोक्त वर्णित संचित निधि पर भारित व्यय से संबंधित विधेयक राज्य की विधानसभा में प्रस्तुत होंगे तथा उन पर चर्चा भी होगी, लेकिन उस व्यय पर मतदान नहीं होगा (अनु. 203(1))।

विधानमंडल में बजट पारित होने की प्रक्रिया:

अनु. 202(1) के अनुसार, राज्यपाल प्रत्येक वित्तीय वर्ष के संबंध में राज्य के विधानमंडल के सदन या सदनों के समक्ष उस राज्य का बजट (उस वर्ष के लिए प्राक्कलित/संभावित आय और व्यय का विवरण) अर्थात् 'वार्षिक वित्तीय विवरण' प्रस्तुत कराएगा।

प्रत्येक वित्तीय वर्ष की आय-व्यय का लेखा-जोखा अर्थात् बजट जब प्रस्तुत किया जाता है तो उसमें दो प्रकार के व्ययों का वर्णन होता है:

(क) संविधान द्वारा राज्य की संचित निधि पर भारित व्यय के रूप मं वर्णित व्यय की पूर्ति हेतु अपेक्षित धन राशियां,

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

(ख) राज्य की संचित निधि से किए जाने वाले 'अन्य व्यय' की पूर्ति हेतु अपेक्षित धनराशि,

ये दोनों बजट में पृथक-पृथक दिखाए जाएंगे।

जो व्यय संचित निधि पर संविधान द्वार भारित व्यय घोषित किया गया है, उस पर विधानसभा में चर्चा तो होगी, लेकिन मतदान नहीं होगा। लेकिन 'अन्य व्यय' (यद्यपि यह व्यय भी संचित निधि से ही किया जाएगा) से संबंधित या उस शीर्षक के अंतर्गत वर्णित किसी मांग को अनुमति देने या देने से इनकार करने की शक्ति या उस व्यय हेतु मांगी गयी राशि में कटौती करने का अधिकार विधानमंडल को होगा। 'अन्य व्यय' शीर्षक के अंतर्गत आने वाली मांग 'अनुदान की मांग' के रूप में **तथा संचित निधि में से किये जाने वाले व्यय भी 'अनुदान की मांग' के रूप में** प्रस्तुत होंगे। कोई भी 'अनुदान की मांग' राज्यपाल की अनुमति से ही विधानसभा में प्रस्तुत की जाएगी।

संचित निधि से लिए जाने वाले धन को 'विनियोग विधेयक' के द्वारा ही आहरित या निकाला जा सकता है। विनियोग विधेयक द्वारा ही अनु. 205 (अनुपूरक, अतिरिक्त तथा अधिक अनुदान) तथा 206 (लेखानुदान, प्रत्ययानुदान एवं अपवादानुदान) में आने वाले व्यय की राशि भी प्राप्त की जाएगी यदि विनियोग विधेयक पारित होने में विलंब हो रहा है तो धन को त्वरित प्रबंधन हेतु सदन या सदनों द्वारा लेखानुदान पारित किया जा सकता है।

राज्यपाल की अध्यादेश निकालने की शक्ति (अनु. 213):

जब विधानसभा का सत्र नहीं चल रहा हो, या द्वि-सदनीय विधानमंडल वाले राज्य में कोई एक सदन का सत्र चल रहा हो तथा दूसरा सदन नहीं चल रहा हो, या दोनों सदनों का सत्र नहीं चल रहा हो तो ऐसे समय में यदि किसी परिस्थितिवश किसी कानून की तुरंत आवश्कयता पड़ जाय तो राज्यपाल अध्यादेश जारी कर सकता है जिससे कि उस कानून की पूर्ति हो सके। अध्यादेश किसी आकस्मिक कानून निर्माण की आवश्यकता का त्वरित उपचार है लेकिन कोई भी अध्यादेश तभी जारी किया जाता है जब विधानमंडल का सत्र न चल रहा हो तथा दूसरे सदन का सत्र चल रहा हो तो भी कानून का निर्माण नहीं हो सकता, क्योंकि कोई भी विधेयक, विधि का रूप तभी धारण करता है जब वह दोनों सदनों द्वारा पारित कर दिया जाय अत: ऐसी दशा में जब केवल एक सदन का सत्र चल रहा हो तब भी राज्यपाल अध्यादेश जारी कर सकता है (अनु. 213(1))।

अध्यादेश जारी होने के पश्चात् जब कभी विधानमंडल का सत्र बुलाया जाएगा तो 6 सप्ताह के भीतर उस अध्यादेश द्वारा बनाए गए कानून का अनुमोदन सदन या सदनों में कराना होगा, यदि किसी भी कारण से 6 सप्ताह के भीतर अनुमोदन नहीं होता है तो वह अध्यादेश निष्प्रभावी हो जाएगा। चूंकि विधानमंडल के दो सत्र के बीच 6 माह से अधिक का अंतराल नहीं होना चाहिए, अत: कोई भी अध्यादेश अधिकतम साढ़े साल माह तक ही प्रभावी रह सकता है यदि विधानमंडल से उसका अनुमोदन न हो तब। राज्यपाल अपने द्वारा जारी किसी भी अध्यादेश को साढ़े सात माह के भीतर कभी भी वापस ले सकते हैं। द्वि-सदनीय विधानमंडल वाले राज्यों में यदि दोनों सदन भिन्न-भिन्न तिथियों को आहूत किए जाते हैं तो 6 सप्ताह के अवधि की गणना बाद में आहूत किए गए सदन की तिथि से की जाएगी।

राज्यपाल की अध्यादेश निकालने की शक्ति पर निम्नलिखित सीमाएं भी हैं:

अनु. 213(1) के अनुसार, राष्ट्रपति के आदेश के बिना, राज्यपाल कोई भी ऐसा अध्यादेश नहीं निकाल सकता, जिससे संबंधित उपबंधों वाले विधेयक को विधानमंडल में प्रस्तुत किए जाने के पूर्व राष्ट्रपति की मंजूरी/स्वीकृति आवश्यक हो।

अनु. 213(1) (ख) के अनुसार, राज्यपाल ऐसा कोई भी अध्यादेश नहीं निकाल सकता, जिसके प्रावधानों से युक्त विधेयक राष्ट्रपति के विचार के लिए आरक्षित करना वह आवश्यक समझे।

अनु. 213(1) के अनुसार, राज्यपाल ऐसा कोई अध्यादेश जारी नहीं कर सकता है जिसके प्रावधान वाले विधेयक विधानमंडल द्वारा पारित होने पर भी राष्ट्रपति की अनुमति के बिना पारित नहीं समझे जाते हों।

IFOS IAS

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

पंचायती राज

भूमिका :

अतीत में भारत में पंचायतें तो थीं, लेकिन व लोकतांत्रिक नहीं थीं इनमें समाज के उच्च वर्ग का ही वर्चस्व था। लेकिन समय के साथ-साथ उनके स्वरूप और कार्यक्षेत्र में परिवर्तन होता गया। ब्रिटिशकाल के प्रारंभिक दौर में पंचायतों को बड़ा धक्का लगा, लेकिन उन्नीसवीं सदी के अंत से भारत को आजादी मिलने के बीच ब्रिटिश काल में पंचायतों के ऊपर कुछ ध्यान दिया गया। लॉर्ड रिपन का 1882 का प्रस्ताव, 1909 का रॉयल आयोग आदि विकेंद्रीकरण के क्षेत्र में इसके महत्वपूर्ण उदाहरण हैं।

पंचायती राज व्यवस्था का इतिहास:

प्रस्ताव: गांव हमेशा सामजिक व आर्थिक जीवन के महत्वपूर्ण इकाई के साथ-साथ अतीत से ही प्रशासन की महत्वपूर्ण संस्था रहा है। प्रस्तुत अध्याय में पंचायतों के इतिहास, उद्गम तथा वैदिक, रामायण, महाभारत, मुगल एवं ब्रिटिश काल में पंचायतों के विकास पर प्रकाश डाला गया है। इसके अतिरिक्त संविधान सभा में पंचायतों के ऊपर हुई चर्चा का जिक्र करते हुए बताया गया है कि कैसे पंचायतें संविधान के नीति-निर्देशक तत्वों का हिस्सा बन सकीं।

परंपरागत पंचायतें:

पंचायत शब्द की व्युत्पति संस्कृत भाषा के 'पंचायतन्' से हुई है, जिसका अर्थ है पांच व्यक्तियों का समूह। महात्मा गांधी ने भी पंचायत का शाब्दिक अर्थ गांव के लोगों द्वारा चुने हुए पांच व्यक्तियों की सभा से लिया है।

मनुस्मृति के अनुसार गांव के अधिकारी को 'ग्रामिक' कहते थे। उसका अर्थ कर आदि की वसूली करना था। दस गांव के ऊपर एक और कर्मचारी होता था। जिसे दशिक के नाम से जाना जाता था। 20 गांव के ऊपर के कर्मचारी को 'विशाधिप' कहते थे। सौ गांवों के ऊपर के कर्मचारी का नाम 'शतपाल' था तथा एक हजार गांवों के ऊपर के कर्मचारी का नाम 'सहस्रपति' था।

चाणक्य ने अपने 'अर्थशास्त्र' में आदर्श गांव की चर्चा की है। इससे पता चलता है कि मध्य युग में स्थानीय प्रशासन व्यवस्था का चलन था। गांवों की जमीन व अर्थ-संपति की देखरेख 'श्रेष्ठियों' द्वारा होती थी। ऐतिहासिक साक्ष्यों से पता चलता है कि सम्राट चंद्रगुप्त मौर्य के काल तक इस व्यवस्था में हस्तक्षेप नहीं किया गया।

ब्रिटिश शासन-काल में पंचायतें:

ब्रिटिश सरकार शुरू से ही भारतीयों को कोई शक्ति व उत्तरदायित्व देने के पक्ष में नहीं थी। अंग्रेज शासक मानते थे कि भारतीय प्रजातांत्रिक संस्थाएं चलाने के आयोग्य हैं। ब्रिटिश शासन काल में ग्राम समुदाय की ग्रामीण अर्थव्यवस्था तथा प्रशासनिक कार्यों पर पकड़ कम होती गई, भूमि व उसके उत्पाद पर नियंत्रण घटता गया। परंपरागत स्थानीय स्वशासन के जो कुछ अवशेष मुगलकाल में बचे थे, वे भी ब्रिटिश काल में समाप्त हो गए। पर यह भी सच है कि ब्रिटिश शासन-काल में ही कुछ समय के उपरांत पंचायतों का नया रूप उभरकर आया जिसे पंचायतों का पुनरुदय कहा जा सकता है और आधुनिक पंचायत व्यवस्था का आरंभ भी। ब्रिटिश शासन-काल में पंचायतों के पुनरुदय का अध्ययन करने के लिए इस अवधि को तीन भागों में बांटा जा सकता है:

1. **1687 से 1882 तक का काल;**
2. **1883 से 1919 तक का काल;**
3. **1919 से स्वतंत्रता-प्राप्ति तक का काल।**

28 सितम्बर, 1687 को क्राउन की अनुमति से ईस्ट इंडिया कंपनी के निदेशक ने मद्रास कौंसिल को मद्रास में म्युनिसिपल कॉरपोरेशन गठित करने की सलाह देते हुए लिखा था कि लोग कंपनी द्वारा लगाए गए कर के रूप में एक पैसा भी देना पसंद नहीं करेंगे, लेकिन स्वेच्छा से 5 शिलिंग भी दे देंगे बशर्ते कि इसे उन्हीं के द्वारा उन्हीं के लिए खर्च किया जाए। बाद में यहां कारपोरेशन बनाने के पीछे अंग्रेजों का लक्ष्य लोगों को जन-सुविधाएं उपलब्ध कराना, उन्हें शासित करना और अपराध तथा न्याय के बारे में एक व्यवस्था कायम करना था। इस प्रकार 1688 में कारपोरेशन अस्तित्व में आई। लेकिन वह स्वायत्त शासन की संस्था नहीं बन सकी, क्योंकि लोगों ने कारपोरेशन द्वारा कर लगाने का विरोध किया।

1726 में कलकत्ता व बंबई में तथा पुन: मद्रास में नगरपालिका के गठन के लिए दूसरा म्युनिसिपल चार्टर जारी किया गया। इसमें प्रावधान किया गया था कि नगरपालिका का एक मेयर तथा 9 सदस्य होंगे जिनमें से 7 अंग्रेज होंगे। इन नगरपालिकाओं के गठन का लक्ष्य मुख्यत: न्यायिक कार्यों का संपादन था। इसके बाद 1793 में संवैधानिक रूप से चार्टर अधिनियम के द्वारा मद्रास, कलकत्ता व बंबई में नगरपालिकाओं का गठन किया गया। इनके मुख्य कार्य थे- कर लगाकर कानून-व्यवस्था बनाए रखना तथा संपत्तियों का रखरखाव करना। 1842 में पहला नगरपालिका अधिनियम केवल बंगाल के लिए पारित किया गया। लेकिन इसका काफी विरोध हुआ। अत: इसे समाप्त कर 1850 में दूसरा नगरपालिका अधिनियम पारित किया गया। जिसमें यह व्यवस्था थी कि इसे ऐच्छिक रूप से किसी भी नगर में लागू किया जा सकता है।

लेकिन ये सभी प्रयास नगरीय प्रशासन स्थापित करने की दिशा में किए गए थे। ग्रामों में पंचायतों की ओर से कोई भी ध्यान नहीं दिया गया। ग्रामों के विकास की ओर सबसे पहले ध्यान 1863 में शाही स्वच्छता आयोग की रिपोर्ट के बाद दिया गया। इस रिपोर्ट में भारतीय गांवों की साफ-सफाई संबंधी दुर्दशा के बारे में बताया गया था और कहा गया था कि गांवों की स्वच्छता की ओर ध्यान

Gyan IAS

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

देना आवश्यक है। इसके बाद विभिन्न राज्यों में ग्रामीण स्वच्छता अधिनियम पारित किए गए।

14 दिसम्बर 1870 को लार्ड मेयो ने सत्ता के विकेंद्रीकरण और स्वायतशासी संस्थाओं के गठन के लिए कौंसिल में प्रस्ताव स्थापित करने का पहला प्रयास किया। इसका उद्देश्य प्रशासनिक क्षमता को बढ़ाना तथा वित्तीय साधन जुटाना था।

इस प्रस्ताव को ध्यान में रखकर केंद्रीय सरकार ने शिक्षा, चिकित्सा सेवाओं, सड़कों के रखरखाव और निर्माण आदि का काम प्रांतीय सरकारों को हस्तांतरित करने तथा इस हेतु उन्हें अनुदान देने का निर्णय किया। इस प्रकार 1871 के अधिनियम के अनुसार बंबई, बंगाल, पंजाब व उत्तर-पश्चिमी प्रांतों में मेयो प्रस्ताव के बाद स्थानीय स्वायत्त प्रशासनों की स्थापना हुई। इस अधिनियमों के प्रावधानों के अनुसार उपकर (सेस) को कानूनी दर्जा दिया गया तथा व्यय को पूरा करने के लिए उन्हें बढ़ाया भी जा सकता था। इसमें जिला समिति के गठन की व्यवस्था थी तथा सरकारी व गैर-सरकारी सभी सदस्यों के मनोनयन आदि का उल्लेख था। जिला समिति का अध्यक्ष सरकारी व्यक्ति को बनाने का प्रावधान था। पर मेयो का प्रस्ताव भी सही मायनों में स्वायत्त संस्थाओं यानी पंचायतों की स्थापना नहीं कर सका क्योंकि पंचायतों में जन-प्रतिनिधित्व न के बराबर था और वे सरकारी व्यक्तियों का जमघट बनकर रह गई।

लार्ड रिपन का प्रस्ताव, जो 18 मई, 1882 में लागू हुआ, स्वायत्त शासन की संस्थाएं स्थापित करने में मील का पत्थर सिद्ध हुआ। इस प्रस्ताव में स्वायत्त शासन की संस्थाओं के विकास तथा लोगों की आशा व अभिलाषा को पूर्ण करने के लिए कुछ ठोस एवं व्यावहारिक प्रावधान थे। इसमें स्वायत्त शासन की संस्थाएं स्थापित करने के लिए जिन प्रावधानों को आधार बनाया गया वे इस प्रकार थे:-

1. गैर-सरकारी सदस्यों का बहुमत ( )
किसी भी हालत में सरकारी सदस्य कुल सदस्यों के एक-तिहाई से अधिक नहीं होंगे);
2. गैर-सरकारी सदस्य लोगों द्वारा चुने जाएंगे;
3. जहाँ तक संभव होगा, जन-प्रतिनिधि ही बोर्डों के अध्यक्ष होंगे;
4. प्रत्येक प्रांत अपनी स्थानीय परिस्थितियों को ध्यान में रखकर प्रस्ताव को अमल में लाएगा।

इस प्रस्ताव में तालुका या तहसील को इकाई बनाया गया था। इसमें गांव के स्तर पर स्वायत्त शासन की संस्थाओं के गठन की बात नहीं कहीं गई थी। इस प्रस्ताव का बंबई के गवर्नर व बंगाल के लेफ्टीनेंट गवर्नर ने विरोध किया जबकि उत्तरी और पश्चिमी प्रांतों के प्रशासकों द्वारा इसका स्वागत किया गया। इसी कारण यह पूर्ण रूप में लागू नहीं हो सका। नतीजा यह हुआ है कि सरकारी अधिकारी ही बोर्डों के अध्यक्ष बनाए गए।

यह ठीक है कि लार्ड रिपनन के प्रस्ताव का पूरी तरह क्रियान्वयन न हो सका, पर उन्हें भारत में स्वायत्त शासन की संस्थाओं का जनक कहा जा सकता है। तमाम अवरोधों के बावजूद उनके प्रस्ताव सें पंचायती संस्थाओं के गठन की दिशा में थोड़ी बहुत प्रगति हुई, पर 19वीं शताब्दी के अंत में वाइसराय लार्ड कर्जन ने इसे प्रभावहीन कर दिया। कर्जन की सोच थी कि भारतीयों को शक्ति व उत्तरदायित्व देना बेकार है, क्योंकि वे शासन करना नहीं जानते। कर्जन के काल में विकेन्द्रीकरण की दिशा में प्रगति का प्रश्न ही नहीं था, उल्टे सत्ता के केन्द्रीकरण को बढ़ावा मिला।

1901 से 1910 के दौरान भारत सचिव विस्काउंट मोडी ने इस बढ़ते हुए केन्द्रीकरण पर चिंता व्यक्त की। उन्होंने कहा कि केन्द्रीकरण से सरकार व लोगों के बीच खाई बढ़ गई है। इसे दूर करने के लिए 1907 में चार्ल्स होबहाउस की अध्यक्षता में शाही विकेन्द्रीकरण आयोग गठन किया गया। आयोग ने आम राय जानने के बाद पाया कि जनता विकेन्द्रीकरण चाहती है। जनता सरकारी अधिकारियों के वर्चस्व से भी खिन्न है।

आयोग का विचार था कि स्वायत्त शासन की संस्थाओं की शुरूआत ग्राम-स्तर से होनी चाहिए, न कि जिला-स्तर से, जैसा कि प्रचलन में था। उसका यह भी विचार था कि पंचायतें ग्रामीण विकास व दिन-प्रतदिन के कार्यकलापों के अलावा न्याय-संबंधी कार्य भी करें, जिससे कि लोगों को कोर्ट-कचहरी के चक्कर से दूर रखा जा सके। फौजदारी व दीवानी मुकदमें सुनने के अलावा गांव की सफाई, तालाब, कुएं व सड़कों का निर्माण, प्राथमिक शिक्षा आदि पंचायतों के काम में शामिल किए गए।

आयोग के समक्ष इस बात को समझते हुए कि वित्तीय साधनों के अभाव में कार्य सौंपने का कोई अर्थ नहीं है, आयोग ने पंचायतों की वित्तीय स्थिति सुधारने और उनके लिए आय के साधन जुटाने हेतु निम्न सुझाव दिए :

1. भूमि-कर का, जिसे जिला बोर्डों द्वारा लगाया जाता है, एक हिस्सा गांव पंचायतों को जाए।
2. जिला बोर्ड व जिलाधीश द्वारा स्थानीय सुधार के लिए विशेष अनुदान दिया जाए।
3. तलाबों व बाजारों आदि से प्राप्त आय पंचायतों को मिले।
4. उन मुकदमों की फीस मामूली रखी जाए जिनकी सुनवाई पंचायतें करें।

इस प्रकार शाही आयोग की सिफारिशें पंचायतों को वास्तव में जन-प्रतिनिधत्व की संस्थाएं बनाने और उसकी आर्थिक स्थिति मजबूत बनाने की दिशा में सराहनीय कदम थीं। उसी दौरान दिसंबर, 1909 में लाहौर में हुए अखिल भारतीय कांग्रेस अधिवेशन में यह प्रस्ताव पारित किया गया कि सरकार ग्राम-स्तर से ऊपर तक जन-निर्वाचित स्थानीय निकाय स्थापित करने के लिए उचित कदम उठाए।

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

लेकिन आयोग द्वारा प्रस्तुत सिफारिशों का नतीजा कुछ नहीं निकला और सभी सिफारिशें कागजों तक सीमित रह गई। हां इतना जरूर हुआ कि 1911 में वाइसराय की कौंसिल में एक सदस्य की बढ़ोत्तरी हुई जिसे शिक्षा व स्थानीय स्वशासन का प्रभारी बनाया गया। पर इसे स्थानीय प्रशासन की दिशा में प्रगति नहीं कहा जा सकता। इसलिए 13 मार्च, 1912 को गोखले ने कहा था कि जिला प्रशासन वही का वहीं है, जहां वह 100 साल पहले था तथा स्वायत्त शासन की संस्थाएं भी वहीं हैं, जहां वे 30 साल पहले, लार्ड रिपन के समय
में थीं।

1915 में भारत सरकार ने एक प्रस्ताव पारित करके पंचायतों से संबधित कानून तथ नियम बनाने का कार्य प्रांतीय सरकारों को दे दिया। प्रस्ताव में सुझावा गया कि कि बंगाल की चौकीदारी पंचायतों, मद्रास के स्थानीय विधि संघों, बंबई की स्वच्छता समितियों तथा उत्तर प्रदेश व पंजाब की ग्राम पंचायतों को समर्थ व सक्षम बनाने के लिए शक्तियां तथा वित्तीय साधन दिए जाएं। इसके अतिरिक्त इस प्रस्ताव में पंचायतों को मजबूत करने के लिए विभिन्न सिफारिशें भी की गई थीं, लेकिन वे भी कागजों पर ही सीमित रह गई।

यह ब्रिटिश राज के विरूद्ध जन-आंदोलनों का दौर था। इसी दौरान लोकमान्य बाल गंगाधार तिलक ने नारा दिया कि ''स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार, मैं इसको लेकर रहूंगा'।'' इसने स्वतंत्रता-संग्राम में चिंगारी का काम किया। देश में पैदा हुई इस राजनैतिक जागृति का परिणाम यह हुआ कि अगस्त, 1917 में ब्रिटिश सरकार ने सरकार के विभिन्न स्तरों में भारतीयों को भागीदारी देने तथा पंचायतों को कारगर व सशक्त बनाने की घोषणा की।

इसी पृष्ठभूमि का ध्यान में रखकर 1919 में ब्रिटिश संसद ने भारत सरकार अधिनियम, 1919 पारित किया। इसे मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधार के नाम से जाना जाता है। इस अधिनियम में पंचायतें प्रांतीय सरकारों को हस्तांतरित करने की बात कही गई थी। पंचायतों के अधिकारों और कार्यों पर जोर देते हुए इसमें कहा गया था कि वे जहां-जहां सफल रूप से कार्य कर रही हैं वहां-वहां उन्हें छोटे-छोटे फौजदारी व दीवनी मामले निपटाने के अधिकार तथा स्थानीय कर लगाने का अधिकार भी दिया जाना चाहिए। इसका परिणाम यह हुआ कि 1925 तक आठ प्रांतों में पंचायत अधिनियम, 1919, बिहार स्वायत्त शासन अधिनियम, 1920, बंबई ग्राम पंचायत अधिनियम, 1920, उत्तर प्रदेश ग्राम पंचायत अधि नियम,1920; पंजाब अधिनियम, 1922 तथा असम स्वायत्त शासन अधिनियम, 1925 पास किए गए। इसके अतिरिक्त विभिन्न रजवाड़ों में भी पंचायत अधिनियम पास किए गए।

1919 के भारत सरकार अधिनियम ने जहां पंचायत का विषय राज्य सरकारों को हस्तांतरित किया, वहां भारत सरकार अधि नियम, 1935 ने पंचायतों को प्रांतीय विधायी सूची में सम्मिलित कर दिया। 1937 में जब सभी प्रांतों में सरकारें बनीं तो सभी ने पंचायतों को जनप्रतिनिधित्व की संस्थाएं बनाया। लेकिन 1939 में द्वितीय विश्वयुद्ध छिड़ जाने से इस प्रक्रिया में पुन: गतिरोध आ गया।

1939 से 1946 तक भारत में हर स्तर पर गर्वनर का ही शासन चला जिसमें नौकरशाही का बोलबाला था। इस काल में ब्रिटिश सरकार ने पंचायतों को पूरी तरह नजरअंदाज कर दिया।

पंचायतों का संविधान का अंग बनना:

लंबे संघर्ष के बाद 15 अगस्त, 1947 को भारत आजाद हुआ, पर नया संविधान बनाने के लिए संविधान सभा का गठन पहले ही दिसम्बर 1946 में किया गया जा चुका था। संविधान सभा में जब उद्देश्य और लक्ष्य संबंधी प्रस्ताव पेश किया गया तो उसमें स्वतंत्र भारत में पंचायतों के स्थान, भूमिका आदि का उल्लेख नहीं था। 19 अगस्त, 1947 को संसदीय मामालों के मंत्री ने एक ऐसी समिति बनाने का प्रस्ताव रखा जो संविधान के मसौदे की समीक्षा कर संशोधन के लिए आवश्यक सुझाव दे सके। इस कार्य के लिए सात सदस्यों की समिति बनाई गई। इसके सदस्य थे- सर्वश्री डॉ. बी.आर. अम्बेडकर, एन. गोपालास्वामी आयंगर, अलादी कृष्णस्वामी अय्यर, के.एम.मुंशी, सैयद मो. साहुला, बी.एल. मित्तल तथा डी.पी. खेतान। समिति द्वारा संशोधित मसौदा संविधान संभा में 4 नवम्बर 1948 को प्रस्तुत किया गया।

संविधान सभा में बहस का एक मुख्य मुद्दा स्वतंत्र भारत में पंचायतों के स्थान का था। इस पर हुई बहस की शुरूआत डॉ. भीमराव अंबेडकर ने की और उन्होंने मैटकाफ के एक प्रसिद्ध कथन को उद्धत करते हुए कहा कि ''राजवंश के बाद राजवंश आते चले गए। एक के बाद एक क्रांतियां होती गई। हिन्दू, पठान, मुगल, सिख, अंग्रेज शासन करके चले गए, लेकिन भारत के ग्राम समुदाय में कोई बदलाव नहीं आया।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद की पंचायती राज व्यवस्था:

भारत गांव का देश है गांवों के उन्नत एवं प्रगति पर ही भारत की उन्नति एवं प्रगति निर्भर करती है। गांधी जी ने ठीक ही कहा था कि, **'यदि गाँव नष्ट होते हैं तो भारत नष्ट हो जायेगा।'** वस्तुत: हमारा जनतंत्र इस बुनियादी धारा पर आधारित है कि शासन के प्रत्ये स्तर पर जनता अधिक से अधिक कार्यों में हाथ बंटाये और राज करने की जिम्मेदारी स्वयं उठाये। भारत में जन तंत्र का भविष्य इस बात पर निर्भर करता है कि ग्रामीण जनो का शासन से कितनी अधिक प्रत्यक्ष और सजीव संपर्क स्थापित हो जाता है। पण्डित जवाहर लाल नेहरू ने ठीक ही कहा था कि, **'यदि हमारे स्वाधीनता को जनता की आवाज की प्रतिध्वनि बनना है तो पंचायतों को जितनी अधिक शक्ति मिले जनता के लिए उतना ही भला है।'**

नेहरू को लोकतांत्रिक तरीकों में अटूट विश्वास था। सन् 1952 में उन्हीं के पहल पर सामुदायिक विकास कार्यक्रम आरंभ

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

हुआ। इस कार्यक्रम का आरंभ इसलिए किया गया था ताकि आर्थिक नियोजन एवं सामाजिक पुनरूद्धार की राष्ट्रीय योजना के प्रति देश की ग्रामीण जनता में सक्रिय रूचि पैदा की जा सके। परंतु सामुदायिक विकास के सरकार द्वारा प्रेरित एवं प्रायोजित कार्यक्रम में ग्रामीण जनता को नियोजन की परिधि में लाकर खड़ा कर दिया। परंतु ग्रामीण स्तर पर योजना के क्रियान्वयन में उसे इच्छुक पक्ष नहीं बनाया जा सकता। यह कार्यक्रम सरकारी तंत्र और ग्रामीण जनता के बीच की दूरी कम करने की मुख्य उद्देश्य में विफल रहा। क्योंकि –

(1) इससे सरकारी महकमे की तरह चलाया गया।

(2) गाँव के विकास के बजाय सामुदायिक विकास की सरकारी मशीनरी के विस्तार पर ही ज्यादा जोड़ दिया गया।

(3) सामुदायिक विकास की सबसे बड़ी कमजोरी उसका सरकारी स्वरूप और नेताओं के लफ्फाजी थी। कार्यक्रम जनता को चलाना था लेकिन वे ऊपर से बनाये जाते थे।

देश आजाद हुआ, संविधान बन गया। पंचायतें उसका अंग बनीं। विभिन्न राज्यों में राजनीतिक पार्टियां सत्ता में आई। उन्होंने पंचायतें स्थापित करने व उन्हें सशक्त बनाने की बात की। पंचायतें गठित भी हुई। लेकिन वास्तव में जमीनी तौर पर कुछ नहीं हुआ। कारण यह है कि वे सही अर्थों में स्वायत्त शासन की संस्थाएं नहीं बन सकीं।

अगर विभिन्न राज्यों में पंचायतें बनीं तो उन पर राज्य का नियंत्रण रहा। कोई कर लगाना हो या अन्यक कोई कार्य करना हो, हर बात के लिए सरकार से अनुमति लेनी होती थी और इसमें राज्य स्तर से कोई सहयोग पंचायतों को नहीं मिला। इसलिए जो कार्य पंचायतों को सौंपे गए उन्हें वे पूरा नहीं कर सकीं और कुल मिलाकर सत्ता के केन्द्रीकरण की बात कागजों तक सीमित होकर रह गई।

बलवंत राय मेहता समिति:

सामुदायिक विकास व राष्ट्रीय विस्तार सेवा की विफलता के बाद बलवंतराय मेहता की अध्यक्षता में एक समिति गठित की गई। जिसने अपनी रिपोर्ट 24 नवम्बर, 1957 को सरकार के सम्मुख प्रस्तुत की। इस समिति को गठित करने का प्रयोजन यह पता लगाना था कि लोगों में पंचायतों के प्रति उत्साह क्यों कम है तथा इस समस्या से पार पाने के लिए क्या तरीके अपनाए जाने चाहिए।

इस समिति का प्रमुख निष्कर्ष यह था कि आम लोगों को ग्रामीण विकास योजनाओं में भागीदारी बनाने के लिए योजना व प्रशासनिक सत्ता दोनों का विकेन्द्रीकरण होना आवश्यक है। अर्थात् पहली बार विकेन्द्रीकरण के साथ लोकतांत्रिक शब्द जोड़ा गया। इसका अर्थ यह हुआ कि जिस लोकतांत्रिक प्रणाली को हमारे देश ने अपनाया है उसमें प्रत्येक ग्रामीण सक्रिय भाग ले। आम नागरिक शासन प्रक्रिया में अपना योगदान अनुभव करे। रिपोर्ट के अनुसार सामुदायिक विकास व राष्ट्रीय विस्तार सेवा का विकास इसलिए नहीं हो पाया कि इनमें जन-सहभागिता के तत्व का अभाव था। जनता स्थानीय कार्यकलापों में तभी रुचि लेगी जब उनके लिए प्रतिनिधि सभाएं गठित हों।

विकेन्द्रीकरण के अर्थ को स्पष्ट करते हुए रिपोर्ट में कहा गया है कि सरकार को कुछ कार्यों व अधिकारों को निचले स्तरों पर हस्तांतरित करना चाहिए तथा निचले स्तरों पर पर्याप्त वित्तीय साधन भी उपलब्ध कराने चाहिए।

अधिकार एवं शक्तियां:

रिपोर्ट में यह भी कहा गया था कि इन निकायों को अपना कार्य करने के लिए समुचित वित्तीय साधन मिलना आवश्यक है। इसके लिए एक कानून बनाकर आय के कुछ साधन इन्हें सौंप देने चाहिए। इन संस्थाओं द्वारा जिन कार्यों के संपादन की समिति ने सिफारिशें की थीं, वे हैं: कृषि, पशुपालन, सहकारिता, लघु सिंचाई कार्य, ग्रामोद्योग, प्राथमिक शिक्षा, स्थानीय संचार, सफाई, स्वास्थ्य व चिकित्सा तथा स्थानीय सुविधाए आदि।

संरचना:

गठन के बारे में समिति के सुझाव थे कि ग्राम पंचायत स्तर पर चुने गए सदस्यों में दो महिलाएं, एक सदस्य अनुसूचि जाति से व एक अनुसचित जनजाति से होने चाहिए। ग्राम पंचायत का चुनाव ग्राम सभा द्वारा किया जाए। मध्य स्तर पर सदस्यों का चुनाव ग्राम पंचायत का चुनाव ग्राम सभा द्वारा किया जाए। मध्य स्तर पर सदस्यों का चुनाव ग्राम पंचायतें प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से करें। चुने हुए सदस्यों में दो महिलाएं हो जो बाल और महिला विकास के कार्य में दिलचस्पी रखती हों। इसमें अनुसूचित जाति व अनुसूचित जनजाति को आरक्षण देने की सिफारिश भी की गई थी। पंचायत समितियों के प्रधानों के अलावा सांसद व राज्य विधान सभा के सदस्य भी जिला परिषद के सदस्य होंगे। जिला परिषद् समितियों व सरकार के बीच कड़ी का कम करें।

अशोक मेहता समिति की रिपोर्ट:

अशोक मेहता की अध्यक्षता में पंचायती राज समिति का गठन 12 दिसम्बर 1977 को निम्न उद्देश्यों को लेकर हुआ था:

1. राज्यों तथा केन्द्र शासित क्षेत्रों में लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण के संबंध में कमियों व
त्रुटियों का पता लगाने के लिए वर्तमान स्थिति का और जिला स्तर से ग्राम स्तर तक पंचायती राज संस्थाओं की कार्यप्रणाली का पुनरीक्षण कराना। मुख्य रूप से संसाधन जुटाने व कमजोर वर्गों के हितों को ध्यान में रखकर ग्रामीण विकास की योजनाएं बनाने के संबंध में सुझाव देना।

2. चुनाव प्रणाली सहित, पंचायती राज संस्थाओं की गठित पद्धति की जांच करना तथा पंचायती राज व्यवस्था के कार्य निष्पादन पर उनके प्रभावों का मूल्यांकन करना।

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

3. भविष्य में समेकित ग्रामीण विकास में पंचायती राज संस्थाओं की भूमिका आदि के संबंध में सुझाव देना।

4. पंचायती राज संस्थाओं को अपनी भावी भूमिका निभाने में समर्थ बनाने के उद्देश्य से उनका पुनर्गठन एवं कमियों व त्रुटियों को दूर करने के उपाय सुझाना।

5. पंचायती राज संस्थाओं, सरकारी प्रशासन तंत्र तथा ग्रामीण विकास में संलग्न सहकारी तथा स्वयंसेवी संस्थाओं के बीच सहयोगपूर्ण संबंधों के बारे में सिफारिशें देना।

6. पंचायती राज संस्थाओं को सौंपी जानेवाली जिम्मेदारियों को निभाने के लिए पर्याप्त धन सुनिश्चित करने हेतु आवश्यक वित्त संबंधी मामलों सहित, अन्य सिफारिशें देना।

समिति ने अगस्त, 1978 में अपनी रिपोर्ट सरकार को दे दी थी। समिति ने सिफारिशें देने से पूर्व तत्कालीन पंचायत व्यवस्था का मूल्यांकन किया। समिति ने पंचायतों के विकास को तीन चरणों में विभाजित किया:

क. उभार (1959-64)

ख. गतिरोध (1965-69)

ग. ह्रास (1969-77)।

समिति की सिफारिशें:

1. पंचायतें दो स्तरों पर गठित होनी चाहिए: जिला स्तर जिला परिषद् तथा ब्लॉक स्तर पर मंडल पंचायत (इन समिति ने ग्राम स्तर पर पंचायत गठित करने की सिफारिश नहीं की थी)। औसतन 15000 से 20000 की जनसंख्या पर एक मंडल पंचायत होनी चाहिए। ग्रामों को ग्राम समितियों के माध्यम से मंडल पंचायत में शामिल किया जाना चाहिए। चुनावों में अनुसूचित जाति व जनजाति को उनकी जनसंख्या के आधार पर प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए। पंचायतों का कार्यकाल 4 वर्ष का होना चाहिए। मंडल व जिला स्तर दो ऐसी महिलाओं को भी, जिन्होंने जिला परिषद् के चुनावों में अधिकतम मत प्राप्त किए हों, परिषद् का सदस्य बनाया जाएगा। जिला परिषद् विभिन्न समितियों के द्वारा कार्य करेगी। ग्राम सभा का गठन होगा जिसकी वर्ष में दो सभाएं होंगी। पंचायती राज चुनावों में राजनीतिक दलों की भागीदारी होगी।

2. पंचायतों की कार्य-सूची विकास की गतिशीलता के आधार पर निर्धारित होनी चाहिए। विकेन्द्रीकरण राजनैतिक खैरात या प्रशासनिक रियायत नहीं होनी चाहिए। प्रभावी कार्यान्वयन के लिए राज्य सरकारों को सबंधित स्थानीय स्तरों पर, पर्याप्त अधिकारों और कार्यों का विकेन्द्रीकरण करना चाहिए तथा उसी अनुपात में वित्तीय संसाधन उपलब्ध कराए जाने चाहिए। जिला परिषद् राज्य के सभी विकेन्द्रीकरण कार्यक्रम संभाले तथा जिला स्तर पर योजना बनाए। पंचायतों को विकास कार्य सौंपना तब तक अपूर्ण रहेगा जब तक कि पंचायतों को स्वयं निर्णय लेने और अपनी निजी आवश्यकताओं के अनुसार कार्यक्रम बनाने का अधिकार नहीं दिया जाता।

3. पंचायतों को केवल जनता के विचार जानने की सभा न बनाकर, उन्हें उपलब्ध संसाधनों से स्वयं अपने लिए योजना तैयार करने में सक्षम बनाया जाना चाहिए। जिला परिषद् जिले की योजना बनाए। जिला स्तर पर जिला योजना बनाने के लिए समिति का गठन किया जाना चाहिए।

4. पंचायती राज संस्थाओं के माध्यम से समाज के कमजोर वर्गों को लाभान्वित करने के लिए कार्यक्रम तैयार करने होंगे।

5. राज्य सरकार के कार्यों का विकेन्द्रीकरण करने के साथ-साथ सभी जिला स्तर के अधिकारियों को जिला परिषदों तथा उसके नीचे के स्तरों के अधीन रखना होगा। श्रेणी-1 और श्रेणी-2 का राजपत्रित कर्मचारी वर्ग राज्य सरकार के कैडर में ही रहे, जबकि श्रेणी-3 तथा श्रेणी-4 का कर्मचारी वर्ग पूरी तरह से पंचायती राज सरकारों को हस्तांतरित कर दिया जाए। जिला परिषद के कर्मचारी वर्ग की नियुक्ति स्वतंत्र राज्य तथा जिला स्तर के बोर्डों द्वारा की जानी चाहिए। पंचायतों के लिए अलग से एक मंत्री होना चाहिए।

6. राज्य सरकार द्वारा बजट हस्तांतरित करने के अलावा, पंचायतों को स्वयं भी अपने वित्तीय साधन जुटाने होंगे, तभी वे सही ढंग से अपने दायित्वों को निभा सकती हैं। वसूल किए गए ऐच्छिक करों के लिए प्रोत्साहन देना चाहिए। भू-राजस्व पर उपकर, जन्मदर पर उपकर, स्टांप, शुल्क पर अधिमूल्य, मनोरंजन कर, प्रदर्शन कर पंचायतों को सौंप देना चाहिए। इनमें अधिक प्रतिशत मंडल पंचायतों का होना चाहिए। बाजार, हाट, मंडी, मेले आदि राजस्व के महत्वपूर्ण साधन हैं। ये सब पंचायतों को सौंपे जाने चाहिए। पंचायती राज वित्त निगम स्थापित किए जाने चाहिए।

7. मानव संसाधन विकास उद्देश्य से सरकारी कर्मचारियों और निर्वाचित प्रतिनिधियों के अलग-अलग व सयुंक्त कार्यक्रम चलाने चाहिए। प्रशिक्षण कार्यक्रमों का मूल्यांकन होना चाहिए। महिला मंडलों के गठन को प्रोत्साहन देना चाहिए। पंचायती राज संस्थाओं को मजबूत बनाने तथा जन-समर्थन जुटाने के लिए स्वैच्छिक संस्थाओं को प्रोत्साहन देना चाहिए।

8. सहकारी समितियों व पंचायतों राज संस्थाओं में समन्वय का संबंध होना चाहिए। मंडल पंचायतों का आधारभूत ढांचा मजबूत करने के लिए ग्रामीण बैंकों की स्थापना की जानी चाहिए। जिला परिषद व मंडल पंचायत का नगरपालिकाओं से संबंध स्थापित होना चाहिए।

जी.के.वी.राव समिति की रिपोर्ट:

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

योजना आयोग द्वारा इस समिति का गठन 25 मार्च, 1985 को ग्रामीण क्षेत्र में विकास व गरीबी उन्मूलन से संबंधित प्रशासनिक व्यवस्था की समीक्षा करने के लिए किया गया था। समिति ने अपनी रिपोर्ट दिसम्बर, 1985 में प्रस्तुत की। इस समिति ने पंचायतों की आर्थिक स्थिति, उनके चुनाव और कार्यकलापों पर प्रकाश डालते हुए कहा कि राज्य सरकारें लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया के प्रति उदासीन रही हैं। अधिकांश राज्या में पंचायतें शक्ति व अधिकार तथा संसाधनों के अभाव में निष्प्रभावी होती जा रही हैं। समिति ने पंचायतों को मजबूत करने के लिए निम्न सुझाव दिए- जा रही हैं। समिति ने पंचायतों को मजबूत करने के लिए निम्न सुझाव दिए-

1. योजनाएं तैयार करने, निर्णय लेने व उसे लागू करने का कार्य पंचायतों को सौंपा जाए
क्योंकि वे जनता के अधिक निकट हैं।

2. समिति के मत था कि जिला स्तर पर विशेष रूप से विकेन्द्रीकरण किया जाना चाहिए। जिला परिषद के एक सदस्य को 30,000 से 40,000 की जनसंख्या का प्रतिनिधित्व करना चाहिए। बैंकों, शहरी स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं के प्रतिनिधि, विधान सभाओं के सदस्य व सांसद भी इसमें सहयोजित होने चाहिए। इसका कार्यकाल आठ वर्ष का होना चाहिए। कार्यकाल समाप्त होते ही तुरंत चुनाव कराने चाहिए विशेष परिस्थिति में यदि
उनका कार्यकाल बढ़ाया भी जाए तो वह छह महीने से अधिक नहीं होना चाहिए।

3. जिल स्तर के सभी कार्यकाल स्पष्ट रूप से जिला परिषद के अधीन होने चाहिए। कृषि, पशुपालन, सहकारिता, लघु, सिंचाई, प्राथमिक व प्रौढ़ शिक्षा, लोक स्वास्थ्य, ग्रामीण
जल आपूर्ति, जिले की सड़कें, लघु व ग्रामोद्योग, अनुसूचित जाति व अनूसूचित जनजाति का कल्याण, समाज व महिला कल्याण और सामाजिक वनपालन जिला परिषदों को दे देने चाहिए।

4. कार्य संपादन के लिए जिला परिषदों की विभिन्न समितियां गठित की जानी चाहिए।

5. राज्य सरकारों द्वारा दी जानी जानेवाली ध नराशि को निर्धारित करने का काम वित्त आयोग को दिया जानाा चाहिए, जिसकी नियुक्ति हर पांच साल के बाद होनी चाहिए। जिला स्तर पर वित्त पर्याप्त मात्र में उपलब्ध होता रहे, इसके लिए मुख्यमंत्री की अध्यक्षता में राज्य विकास परिषद् का गठन होना चाहिए। राज्य सरकार में सभी मंत्री व जिला परिषदों के अध्यक्ष इस समिति के सदस्य होने चाहिए।

6. जिला स्तर से नीचे पंचायत समिति या मंडल पंचायतें भी गठित की जानी चाहिए और
इनका गठन व संरचना जिला परिषद् जैसी ही होनी चाहिए। प्रत्येक गांव में ग्राम सभा हो, यह बात भी समिति ने कही।

7. पंचायत समिति या ग्राम व मंडल पंचायत स्तर पर बच्चों, महिलाओं व प्रौढ़ों के कल्याण के लिए उपसमिति का गठन होना चाहिए जिसके सदस्य मुख्यतया महिलाएं होनी चाहिए।

8. जो विभिन्न समाजसेवी संस्थाएं, ग्रामों में कार्य कर रही हैं, पंचायतों को विभिन्न समितियों के माध्यम से उनकी सेवाएं लेनी चाहिए।

राव समिति ने पंचायतों को लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की संस्थाओं, जिनकी सिफारिश बलवंत राय मेहता समिति ने की थी, को कारगर बनाने के लिए ठोस सुझाव सरकार को दिए थे।

एल.एम.सिंघवी समिति की रिपोर्ट:

राव समिति की रिपोर्ट के एक वर्ष बाद एल.एम.सिंघवी की अध्यक्षता में पंचायती राज संबंधी प्रपत्र तैयार करने के लिए समिति गठित की गई जिसने अपनी रिपोर्ट 27 नवम्बर 1986 को प्रस्तुत की। इस समिति ने पंचायतों का अवलोकन व मूल्यांकन करने के बाद पंचायती राज व्यवस्था को पुनर्जीवित करने के लिए विभिन्न सिफारिशें कीं। इनमें प्रमुख सिफारिश पंचायती राज प्रणाली के कुछ पहलुओं को संवैधानिक दर्जा दिया जाना था ताकि इन्हें राजनीतिज्ञों व नौकरशाही के हस्तक्षेप से दूर रखा जा सके। न्याय पंचायतों के गठन की सिफारिश भी की गई। समिति ने पहली बार पंचायतों से संबंधित संविधान संशोधन विधेयक का मसौदा तैयार किया। इस समिति का दृष्टिकोण था कि पंचायतों को एक ऐसा समग्र संस्थागत ढांचे के रूप में संगठित किया जाना चाहिए जिसका आधार नीचे से ऊपर की ओर उन्मुख लोकतांत्रिक विकेन्दीकरण हो। इन स्वशासन की संस्थाओं के माध्यम से विकेन्द्रीकृत शासन, योजना तथा विकास की प्रक्रिया में जनता की सहभागिता इनका उद्देश्य था।

पी.के. थुंगन समिति:

समितियों के इस क्रम में सिंघवी समिति की सिफारिशों को ध्यान में रखकर 1988 में पी.के. थुंगन की अध्यक्षता में संसदीय सलाहकार समिति की एक उपसमिति ने पंचायती राज को सशक्त बनाने के लिए पंचायतों को संवैधानिक दर्जा देने की सिफारिश की। इसके उपरांत ही मई, 1989 में संविधान (64वां संसोधन)विधेयक संसद में पेश किया गया।

संविधान (73वां संशोधन) अधिनियम की विशेषाताएं:

संविधान संशोधन के प्रावधानों या विशेषताएं को दो श्रेणियों आर्थात अनिवार्य प्रावधन व ऐच्छिक प्रावधानों में बांटा जा सकता है। अनिवार्य प्रावधान वे हैं, जो राज्य विधानमंडल को राज्यों के पंचायती राज अधिनियम में शामिल करने होंगे। ऐच्छिक प्रावध ान वे हैं, जो राज्य विधानमंडल की इच्छा पर है कि वे उन्हें अमल

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

में लाए या ना लाए। संविधान (73वां संशोधन) अधिनियम के प्रति अनुबंध-2 में दी गई है। आइए, अनिवार्य व ऐच्छिक प्रावधान इस प्रकार हैं:-

क. अनिवार्य प्रावधान:

1. **ग्राम सभा का गठन :** ग्राम सभा स्तर पर पंचायत क्षेत्र के भीतर समाविष्ट किसी ग्राम से संबंधित नामावली में दर्ज व्यक्तियों से मिलकर बनी संस्था है। प्रत्येक ग्राम पंचायत पर ग्राम सभा का गठन आवश्यक है।

2. **पंचायतों का गठन :** ग्राम, मध्य व जिला स्तर पर पंचायतों का गठन होगा। इस प्रकार देश में तीन स्तरीय पंचायती राज व्यवस्था होगी। लेकिन जिन राज्यों व केन्द्र शासित प्रदेशों की जनसंख्या 20 लाख से कम है वहां पर मध्य स्तर का गठन करना आवश्यक नहीं।

पंचायतों की संरचना:

पंचायत के तीनों स्तरों पर सदस्यों का चुनाव प्रत्यक्ष रूप से होगा। लेकिन अध्यक्ष पदों के लिए निचले स्तर अर्थात ग्राम पंचायत को छोड़कर मध्य व जिला स्तर पर चुनाव प्रत्यक्ष रूप से चुने सदस्यों द्वारा किया जाएगा। ग्राम पंचायत स्तर पर अध्यक्ष का चुनाव प्रत्यक्ष रूप से हो या अप्रत्यक्ष रूप से हो, यह राज्य विधान मंडल पर छोड़ दिया है।

आरक्षण:

पंचायतों के तीन स्तरों पर अनुसूचि जाति एवं अनुसूचित जनजाति के सदस्यों का आरक्षण उनकी जनसंख्या के अनुपात में होगा तथा इनमें एक-तिहाई आरक्षण इन वर्गों की महिलओं को भी होगा। सभी स्तरों पर अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति के लिए उनकी जनसंख्या के अनुपात में अध्यक्षों का भी आरक्षण होगा, जिनमें एक-तिहाई महिलाएं होंगी।

पंचायतों के तीन स्तरों पर कुल सदस्यों व अध्यक्षों में से एक-तिहाई पद महिलाओं के लिए आरक्षित होंगे। ये भिन्न-भिन्न निर्वाचन क्षेत्रों में चक्रानुक्रम यानी बारी-बारी से आबंटित होंगे।

अवधि:

पंचायतों का कार्यकाल उनकी पहली बैठक से पांच वर्ष का होगा। पंचायतों को भंग कर दिए जाने की स्थिति में चुनाव 6 महीने के अंदर होने जरूरी हैं।

राज्य वित्त आयोग का गठन :

हर पांच वर्ष में राज्यपाल राज्य वित्त आयोग का गठन करेगा जो पंचायतों को आर्थिक स्थिति सुधारने से संबंधित अनेक सिफारिशें देगा।

राज्य चुनाव आयोग का गठन :

पंचायतों के चुनाव कराने और निर्वाचन नामावली तैयार करने के लिए राज्य निर्वाचन आयोग का गठन किया जाएगा।

ऐच्छिक प्रावधान:

ऐच्छिक प्रावधान वे हैं, जो राज्य विधानमंडल की इच्छा पर छोड़ दिया गया है। दूसरे शब्दों में उनका होगा अनिवार्य नहीं है। संविधान संशोधन अधिनियम में उसके उल्लेख मात्र कर दिया है।

1. **विभिन्न स्तरों के नाम:**

पंचायतों के तीन स्तरों के नाम क्या-क्या होंगे यह राज्य विधानमंडल को तय करना है। यही कारण है कि पंचायतों के नाम सभी राज्यों में एक समान नहीं है। निम्न स्तर पर कहीं 'विलेज' पंचायत है तो कहीं 'ग्राम पंचायत' है। मध्य स्तर पर कहीं पंचायत समिति है, तो कहीं क्षेत्र पंचायत है, कहीं जनपद पंचायत है, कहीं मंडल पंचायत है, तो कहीं तालुका पंचायत है। जिला स्तर पर कहीं जिला पंचायत हैं, तो कहीं जिला परिषद हैं।

2. **पंचायतों के अध्यक्षों के नाम :**

इनमें भी सभी राज्यों में समानता नहीं है। कहीं पर ग्राम स्तर पर अध्यक्ष का नाम, 'प्रधान' है तो कहीं 'सरपंच' है। मध्य स्तर के अध्यक्ष को कहीं 'प्रमुख' कहते हैं तो कही 'प्रधान' से संबोधित करते हैं।

3. **पंचायतों का गठन :**

(क) ग्राम पंचायत स्तर पर अध्यक्ष का चुनाव प्रत्यक्ष हो या परोक्ष यह भी विधानमंडल पर छोड़ा हुआ है।

(ख) ग्राम पंचायत के अध्यक्षों का प्रतिनिधित्व मध्य स्तर पर व मध्य स्तर के अध्यक्षों का प्रतिनिधित्व उच्च पर हो या न हो यह भी राज्य विधानमंडल पर छोड़ा हुआ है।

(ग) सांसद या विधान सभा के सदस्य मध्य या उच्च स्तर के सदस्य हों, यह भी राज्य के विध ानमंडल पर छोड़ा हुआ है।

4. **शक्तियां व अधिकार:**

राज्य व विधानमंडल विधि द्वारा पंचायतों को वे सभी शक्तियां और अधिकार प्रदान करेगा, जो उन्हें स्वायत्त शासन की संस्थाओं के रूप में कार्य करने में सक्षम बनाएं। निर्दिष्ट शर्तों के अधीन पंचायत आर्थिक विकास व सामाजिक न्याय के लिए योजनाएं तैयार करेगी तथा उन्हें क्रियान्वित करेगी जिसमें विभिन्न योजनाएं भी शामिल हैं। संविधान संशोधन में 11वीं अनुसूची संलग्न है, जिसमें 29 विषय सूचीबद्ध हैं उन्हें भी योजना बनाते समय शामिल किया जाना है।

तीन स्तरों के अतिरिक्त ग्राम सभा के अधिकार व शक्तियां कितनी हो वह भी राज्य विधानमंडल पर छोड़ दिया है।

ETGT IAS

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

5. वित्त :

पंचायतों को कर, पथ-कर व शुल्क लगाने, करों का बंटवारा करने तथा अनुदान लेनेका प्रावधान भी विध ानमंडल पर छोड़ा हुआ है।

6. लेखा:

पंचायतों के हिसाब-किताब की जांच आदि का प्रावधान भी राज्य के विधानमंडल द्वारा किए जाने का प्रावधान है।

उपर्युक्त से स्पष्ट है कि पंचायतों को अधि कार व शक्तियां दने का दायित्व संपूर्ण रूप से राज्य विधानमंडल पर छोड़ा गयाहै। इसलिए, राज्य विधानमंडल ने राज्य के पंचायती राज्य अधिनियमों में अनिवार्य प्रावधान शामिल करके बाकी पहले से चले आ रहे प्रावधान ही अधिनियमों में रख दिए हैं। यहां महत्वपूर्ण बात यह है कि पंचायतों को वांछित अधिकार व शक्तियां तथा इनको पूरा करने के लिए पर्याप्त वित्त का प्रावधान होना जरूरी है। तभी जाकर ये संस्थाएं स्वायत्त शासन की संस्थाएं बनती है जैसा कि संविधान संशोधन की धारा 243-छ में इन्हें ऐसा बनाने के लिए कहा गया है। संविधान संशोधन में वैसे 29 विषय 11वीं अनुसूची के माध्यम से पंचायतों को सौंपो गए हैं।

यह अधिनियम निम्न भागों में लागू नहीं है:

1. विशिष्ट अनुसूचित क्षेत्र
2. नागालैण्ड, मेघालय व मिजोरम राज्य
3. मणिपुर राज्य के ऐसे पर्वतीय क्षेत्रों में जहां पर पर्वतीय परिषद विद्यमान है।
4. पश्चिम बंगाल के दार्जिलिंग जिले में जहां पर दार्जिलिंग गोरखा पर्वतीय परिषद कार्यरत है, जिला स्तर की पंचायत व्यवस्था कारगर नहीं होगी।
5. जहां गोरखा पर्वतीय परिषद प्रक्रियाएं एवं अधि कार प्रभावित होते हों।

7. वर्तमान कानून एवं पंचायतों का बना रहना:

इस अधिनियम को ध्यान में रखकर एक वर्ष के अंदर सभी राज्यों को अपने पंचायत अधिनियमों में संशोधन करने होंगे। लेकिन ऐसा करने से पहले सभी पंचायतें अपने कार्यकाल की समाप्ति तक बनी रहेंगी, बशर्ते कि उन्हें उस राज्य की विधान सभा द्वारा ऐसे राज्य की दशा में जिसमें विधान परिषद है, उस राज्य के विधानमंडल के प्रत्येक सदन द्वारा उस आशय का संकल्प पारित करने से पहले ही विघटित नहीं कर दिया जाता है।

पंचायत उपबंध (अनुसूचित क्षेत्रों में विस्तार) अधिनियम, 1996 की मुख्य विशेषताएं:

भारत अनुसूचित क्षेत्र के आठ राज्यों अर्थात आन्ध्र प्रदेश, बिहार, गुजरात, हिमाचल प्रदेश, महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश, उड़ीसा व राजस्थान के प्रमुख नेता संविधान के भाग नौ के प्रावधानों का अपने क्षेत्रों में भी विस्तार करने की मांग कर रहे थे ताकि वहां भी पंचायती राज संस्थाएं स्थापित की जा सकें। इस अधिनियम का ध्यान में रखकर राज्य सरकारों को एक वर्ष के दौरान अर्थात् 23 दिसम्बर 1997 से अपना कानून बनाना था। वैसे इस अधिनियम का मुख्य उद्देश्य आदिवासियों को संरक्षित करने के लिए नियंत्रण प्राप्त करने योग्य बनाना है, लेकिन क्रमवार इसकी मुख्य विशेषताएं निम्न हैं-

1. विधान सभा पंचायतों पर जो भी कानून बनाए वह पारंपरिक कानून, सामाजिक और
धर्मिक रिवाजों और समुदाय के संसाधनों के पारंपरिक प्रबंधन के तरीकों के अनुरूप हो।

2. एक गावं समान्यतया निवासी या निवासियों के समूह या खेड़े या खेड़ो के उस समूह को माना जाएगा जिसमें एक समुदाय के लोग रह रहे हैं और अपने कामकाज को परंपराओं और रिवाजों के अनुसार चला रहे हैं।

3. प्रत्येक गांव में एक ग्राम सभा होगी जिसमें वे सभी व्यक्ति शामिल होंगे जिनके नाम ग्राम स्तर पर पंचायत के लिए बनाई गई मतदाता सूची में शामिल होंगे।

4. प्रत्येक ग्राम सभा अपने लोगों की परंपराओं, उनकी सांस्कृतिक पहचान, सामुदायिक संसाधनों और झगड़े सुलझाने के परंपरागत तरीकों की रक्षा करने में सक्षम होगी।

5. सामाजिक और आर्थिक विकास के कार्यक्रमों और परियोजनाओं को ग्राम स्तर पर पंचायतों द्वारा लागू करने से पहले सभी कार्यक्रमों और परियोजनाओं की स्वीकृति
ग्रामसभा देगी तथा गरीबी उन्मूलन और अन्य कार्यक्रमों के तहत लाभार्थियों को भी चिन्हित करेगी और चुनेगी। पंचायतों को इन कार्यक्रमों व योजनाओं के संबंध में वित्त का उपयोग करने के बारे में ग्राम सभा से प्रमाणपत्र लेना होगा।

6. प्रत्येक पंचायत से संबधित समुदायों को उनकी जनसंख्या के अनुपात में आरक्षण मिलने का प्रावधान है। इसके साथ यह भी शर्त है कि अनुसूचित जनजातियों का आरक्षण कुल स्थानों के 50 प्रतिशत से कम न हो तथा पंचायत के सभी स्तरों पर अध्यक्ष पद अनुसूचित जनजातियों के लिए आरक्षित रहेंगे।

7. राज्य सरकार उन अनुसूचित जनजातियों के प्रतिनिधियों को भी मनोनीत कर सकती है, जिनका पंचायत के मध्य स्तर या जिला स्तर पर कोई प्रतिनिधित्व न हो लेकिन उनकी संख्या चुने जाने वाले कुल प्रतिनिधियों के 10 प्रतिशत से अधिक नहीं होनी चाहिए।

8. अनुसूचित क्षेत्रों में विकास परियोजनाओं के

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

लिए भूमि का अधिग्रहण करने से पहले और अनुसूचित क्षेत्रों में ऐसी परियोजनाओं के कारण प्रभावित हुए लोगों का पुनर्वास करने से पहले ग्राम सभा या पंचायत के उचित स्तर से सलाह ली जाए। अनुसूचित क्षेत्रों में ऐसी परियोजनाओं की वास्तविक योजना के निर्माण और क्रियान्वयन में सामंजस्य राज्य स्तर पर भी किया जाए।

9. अनुसूचित क्षेत्रों में गौण खनिजों के लिए लाइसेंस या खनन पट्टी देने के लिए ग्राम सभा या पंचायत के उचित स्तर की सिफारिश अनिवार्य है।

10. अनुसूचित क्षेत्रों में गौण खनिजों के दोहन में रियायत देने के लिए ग्राम सभा का पंचायत के उचित स्तरा की पूर्व संस्तुति अनिवार्य है।

11. राज्य विधान सभा की अनुसूचित क्षेत्रों में पंचायतों को स्वशासन के योग्य बनाने के लिए उचित शक्तियां और अधिकार देने के साथ-साथ ग्राम सभा और पंचायतों के विभिन्न स्तरों पर निम्न अधिकार भी प्रदान करेगा :

(क) किसी भी मादक पदार्थ के उपभोग या बिक्री को नियमित, समित या प्रतिबंधित करना।

(ख) गौण वन उत्पादों का स्वामित्व।

(ग) अनुसूचित क्षेत्रों में भूमि का हस्तांतरण रोकने और किसी अनुसूचित जनजाति की अवैध रूप से हस्तांतरित भूमि को वापस लेने के लिए उचित कार्रवाई का अधिकार।

(घ) गांवों के बाजारों के प्रबंधन की शक्ति।

(ङ) अनुसूचित जनजातियों को धन उधार देने की प्रक्रिया पर नियंत्रण की शक्ति।

(च) सभी सामाजिक क्षेत्रों में संस्थाओं और कार्यकर्ताओं पर नियंत्रण की शक्ति।

(छ) आदिवासी उपयोजनाओं सहित स्थानीय और कार्यकर्ताओं पर नियंत्रण की शक्ति।

12. पंचायतों को स्वायत्त शासन की संस्थाओं के रूप में कार्य करने में समर्थ बनाते समय राज्य विधानमंडल सुनिश्चित करे कि उच्च स्तर की पंचायतें निम्न स्तर की किसी पंचायत या ग्राम सभा की शक्तियों को अपने हाथ में न लें।

13. राज्य विधान सभा को पंचायतों के जिला स्तर की प्रशासनिक व्यवस्था को संविधान की छठी अनुसूची के प्रावध ानों की तर्ज पर बनाने का प्रयोग करना चाहिए।

अधिनियमों की आलोचनात्मक समीक्षा:

73वें संविधान संशोधन में प्रावधान था कि एक वर्ष के अंदर आदिवासी क्षेत्रों के लिए संसद में विधेयक लाया जाएगा लेकिन अफसोस की बात यह रही एक वर्ष क्या इस बारे में अधि नियम 24 दिसम्बर, 1996 को जाकर लागू हुआ। इससे स्पष्ट है कि केन्द्र सरकार आदिवासी क्षेत्रों के विकास के लिए कितनी तत्पर है। इस विधेयक का महत्वपूर्ण पहलू है कि यह गांव की जगह समुदाय को स्वशासन की मूलभूत इकाई के रूप में स्वीकारता है। इसके अतिरिक्त आदिवासियों में खनिज, जल, जंगल व जमीन पर स्वामित्व व नियंत्रण का अधिकार समुदाय को ही प्रदान करता है।

राज्य सरकारों को इस अधिनियम को ध्यान में रखकर एक वर्ष के अंतर्गत अपने पंचायत अधिनियम में संशोधन करने थे लेकिन राजस्थान में तो जून, 1999 में विधेयक लाकर इसे लागू किया गया। इस अधिनियम को लागू करने में कुछ केंन्द्रीय और राज्य कानूनों से संबधित कुछ मुद्दों का वर्णन निम्न प्रकार है:

1. लघु वन उत्पाद की परिभाषा-भारतीय वन अधिनियम, 1927 में इमारती लकड़ी की परिभाषा में बांस और बेंत को शामिल किया गया है। पर्यावरण और वन मंत्रालय ने इमारती लकड़ी को शामिल किया गया है। पर्यावरण और वन मंत्रालय ने इमारती लकड़ी को शामिल करते समय भारतीय वन अधिनियम, 1927 में की गई इमारती लकड़ी की परिभाषा को अपनाने का निर्णय लिया है जिसके अनुसार इमारती लकड़ी में न केवल वृक्ष बल्कि बांस और बेंत भी शामिल हैं। अधिकांश राज्यों में आदिवासी लोग अपनी आजीविका के लिए बांस और बेंत पर परंपरागत रूप से आश्रित हैं तथापि पिछले कई वर्षो से वन निगमों और वन विभागों ने आदिवासियों को जंगल से बांस और बेंत लेने से रोका है, जबकि यही वस्तुएं उच्च रियायती दरों पर निजी उद्योग को बेची हैं। अनेक मामलों में राज्य वन विभागों की इस नीतियों के कारण आदिवासियों में निराशा उत्पन्न हुई है।

ग्राम सभा को लघु वन उत्पाद का स्वामित्व सौंपने के संबंध में अनेक मुद्दे उभरे हैं। पर्यावरण और वन मंत्रालय द्वारा किए गए प्रस्तावों में संसद के आशय की व्याख्या में स्वामित्व को स्वाभाविक स्वामित्व देना नहीं माना गया है बल्कि इसे राज्य वन निगम परिसंघ के शेष लाभ को ग्राम सभा को देना माना गया है। इसका अर्थ यह है कि पर्यावरण व वन मंत्रालय के अनुसार राज्य वन निगम परिसंघ लघु वन उत्पाद में व्यवसाय करते रहेंगे। यदि कुछ बच जाता है तो उसे ग्राम सभाओं को दे दिया जायेगा। ग्रामीण मंत्रालय ने इन मुद्दो को पर्यावरण और वन मंत्रालय के साथ उठाया और इस व्याख्या की कानूनी वैधता के बारे में विधि मंत्रालय से परामर्श भी मांगा है। महाराष्ट्र और गुजरात राज्यों वन उत्पाद व्यवसाय अधिनियमों के लागू रहने से अधिनियम 40, 1996 के प्रावधानों का उल्लंघन होता है क्योंकि इसमें ग्राम सभा में निहित लघु वन उत्पाद पर नियंत्रण का अधिकार कम हो जाता है।

विधि मंत्रालय के अनुसार कानून में दी गई परिभाषा कानून के उपबंधों को कर्यान्वित करने के लिए है, न कि दूसरे कानून के उपबंधों को कार्यान्वयन करने के लिए। सामान्य अधि नियम और जनरल क्लाज एक्ट, 1897 की परिभाषाओं को छोड़कर अन्य अधिनियम, 1927 में भी गौण वन उत्पादों को परिभाषित नहीं

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

किया गया है। यह कहा जाता है कि इस कानून के अंतर्गत वन उत्पादों की परिभाषा में मुख्य रूप से दो तत्व शामिल हैं अर्थात इमारती लकड़ी के अलावा सभी वन उत्पाद। जबकि पंचायत उपबंध क्षेत्र, 1996 में कहीं भी यह नहीं कहा गया है कि भारतीय वन अधिनियम 1927 में दी गई 'वन उत्पाद' शब्द की परिभाषा उक्त अधिनियम पर लागू होगी।

स्वामित्व के प्रश्न पर विधि मंत्रालय ने सलाह दी है कि कोई भी मंत्रालय 1996 के अधिनियम 40 में पंचायत को सौंपे गए स्वामित्व के क्षेत्र को सीमित या प्रतिबंधित नहीं कर सकता है।

निष्कर्ष:

इस अध्याय में हमने 73वें संविधान संशोधन, इसके विस्तार अधिनियम, 1996 जो अनुसूचित क्षेत्रों से संबंधित है, की मुख्य विशेषताओं का आलोचनात्मक अध्ययन किया है। अध्ययन से स्पष्ट है कि 73वें संविधान संशोधन के अनुसार पंचायतों को कार्यशक्ति देने का अधिकार अधिनियम में चिन्हित न करके राज्य सरकार की इच्छा पर छोड़ दिया गया है। जबकि 73वें संविधान संशोधन का विस्तार अधिनियम में आदिवासियों को उनके क्षेत्रों के विकास के लिए योजना बनाने व क्रियान्वयन के अलावा खनिज, जल संयत्र व जमीन पर स्वामित्व प्रदान किया है।

इस प्रकार इन दोनों अधिनियमों को तुलनात्मक दृष्टि से देखें तो विस्तार अधिनियम 73वें संविधान संशोधन से अधिक प्रगतिशील है।

पंचायती राज अधिनियमों की समीक्षा:

73वां संविधान संशोधन विधेयक राष्ट्रपति के हस्ताक्षर होने के बाद 24 अप्रैल, 1993 को अधिनियम बना। अधिनियम बनने के एक वर्ष के भीतर सभी राज्यों को अपने पंचायती राज अधिनियमों को 73वें संशोधन को ध्यान में रखकर बदलना था। सभी राज्यों ने ऐसा किया। 73वें संविधान में पंचायतों की संरचना, गठन, वित्त अयोग व चुनाव आयोग के गठन के अलावा महत्वपूर्ण प्रावधान अनिवार्य प्रावधान पंचायतों को अधिकार व शक्तियां प्रदान करना था। अधिनियम में इनका खुलासा न करके इस प्रावधान को राज्यों के विधानमंडल पर छोड़ दिया गया था। इस प्रकार यह प्रावधान अनिवार्य प्रावधान नहीं था। इसके अतिरिक्त पंचायत प्रावधान (अनुसूचित क्षेत्रों में विस्तार) अधिनियम, 1996 के द्वारा 73वें संविधान संशोधन को देश के आठ अनुसूचित क्षेत्रों में विस्तारित किया गया है।

ग्राम सभा :

ग्राम सभा समस्त पंचायती राज व्यवस्था का दिल व दिमाग है। लेकिन पंजाब, तमिलनाडु, मध्य प्रदेश तथा केरल को छोड़कर अन्य प्रदेशों में इस संस्था को मात्र बातचीत की संस्था बनाकर रख दिया है। मध्यप्रदेश ने ग्राम सभा को सशक्त बनाने के लिए पंच एवं सरपंच को वापस बुलाने का अधिकार भी संस्था के हाथ में दे दिया है। अधिकतर राज्यों में ग्राम सभा को ग्रामीण विकास संबंधित कार्यक्रमों को क्रियान्वित करने में सहायता प्रदान करना, विभिन्न गरीबो हटाओं कार्यक्रमों के अंतर्गत लाभार्थियों को चुनना, गांव में एकता व सौहार्द का वातावरण बनान तथा ग्राम पंचायत द्वारा पिछले वर्ष का लेखा-जोखा तथा आने वाले वर्ष के कार्यक्रम आदि के अनुमोदन का अधिकार दिया है। चूंकि ग्राम सभा को कोई विशेष शक्ति व अधिकार नहीं है, इसलिए आम लोग इसमें जाने से कतराते हैं। गरीब परिवार के लोग कहते देखे गए हैं कि ग्राम सभा की बैठक के चक्कर में वे अपनी मजदूरी नहीं गंवाना चाहते है। लेकिन जग ग्राम सभा की बैठक में गरीब परिवारों के लिए इंदिरा आवास योजना के अंतर्गत मकान वितरित करने या विभिन्न ग्रामीण विकास योजनाओं के अंतर्गत लाभार्थियों के चुनने का एजेंडा रहता है, तब ग्राम सभा की बैठकों में लोगों की भागीदारी बढ़ जाती है। अधिनियम, 1996 जो पंचायत प्रावधानों का अनुसूचित क्षेत्रों में विस्तार के बारे में है, ने ग्राम सभा को सही मायने में सशक्त बनाया है। लेकिन यह केवल नौ राज्यों क्रमशः आन्ध्र प्रदेश, उड़ीसा, झारखण्ड, मध्यप्रदेश, छत्तीसगढ़, महाराष्ट्र, गुजरात, राजस्थान व हिमाचल प्रदेश में ही लागू है।

पंचायतों का गठन :

73वें संविधान संशोधन के अनुसार तीन स्तरीय पंचायतों के गठन का प्रावधान है। लेकिन उन राज्यों में जिनकी आबादी 20 लाख से कम है, दो स्तरीय प्रणाली के लिए कहा है। इसलिए गोवा व मणिपुर में दो स्तरीय पंचायती राज प्रणाली का प्रावधान है। पंचायतों के गठन में केरल, महाराष्ट्र व गुजरात को छोड़कर सभी राज्यों ने सांसदों व विधायकों को पंचायती राज के मध्य व उच्च स्तर पर सदस्यता का प्रावधान किया है। सांगठनिक स्तर पर एक अन्य विभिन्नता निचले स्तर की पंचायतों के प्रतिनिधियों को ऊपर के स्तर की पंचायतों में प्रतिनिधित्व प्रदान करने की भी है।

आरक्षण :

73वें संविधान संशोधन ने अनुसूचित जाति व अनुसूचित जनजाति के लिए उनकी जनसंख्या के अनुपात में व महिलाओं के लिए एक-तिहाई आरक्षण का प्रावधान किया है। इस प्रावधान को राज्यों के लिए अनिवार्य प्रावधान नहीं था। इसलिए लगभग सभी राज्यों में पिछड़ों के आरक्षण का प्रावधान तो है लेकिन आरक्षण के प्रतिशत में विभिन्नता है। कहीं यह 27 प्रतिशत है तो कहीं उनकी जनसंख्या के आधार पर है। संपूर्ण राज्यों में अकेला राज्य आन्ध्र प्रदेश ही है जहां अल्पसंख्यकों के लिए आरक्षण का प्रावधान है।

कार्य व शक्तियों का बंटवारा :

राज्य पंचायती राज अधिनियमों का अवलोकन करने से पता चलता है कि पंचायतों के तीनों स्तरों को महत्वपूर्ण कार्य नहीं दिए गए हैं। कुछ राज्यों ने तो संविधान की 11वीं अनुसूची को ध्यान में रखकर पंचायतों के तीनों स्तरों पर कार्य आबंटन करने के बजाय हूबहू 11वीं अनुसूची को ही पंचायती राज अधिनियम में रख दिया है। आन्ध्र प्रदेश सरकार ने ग्राम पंचायतों को विकास, सामाजिक संपति का रखरखाव तथा जन सुविधाओं से संबंधित

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

कार्य दिए हैं। इसके अतिरिक्त राज्य सरकार अनुसूची 1 में उल्लिखित कार्य भी ग्राम पंचायत को दे सकती है। अनुसूची 1 और कुछ नहीं 73वें संविधान संशोधन की 11वीं अनुसूची की नकल है। यहीं स्थिति मंडल पंचायत तथा जिला परिषद की भी है।

वित्तीय साधन :

पंचायतों के पास कार्य संपन्न करने के लिए पर्याप्त वित्तीय साधन होने आवश्यक हैं। विभिन्न पंचायती राज अधिनियम के वित्त संबंधी प्रावधानों को देखने से स्पष्ट है कि बिहार, गुजरात, हरियाणा, पंजाब, व उत्तर प्रदेश राज्यों ने कर लगाने की शक्ति ग्राम पंचायतों को सौंपी है। आन्ध्र प्रदेश, गोवा, हिमाचल प्रदेश, मध्य प्रदेश, उड़ीसा व तमिलनाडु में जिला स्तर पर कर लगाने की प्रक्रिया स्पष्ट रूप से निर्दिष्ट नहीं है। राज्य पंचायत अधिनियमों में अनेक जगह किन्तु व परंतु है जिससे क्या-क्या कर लगाने हैं साफ तौर से पता नहीं चलता। महाराष्ट्र, केरल, बिहार, गोवा एवं महाराष्ट्र, त्रिपुरा आदि में भी राज्य सरकार, जिला, ब्लॉक एवं ग्राम पंचायतों के बीच वित्तीय साधनों के बंटवारे का स्पष्ट प्रावधान नहीं है।

नियंत्रण प्रक्रिया:

पंचायतों को स्वायत्त शासन की संस्थाएं बनने के लिए आवश्यक है कि वे नियंत्रण मुक्त वातावरण में कार्य करें। इसके अतिरिक्त कार्य को प्रभावी ढंग से करने के लिए उनके खुद के पास पर्याप्त कर्मचारी हों। राज्य के पंचायती राज अधिनियमों में पंचायातों का निरीक्षण करने, पंचायतों को निरस्त करने, पंचायतों को निर्दिष्ट देने, पंचायत प्रतिनिधियों को निरस्त करने से संबंधित अनेक प्रावधान हैं। असम व कर्नाटक में आयुक्त को, गोवा, हरियाणा, पंजाब में निदेशक पंचायती राज को, अरुणाचल प्रदेश, बिहार, केरल व मणिपुर में राज्य सरकार द्वार निर्धारित प्राधिकरण को सरपंचों को हटाने व निरस्त करने का अधिकार है। महाराष्ट्र में स्थायी समिति व राजस्थान में जिला परिषद् के मुख्य प्रशासनिक अधिकारी को यह अधिकार है कि वह चाहे तो सरपंच को पदमुक्त कर दे। आन्ध्र प्रदेश में राज्य सरकार आयुक्त और जिला कलेक्टर को पंचायती राज अधिनियम की अनेक धाराएं पंचायतों के तीनों स्तरों पर नियंत्रण की शक्ति प्रदान करती हैं। मध्य प्रदेश में भी राज्य सरकार का पंचायतों पर नियंत्रण है। इसी प्रकार के प्रावधान लगभग सभी राज्यों में हैं।

जिला नियोजन समिति:

जिला स्तर पर नियोजन समिति बनाने का प्रावधान है। यह समिति ग्रामीण एवं नगरीय क्षेत्रों के लिए बनी योजनाओं को समन्वित करके संपूर्ण जिले की योजना बनाएगी, इसलिए यह बहुत महत्वपूर्ण समिति है। अत: सभी राज्यों ने इसका प्रावधान किया है। लेकिन इसका अध्यक्ष कौन होगा इस संबंध में कुछ भी नहीं कहा गया है। कुछ राज्य जैसे- केरल, राजस्थान, असम, बिहार आदि ने जिला पंचायत के अध्यक्ष को इस समिति का अध्यक्ष बनाया है, लेकिन अधिकतर राज्यों में यातो मंत्री या जिलाधीश को इसका अध्यक्ष बनाया गया है।

पंचायत अनुबंध (अनुसूचित क्षेत्रों में विस्तार) अधिनियम, 1996:

73वें संविधान संशोधन को देश की पांचवी अनुसूची क्षेत्रों में पंचायत अनुबंध (अनुसूचित क्षेत्र में विस्तार) अधिनियम, 1996 के द्वारा विस्तारित किया गया। इस अधिनियम ने अनुसूचित क्षेत्रों के जल, जंगल व जमीन का अधिकार ग्राम सभा को दिया है। इस अधिनियम को ध्यान में रखकर सभी राज्यों ने अपने अधि नियमों में बदलाव किए हैं। लेकिन इस अधिनियम को प्रभावी ढंग से लागू करने के लिए वन अधिनियम, राज्य सीमा शुल्क अधि नियम, लघु खनिज अधिनियम, किसी राज्य आदि किसी राज्य को भी बदलने की जरूतरत है। मध्य प्रदेश के अतिरिक्त अन्य ने पूर्ण रूप से इस दिशा में आवश्यक कदम नही उठाए हैं।

निष्कर्ष :

73वें संविधान संशोधन नें पंचायतों का अनिवार्य प्रावध ानों के माध्यम से ढांचा तो खड़ा कर दिया लेकिन ढांचे को जीवंत बनाने के लिए मांस व रक्त बनाने का प्रावधान ऐच्छिक प्रावधानों के माध्यम से राज्यों पर छोड़ दिया है, जिसके कारण राज्य सरकारों ने पंचायतों को जीवंत बनाने में 'घर बार सब तुम्हारा कोठी कुठले को हाथ मत लगाना' वाली कहावत को चरितार्थ किया है, क्योंकि उन्होंने अधिकार व शक्तियों के नाम पर पंचायतों को अंगूठा दिखा दिया है। लेकिन कुछ राज्यों जैसे केरल व मध्य प्रदेश ने पंचायतों को स्वायत्त शासन को संस्थाएं बनाने के लिए सकारात्मक कदम उठाए हैं। हम आशा करते हैं कि भविष्य में इस कार्य के प्रदर्शन का प्रभाव अन्य राज्यों पर भी पड़ेगा।

IAS

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

पंचायती राज की चुनौतियां

कार्यात्मक चुनौतियां :

ग्राम सभा के कार्य: संविधान संशोधन के अनुच्छेद 243क के अनुसार ग्राम सभा अपने स्तर पर ऐसी शक्तियों का प्रयोग और ऐसे कृत्यों की निर्वाह कर सकेगी जो राज्य के विध ानमंडल द्वारा विधि द्वारा उपबंधित किए जाएं। स्पष्ट है कि ग्राम सभा को कितने कार्य व शक्ति प्रदान की जाए यह राज्य विध ानमंडल की इच्छा पर छोड़ दिया गया है।

पंजाब, तमिलनाडु, मध्य प्रदेश व केरल राज्यों को छोड़कर सभी राज्यों ने ग्राम सभा को मात्र बातचीत करने की संस्था मात्र बताया है क्योंकि इन राज्यों में ग्राम विकास से संबंधित कार्यक्रमों के क्रियान्वयन में सहायता प्रदान करना और विकास कार्यकलाप चलाना, विभिन्न गरीबी हटाओं कार्यक्रमों के अंतर्गत लाभार्थियों को चुनना, एकता और सौहार्द बनाना तथा ग्राम पंचायत द्वारा पिछले वर्ष का लेखा-जोखा, आने वाले वर्ष के भावी कार्यक्रम आदि को इस सभा के सामने मात्र रखने व अनुमोदित करने का अधिकार इस सभा को दिया गया है। हां, मध्य प्रदेश राज्य ने तो इस सभा को चुने गए प्रतिनिधि अर्थात पंच व सरपंच को वापस बुलाने का अधिकार भी प्रदान किया है। लेकिन अधिकतर राज्यों ने इसे कोई विशेष अधिकार व शक्तियां प्रदान नहीं की हैं। अधिकतर राज्यों ने इसे सुझाव प्रदान करने की संस्था मात्र रखा है। इसके द्वारा प्रस्तावित सुझावों को मानना या न मानना ग्राम पंचायत की इच्छा पर निर्भर करता है।

ग्राम सभा संपूर्ण पंचायती राज व्यवस्था का दिल व दिमाग है। यह संस्था जिला पंचायत से ग्राम पंचायत के प्रतिनिधि यों को चुनने के अलावा ग्राम स्तर पर समाज के सभी वर्गों को ग्राम पंचायत के कार्यों व लाभों में भागीदार होने का अवसर प्रदान करती है।

लेकिन पंचायत उपबंध (अनुसूचित क्षेत्रों में विस्तार) अधिनियम, 1996 ने ग्राम सभा की शक्तियों व अधिकारों को स्वयं अधिनियम में ही उचित तरह से परिभाषित करने का प्रयास किया है। यह अधिनियम हिमाचल प्रदेश, राजस्थान, गुजरात, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, आन्ध्रप्रदेश, व उड़ीसा, झारखण्ड व छत्तीसगढ़ राज्यों में लागू है। इस अधिनियम में ग्राम सभा की शक्तियों को परिभाषित किया गया है। लेकिन फिर भी कुछ कार्य जैसे भूमि अधिग्रहण, गौण जल इकाइयों की योजना का प्रबंधन आदि के लिए इस अधि नियम में ही कुछ स्थानों पर 'ग्राम सभाओं' और 'पंचायतों' के लिए लिखा है। दूसरे शब्दों में, ग्राम सभा व पंचायत दोनों संस्थाए इन कार्यों को कर सकती हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि राज्य विधानमंडलों (जिनको इस अधिनियम को ध्यान में रखकर राज्य के लिए अधिनियम बनाने थे) को स्पष्ट दिशा-निर्देश नहीं मिल सका। परिणामस्वरूप अधिकार व शक्ति के संबंध में यहां भी संदिग्धता की स्थिति पैदा होती है। ये सभी ग्राम सभा के सामने कार्यात्मक चुनौतियां हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि अब राज्यों ने अपने पंचायत अधि नियमों में ग्राम सभा का प्रावधान मात्र इसलिए किया है, क्योंकि 73वें संविधान संशोधन द्वारा इसे राज्यों के लिए जरूरी कर दिया गया था। लेकिन चूंकि संविधान संशोधन में उनकी कार्य व शक्तियां परिभाषित नहीं की गई हैं, इसलिए राज्यों ने इस संस्था को कार्य व शक्तियां देने के नाम पर अंगूठा दिखा दिया।

इस प्रकार जब ग्राम सभा के पास कोई अधिकार व शक्तियां ही नहीं हैं तो कैसे इसमें आम लोगों की भागीदारी हो, क्योंकि वे सोचते हैं कि जब ग्राम सभा में कोई मुद्दा उठाने से लाभ ही नहीं तो ग्राम सभा की बैठक में जाने की क्या जरूरत है। गरीब कहते देखे गए हैं कि हम ग्राम सभा की बैठक के चक्कर में अपनी एक दिन की मजदूरी नहीं खोना चाहते। इसी से जुड़ी चुनौती आम जनता में इस संस्था के महत्व की जागरूकता का अभाव है। अगर ग्राम सभा यानी सभी मतदाता जागरूक हो जाएं, तो सरपंच या ग्राम पंचायत की हिम्मत नहीं कि वह आम जनता के अधिकारों को अनदेखा कर सके।

वित्तीय चुनौतियां :

राज्यों के पंचायती राज अधिनियमों में वित्त संबंधी प्रावधान : 73वें संविधान संशोधन के अनुच्छेद 243 ज के अनुसार राज्य विधानमंडल विधि द्वारा निर्धारित प्रक्रिया व सीमाओं के भीतर शुल्क, पथ-कर और शुल्क लगाने का अधिकार दे सकती है। कुछ विशेष सीमाओं और नियमों के अंदर राज्य सरकार इन्हें चुंगी, शुल्क, महसूल उगाही आदि के कुछ अधिकार दे सकती है। राज्य सरकार अपनी किसी समेकित निधि से भी पंचायतों को अनुदान प्रदान कर सकती है। सरकार विभिन्न मदों की उधारी या साख के लिए धन लेने, वसूलने के लिए पंचायत के माध्यम से जमा करने व निकालने का भी अधिकार दे सकती है जिन्हें पंचायत अधि नियमों में वर्णित किया गया है।

पंचायत राज अधिनियमों में दिए गर व गैर-कर प्रावधानों का अवलोकन करने से निम्न तस्वीरें सामने आती हैं:

1. अधिकतर राज्यों में, जिनमें मुख्य हैं बिहार, गुजरात, हरियाणा, पंजाब, उत्तर प्रदेश, कर लगाने की अधिक शक्ति ग्राम पंचायतों को दी गई है। जबकि ग्राम पंचायतों के पास करों को लागू करने की पर्याप्त मशीनरी भी नहीं है। इसके अतिरिक्त ग्राम पंचायतें गांवों के बहुत करीब हैं व ग्राम प्रधान या सरपंच दिल से भी नहीं चाहता कि कर लगाए जाएं क्योंकि ऐसा करने से वे लोगों के बीच अप्रिय नहीं बनना चाहते। आन्ध्र प्रदेश, असम गोवा, हिमाचल प्रदेश, मध्यप्रदेश, उड़ीसा व तमिलनाडु में जिला स्तर पर स्पष्ट रूप से निर्दिष्ट कोई कर नहीं है। इसके अतिरिक्त प्राय: सभी जगह कर लगाना या न लगाना सरकार की

Ethics IAS

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

इच्छा पर निर्भर है। अतः स्थानीय स्तर पर कर लगाने न लगाने की शक्ति पंचायतों के हाथ में न होकर राज्य सरकार के हाथ में है।

2. जिला परिषद व अचंल पंचायत (मध्य स्तर) असम में, जिला परिषद व पंचायत समिति (मध्य स्तर) बिहार में, जिला पंचायत व ग्राम पंचायत गोवा में, जिला पंचायत व पंचायत समिति हिमाचल प्रदेश में, जिला पंचायत व ब्लॉक पंचायत (मध्य स्तर) पर केरल में, पंचायत समिति, महाराष्ट्र में, ग्राम पंचायत उड़ीसा में, जिला पंचायत व ग्राम पंचायत सिक्किम में, जिला पंचायत तमिलनाडु में, पंचायत के तीनों स्तरों पर त्रिपुरा में, राज्य व पंचायतों के बीच वित्तीय साधनों के बंटवारे का प्रावधान नहीं है।

3. सभी राज्यों में पंचायतों के तीनों स्तरों को राज्य स्तर से अनुदान देने का प्रावधान है। लेकिन यहां पर कर्नाटक व महाराष्ट्र के अनुदान से संबंधित प्रावधान का जिक्र करना आवश्यक है। कर्नाटक में प्रत्येक ग्राम पंचायत को राज्य सरकार से प्रतिवर्ष 2 लाख रुपये का अनुदान देने का प्रावधान है। यह अनुदान ग्रामीण क्षेत्र में बिजली के रखरखाव, पानी की उपलब्धता, स्वच्छता व अन्य कल्याणकारी योजनाओं के लिए है। इस तरह का प्रावधान अन्य किसी राज्य में नहीं है। महाराष्ट्र में जिला स्तर पर कुल अनुदान का 50 प्रतिशत भाग जिला को देने का प्रावधान है। लेकिन ऐसे गिने चुने उदाहरण हैं।

4. हरियाणा, केरल, पंजाब व पश्चिम बंगाल ने पंचायतों द्वारा विकास कार्यों के लिए अपने स्तर पर ऋण लेने का भी प्रावधान किया है।

5. पंचायती राज अधिनियमों में राज्य सरकार द्वारा लगाए गए सभी करों की हिस्सेदारी का प्रावधान नहीं किया गया है, जो विकेन्द्रीकरण के विपरीत है। चूंकि 73वें संविधान संशोधन में कौन-कौन से करों की हिस्सेदारी राज्य सरकार व पंचायतों के मध्य होगी इसका जिक्र नहीं किया गया है। इससे अर्थ निकलता है कि राज्य सरकार द्वारा लगाए सभी करों का हिस्सा पंचायतों के साथ बांटना है। अधिकतर राज्यों ने कर हिस्सेदारी का प्रावधान मात्र भूमि राजस्व कर में किया है जिसकी राशि कुल राज्य की कर आय की बहुत कम है। राज्य सरकारों को बिक्री कर की हिस्सेदारी पंचायतों के साथ करनी चाहिए थी, क्योंकि यह राज्य सरकार के पास अधिक आयवाला कर है।

प्रशासनिक चुनौतियां:

पंचायतों पर राज्य सरकार एवं नौकरशाही का नियंत्रण:-

राज्य पंचायती राज्य अधिनियमों में पंचायतों का निरीक्षण करने, पंचायतों को बर्खास्त करने, पंचायतों के प्रस्तावों को खारिज करने, पंचायतों को निर्देश देने, पंचायत प्रतिनिधियों को बर्खास्त करने से संबंधित विभिन्न प्रावधान किए गए हैं। वही नहीं राज्य सरकार के हाथ में अंतिम हथियार पंचायतों को 6 महीनों के लिए बर्खास्त करने का भी है। सिक्किम राज्य तो एक कदम आगे है क्योंकि वहां पर तो पंचायतों को 1 वर्ष तक बर्खास्त करने का प्रावधान है। वैसे अधिनियमों में अपना पक्ष रखने का अवसर प्रदान करने का प्रावधान है। लेकिन यह पर्याप्त सुरक्षा कवच नहीं है। यहां पर कुछ प्रदेशों के उदाहरण देना उचित है प्रतीत होता है। असम व कर्नाटक में आयुक्त को सरपंच को हटाने व बर्खास्त करने का अधिकार है। गोवा, हरियाणा, व पंजाब में निदेशक व पंचायती राज को यह अधिकार प्राप्त है। अरुणाचल प्रदेश, बिहार, केरल व मणिपुर में सरकार द्वारा निर्धारित प्राधिकरण द्वारा सरपंचों को हटाने या बर्खास्त करने का अधिकार है। महाराष्ट्र में स्टेडिंग' समिति व राजस्थान में जिला परिषद के मुख्य प्रशासनिक अधिकारियों को सरपंच को उसके पद से हटाने व बर्खास्त करने का अधिकार है।

आन्ध्र प्रदेश में राज्य सरकार आयुक्त और जिला कलेक्टर को पंचायतों के तीनों स्तरों पर पंचायती राज अधिनियम की धारा 246, 247, 250 व 259 में नियंत्रण की शक्ति प्रदान की गई है।

हरियाणा पंचायती राज अधिनियम की धारा 29 के अनुसार चपरासी, सिपाही, चौकीदार, सिंचाई विभाग के पैयरोल आदि के विरुद्ध पंचायतों को मात्र शिकायत करने का अधिकार है। धारा 29 में साफ तौर से लिखा है कि इससे यह अर्थ नहीं लगा लेना चाहिए कि ग्राम पंचायत को किसी कर्मचारी या ऐसे किसी अधिकारी के विरूद्ध कोई अनुशासनिक कार्रवाई या कुछ कर सकने का अधिकार प्राप्त है।

मध्य प्रदेश पंचायती राज अधिनियम में भी राज्य सरकार का पंचायतों पर पूर्ण नियंत्रण है। सरकार पंचायत के किसी भी काम की जांच-पड़ताल कर सकती है। उसके किसी आदेश को निलंबित कर सकती है, उसे आदेश दे सकती है या उसे भंग कर सकती है। उसके मामलों की जांच करा सकती है और अगर चाहे तो पंचायतों की शक्तियों को अपने किसी अधिकारी को प्रत्यायोजित कर सकती है।

उड़ीसा में अगर राज्य सरकार की राय में किसी पंचायत समिति के अध्यक्ष, उपाध्यक्ष या किसी सदस्य के कानून के प्रावधानों का उल्लंघन या खुद में निहित शक्तियों का दुरुपयोग किया है तो वह उसे उसके पद से हटा सकती है। राज्य सरकार की नजर में यदि पंचायत समिति अपने कर्त्तव्यों के निर्वाह में सक्षम नहीं है तो वह निर्धारित ढंग से एक अधिसूचना जारी करके ऐसी समिति को भंग कर एक समिति का गठन कर सकती है।

उपर्युक्त प्रावधानों से यह निष्कर्ष निकलता है कि राज्यों के पंचायती राज अधिनियमों में निर्वाचित प्रतिनिधियों के सामूहिक विवेक में विश्वास की बजाय व्यक्ति के राय को अधिक महत्व दिया है। दूसरे, वैसे तो पंचायत राज अधिनियम चूक करने वाली संस्थाओं को अपने आचरण के बारे में सफाई देने का अवसर प्रदान करता है, पर वह पंचायती राज संस्थाओं की अक्षमता के बारे में

CSAT IAS

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

समुचित कार्यवाही की व्यवस्था नहीं करता है, पर वह पंचायती राज संस्थाओं की अक्षमता के बारे में समूचित कार्यवाही की व्यवस्था नहीं करता जो कि पंचायतों को सही मायनों में स्वशासन की संस्था बनाने (जैसा की 73वें संविधान संशोधन में दिया है) वंचित करता है।

पंचायत व उनके कार्मिक : पंचायतों को संविधान की धारा 243-छ की 11वीं अनुसूची के द्वारा 29 विषय हस्तांतरित किए गए हैं। इन 29 विषयों में कृषि, सामाजिक वानिकी, लघु व कुटीर उद्योग, पेयजल, सड़क, ग्रामीण विद्युतीकरण, गरीबी निवारण कार्यक्रम, शिक्षा, स्वास्थ्य और सफाई, परिवार कल्याण आदि विषय शामिल हैं। इसके अतिरिक्त आर्थिक विकास व सामाजिक न्याय के लिए योजना बनाने व लागू करने का कार्य भी पंचायतों का सौंपा गया है। इस प्रकार पंचायतों के तीनों स्तरों अर्थात ग्राम पंचायत, पंचायत समिति व जिला पंचायत को अपने स्तर पर आर्थिक विकास व सामाजिक न्याय की योजना बनाने व क्रियान्वित करने की जिम्मेदारी दी गई है। इस कार्य के लिए योजना के उद्देश्य व व्यूह रचना तैयार करना, आंकड़े एकत्र करना, पंचायत स्तर का खाका तैयार करना, योजनाओं का मूल्यांकन करना, योजना तैयार करना, योजनाओं को अन्य विभागीय योजनाओं से जोड़ना आदि कार्य शामिल हैं। इन कार्यकलापों से अनुमान लगाया जा सकता है कि पंचायतों को कितने तकनीकी व गैर-तकनीकी कार्मिकों की आवश्यकता है।

एक नजर राज्यों के पंचायती राज अधिनियमों पर पता चलता है कि पंचायती राज अधिनियमों का उद्देश्य ग्रामीण क्षेत्रों में सुधारित प्रशासन, लोगों की भागीदारी द्वारा आर्थिक विकास सुनिश्चित करना है न कि स्वायत शासन की संस्थाएं स्थापित करना है। हां और कुछ राज्य जैसे पंजाब, बिहार व तमिलनाडु में पंचायती राज अधिनियमों का उद्देश्य स्वायत शासन की संस्थाएं स्थापित करना है भी तो वहां अधिनियमों के प्रावधान ऐसा साबित नहीं करते। विभिन्न राज्यों में नौकरशाही को थोक में अधिकतर दिए गए हैं। वे जब चाहें जैसे चाहें पंचायतों को ध्वंस कर सकते हैं।

पंचायतों को प्रशासनिक स्वायत्तता प्रदान करने के लिए आवश्यक है कि उनके अपने कार्मिक हों। इसके लिए जरूरी है कि उनका अपना स्टाफ राज्य सरकार के द्वारा ही नियुक्त, स्थानांतरित व नियंत्रित किए जाते हैं। वैसे गुजरात व राजस्थान में पंचायतों के अपने काडर स्थापित करने का प्रावधान हैं। इसके लिए चयन बोर्ड बनाने का का प्रावधान है, जिसमें अन्य के अलावा जिला पंचायत का अध्यक्ष भी सदस्य है। इसके अतिरिक्त जिला पंचायत रोजगार चयन समिति व जिला प्राथमिक स्कूल स्टॉफ चयन समिति का प्रावधान भी अधिनियम में है। लेकिन राज्य सचिवालय ने पंचायतों द्वारा भर्ती किए गए अध्यापकों व पटवारियों का भी तबादला करना शुरू कर दिया है।

राजस्थान में जिला स्थापना समिति, जिला पंचायत अध्यक्ष की अध्यक्षता में गठित करने का प्रावधान है। इस समिति का उद्देश्य ग्राम स्तर के कर्मचारी, पंचायत सचिव, प्राथमिक अध्यापक व लिपिकवर्गीय स्टाफ का चयन करना है। लेकिन ये प्रावधान मात्र प्रावधान ही रह गए हैं। कर्मचारियों की भर्ती पर नियंत्रण राज्य सरकार व उसकी नौकरशाही का है। वैसे अन्य राज्यों जैसे हरियाणा पंचायती राज अधिनियम की धारा 33 (6), पंजाब पंचायती राज अधिनियम की धारा 26, बिहार पंचायती राज अधिनियम की धारा 85 (5), कर्नाटक पंचायती राज अधिनियम की धारा 195 (5) में भी पंचायत काडर गठित करने का प्रावधान है लेकिन कही पर भी यह प्रभावी ढंग से क्रियान्वित नहीं हो सका। मध्य प्रदेश में भी राज्य सरकार ने जनपद पंचायत की सिफारिश पर स्कूल अध्यापकों की भर्ती का प्रावधान किया है, जो कुछ हद तक उचित प्रतीत होता है लेकिन शिक्षा कर्मी का वेतन कम होने के कारण इस व्यवस्था में प्रतिभाशाली व्यक्ति शायद ही आए।

सामाजिक-आर्थिक चुनौतियां:

सामाजिक चुनौतिया : हिन्दू शास्त्रों में लिखा है कि ध र्मानुसार स्त्री को बाल्यावस्था में पिता के संरक्षण में, युवावस्था में पति के संरक्षण में और पति का देहांत हो जाने पर पुत्रों के अध ीन रहना है। नारी को जन्म लेते ही सिखा दिया जाता है कि तुम्हारा अपना कुछ भी नहीं है तुम्हारा आदर्श अपने आप को पति को समर्पित करना है। परिणामस्वरूप नारी को हाड़-मांस के पुतले के अलावा कुछ भी नहीं समझा जाता है। इस तरह की व्यवस्था के कारण अपनी पहचान ही खो बैठती है। इसी आत्मसम्मान की भावना की कमी के कारण उसके सीखने की प्रक्रिया शिथिल हो जाती है।

पुरुष मानसिकता भी एक बड़ी चुनौती महिलाओं के सामने है। पुरुष वर्ग नहीं चाहता कि महिलाएं घर से बाहर निकलें। मध्य प्रदेश में मंदसौर जिले की ग्राम पंचायत अंबा की सरपंच मोडीबाई की उसकी पति ने इसलिए हत्या कर दी कि वह पंचायत की बैठक में जाती थी, गांव की समस्याएं सुलझाती थी और विकास योजनाओं का क्रियान्वयन करती थी।

इस सामाजिक व्यवस्था के बारे में डॉ. बाबा साहेब अंबेडकर ने कहा था कि सामाजिक व्यवस्था संस्कृति के द्वारा समाज के सदस्यों की भावना को नियमित करती है और संस्कृति की जड़ें इतनी गहरी होती हैं कि उनको हटाना व्यवस्था के आध ार में परिवर्तन के बिना संभव नहीं है। जाति व वर्गों में बंटे समाज में 'निम्न' जातियों (अनुसूचित जाति एवं जनजाति) की स्थिति तो और भी दयनीय हैं। ऊंची जातियों की महिलाओं की आर्थिक स्थिति फिर भी ठीक है लेकिन गरीब परिवारों की महिलाओं के बारे में तो 'गरीब की जोरू सबकी भाभी' वाली कहावत चरितार्थ होती है, क्योंकि उनका अपना कोई अस्तित्व ही नहीं है।

आर्थिक चुनौतियां : पंचायत प्रतिनिधियों के सामने सामाजिक चुनौतियों के अलावा आर्थिक चुनौतियां भी कम गंभीर

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

नहीं है। ये प्रतिनिधि वित्तीय साधनों के अभाव के कारण अपनी भूमिका प्रभावी ढंग से निभाने में समर्थ नहीं हो पाते। नई आर्थिक नीति, जिसके अंतर्गत धीरे-धीरे जल, जंगल व जमीन पर नियंत्रण आम लोगों का कम होता जा रहा है, ने कमजोर तबकों की पहले से बिगड़ी आर्थिक स्थिति पर जले पर नम छिड़कने का कार्य किया है।

महिलाओं की भूमि व संपत्ति में क्या भागीदारी है इससे पहले एक नजर ग्रामीण गरीब पर डाल ली जाए। उपलब्ध आंकड़े बताते हैं कि कुल ग्रामीण जनसंख्या का 37.27 प्रतिशत भाग गरीबी रेखा से नीचे है। कुछ राज्यों जैसे बिहार, उड़ीसा व मध्यप्रदेश में तो यह प्रतिशत क्रमश: 58.21 प्रतिशत, 49.72 प्रतिशत व 40.64 प्रतिशत है। अनुसूचित जाति व जनजाति में य समस्या और भी गंभीर है। अनुसूचित जाति गरीबी रेखा से नीचे रह रही जनसंख्या का प्रतिशत 48.11 है। कुछ राज्य जैसे बिहार (70.66 प्रतिशत), उत्तर प्रदेश (58.55 प्रतिशत) तथा महाराष्ट्र (51.64 प्रतिशत) में इन वर्गों में गरीबी राष्ट्रीय स्तर से भी अधिक है। अनुसूचित जनजाति वर्ग में गरीबी रेखा से नीचे रह रही जनसंख्या का प्रतिशत 51.94 है। कुछ राज्य जैसे बिहार (69.75 प्रतिशत), हिमाचल प्रदेश (69.94 प्रतिशत), उड़ीसा (71.28 प्रतिशत) व पश्चिम बंगाल (61.95 प्रतिशत) में गरीबी का स्तर राष्ट्रीय स्तर से भी अधिक है। उपर्युक्त आंकड़ों से आसानी से अनुमान लगाया जा सकता है कि गरीबी रेखा से नीचे रह रहे परिवारों से अधिक अनुसूचि जाति एवं जनजाति के परिवार हैं। इन गरीब परिवारों में भी गरीबी की ज्यादा मार महिलाओं पर पड़ती है।

आठवीं पंचवर्षीय योजना के दस्तावेज के अनुसार देश के लगभग 30 प्रतिशत परिवारों की मुखिया महिलाएं हैं जिनमें अधिकतर गरीबी रेखा से नीचे बसर कर रही हैं। इन महिलाओं के पास कोई संपत्ति जैसे भूमि नहीं है, न ही इन महिला कामगारों की लगभग 90 प्रतिशत जनसंख्या असंगठित क्षेत्रों में कार्यरत है जहां उन्हें पुरुषों की अपेक्षा कम मजदूरी दी जाती है। स्थिति यह है कि रात-दिन कार्य करने के पश्चात अर्थशास्त्रियों के मापदंडों के अनुसार भारत की आधी जनसंख्या कुल राष्ट्रीय आय का केवल 19 प्रतिशत हिस्सा ही कमा पाती है।

प्रशासनिक एकेडमी, मसूरी ने ऐसे सरकारी नियम कानूनों का जिक्र किया है, जो महिलाओं व गरीब तबकों के विरूद्ध जाता है। उनमें भूमि व संपत्ति से संबंधित कुछ प्रावधानों का जिक्र यहां किया गया है। उत्तर-पश्चिम व भारत के कुछ राज्यों जैसे हरियाणा, पंजाब, जम्मू व कश्मीर, हिमाचल प्रदेश, दिल्ली व उत्तर प्रदेश में कृषिगत भूमि पुरुष पैतृक वंशज को ही मिलती है। विधवा या लड़कियों को जमीन पुरुष उत्तराधिकारी न होन पर ही मिलती है। इसके अतिरिक्त, उत्तर प्रदेश में जमींदारी खातमा अधिनियम की धारा 171 के अनुसार लड़की को पैतृक संपत्ति की हिस्सेदारी से रोकती है। भूस्वामी की मृत्यु के बाद भूमि लडकों में हस्तांतरित होगी। विवाहित लड़की तभी भूमि में हिस्सेदारी की पात्र है, यदि उस भूमि के अन्य हिस्सेदार नहीं हैं।

उपर्युक्त उदाहरणों के अलावा उड़ीसा में एक प्राइवेट कंपनी को ''नाम टिंबर फोरेस्ट प्रोजेक्ट'' में वन उत्पदों का अधिकार 10 वर्ष के लिए दे दिया गया है। जबकि इन पर अधिकार ग्रामीण गरीबों का होना चाहिए था, जिनके लिए ये उत्पाद भोजन, चारा, फल व दवाइयों की प्राप्ति के साथ-साथ उनके जीवन निर्वाह का साधन था। यही नहीं, उड़ीसा सरकार ने निर्णय किया है कि 'बांस' को पेपर कंपनी को दे दिया जाए। यह कदम 1988 की वन नीति के खिलाफ है, जिसके अनुसार वन में रहने वालों को इसके लिए प्राथमिकता दी गई थी। आश्चर्य की बात है कि यहां गरीब वनवासी वनों से चोरी करके अपने घरेलू ईंधन व अन्य जरूरतों की मांग की पूर्ति करते हैं जबकि कंपनी को 'सबसाइड' दर से बांस मिलता है।

वीणा अग्रवाल ने एक दस्तावेज तैयार किया है जिसके अनुसानर महिलाओं को भूमिधर होने का अधिकार प्राप्त नहीं है और जहां-जहां यह अधिकार था भी उसकी बहुत हद तक समाप्त कर दिया गया है। वीणा अग्रवाल ने 145 भूमिधर जातियों का अध्ययन कर पाया है कि 131 जातियों में महिलाएं पैतृक संपत्ति की उत्तराधिकारी नहीं हैं। सरकारी आंकड़ा बताता है कि सरकार ने काफी जमीन भूमि परिसीमन अधिनियम के अंतर्गत प्राप्त की है जिसको भूमिहीनों में वितरित किया गया है। सरकारी मार्गदर्शिका बताती है कि जब लाभार्थी को जमीन का पट्टा दिया जाए तो वह उसके व उसकी पत्नी के नाम संयुक्त रूप से होना चाहिए। लेकिन प्रो. एस.एन. मिश्रा द्वारा किया गया अध्ययन बताता है कि व्यवहार में ऐसा नहीं किया गया है। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि कैसे महिला व कमजोर वर्ग आर्थिक रूप से सशक्त होंगे। और यदि ये वर्ग आर्थिक रूप से सशक्त नहीं होंगे तो कैसे अपनी भूमिका प्रभावी सदस्य व अध्यक्ष के रूप में पंचायतों में निभा पाएंगे।

आर्थिक सुधार व वंचित वर्ग :

सुधार का अर्थ होता है कि जनता के जीवन में खुशहाली लाना। लेकिन 1991 से जो आर्थिक सुधार की प्रक्रिया हुई है उसके अंतर्गत ढांचागत समायोजन कार्यक्रम, निजीकरण व भू-मंडलीकरण आते हैं इसने महिलाओं की स्थिति को सुधारने की बजाय बिगाड़ा है। अध्ययन बताते हैं कि पिछले 5 सालों में महिलाओं का कार्य करने का अनुपात बढ़ा है। जिसका मुख्य कारण और कुछ नहीं महिलाओं का सस्ता श्रम है। अध्ययन बताते है कि स्थायी नौकरियों में 25 प्रतिशत तथा अस्थायी कार्यों के लिए महिलाओं को पुरुषों की तुलना में 25 प्रतिशत कम पारिश्रमिक मिलता है। आंकड़े यह भी बताते हैं कि दो-तिहाई खेतिहर श्रमिक महिलाएं गरीबी रेखा से नीचे रह रही हैं।

24-25 अप्रैल, 1998 को समाजिक विज्ञान संस्थान, नई दिल्ली ने महिला राजनैतिक सशक्तीकरण दिवस मनाया था। इसमें जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय की अर्थशास्त्री श्रीमती उतसा

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

पटनायक ने 'नई आर्थिक नीति का गरीब परिवारों पर प्रभाव' विषय पर प्रकाश डालते हुए कहा कि इस नीति के अंतर्गत स्थानीय संसाधन जैसे जल, जंगल व जमीन पर वर्चस्य बहुराष्ट्रीय कंपनियों का बढ़ता जा रहा है, जिसका सीधा संबंध पंचायत व गांव के कमजोर तबके से जुड़ा है। नई आर्थिक नीति के अंतर्गत स्वास्थ्य व अन्य सामाजिक कार्यों में विनियोग 1991 जब से यह नीति लागू हुई थी उस समय की तुलना में कम हुआ है, जिसके कारण गरीबी का स्तर बढ़ा है। इस नीति के कारण पंजाब व हरियाणा जैसे विकसित प्रदेशों में राज्यों के कुल परिव्यय में ग्रामीण परिव्यय घटने के कारण गरीबी का स्तर बढ़ा है।

विशाल थापर ने हिन्दुस्तान टाईम्स (16 जनवरी 2000) के अपने एक लेख में आर्थिक सुधार व गरीबी पर प्रकाश डालते हुई निम्न तथ्य प्रस्तुत किए थे:

1. आर्थिक सुधार लागू होने से अब तक ग्रामीण गरीबी 3.42 प्रतिशत बढ़ी है। एक दूसरे अनुमान के अनुसार अस्सी के दशक में गरीबी में 10 प्रतिशत की गिरावट आई थी

लेकिन 1989-90 के बाद गरीबी में 9 प्रतिशत की वृद्धि हुई है।

2. राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण संगठन (जनवरी-जून 1998) द्वारा किए गए अध्ययन के अनुमान बताते हैं कि गांव में प्रति व्यक्ति व्यय 382 रुपये है जबकि शहरों में यह 684

रुपए है। गावं में कुल व्यय का 61 प्रतिशत खाद्य पर व्यय होता है। खाद्य मदों की बढ़ती कीमतों से गरीब परिवार और गरीब हो गए हैं।

3. आर्थिक सुधार लागू होने के बाद ग्रामीण गरीबी उन्मूलन कार्यक्रमों पर व्यय कम हुआ है उससे भी वंचित वर्ग की स्थिति और बिगड़ी है।

उपर्युक्त विश्लेषण स्पष्ट रूप से बताता है कि ग्रामीण समाज के कमजोर तबकों का आर्थिक सशक्तीकरण पक्ष जो पहले ही कमजोर था, भूमि सुधार प्रभावी रूप से लागू न होने और फिर नई आर्थिक नीति के आ जाने के कारण पहले से कमजोर वर्ग और कमजोर हो गया। ऐसी स्थिति में जब ये वर्ग अपनी दो वक्त की रोटी में उलझे रहते हैं तो भला वे पंचायतों के लिए कैसे समय निकाल पाएंगे। ऐसी स्थिति में तो वे यही कर सकते है कि बताओ अंगूठा कहां लगाना है। आइए एक नजर पंचायतों में चुनकर आई महिलाओं की आर्थिक स्थिति पर डालते हैं।

लेखक ने हरियाणा प्रदेश के 75 प्रतिशत पंचायत प्रतिनिधियों का सर्वेक्षण किया था इनमें से 92 प्रतिशत पंचायत समिति की सदस्या, 85 प्रतिशत सरपंच व 97 प्रतिशत पंच के नाम न जमीन थी और न कोई संपत्ति। कुल महिला प्रतिनिधियों में से 36 प्रतिशत गरीबी रेखा से नीचे बसर कर रही थीं।

प्रो. सुशीला कौशिक ने भी हरियाणा की 100 चुनी प्रतिनिधियों का सर्वेक्षण किया और पाया कि 26 प्रतिशत परिवारों के पास जमीन नहीं थी। 23 परिवारों के पास कोई भी दुधारू पशु नहीं थे। लगभग 50 प्रतिशत परिवारों के पास दुधारू पशु, घर व कृषि जमीन के अलावा अन्य कोई परिसंपत्ति नहीं थी। संपूर्ण प्रतिदर्श में से 19 महिलाएं अनुसूचित जाति व 1 अनुसूचित जनजाति से थी जो बहुत ही गरीब परिवारों से थीं।

श्रीमती निर्मल बुच ने मध्य प्रदेश में महिला प्रतिनिधियों का सर्वेक्षण किया और पाया कि 56.82 प्रतिशत महिलाएं गरीबी रेखा से नीचे रह रहे परिवारों से संबंधित थीं। महिला प्रतिनिधियों के इस गरीबी स्तर से अनुमान लगाया जा सकता है कि वे अपने घरों को देखेंगी या गांव को। फिर इन गरीब महिलाओं की सुनेगा कौन?

1995 में संपन्न कर्नाटक पंचायत चुनाव में चुने प्रतिनिधियों का अध्ययन बताता है कि पंचायती राज के तीनों स्तरों को एक साथ रखकर पाते हैं कि 33.1 प्रतिशत महिला अध्यक्ष व उपाध्यक्षों की वार्षिक आय 5,000 रुपये से कम थी तथा 33.33 प्रतिशत महिलाओं की वार्षिक आय 5,000 से 10,000 रुपये के बीच में थी विदित है कि जन परिवारों की वार्षिक आय 11000 रुपए से नीचे है वे गरीबी रेखा से नीचे रह रहे हैं। इस प्रकार 66.4 प्रतिशत से अधिक महिला अध्यक्ष व उपाध्यक्ष गरीबी रेखा से नीचे रह रही हैं।

गरीब तबके के व्यक्ति कहते सुने गए हैं किह हम ग्राम सभा की बैठक में जाने के चक्कर में अपनी एक दिन की दिहाड़ी नहीं खोना चाहते। क्योंकि उन्हें पता है कि बैठक में जाने से कुछ मिलना नहीं है।

लेखक का स्वयं का अनुभव है कि प्रशिक्षण शिविर में ग्रामीण समाज के कमजोर वर्ग जब अपनी समस्याएं बताते थे उनमें एक अहम समस्या गरीबी की होती थी। क्योंकि पंचायत बैठकों पर घर से बाहर जाने के लिए उनको अपनी दिहाड़ी खोनी पड़ती थी।

निष्कर्ष :

उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि पंचायत प्रतिनिधियों के सामने अनेक सामाजिक व आर्थिक चुनौतियां हैं। महिलाओं के सामने पंचायत पदाधिकारियों और पुरुष सहयोगियों का असहयोगपूर्ण और संवदेनशील रवैया तथा घर और बाहर दोनों जगह एक साथ काम करने का बोझ भी चुनौती बन गया है। परिवार यदि गरीब है तो उसमें सबसे ज्यादा नुकसान महिला ही उठाती है। इन वर्गों की बिगड़ती सामाजिक स्थिति पर जले पर नमक छिड़कने का कार्य अशिक्षा व नई आर्थिक नीति ने किया है।

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

संभावनाएँ

जागरूकता और जुझारूपन का विकास :

जैसा कि पहले भी जिक्र किया गया है कि चुनाव के बाद लगभग 34 लाख चुने प्रतिनिधि पंचायतों के तीनों स्तरों पर चुनकर आए हैं। इनमें अधिकांश महिलाएं व अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति के वर्गों से हैं जिनको विकेन्द्रीकृत शासन, प्रशासन व योजना का अनुभव कम है या नहीं के बराबर है। नई पंचायती राज व्यवस्था के अंतर्गत पंचायतों को बहुत जिम्मेदारी भी दी गई है। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर सभी राज्यों ने पंचायत प्रतिनिधियों के लिए प्रशिक्षण कार्यक्रम शुरू किए हैं। केन्द्र सरकार द्वारा राज्यों में उनके प्रशिक्षण प्रयासों के लिए वित्तीय सहायता भी दी जा रही है। इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय ने पंचायत प्रतिनिधियों के लिए प्रशिक्षण सामग्री तैयार की है। राष्ट्रीय ग्रामीण विकास संस्थान द्वारा पंचायत प्रतिनिधियों के लाभ के लिए 'पंचायत उन्नति' प्रकाशन के लिए 9वीं पंचवर्षीय योजना में केन्द्रीय परिव्यय ही 80 करोड़ रुपए है। वर्ष 1998-99 व 1999-2000 के दौरान क्रमशः 3 करोड़ रुपए के परिव्यय का प्रावधान है।

1. कुल ग्राम पंचायतों में से लगभग 80 प्रतिशत पंचायतों में नियमित बैठकें संचालित होती हैं।

2. सभी ग्राम पंचायत सदस्यों में से लगभग 75 प्रतिशत सदस्य इन बैठकों में नियमित रूप से उपस्थित होते हैं।

3. संविधान संशोधन के अनुरूप पंचायत अधिनियमों के बारे में पंचायतों को सूचना देने तथा उनमें संदेश का स्पष्टीकरण करने के लिए गांवों में सूचना केन्द्र स्थापित किए गए हैं। इससे ग्राम सभा व ग्राम पंचायत के सदस्यों को विभिन्न दिशा निर्देश को बेहतर ढंग से समझने में सहायता मिल रही है।

4. स्वयंसेवी संस्थाओं द्वारा प्रकशित समाचारपत्रों के माध्यम से अपने अनुभव बांटने और प्रमुख मुद्दों को समझने में सहायता मिल रही है।

5. स्थानीय भाषा में तैयार पंचायतों से संबंधित सामग्री बहुत कारगर सिद्ध हुई है। यहां तक की राज्य सराकरों ने भी उन्हें मान्यता दी है। इस तरह की सामग्री से ग्राम पंचायत व ग्राम सभा सदस्यों में जागरूकता आई है।

6. जागरूकता का स्तर इतना बढ़ा है कि कुछ राज्य जैसे मध्य प्रदेश के कुछ गांवों में स्वयं गांव वाले प्रशिक्षण कार्यक्रमों के दौरान रहने और खाने-पीने की लागत में योगदान देने के लिए आगे आए। जागरूकता का स्तर हिमाचल प्रदेश, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश और गुजरात जैसे अनेक राज्यों में ग्रामवासियों, प्रधानों, उप-प्रधानों, स्कूली शिक्षकों, गांव के नेताओं, महिला मंडल के

सदस्यों, युवा क्लबों के सदस्यों में इतना बढ़ा है कि उन्होंने स्वयं प्रशिक्षणों में साधन स्रोत व्यक्तियों के रूप में भाग लिया।

7. चुने गए प्रतिनिधियों व ग्राम सभा के सदस्यों को विकेन्द्रीकृत योजना या दूसरे शब्दों में कहें 'नीचे से ऊपर' की योजना बनाने की रणनीति में सहभागी बनाकर योजना के विभिन्न चरण जैसे-

1. समस्या की पहचान
2. प्राथमिकता निर्धारित करना,
3. समस्याओं का विश्लेषण,
4. कार्य योजना बनाना,
5. जिम्मेदारी तय करना,
6 मानीटरिंग व मूल्यांकन का बोध कराया गया है।

केन्द्र तथा राज्य स्तर पर कुछ विशिष्ट प्रयासः

पंचायत उपबंध (अनुसूचित क्षेत्रों में विस्तार), विधेयक 1996 : ग्राम सभा संपूर्ण पंचायती राज व्यवस्था का दिल व दिमाग है। अतः पंचायती राज व्यवस्था कितनी कारगर व प्रभावी होगी यह संस्था के सशक्त होने पर निर्भर करता है। 73वें संविधान संशोधन में राज्यों द्वारा ग्राम सभाएं गठित करनी होंगी, यह तो प्रावधान था लेकिन उसके कितने अधिकार व शक्तियां होंगी, यह राज्य विधान मंडल पर छोड़ दिया गया है था इसलिए अधिकतर राज्यों में ग्राम सभाओं को अधिकार व शक्तियां के नाम पर अंगूठा दिखा दिया। लेकिन पंचायत उपबंध (अनुसूचित क्षेत्रों में विस्तार), विधेयक 1996 (विस्तार अधिनियम) में ग्राम सभाओं के वास्तव में संपूर्ण पंचायती राज व्यवस्था को केन्द्र बिंदु बनाने का प्रयास किया गया है, जो इस विधेयक की निम्नलिखित विशेषताओं से प्रतीत होता हैः

1. राज्य द्वारा जो भी कानून बनाए बनाए जाएं वे पारंपरिक कानून, सामाजिक और धार्मिक रिवाजों और सामुदायिक संसाधनों के प्रबंधन के पारंपरिक तरीकों के अनुरूप हों।

2. हर गांव में ग्राम सभा हो जो लोगों की परंपराओं और रिवाजों को संरक्षित और सुरक्षित रखने में सक्षम हो तथा जिसे समाजिक और आर्थिक विकास के कार्यक्रमों को स्वीकृति देने और इन कार्यक्रमों के लाभार्थियों को चिन्हित करने का अधिकार भी प्राप्त हो।

3. पंचायतों का गौण वन उत्पादों पर स्वामित्व।

4. गौण खनिजों के बारे में लाइसेंस या खनन पट्टा देने के लिए ग्राम सभा या उचित स्तर की पंचायत की सलाह लेना।

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

5. विकास परियोजनाओं और इनसे प्रभावित आदिवासियों का पुनर्वास करने से पहले ग्राम सभा या उचित स्तर की पंचायत की पूर्ण संस्तुति लेना।

6. ग्राम सभा या उचित स्तर की पंचायतों के पास अनुसूचित क्षेत्र में जमीन के हस्तांतरण को रोकने या अवैध रूप से हस्तांतरित जमीन को वापस लेने हेतु उचित कार्यवाही करने की शक्ति।

7. ग्राम सभा या पंचायतों के उचित स्तर को अनुसूचित जनजातियों को उधार देने की प्रक्रिया का नियमित करने, गांव के बाजारों का प्रबंधन करने, किसी भी मादक पदार्थ के उपयोग या विक्रय को प्रतिबंधित या नियमित करने की शक्ति।

8. राज्य की विधान सभा पंचायतों के विभिन्न स्तरों के अधिकारों को स्पष्ट रूप से परिभाषित करे तथा ऊपरी स्तर की पंचायतों द्वारा निचले स्तर की पंचायतों या ग्राम सभाओं के अधिकारों को हड़पने से रोकने के लिए सुरक्षा के उचित उपाय करें।

9. राज्य विधान सभा पंचायतों के जिला स्तर की प्रशासनिक व्यवस्था को संविधान की छठी अनुसूची के प्रावधानों की तर्ज पर बानाने का प्रयास करें।

उपर्युक्त प्रावधान वास्तव में ग्रामीणों की आर्थिक विकास एवं सामाजिक न्याय दिलाने में महत्वपूर्ण वैधानिक प्रावधान हैं। वैसे यह अधिनियम 5वीं अनुसूचित क्षेत्रों (अर्थात बिहार, मध्य प्रदेश, हिमाचल प्रदेश, राजस्थान, गुजरात, उड़ीसा, आन्ध्र प्रदेश, महाराष्ट्र) में लागू होगा लेकिन गैर अनुसूचित क्षेत्रों में भी इसका विस्तार किया जा सकता है। कुछ राज्यों जैसे मध्य प्रदेश ने इस अधिनियम के प्रावधानों को गैर अनुसूचित क्षेत्रों में भी विस्तारित कर दिया है। कुल मिलाकर यह एक महत्वपूर्ण विधीय प्रावधान है जो पंचायतों को मजबूत करने में कारगर सिद्ध होगा।

राज्य वित्त आयोग की सिफारिशें :

पंचायतों को अपने कार्य सुचारु व प्रभावी ढंग से निष्पादित करने के लिए राज्यों में राज्य वित्त आयोगों का गठन 1994 के दौरान किया गया था। इन आयोगों के मुख्य कार्य निम्न प्रकार थे :

(क) (1) राज्य द्वारा उद्गृहीत करों, शुल्कों व पथकरों के लिए ऐसे शुद्ध आगमों को राज्य और पंचायतों के बीच बांटना जो राशि पंचायतों को हस्तांतरित की है उसे पंचायतों के विभिन्न स्तरों में बांटना,

(2) ऐसे करों, शुल्कों व पथकरों को, जो पंचायतों को समनुदिष्ट की जा सकेंगी या उनके द्वारा विनियोजित की जा सकेगी,

(3) राज्य की संचित निधि में से पंचायतों के लिए सहायता अनुदान को, शासित करने वाले सिद्धांतों के बारे में,

(ख) पंचायत की वित्तीय स्थिति को सुधारने के लिए आवश्यक उपायों के लिए सुझाव,

(ग) पंचायतों के सुदृढ़ वित्त के हित में राज्यपाल द्वारा वित्त आयोग को निर्दिष्ट किए गए किसी अन्य विषय के बारे में, राज्यपाल को सिफारिश करेगा।

ग्यारहवें वित्त आयोग की पंचायत संबधित सिफारिशें

आयोग की मुख्य सिफारिशें:

1. संविधान के अनुच्छेद 243झ में संशोधन करके एस.एफ.सी. को प्रत्येक पांच वर्ष अथवा उससे पूर्व समाप्त कर, गठन करके आयोग के पहले से विद्यमान अनुच्छेद 280 के अंतर्गत पंचायतों के लिए वित्तीय प्रावधान बनाने संबंधी कार्य के लिए सक्षम बनाना चाहिए। एस.एफ.सी. की रिपोर्ट में पंचायत वित्त के ऊपर एक विशेष अध्याय शामिल हो ताकि इन्हें आयोग के लिए और अधिक उपयोगी बनाया जा सके। राज्य सरकारें एस.एफ.सी. की रिपोर्ट प्रस्तुत होने के बाद 6 महीने के भीतर की गई कार्रवाई की रिपोर्ट राज्य विधानमंडल पटल पर रखेगी तथा इसी अवधि के दौरान एस.एफ.सी. की अनुशंसाओं पर अपने निर्णय लेगी। राज्य विधानमंडल सुनिश्चित करे कि एस.एफ.सी. के अध्ययनों और सदस्यों को विशिष्ट क्षेत्र के विशेषज्ञों जैसे अर्थशास्त्र, विधि, लोक प्रशासन व लोक वित्त से लिया जाना चाहिए।

2. स्थानीय निकायों के राजस्व आधार को मजबूत करने के लिए भूमि/खेत की आय पर कुछ रूप में कर लगाना। इससे प्राप्त धन का प्रयोग नागरिक सेवाओं में सुधार और सुदृढ़ीकरण के लिए होना चाहिए। राज्य स्थानीय निकायों के संसाधनों को बढ़ाने के दृष्टिकोण से व्यवसाय कर लगाएं अथवा स्थानीय निकायों को इसे लगाने की शक्ति प्रदान करें, साथ ही कर की दरों में समय-समय पर उचित संशोधन का भी प्रावधान करें। संपति कर व गृह कर की पूरी वसूली होनी आवश्यक है।

3. राज्यों के वर्तमान लेखाशीर्ष की समीक्षा की जानी चाहिए। प्रत्येक मुख्य शीर्ष या उप मुख्य शीर्ष के लिए 6 लघु शीर्षों का सृजन करना चाहिए। इन 6 लघु शीर्षों में 3 पंचायती राज्य संस्थाओं के लिए व 3 शहरी स्थानीय निकायों के लिएहोने चाहिए। इस कार्य को भारत के नियंत्रण और महालेखा परीक्षक (सी.जी.ए.) से परामर्श करके किया जाना चाहिए। पंचायतों को लेखा नियंत्रण व स्तरों पर लेखा परीक्षा का उत्तरदायित्व सी.ए.जी. को सौंपना चाहिए। पंचायत लेखों की परीक्षा से संबंधित नियंत्रक और महालेखा परीक्षक की रिपोर्ट लोक लेखा समिति की तरह बनाना व विधानमंडल समिति के समक्ष रखना।

4. जैसा पहले भी जिक्र किया गया है, पंचायतों

TRI IAS

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

के लिए 1600 करोड़ रुपए अनुदान की अनुशंसा वित्तीय वर्ष 2000-01 से आरंभ होने वाले प्रत्येक पांच वर्षों के लिए राज्यों को दी गई है। पंचायतों को हस्तांतरित अनुदान ग्रामीण जनसंख्या (40 प्रतिशत), विकेन्द्रीकरण सूचकांक (20 प्रतिशत), प्रति उच्च आय का अंतर (20 प्रतिशत), स्थानीय निकायों का राजस्व प्रयास (10 प्रतिशत) और भौगोलिक क्षेत्र (10 प्रतिशत) पर आधारित है। उपर्युक्त के अतिरिक्त अयोग ने 11वीं अनुसूची में सूचीबद्ध 29 कार्यों को पंचायातों को हस्तांतरित करने, ग्रामीण मंत्रालय द्वारा पंचायतों को स्व:शासन की संस्थाएं बनाने के मार्ग में जो बाधाएं आ रही हैं उनको दूर किये जाने, आदि की सिफारिशें भी सरकार को प्रस्तुत की है। एक वर्ष के दौरान विभिन्न राज्यों को 1600 करोड़ रुपए की राशि का आबंटन अनुबंध 10 में दिया गया है। अनुबंध को देखने से ज्ञात होता है कि राज्यों में सबसे अधिक राशि उत्तर प्रदेश को और सबसे कम राशि सिक्किम को आबंटित की गई है।

5. पंचायातों के पास जहां लेखों के रखरखाव के लिए प्रशिक्षित व्यक्ति नहीं हैं, औसतन 4000 रुपए की धनराशि प्रतिवर्ष लेखों के रखरखाव पर व्यय की जा सकेगी। यह सभी पंचायतों के लिए सिफारिश की गई राशि में से ही की जाएगी। राज्यवार पंचायती राज व्यवस्था में निम्न व मध्य स्तर की पंचायतों के लिए लेखा के रखरखाव के लिए 9860.72 लाख रुपए का प्रावधान किया गया है। पंचायतों के वित्त पोषण के आंकड़ों के आधार को जिले, राज्य व केन्द्र स्तर पर और इसे कम्प्यूटर के माध्यम से जोड़कर विकसित किया जाना चाहिए। पंचायतों के वित्त पोषणों से संबंधित डाटाबेस के सृजन के लिए राज्यवार राशि का प्रावधान है।

6. 73वें संविधान संशोधन की 11वीं अनुसूची में दिए गए 29 कार्यों और स्थानीय योजनाओं को बनाने का कार्य पंचायतों को हस्तांतरित किया जाए।

7. त्रिस्तरीय पंचायती व्यवस्था को लचीला बनाया जाए अर्थात अमुक राज्य में पंचायतों के कितने स्तर हाने चाहिए यह राज्य विधानमंडल पर छोड़ देना चाहिए।

8. ग्रामीण विकास मंत्रालयों को पंचायतों को विकास के मार्ग में आने वाली रूकावटों को दूर करने के लिए ठोस कदम उठाने चाहिए। इस मंत्रालय को 11वीं अनुसूची में शामिल विषयों से संबंधित योजनाओं को पंचायतों को हस्तांतरित करने के प्रयास करने चाहिए।

9. मेघालय, मिजोरम व नागालैण्ड के विधानमंडलों को छठी अनुसूची से भिन्न क्षेत्रों में 73वें संशोधन के प्रावधानों को लागू करने के लिए उचित कार्रवाई करनी चाहिए।

निष्कर्ष :

अतीत में भारत में पंचायतें विभिन्न रूप में थी लेकिन वे लोकतांत्रिक नहीं थी, उनमें ग्रामीण समाज के उच्च वर्ग का वर्चस्व था। महिलाओं की भागीदारी भी नहीं थी। चूंकि ये संस्थाएं आम आदमी की भागीदारी ग्रामीण विकास में सुनिश्चित नहीं कर सकीं इसलिए असफल हो गई। अंग्रजी शासन काल में प्रथम बार लार्ड रिपन ने पंचायतों को स्वायत्त शासन की इकाई का दर्जा तो दिया लेकिन स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद संविधान की धारा 40 के तहत पंचायतें संविधान के नीति-निर्देशक भाग का अंग बन सकीं। 1957 में बलवंतराय मेहता समिति के 21 वर्ष बाद अशोक मेहता समिति ने पंचायतों को राजनैतिक संस्थाओं का दर्जा देने की सिफारिश की क्योंकि समिति की सोच थी कि योजना व विकास राजनैतिक प्रक्रिया का ही अंग है। इस समिति की सिफारिश के बाद आन्ध्र प्रदेश, कर्नाटक, पश्चिम बंगाल के अलावा अन्य राज्यों में पंचायतों को अधिकार व शक्ति प्रदान करने की बात तो दूर रही उनके लगातार चुनाव भी नहीं हुए। वर्ष 1986 में सिंघवी समिति ने पंचायतों के विकास के प्रति राजनैतिक दल ने राजनैतिक इच्छा दर्शाई थी। उस समय आम राय यह बनी कि पंचायातों के विकास के लिए पंचायतों को संविधान के 9वें भाग में रखने के अलावा कोई चारा नहीं है। इस प्रकार 73वें संविधान संशोधन द्वारा पंचायतों को संविधान की 9वीं अनुसूची में रखा गया।

12वां वित्त आयोग:-

12वां वित्त आयोग में पंचायतों को सौंपे गये संसाधन के वित्त संसाधनों को सुगम बनाने के लिए राज्यों की संचित निधि में वृद्धि करने के उद्देश्य से 2005-10 अवधि के दौरान राज्य सरकारों को अनुदान के रूप में 20,000 करोड़ रुपये उपलब्ध कराने की सिफारिश की गई थी। वित्त मंत्रालय ने पंचायती राज मंत्रालय के परामर्श के बाद अपनी दिशा-निर्देशों में यह आदेश दिया की धन राशि राज्य की संचित निधि में जमा होने के 15 दिन के भीतर अनिवार्य रूप से पंचायतों को दे दी जाए। यदि राज्य की ओर से पंचायती राज संस्थाओं को धन राशि देने में विलम्ब होता है तो राज्य सरकार द्वारा भारतीय रिजर्व बैंक के दर पर ब्याज चुकाना होगा।

निर्मल ग्राम पुरस्कार:-

गांव में स्वच्छता को बढ़ावा देने के लिए पंचायती राज व्यवस्थाओं को निर्मल ग्राम पुरस्कार प्रदान किया जाता है। इस पुरस्कार के तहत दी जाने वाली राशि ग्रामीण स्तर पर 50,000-5 लाख रुपये तक, ब्लॉक स्तर पर 10-20 लाख रुपये तथा जिला स्तर पर 30-50 लाख रुपये निर्धारित है।

राज्यों के पंचायत अधिनियम में वर्णित कुछ नये आयाम:-

73वें संविधान संशोधन द्वारा पंचायती राज संस्थाओं को अधिकार व शक्तियां प्रदान करने की जिम्मेदारी हर राज्य की विध न मंडल को सौंपी गई है। अत: प्रत्येक राज्य ने अधिकार व शक्तियों के विवरण के अलावा कुछ ऐसे बिन्दुओं को भी अपने

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

विधि में प्रावाधानों के रूप में रखा है, जो पंचायती राज के क्रियाकलाप में नया आयाम जोड़ते हैं जैसे:-

(1) आन्ध्र प्रदेश, मध्य प्रदेश, राजस्थान, हरियाणा के पंचायत अधिनियमों में दो से अधिक बच्चों वाले व्यक्तियों को पंचायती राज के किसी भी स्तर की संस्था हेतु चुनाव में उम्मीदवार बनने का अधिकार नहीं है।

(2) बिहार, गोवा, राजस्थान और हिमाचल प्रदेश में ग्राम सभा द्वारा ग्राम पंचायत के कार्यो की देख-रेख के लिए एक या एक से अधिक निगरानी समिति गठित की जाती है।

(3) संपूर्ण राज्यों में आन्ध्र प्रदेश ही एक मात्र ऐसा राज्य है जहाँ अल्पसंख्यकों के लिए पंचायतों में आरक्षण का प्रावधान है।

(4) गुजरात के पंचायत अधिनियम में पंचायती राज संस्थाओं की क्रियाकलाप हेतु राज्य सरकार को परामर्श देने के लिए एक संस्था गठित करने का प्रावधान है। जिसे 'पंचायतों हेतु राज्य परिषद्' के नाम से जाना जाता है। सभी जिला परिषदों के अध्यक्ष इसके सदस्य होंगे इस संस्था का अध्यक्ष राज्य का पंचायत मंत्री होगा।

(5) कुछ राज्यों जैसे- बिहार, पंजाब और हरियाणा में ग्राम पंचायत के अध्यक्ष को उस पंचायत क्षेत्र के मतदाताओं के 2/3 बहुमत से पारित अविश्वास प्रस्ताव द्वारा उसके पद से हटाया भी जा सकता है।

(6) बिहार, उत्तराखण्ड तथा मध्य प्रदेश के पंचायत अधिनियमों में महिलाओं के लिए पंचायतों के तीनों स्तरों में 50 प्रतिशत आरक्षण का प्रावधान किया गया है।

(7) केरल के पंचायत अधिनियम में ऐसा प्रावधान है कि ग्राम पंचायत ग्राम सभा के सुझाव पर किसी मुद्दे का पालन नहीं करती है तो उसे ग्राम सभा में उसका कारण बताना होगा।

पंचायती राज की उपलब्धियां:-

(1) पंचायती राज व्यवस्था से गांव में राजनीतिक एवं प्रशासनिक संस्थाओं के बारे में समझ का विकास हुआ है जिसके कारण ग्रामवासि इन संस्थाओं में सक्रिय सहभागिता के लिए आकर्षित हुए हैं।

(2) लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की इस प्रक्रिया में समाजीकरण के दौर से गुजरते व्यक्तियों के बीच लोकतांत्रिक मूल्यों के विकास से अधिकारों के प्रति चेतना वहीं है।

(3) शिक्षण संस्थाओं की शुरूआत में साक्षरता का प्रतिशत ही नहीं बढ़ाया है बल्कि गांव के व्यक्तियों की विचारों एवं मूल्यों में परिवर्तन के लिए भी कार्य किया।

(4) पंचायती राज व्यवस्था की लागू होने के बाद गांव में सामाजिक बुराइयों की समाप्ति के लिए भी एक वातावरण तैयार हुआ है।

पंचायती राज सफलता के लिए सुझाव:-

भारत के लिए गांव आर्थिक समृद्धि का प्रतीक है। देश तभी फलेगा-फुलेगा जब उसकी आत्मा के रूप में गांव की प्रगति हो। गांव का विकास पंचायतों की सफलता के द्वारा ही संभव है। पंचायतों की सफलता के लिए निम्नलिखित सुझाव दी जा सकती है:-

(1) पंचायती राज संस्थाओं में व्याप्त गुटबंदी को समाप्त करना होगा।
(2) पंचायतों के चुनाव में मतदान को अनिवार्य करना होगा।
(3) पंचायतों के वित्तीय हालत सुधारनी होगी।
(4) अधिकारियों को पंचायतों के मित्र, दार्शनिक एवं पथ-प्रदर्शक के रूप में कार्य करना चाहिए।
(5) पंचायतों के निर्वाचित प्रतिनिधियों को प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए।

First IAS

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

संघीय कार्यपालिका

भारत में सर्वोच्च संवैधानिक पद राष्ट्रपति का है, क्योंकि वह संघ की कार्यपालिका के शीर्ष पर है। संविधान के भाग 5 का अध्याय 1, संघीय कार्यपालिका के प्रावधानों का वर्णन करता है। अनु. 52 में कहा गया है कि भारत का एक राष्ट्रपति होगा। अनु. 53 राष्ट्रपति की शक्तियों का वर्णन करते हुए कहता है कि, संघ की कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति में निहित होगी और वह इसका प्रयोग इस संविधान के अनुसार स्वयं या अपने अधीनस्थ अधिकारियों के द्वारा करेगा (अनु. 53(1))। संघ के रक्षा बलों का सर्वोच्च समादेश राष्ट्रपति में निहित होगा और इसका प्रयोग विधि के द्वारा विनियमित होगा (अनु. 53 (2)। अनु. 53(2) राष्ट्रपति को तीनों सेनाओं के अध्यक्ष (अर्थात् सुप्रीम कमाण्डर) के रूप में प्रतिष्ठित करता है।

राष्ट्रपति का निर्वाचन:

भारत में संसदीय सरकार की स्थापना की गई है और हमने संसदीय प्रणाली के लगभग वही प्रतिमान संविधान में अपनाए हैं जो ब्रिटेन में हैं। केवल एक मामले में हमारी संसदीय प्रणाली ब्रिटेन से भिन्न है। ब्रिटेन में राजतंत्रात्मक-लोकतंत्र को स्वीकृति दी गई है, ब्रिटिश राज्य का प्रमुख वंश-परंपरा द्वारा निर्धारित होता है, जबकि भारत में गणतंत्रीय लोकतंत्र को अपनाया गया है। गणतंत्र का अर्थ है-वह शासन जहां कार्यपालिका का प्रमुख जनता द्वारा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित होता हो, किसी वंश परम्परा पर आधारित शासक का अभाव हो।

भारत में संसदीय प्रणाली स्थापित है, जिसमें एक व्यक्ति कार्यपालिका का वास्तविक प्रधान होता है और दूसरा व्यक्ति नाममात्र का प्रधान होता है। राष्ट्रपति नाममात्र है का ही प्रधान है, वास्तविक शक्ति तो प्रधानमंत्री और उसके मंत्रिमंडल में निहित है। नाममात्र के प्रधान को जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से न चुनकर उसे जनता के प्रतिनिधियों (विधायकों तथा सांसदों) द्वारा चुना जाता है, इसीलिए राष्ट्रपति के चुनाव की प्रक्रिया अप्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति की है। अप्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति अपनाने का सबसे बड़ा कारण हमारी संसदीय प्रणाली ही है। संविधान निर्मात्री सभा में जवाहर लाल नेहरू ने कहा था कि राष्ट्रपति के निर्वाचन के लिए प्रत्यक्ष निर्वाचन का प्रावधान इसलिए नहीं किया गया है क्योंकि हम समूह और व्यवस्थापिका में हैं, न कि राष्ट्रपति में। राष्ट्रपति संवैधानिक प्रमुख है उसके पद में राष्ट्र की शक्ति और गरिमा निहित है लेकिन उसे वास्तविक शक्ति का प्रयोग नहीं करना है। भारत के राष्ट्रपति पद हेतु चुनाव का होना उसके स्वरूप को गणतांत्रिक बनाता है। संविधान का अनु. 54 और 55 राष्ट्रपति क पद के लिए होने वाली चुनाव प्रक्रिया से संबंधित है। अनु. 54 राष्ट्रपति के चुनाव में भाग लेने वाले लोगों से संबंधित है। अनु. 54 के अनुसार, राष्ट्रपति का निर्वाचन ऐसे निर्वाचन मंडल के सदस्य करेंगे, जिसमें

(क) संसद के दोनों सदनों के निर्वाचन सदस्य और

(ख) राज्यों की विधानसभाओं के निर्वाचित सदस्य,

होंगे।

70वें संविधान संशोधन (1992) के द्वारा राज्यों की विधानसभाओं में दिल्ली व पांडिचेरी संघ शासित क्षेत्रों की विधानसभाओं को भी शामिल कर लिया गया है। राष्ट्रपति के चुनाव में किसी भी प्रकार से मनोनीत या नामांकित सदस्य भाग नहीं ले सकते क्योंकि उन्हें किसी भी अर्थ में जनता का प्रतिनिधि नहीं कहा जा सकता। विधानपरिषद् के सदस्य इसलिए शामिल नहीं किए जाते, क्योंकि रचना की दृष्टि से विधानपरिषद् स्थायी या शास्वत सदन नहीं है, जैसे कि राज्यसभा है, क्योंकि उसे कभी भी समाप्त किया जा सकता है (अनु. 169)।

अनु. 55, राष्ट्रपति के निर्वाचन की पद्धति या रीति से संबंधित है। जिसमें कहा गया है कि, जहां तक संभव हो राष्ट्रपति के निर्वाचन में भिन्न-भिन्न राज्यों के प्रतिनिधित्व के संदर्भ में समानता रखी जाएगी। राज्यों में आपस में ऐसी एकरूपता तथा समस्त राज्यों और संघ में समतुल्यता प्राप्त कराने के लिए एक निश्चित सूत्र की स्थापना की गई है। संसद और प्रत्येक राज्य की विधानसभा का प्रत्येक निर्वाचित सदस्य ऐसे निर्वाचन में मत तो एक ही देगा किन्तु उसके एक मत को 'मत-मूल्य' के परिप्रेक्ष्य में देखा जाएगा। मत-मूल्य निकालने की पद्धति इसलिए अपनाई गई क्योंकि राष्ट्रपति को जनता का वास्तविक प्रतिनिधि बनाया जा सके।

(ख) संसद के प्रत्येक सदन के प्रत्येक निर्वाचित सदस्य के मतों की संख्या वह होगी जो उपरोक्त सूत्रानुसार सभी राज्यों की विधानसभाओं के सदस्यों के लिए नियत कुल मतों की संख्या को, संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्यों की कुल संख्या से भाग देने पर आए, जिसमें आधे से अधिक भिन्न को एक गिना जाएगा और अन्य भिन्नों की उपेक्षा कर दी जाएगी, अर्थात्

आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली में विजयी व्यक्ति की मतों का निश्चित कोटा प्राप्त करना आवश्यक होता है। चूंकि यह प्रणाली बहुसदस्यी निर्वाचन क्षेत्रों के लिए होती है, किन्तु भारत के राष्ट्रपति का पद बहुसदस्यीय नहीं है, लेकिन फिर भी इसके लिए आनुपातिक निर्वाचन पद्धति रखने का कारण यह था कि, जो भी व्यक्ति राष्ट्रपति बने उसे संपूर्ण मतदाताओं के मतों का बहुमत अवश्य प्राप्त हो। इस पद्धति में मतदाताओं को प्रत्याशियों के नाम के आगे अपनी रुचि के अनुसार वरीयता अंकित करनी होती है और यह वरीयता प्रथम, द्वितीय और तृतीय आदि के रूप में देनी होती है। ऐसा इसलिए किया जाता है कि, यदि उनकी रुचि का प्रथम वरीयता वाला उम्मीदवार चुनाव न जीत पाए तो उनका मत व्यर्थ न चला जाए, वह द्वितीय वरीयता वाले उम्मीदवार को स्थानांतरित हो जाए।

Tyagi IAS

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

मान लीजिए राष्ट्रपति के निर्वाचन में दिए गए वैध मतों की संख्या 20,000 है, चुने जाने वाले व्यक्ति कोई एक ही होंगे क्योंकि राष्ट्रपति किसी एक व्यक्ति को ही बनना है, और चुनाव लड़ने वाले प्रत्याशियों की संख्या 4 है।

अर्थात् उपरोक्त चारों प्रत्याशियों में से किसी भी व्यक्ति को राष्ट्रपति बनने के लिए कम से कम 10001 मत प्राप्त करना आवश्यक होगा, अर्थात् कुल वैध मतों का 50%+1। कल्पना करें कि चारों प्रत्याशियों में निम्नलिखित प्रकार से प्रथम वरीयता का मत प्राप्त किया है-

अ - 7000
ब - 6000
स - 4000
द - 3000

उपरोक्त मतदान से स्पष्ट है कि, किसी भी उम्मीदवार को बहुमत अर्थात् 10001 मन नहीं मिला है। ऐसी दशा में 'द', जिसे सबसे कम मत मिले हैं, उसे पराजित घोषित कर उसके 3000 मतों पर दिए गए द्वितीय वरीयता वाले मतों को शेष तीनों प्रत्याशियों में बांट दिया जाएगा। मान लीजिए, द के द्वितीय वरीयता मत इस प्रकार हैं:

अ - 1000
ब - 1200
स - 800

ये सभी मत अ, ब तथा स को प्रथम वरीयता मतों में जोड़ दिए जाएंगें, तब उन्हें प्राप्त मतों की संख्या इस प्रकार हो जाएगी।

अ - 7000+1000 = 8000
ब - 6000+1200 = 7200
स - 4000+800 = 4800

किन्तु द्वितीय वरीयता के मत प्राप्त होने पर भी किसी भी प्रत्याशी को बहुमत नहीं मिल पाया, अत: 'स' को, जिसे सबसे कम मत मिले हैं; उसे पराजित घोषित कर उसके 4800 मतों पर अंकित तृतीय वरीयता वाले मतों को शेष बचे दोनों उम्मीदवारों में बांट दिया जाएगा। अब मान लीजिए कि ऐसे हस्तनांतरण से अ को 2400 एवं ब को 2400 मत मिल जाय तो उन्हें प्राप्त मतों का विवरण इस प्रकार हो जाएगा:

अ - 8000+2400 = 10400
ब - 7200+2400 = 9600

अब यहां आकर 'अ' को मतों का निर्धारित कोटा मिल जा रहा है, अत: उसे विजयी घोषित कर दिया जाएगा। यह प्रक्रिया तब तक चलती रहेगी, जब तक कि किसी उम्मीदवार को बहुमत अर्थात् आधे से अधिक मत, अर्थात् कोटा प्राप्त न हो जाए।

1969 ई. में हुए राष्ट्रपति के चुनाव में जब वी.वी. गिरि ने नीलम संजीव रेड्डी को हराकर चुनाव जीता था, तब द्वितीय वरीयता वाले मतों कि गिनती की गई और वी.पी. गिरि को विजयी घोषित किया गया। ऐसा अब तक केवल एक ही बार हुआ है और शेष अन्य सभी राष्ट्रपति प्रथम वरीयता के मतों की गणना में बहुमत प्राप्त कर विजयी घोषित हुए हैं।

संविधान के अनुच्छेद 71 के अनुसार राष्ट्रपति या उपराष्ट्रपति के निर्वाचन से उत्पन्न या संबंधित सभी शंकाओं और विवादों की जांच और विनिश्चित सर्वोच्च न्यायालय करेगा। इस मामले में किसी अन्य न्यायालय को अधिकारिता नहीं है और सर्वोच्च न्यायालय का निर्णय अंतिम होगा। 1957 ई. में जब राष्ट्रपति चुनाव होने वाला था तो उस चुनाव को इस आधार पर चुनौती दी गई कि, निर्वाचन मंडल के कुछ स्थान (पंजाब, हिमाचल प्रदेश के विधानसभाओं में कुछ स्थान रिक्त थे) खाली थे, अर्थात् निर्वाचन मण्डल अपूर्ण था, अत: चुनाव स्थगित कर देना चाहिए।

उच्चतम न्यायालय ने निर्णय दिया दिया कि, राष्ट्रपति के चुनाव पर आपत्ति करने वाली कोई भी याचिका केवल उस चुनाव के पूरा हो जाने के बाद ही स्वीकार की जा सकती है, अर्थात् जब कोई प्रत्याशी चुनाव जीत चुका हो। यदि ऐसा नहीं किया जाएगा तो राष्ट्रपति का चुनाव अनेक वर्षों तक मुकदमों के कारण रुका नहीं ही जाएगा और अनु. 62 का यह उल्लंघन होगा। 1961 ई. में संविधान में 11वां संशोधन करके यह स्थापित कर दिया गया कि, राष्ट्रपति या उपराष्ट्रपति के रूप में किसी व्यक्ति के निर्वाचन को उसे निर्वाचित करने वलो निर्वाचन गण के सदस्यों में किसी भी कारण विद्यमान किसी भी रिक्ति के आधार पर प्रश्नगत नहीं किया जाएगा (अनु. 71(4))। चुनाव पूर्ण हो जाने पर डॉ. खरे ने पुन: राष्ट्रपति के निर्वाचन को चुनौती देते हुए मुकद्मा दायर किया, जिसे उच्चतम न्यायालय ने खारिज कर दिया। न्यायालय ने यह भी कहा कि राष्ट्रपति या उपराष्ट्रपति के निर्वाचन के संबंध में आपत्ति 10 या 10 से अधिक मतदाता संयुक्त रूप से ही कर सकते हैं। मार्च 1974.... के समय बनाकर, कि निर्वाचन मंडल अपूर्ण है, राष्ट्रपति के चुनाव को स्थगित करने का आदेश जारी करने हेतु सर्वोच्च न्यायालय में एक याचिका दायर की गई। विधनसभा भंग होने या निर्वाचन मंडल में हुई किसी रिक्ति के आधार पर चुनाव को चुनौती नहीं दी जा सकेगी और ऐसा निर्वाचन वैध होगा। न्यायालय ने यह भी कहा कि, राष्ट्रपति के चुनाव में ऐसे सांसदों तथा विधायकों को शामिल किया जाएगा जो निवारक-निरोध कानून के अंतर्गत गिरफ्तार हों या ऐसे विधायक भी मतदान में शामिल होंगे जो किसी निलंबित विधानसभा के सदस्य हों।

लेकिन आज जिस प्रकार से राजनीतिक क्षरण हो रहा है और सत्तारूढ़ दल तथा विपक्षी दलों के बीच वैचारिक मतभेद जिस प्रकार शत्रुता का रूप लेता जा रहा है, उससे यह आशंका निराधार नहीं है कि, भविष्य में केन्द्र में सत्तारूढ़ दल (जिसका कि लोकसभा तथा राज्यसभा, दोनों में बहुमत हो) राज्यों में स्थिति विपक्षी दलों की सरकार को भंग कर वहां, राष्ट्रपति शासन लगाकर, राष्ट्रपति के चुनाव परिणाम को प्रभावित कर दे। यदि ऐसा

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

कुछ हुआ तो यह संविधान के प्रति निष्ठा की शपथ का उल्लंघन होगा तथा संविधान के प्रावधानों का दुरुपयोग भी। ऐसे में उच्चतम न्यायालय क्या केन्द्र की मंशा पर उंगली उठाएगा? यह एक महत्पूर्ण संवैधानिक प्रश्न है। लेखक का विचार है कि, संसद एवं सर्वोच्च न्यायालय को इस प्रश्न का अतिशीघ्र समाधान खोजना चाहिए क्योंकि यह प्रश्न न केवल राष्ट्रपति चुनाव के 'मैनिपुलेशन' से जुड़ा है, अपितु केन्द्र-राज्य संबंधों से भी जुड़ा हुआ है।

राष्ट्रपति निर्वाचित होने के लिए अर्हता:

संविधान सभा ने राष्ट्रपति बनने के लिए अत्यंत सामान्य प्रावधान किया था, जिससे कि भारत का कोई भी नागरिक इस सर्वोच्च संवैधानिक पद पर आसीन हो सके। कोई भी व्यक्ति राष्ट्रपति के रूप में निर्वाचित होने का पात्र तभी होगा, जब वह अनु. 58 (1) के अनुसार

(क) भारत का नागरिक हो,

(ख) 35 वर्ष की आयु पूरी कर चुका हो और

(ग) लोकसभा का सदस्य निर्वाचित होने के लिए अर्हित हो।

अनु. 58(2) के अनुसार, कोई व्यक्ति जो भारत सरकार के या किसी राज्य सरकार के अधीन अथवा उक्त सरकारों में से किसी के नियंत्रण में किसी स्थानीय या अन्य प्राधिकारी के अधीन कोई लाभ का पद धारण करता है, राष्ट्रपति निर्वाचित होने के पात्र नहीं होगा। इस अनुच्छेद के प्रयोजनों के लिए कोई व्यक्ति केवल इस कारण कोई लाभ का पद धारण करने वाला नहीं समझा जाएगा कि वह संघ का राष्ट्रपति या उपराष्ट्रपति या किसी राज्य की राज्यपाल है, अथवा संघ का या किसी राज्य का मंत्री है। राष्ट्रपति जैसे सर्वोच्च पद पर पहुंचने के लिए किसी विशिष्ट प्रावधान या योग्यता के अभाव में ऐसे अगंभीर लोग भी चुनाव लड़ने लगे जो केवल समाचारों में स्थान बनाने के लिए चुनाव-मैदान में आते थे।

अत: संसद ने राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति निर्वाचन (संशोधन) अधिनियम, 1997 पारित करके दुरुपयोग को रोकने का प्रावधान किया है। अब राष्ट्रपति पद के लिए किसी व्यक्ति के नाम को कम-से-कम 50 मतदाताओं द्वारा प्रस्तावित तथा 50 मतदाताओं द्वारा समर्थित होना चाहिए। उपराष्ट्रपति पद के लिए व्यक्ति के नाम को 20 मतदाताओं द्वारा प्रस्तावित और 20 मतदाताओं द्वारा समर्थित होना चाहिए। इसके अतिरिक्त इन पदों पर चुनाव लड़ने वाले व्यक्तियों को 15000 रुपये जमानत के रूप में जमा करना होगा। चुनाव में यदि किसी प्रत्याशी को मतदान में डाले गए मतों का 1/6 भाग प्राप्त न हो तो उसका जमानत राशि जब्त कर ली जाती है। इन सभी प्रावधानों का उद्देश्य अगंभीर व्यक्तियों को चुनाव लड़ने से रोकना है।

अनु. 57 के अनुसार कोई भी व्यक्ति जो राष्ट्रपति के रूप में पद धारण कर रहा है या पद धारण कर चुका है, वह उस पद के लिए पुनर्निवाचन का पात्र होगा। अमेरिका के संविधान में किसी भी व्यक्ति को दो कार्यकाल (8 वर्ष) से अधिक राष्ट्रपति का पद धारण करने की अनुमति नहीं दी गई है। लेकिन भारत का संविधान इस प्रकार का कोई बंधन नहीं लगाता।

राष्ट्रपति पद के लिए शर्तें (अनु. 59):

अनु. 59 के अनुसार, राष्ट्रपति के पद के लिए कतिपय शर्तें निर्धारित करता है।

अनु. 59(1) के अनुसार, राष्ट्रपति संसद के किसी सदन का या किसी राज्य के विधानमंडल के किसी भी सदन का सदस्य नहीं होगा और यदि संसद या किसी राज्य के विधानमंडल का कोई सदस्य राष्ट्रपति चुन लिया जाता है तो यह समझा जाएगा कि, उसने अपना स्थान राष्ट्रपति के रूप में अपने पद ग्रहण की तिथि से रिक्त कर दिया है अर्थात् उसे त्यागपत्र देने की आवश्यकता नहीं है। अनु. 59(1) से स्पष्ट है कि विधायक या सांसद राष्ट्रपति का चुनाव लड़ सकते हैं और यह पद 'लाभ के पद' के अंतर्गत नहीं समझे जाएंगे। अनु. 59(2) के अनुसार राष्ट्रपति कोई भी लाभ का पद धारण नहीं करेगा।

अनु. 59(3) राष्ट्रपति बिना किराया दिए, अपने शासकीय निवासों के उपयोग का हकदार होगा और ऐसी उपलब्धियों, भत्तों और विशेषाधिकारों का भी, जो संसद विधि द्वारा अवधारित करे और जब तक इस निमित्त इस प्रकार उपबंध नहीं किया जाता, तब तक ऐसी उपलब्धियों, भत्तों एवं विशेषाधिकारों का, जो दूसरी अनुसूची में विनिर्दिष्ट हैं हकदार होगा।

अनु. 59(4) के अनुसार, राष्ट्रपति की उपलब्धियां और वेतन, उसकी पदावधि के दौरान कम नहीं किए जाएंगे।

राष्ट्रपति द्वारा शपथ या प्रतिज्ञान:

अनु. 60 के अनुसार, कोई भी व्यक्ति जो राष्ट्रपति के रूप में निर्वाचित घोषित हुआ है, या जिसे राष्ट्रपति के रूप में काम करना है, वह अपना पद ग्रहण करने के पूर्व भारत के मुख्य न्यायमूर्ति या उसकी अनुपस्थिति में उच्चतम न्यायलय के उपलब्ध वरिष्ठतम न्यायाधीश के समक्ष शपथ लेगा या प्रतिज्ञान करेगा तथा उसपर अपने हस्ताक्षर करेगा।

राष्ट्रपति का कार्यकाल और पद से हटाया जाना:

अनु. 56(1) के अनुसार, राष्ट्रपति अपने पद ग्रहण की तिथि से 5 वर्ष की अवधि तक पद धारण करेगा, परंतु

(क) राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति को संबोधित अपने हस्ताक्षर सहित लेख द्वारा अपना पद त्याग सकेगा,

(ख) संविधान का अतिक्रमण करने के आधार पर, राष्ट्रपति को अनु. 61 में वर्णित महाभियोग की प्रक्रिया द्वारा अपने पद से हटाया जा सकेगा,

(ग) राष्ट्रपति अपने पद की अवधि समाप्त हो जाने पर भी तब तक पद धारण करेगा जब तक इसका उत्तराधिकारी अपना पद ग्रहण नहीं कर लेता है।

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

अनु. 56(2) में वर्णित प्रावधान इसलिए रखा गया है कि जब राष्ट्रपति अपना त्यागपत्र उपराष्ट्रपति को देगा, तो उपराष्ट्रपति को तुरंत राष्ट्रपति का दायित्व ग्रहण करना पड़ेगा और जब उपराष्ट्रपति, राष्ट्रपति बना जाएगा तो राज्यसभा के पदेन सभापति के दायित्व से वह मुक्त हो जाएगा, तब उपसभापति ही, सभापति के दायित्वों का निर्वहन करेगा। अत: लोकसभाध्यक्ष को यह जानना आवश्यक है कि राज्यसभा के कामकाज को कौन देख रहा है, क्योंकि सदन से विधेयक के पारित होने का प्रमाणपत्र सभापति के द्वारा ही दिया जाता है।

अनु. 56(1)ख राष्ट्रपति पर महाभियोग चलाने का प्रावधान करता है, किन्तु इस महाभियोग की प्रक्रिया या पद्धति का वर्णन अनु. 61 में है। अनु. 61 के अनुसार राष्ट्रपति पर महाभियोग केवल एक आधार पर चलाया जा सकता है:- संविधान का अतिक्रमण।

अनु. 61(1) के अनुसार, जब संविधान के अतिक्रमण के आधार पर राष्ट्रपति पर महाभियोग चलाना हो, तब संसद का कोई सदन (या तो लोकसभा या राज्यसभा) आरोप लगाएगा। ऐसा कोई आरोप तब तक नहीं लगाया जाएगा तब तक कि अनु. 61(2) के अनुसार निम्नलिखित शर्तें पूरी न हों:

(क) प्रस्तावित आरोप एक संकल्प प्रस्ताव के रूप में होना चाहिए जिसे कम-से-कम 14 दिन पूर्व की लिखित सूचना देने के बाद प्रस्तुत किया गया हो। इस प्रस्तुत संकल्प पर उस सदन के कम-से-कम एक चौथाई सदस्यों का हस्ताक्षर होना चाहिए तथा

(ख) उस सदन की कम-से-कम कुल सदस्य के दो-तिहाई बहुमत द्वारा इस संकल्प को पारित होना चाहिए।

अनु. 61(3) के अनुसार, जब आरोप संसद के किसी सदन द्वारा इस प्रकार लगाया गया है तब दूसरी सदन इन आरोपों की जांच करेगा या कराएगा (ऐसी जांच वह सदन या तो स्वयं कर सकता है या किसी न्यायाधीश द्वारा करा सकता है या कोई न्यायाधिकरण स्थापित करके भी यह जांच करायी जा सकती है) और ऐसी किसी जांच में राष्ट्रपति को यह अधिकार होगा कि वह या तो स्वयं उपस्थित होकर या अपने किसी प्रतिनिधि के माध्यम से या अपने किसी वकील के माध्यम से अपना पक्ष प्रस्तुत करे।

अनु. 61(4) के अनुसार यदि उपरोक्त जांच के परिणामस्वरूप दूसरा सदन यह पाता है कि राष्ट्रपति के विरूद्ध लगाए गए आरोप सही हैं और इस आधार पर वह सदन अपने कुल सदस्य के दो-तिहाई बहुमत से संकल्प पारित कर देता है तो राष्ट्रपति को संकल्प पारित होने के तत्काल बाद अपने पद से हटना होगा।

अब तक भारत में किसी भी राष्ट्रपति को महाभियोग की प्रक्रिया द्वारा नहीं हटाया गया है।

राष्ट्रपति को पद से हटाने के लिए जो महाभियोग की प्रक्रिया है उसमें निम्नलिखित अस्पष्टताएं हैं:

(1) संसद के मनोनीत सदस्यों को राष्ट्रपति के चुनाव में भाग लेने का अधिकार नहीं है परंतु उन्हें राष्ट्रपति के महाभियोग की प्रक्रिया में भाग लेने का अधिकार मिला हुआ है। जिन कारणों के आधार पर उन्हें राष्ट्रपति के चुनाव में भाग लेने से रोका जाता है, वे ही कारण पर्याप्त हैं कि उन्हें महाभियोग की प्रक्रिया में शामिल होने से रोक दिया जाए। एक संदेह और समस्या उस समय उठ सकती है जब राष्ट्रपति पर महाभियोग चलने वाला हो और उसी समय मंत्रिमंडल लोक सभा में मनोनीत होने वाले ऐंग्लों-इण्डियन समुदाय के व्यक्ति या व्यक्तियों तथा राज्यसभा में मनोनीत वाले व्यक्तियों की सूची राष्ट्रपति के पास भेजे।

चूंकि मनोनीत सदस्यों को महाभियोग की प्रक्रिया में भाग लेने का अधिकार है अत: संभव है कि राष्ट्रपति भावी महाभियोग को आंशिक रूप से प्रभावित करने हेतु इन नामों की सूची पर तुरंत विचार करने से मना कर दे। इससे महाभियोग की प्रक्रिया में पड़ने वाले मतों की संख्या को प्रभावित किया जा सकता है।

2. चूंकि राष्ट्रपति के चुनाव में राज्यों की विधानसभा के निर्वाचित सदस्य भी भाग लेते हैं अत: महाभियोग में भी उन्हें शामिल किया जाना चाहिए। इससे महाभियोग को व्यापक स्वीकृति मिलेगी तथा 'न्याय' संभावना भी बढ़ जाएगी।

3. जिस तिथि को राष्ट्रपति को हटाए जाने से संबंधित महाभियोग का प्रस्ताव किसी एक सदन द्वारा पारित होता है, उस दिन और दिनांक को राष्ट्रपति द्वारा जो भी कार्यवाही की जाए, वह विधिमान्य नहीं होना चाहिए। चूंकि राष्ट्रपति को हटाए जाने से संबंधित महाभियोग का प्रस्ताव किसी निश्चित तिथि के किसी निश्चित समय पर पास होगा और यह संभव है कि राष्ट्रपति ने उस तिथि को, महाभियोग का प्रस्ताव पारित होने के समय तक कुछ अति महत्वपूर्ण दस्तावेजों पर हस्ताक्षर किए हों। बेहतर होगा कि एक ऐसे राष्ट्रपति को जिसका भविष्य अनिश्चित हो चुका हो उसे महत्वपूर्ण दस्तावेजों पर हस्ताक्षर करने से रोका जाए। लेखक के विचार से जैसे ही महाभियोग की प्रक्रिया शुरू हो (अर्थात् 14 दिन की पूर्व सूचना मिलने वाले दिन से), वैसे ही उपराष्ट्रपति को 'राष्ट्रपति' का कार्यभार दे देना चाहिए और यदि महाभियोग पारित हो जाए तो राष्ट्रपति को पद से हट जाना चाहिए और यदि वह पारित न हो तो राष्ट्रपति को पुन: उसका पद देकर उपराष्ट्रपति को उसकी पूर्व जगह भेज दिया जाए।

4. महाभियोग द्वारा पद से हटाए जाने वाले राष्ट्रपति भविष्य में क्या पुन: राष्ट्रपति का चुनाव लड़ सकेंगे या कोई सार्वजनिक पद धारण कर सकेंगे अथवा नही, इस पर संविधान मौन है।

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

5. संविधान में इस बारे में कुछ नहीं कहा गया है कि, संसद के किसी एक सदन में महाभियोग का प्रस्ताव प्रस्तुत होने के बाद यदि राष्ट्रपति अपना त्यागपत्र दे दे तो इसका महाभियोग की कार्यवाही पर क्या प्रभाव पड़ेगा। अमेरिका तथा ब्रिटेन में यह संवैधानिक व्यवस्था है कि, यदि एक बार महाभियोग की प्रक्रिया प्रारंभ हो जाए तो यह पूरी होकर ही रहेगी, भले ही उस व्यक्ति ने त्यागपत्र दे दिया हो।

6. राष्ट्रपति पर महाभियोग चलाने का आधार है – 'संविधान का उल्लंघन' लेकिन इस बात का निर्णय राजनीतिक दल लेते हैं कि संविधान का उल्लंघन हुआ है या नहीं। जिस प्रकार से राजनीतिक क्षरण हुआ है और जिस प्रकार के चरित्र संसद में पहुंचने लगे हैं उसे देखते हुए इस बात से भी इनकार नहीं किया जा सकता कि, राष्ट्रपति पर महाभियोग राजनीतिक दुर्भावनावश भी लगाया जा सकता है, भले ही उसने संविधान का उल्लंघन किया हो या न किया हो। इससे बचने के लिए यह उचित होगा कि, सर्वोच्च न्यायालय को यह किसी उच्च पदस्थ समिति को यह अधिकार दिया जाए कि वह यह देखे कि, राष्ट्रपति ने संविधान का उल्लंघन किया है या नहीं और यदि सिद्ध हो जाए कि राष्ट्रपति दोषी है तो फिर संसद उसे महाभियोग द्वारा हटा दे। महाभियोग अर्द्धन्यायिक स्वरूप का होने के बावजूद भी एक राजनीतिक हथियार के रूप में कार्य कर सकता है

एक संभावना यह भी है कि महाभियोग के प्रस्ताव को पारित होने से रोकने के लिए राष्ट्रपति लोकसभा को भंग कर आम चुनावों की घोषणा कर दे, अथवा राष्ट्रपति जब यह देखे कि उसके ऊपर महाभियोग की तलवार लटक रही है तो यह प्रधानमंत्री से ही कह सकता है कि वह लोकसभा में विश्वास का मत प्राप्त करे और इस प्रकार महाभियोग की कार्यवाही को कुछ समय के लिए टाल दे। राष्ट्रपति यह सब 14 दिन की सूचना दिए जाने के बाद कभी भी कर सकता है या जब किसी एक सदन में यह पारित कर दिया जाय तो उसके बाद भी कर सकता है।

राष्ट्रपति पद का खाली होना:

अनु. 62(1) के अनुसार, राष्ट्रपति का कार्यकाल (5वर्ष) पूरा हो जाने के कारण होने वाली रिक्त को भरने के लिए निर्वाचन, कार्यकाल की समाप्ति के पूर्व ही कर लेना चाहिए।

अनु. 62(2) के अनुसार, राष्ट्रपति की मृत्यु, पदत्याग या पद से हटाए जाने या अन्य कारण से हुई रिक्ति को भरने के लिए निर्वाचन, रिक्ति होने के तिथि के पश्चात् यथाशीघ्र और किसी भी दशा में 6 माह के भीतर कर लिया जाएगा और उस पद पर आरूढ़ होने वाला व्यक्ति अनु. 56 के उपबंधों के अधीन रहते हुए अपने पद ग्रहण की तिथि से 5 वर्ष पूरी अवधि तक पद धारण करने का अधिकारी होगा।

अनु. 65(1) के अनुसार राष्ट्रपति की मृत्यु, पदत्याग या पद से हटाए जाने या अन्य कारण से उसके पद में हुई रिक्ति की दशा में उपराष्ट्रपति उस तिथि तक राष्ट्रपति के रूप में कार्य करेगा जब तक कि नया निर्वाचित राष्ट्रपति अपना पद ग्रहण न कर ले।

अनु. 65(2) के अनुसार जब राष्ट्रपति अनुपस्थिति (जैसे लम्बे समय के लिए विदेश यात्रा पर हो), बीमारी या अन्य किसी कारण से अपने कृत्यों का निर्वहन करने में असमर्थ है तब उपराष्ट्रपति उस तिथि तक राष्ट्रपति के कृत्यों का दायित्व संभालेगा, जब तक कि राष्ट्रपति अपने कार्यों को आकर पुनः न संभाल ले।

अनु. 65(3) के अनुसार उपराष्ट्रपति जितने समय तक राष्ट्रपति के दायित्वों का निर्वाहन करेगा, उसके पास न केवल राष्ट्रपति पद ही संपूर्ण शक्तियां व उन्मुक्तियां होंगी, वरन वह ऐसी उपलब्धियों, भत्तों एवं विशेषाधिकारों का भी हकदार होगा जो दूसरी अनुसूची में राष्ट्रपति हेतु अनुमन्य हैं।

राष्ट्रपति के विशेषाधिकार और उन्मुक्तियां:

भारतीय संविधान के अनु. 361 में राष्ट्रपति को संघ का कार्यपालिका प्रमुख होने के कारण मिलने वाले संरक्षणों का वर्णन किया गया है, जो इसप्रकार है:

अनु. 361(1) के अनुसार, राष्ट्रपति अपने पद की शक्तियों के प्रयोग और कर्त्तव्यों के पालन के लिए या उन शक्तियों का प्रयोग व पालन करते हुए अपने द्वार किए गए या किए जाने के लिए तात्पर्यित किसी कार्य के लिए किसी न्यायालय में उत्तरदायित्व नहीं होगा, परंतु अनु. 61 (महाभियोग) के अधीन आरोप के अन्वेषण के लिए संसद के किसी सदन द्वारा नियुक्त या अभिहित किसी न्यायालय, अधिकरण या निकाय द्वारा राष्ट्रपति के आचारण का पुनः विलोकन किया जा सकेगा। राष्ट्रपति को जो उपरोक्त उन्मुक्ति मिली है, वह व्यक्तिगत है। किसी भी व्यक्ति के भारत सरकार या राज्य सरकार के विरूद्ध कोई वाद दायर करने या कार्यवाही करने के अधिकार का इससे निलंबन नहीं होता और वह अधिकार बना रहता है।

अनु. 361(2) के अनुसार राष्ट्रपति के विरूद्ध उसके कार्यकाल के दौरान किसी न्यायालय में किसी भी प्रकार की दांडिक कार्यवाही न तो नए सिरे से शुरू की जाएगी और नहीं चालू रखी जाएगी (यदि वह पहले से चल रही हो तो)।

अनु. 361(3) के अनुसार राष्ट्रपति के रूप में अपना पद ग्रहण करने के पूर्व या उसके पश्चात् उसके द्वारा अपनी वैयक्तिक हैसियत से किए गए या किए जाने के लिए तात्पर्यित किसी कार्य के संबंध में कोई सिविल कार्यवाहियां, जिनमें राष्ट्रपति के विरूद्ध अनुतोष का दावा किया जाता है, उकसी पदावधि के दौरान किसी न्यायालय में तबतक संस्थित नहीं की जाएगी, जब तक कार्यवाही की प्रकृति, कार्यवाही का कारण, कार्यवाही करने वाले पक्षधर का नाम, निवास स्थान तथा मांग किए जाने वाले अनुतोष का विवरण

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

देने वाली लिखित सूचना, यथास्थिति राष्ट्रपति को भेजे जाने या उसके कार्यालय में छोड़े जाने के पश्चात् दो मास का समय समाप्त न हो गया हो अर्थात् राष्ट्रपति जब अपने पद की शक्तियों के अंतर्गत काम करता है तो न्यायालय में उसे प्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता, किन्तु जहां तक उसके व्यक्तिगत कार्यों का संबंध है उसे केवल दो मास की उन्मुक्ति प्राप्त है, दो माह के बाद कार्यवाही शुरू की जा सकती है।

उपराष्ट्रपति:

संविधान के अनु. 63 के अनुसार भारत का एक उपराष्ट्रपति होगा।

निर्वाचन और योग्यता:

उपराष्ट्रपति का निर्वाचन संसद के दोनों सदनों के सदस्यों से मिलकर बनने वाले निर्वाचक मण्डल के सदस्यों द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व की एकल संक्रमणीय मत पद्धति द्वारा होगा और ऐसे निर्वाचन में मतदान गुप्त होगा (अनु. 66(1))।

उपराष्ट्रपति संसद के किसी सदन का या विधानमंडल के किसी सदन का सदस्य नहीं होगा और यदि संसद या विधानमंडल के किसी भी सदन का कोई सदस्य उपराष्ट्रपति निर्वाचित हो जाता है तो यह समझा जाएगा कि, उसने उस सदन में अपना स्थान उपराष्ट्रपति के रूप में अपने पद ग्रहण की तिथि से रिक्त कर दिया है (अनु. 66(2))।

अनु. 66(3) के अनुसार, कोई व्यक्ति उपराष्ट्रपति निर्वाचित होने का पात्र तभी होगा जब वह

(क) भारत का नागरिक हो,

(ख) 35 वर्ष की आयु पूरी कर चुका हो तथा

(ग) राज्य सभा का सदस्य निर्वाचित होने हेतु अर्हित हो।

अनु. 66(4) के अनुसार कोई व्यक्ति, जो भारत सरकार के या किसी राज्य की सरकार के अधीन अथवा उक्त सरकारों में से किसी के नियंत्रण में किसी स्थानीय या अन्य प्राधिकारी के अधीन कोई लाभ का पद यदि धारण करता है तो वह उपराष्ट्रपति निर्वाचित होने का पात्र नहीं होगा (इस अनुच्छेद के परिप्रेक्ष्य में यह ध्याततव्य है कि, कोई व्यक्ति केवल इस कारण कोई लाभ का पद धारण करने वाला नहीं समझा जाएगा, कि वह संघ का राष्ट्रपति या उपराष्ट्रपति या किसी राज्य का राज्यपाल है अथवा संघ का या किसी राज्य का मंत्री है)।

शपथ और कार्यकाल अथवा पदावधि:

अनु. 69 के अनुसार, प्रत्येक उपराष्ट्रपति अपना पद ग्रहण करने से पूर्व राष्ट्रपति अथवा असके द्वारा इस निमित्त नियुक्त किसी व्यक्ति के समक्ष शपथ ग्रहण करेगा और उस पर अपने हस्ताक्षर करेगा। शपथ ग्रहण कराने के लिए यदि राष्ट्रपति उपलब्ध न हो (जैसे शपथ ग्रहण समारोह के ठीक पूर्व राष्ट्रपति का स्वास्थ्य खराब हो जाय आदि) तो वह किसी व्यक्ति को नियुक्त कर सकता है। इस नियुक्त व्यक्ति की क्या योग्यता होगी, इस पर संविधान में कुछ नहीं कहा गया है, यद्यपि लेखक की मान्यता होगी, इस पर संविधान में कुछ नहीं कहा गया है, तथापि लेखक की मान्यता है कि वह व्यक्ति ऐसा होना चाहिए जिसकी योग्यता उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश के बराबर हो, अधिक अच्छा होगा कि ऐसी दशा में शपथ उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश से दिलाई जाए।

अनु. 67 के अनुसार, उपराष्ट्रपति अपने पद ग्रहण की तिथि से 5 वर्ष की अवधि तक पद धारण करेगा, परंतु

अनु. 67(क) उपराष्ट्रपति, राष्ट्रपति को संबोधित अपने हस्ताक्षर सहित लेख द्वारा अपना पद त्याग सकेगा।

अनु. 67(ख) उपराष्ट्रपति राज्यसभा के ऐस संकल्प द्वारा अपने पद से हटाया जा सकेगा जिसे राज्यसभा के तत्कालीन समस्त सदस्यों के बहुमत ने पारित किया है और जिससे लोकसभा सहमत है, किन्तु ऐसा कोई संकल्प तब तक प्रस्तुत नहीं किया जाएगा तब तक कि उसे संकल्प को प्रस्तुत करने के आशय की सूचना कम-से-कम 14 दिन पूर्व न दे दी गई हो।

अनु. 67(ग) के अनुसार, उपराष्ट्रपति अपने पद की अवधि समाप्त हो जाने के बाद भी तब तक पद धारण करता रहेगा जब तक कि उसका उत्तराधिकारी अपना पद ग्रहण न कर ले।

अनु. 67(ख) से स्पष्ट हो जाता है कि, उपराष्ट्रपति को हटाने वाला संकल्प सर्वप्रथम राज्यसभा में ही प्रस्तुत किया जाएगा, लोकसभा में वह राज्यसभा से पारित होकर जाएगा। लोकसभा की सहमति भी मतदान द्वारा ही ली जाएगी। उपराष्ट्रपति को हटाने के संदर्भ में यदि राज्यसभा द्वारा पारित किए गए संकल्प से लोकसभा सहमत नहीं है तो राज्यसभा द्वारा उसे हटाने की इच्छा के बावजूद भी उसे पद से हटाया नहीं जा सकेगा। राष्ट्रपति को हटाने के आधार संविधान में वर्णित है (संविधान के अतिक्रमण के आधार पर) किन्तु उपराष्ट्रपति को पद से हटाने का आधार संविधान में वर्णित नहीं है। ऐसा माना जा सकता है कि, राज्यसभा के सभापति के रूप में ही उसकी मुख्य भूमिका है अत: उसे पद से हटाने का आधार पद के दायित्वों का ठीक ढंग से निर्वहन न करना या पद की गरिमा के अनुकूल व्यवहार न करना हो सकता है।

अनु. 68 के अनुसार, उपराष्ट्रपति का कार्यकाल समाप्त होने के पूर्व ही उसके उत्तराधिकारी का चुनाव कर लेना चाहिए। उपराष्ट्रपति की मृत्यु, पदत्याग या पद से हटाए जाने या अन्य कारण से हुई उसके पद में रिक्ति को भरने के लिए निर्वाचित व्यक्ति, अनु. 67 के प्रावधानों के अधीन रहते हुए अपने पद ग्रहण की तिथि से पांच वर्ष की पूरी अवधि तक पद धारण करेगा।

उपराष्ट्रपति का कार्य:

RSTV IAS

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

उपराष्ट्रपति पर आसीन व्यक्ति को उपराष्ट्रपति के रूप में तो अपनी सेवाएं देनी ही होती हैं, उसे राज्यसभा के पदेन सभापति के रूप में भी दायित्व संभालना पड़ता है। उपराष्ट्रपति का निर्वाचन उपराष्ट्रपति के रूप में होता है, न कि सभापति के रूप में। किन्तु उसे वेतन उपराष्ट्रपति होने के नाते नहीं, वरन् राज्य सभा के सभापति होने के कारण और उसी आधार पर मिलता है (अनु. 97)। उसका कार्य आवश्यकता पड़ने पर राष्ट्रपति के पद में आकस्मिक रिक्ति हो जाने पर राष्ट्रपति के रूप में कार्य संभालना भी है। (अनु. 65)। जब उपराष्ट्रपति इस प्रकार कार्य करेगा तो वह ऐसे विशेषाधिकारों, उपलब्धियों तथा भत्तों का हकदार होगा जो कि राष्ट्रपति के लिए अनुमन्य है। जब कभी उपराष्ट्रपति, राष्ट्रपति का पद ग्रहण करेगा, तो वह इसकी सूचना तुरंत एवं सर्वप्रथम लोकसभा के अध्यक्ष को देगा और वह उपराष्ट्रपति का कार्यभार नहीं देखेगा (अनु. 64)। अनु. 64 के अनुसार उपराष्ट्रपति राज्यसभा का पदेन सभापति है और वह किसी अन्य लाभ के पद को धारण नहीं करेगा। अमेरिका में भी उपराष्ट्रपति सीनेट का पदेन सभापति होता है और वहीं से हमने यह प्रावधान लिया है।

जब उपराष्ट्रपति, राष्ट्रपति के रूप में कार्य कर रहा हो और उस अवधि में उसने यदि संविधान का अतिक्रमण किया जो तो उसे पद से हटाने की वहीं प्रक्रिया अपनायी जाएगी जो राष्ट्रपति को पद से हटाने के लिए संविधान में वर्णित है, अर्थात् महाभियोग (अनु. 61)।

अनु. 70, किसी भी अन्य विशेष आकस्मिकता में राष्ट्रपति के कृत्यों का निर्वहन करने का प्रावधान करता है। इसके अनुसार राष्ट्रपति के पद पर किसी कारणवश रिक्ति हो जाने के साथ ही यदि उस समय उपराष्ट्रपति का पदर भी रिक्त हो तो कौन राष्ट्रपति के कार्यभार को देखेगा- यह प्रावधान करने का अधिकार संसद को मिला हुआ है। इसी उद्देश्य से संसद ने राष्ट्रपति उत्तराधिकार अधि नियम - 1969 ई. पारित किया है, जिसके अनुसार यदि उपराष्ट्रपति भी किसी कारण से राष्ट्रपति का पद ग्रहण नहीं कर सकता हो तो ऐसे में उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश या उनकी भी अनुपस्थिति में उच्चतम न्यायालय का वरष्ठितम न्यायाधीश, राष्ट्रपति के कृत्यों को सम्पादित करेगा।

राष्ट्रपति या उपराष्ट्रपति के निर्वाचन के बारे में उठने वाले विवादों/शंकाओं का समाधान-

संविधान के अनु. 71(1) के अनुसार, राष्ट्रपति या उपराष्ट्रपति के निर्वाचन से उत्पन्न या उससे जुड़ी सभी शंकाओं और विवादों की जांच एवं उनका निराकरण उच्चतम न्यायालय द्वारा किया जाएगा और उसका निर्णय अंतिम होगा।

अनु. 71(2) के अनुसार यदि उच्चतम न्यायालय द्वारा किसी व्यक्ति के राष्ट्रपति या उपराष्ट्रपति के रूप में निर्वाचन को शून्य घोषित कर दिया जाता है तो उसके द्वारा, यथास्थिति राष्ट्रपति या उपराष्ट्रपति के पद पर रहते हुए, पद के दायित्वों के पालन में किए गए कार्य (जो निर्णय आने की तिथि से पहले किए गए हों) अवैध नहीं माने जायेंगे।

अनु. 71(3) के अनुसार, राष्ट्रपति या उपराष्ट्रपति के निर्वाचन से संबंधित किसी विषय पर कानून निर्माण या नियम निर्माण संसद कर सकती है।

अनु. 71(4) के अनुसार, राष्ट्रपति या उपराष्ट्रपति के रूप में किसी व्यक्ति के निर्वाचन को उसे निर्वाचित करने वाले निर्वाचकगण के सदस्यों में किसी भी कारण से विद्यमान किसी रिक्ति के आधार पर प्रश्नगत नहीं किया जाएगा।

राष्ट्रपति की शक्तियां और कार्य:

संविधान द्वारा राष्ट्रपति को प्रदत्त शक्तियां और कार्य निम्नलिखित शीर्षक के अंतर्गत वर्णित किए जा सकते हैं:

(1) कार्यपालिका शक्तियाँ,
(2) विधायी शक्तियाँ,
(3) न्यायिक शक्तियाँ,
(4) सैन्य शक्तियां,
(5) आपातकाल प्राख्यापित करने की शक्ति

(1) कार्यपालिका शक्ति:

भारत का राष्ट्रपति राज्य में निहित संपूर्ण कार्यपालिका शक्तियों को धारण करने वाला है (अनु. 53)। गणतंत्र का प्रधान होने के कारण समस्त कार्यपालिका कार्यवाही राष्ट्रपति के नाम से की हुई कही जाएगी (अनु. 77(1))। कार्यपालिका शक्ति के अंतर्गत राष्ट्रपति को विभिन्न पदाधिकारियों को पद पर नियुक्ति करने का अधिकार है, उसे यह भी अधिकार है कि वह कतिपय परिस्थितियों में इन अधिकारियों को पदमुक्त कर दे। राष्ट्रपति को निम्नलिखित पदों पर नियुक्तियां करने का संवैधानिक अधिकार है-

1. भारत के प्रधानमंत्री की नियुक्ति और प्रधानमंत्री की सलाह पर अन्य मंत्रियों की नियुक्ति (अनु. 75(1)),
2. सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्तियां (क्रमश: अनु. 124 तथा 217 के अंतर्गत),
3. राज्य के राज्यपाल (अनु. 155),
4. भारत के महान्यायवादी (अनु. 76),
5. भारत के नियंत्रक तथा महालेखापरीक्षक (अनु. 148),
6. संघ लोक सेवा आयोग तथा या दो से अधिक राज्यों के संयुक्त राज्य लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष तथा सदस्यों की नियुक्ति (अनु. 316),
7. निर्वाचन आयोग में मुख्य निर्वाचन आयुक्त अन्य सदस्य आयुक्तों की नियुक्ति (अनु. 324(2))।
8. अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जन जातियों के लिए राष्ट्रीय आयोग के अध्यक्ष तथा सदस्यों की नियुक्ति (अनु. 338),
9. पिछड़े वर्गों की दशाओं के अन्वेषण हेतु बनने

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

वाले आयोग के सदस्यों की नियुक्ति (अनु. 340),

10. अनुसूचित क्षेत्रों के प्रशासन और अनुसूचित जनजातियों के कल्याण के बारे में प्रतिवेदन देने के लिए आयोग की नियुक्ति (अनु. 339),

11. राजभाषा आयोग के अध्यक्ष तथा सदस्यों की नियुक्ति (अनु. 344),

12. वित्त आयोग के अध्यक्ष तथा सदस्यों की नियुक्ति (अनु. 280),

13. अंतर्राज्यीय परिषद की स्थापना (अनु. 263),

14. भाषाई अल्पसंख्यक वर्गों के लिए विशेष अधिकारी की नियुक्ति (अनु. 350 (ख)),

15. सेनाओं के अध्यक्षों की नियुक्ति,

16. विदेशों में राजदूतों तथा वाणिज्य दूतों की नियुक्तियां आदि,

राष्ट्रपति द्वारा की जाने वाली नियुक्तियों के संदर्भ में यह महत्वपूर्ण है कि, इन सभी नियुक्तियों के पीछे मंत्रिपरिषद् की सलाह काम करती है। राष्ट्रपति को यह अधिकार है कि, यदि उसे प्रतीत/विश्वास हो कि मंत्रिपरिषद् ने जिस व्यक्ति के नाम की सिफारिश की है, वह व्यक्ति उस पद की योग्यता एवं गरिमा के उपयुक्त नहीं है तो वह उस व्यक्ति की नियुक्ति को एक बार रोक कर मंत्रिपरिषद् से पुनर्विचार के लिए कह सकता है, किन्तु यह मंत्रिपरिषद् उक्त पद पर उस व्यक्ति के नियुक्ति की पुनः सिफारिश करता है तो राष्ट्रपति को अनिवार्य रूप से उस व्यक्ति की नियुक्ति को एक बार रोक कर मंत्रिपरिषद् से पुनर्विचार के लिए कहा जा सकता है, किन्तु यदि मंत्रिपरिषद् उक्त पद पर उस व्यक्ति के नियुक्ति की पुनः सिफारिश करता है तो राष्ट्रपति को अनिवार्य रूप से उस व्यक्ति की नियुक्ति करनी पड़ेगी (अनु. 74)।

राष्ट्रपति यद्यपि कार्यपालिका का प्रधान है किन्तु संसदीय प्रणाली होने के कारण उसे प्रधानमंत्री की सिफारिश या सलाह माननी पड़ती है। जहां तक मंत्रियों की नियुक्ति का प्रश्न है 91वां संविधान संशोधन, 2003 के अनुसार अब केन्द्र और राज्यों में मंत्रिपरिषद् की सदस्य संख्या सुनिश्चित कर दी गई है। इस संशोधन द्वारा संविधान में अनु. 75(1-क) तथा (1-ख) जोड़े गए हैं।

75 (1-क) के अनुसारः मंत्रिपरिषद में प्रधानमंत्री सहित मंत्रियों की कुल संख्या, लोकसभा के सदस्यों की कुल संख्या के 15 प्रतिशत से अधिक नहीं होगी।

75 (1-ख) के अनुसार : संसद के किसी भी सदन का किसी राजनीतिक दल का ऐसा सदस्य, जो दसवी अनुसूची के पैरा 2 के अधीन उस सदन का सदस्य होने के लिए अयोग्य है, उस अवधि के दौरान, जो उसकी अयोग्यता की तिथि से प्रारंभ होकर उस तिथि तक होगा, जिस तिथि पर उसका ऐसे सदस्य के रूप में पदावधि समाप्त होगी या उस तिथि तक होगा जिस तिथि पर उसे निर्वाचित घोषित कर दिया जाता है, जो पहले हो, मंत्री के रूप में नियुक्त किए जाने हेतु अयोग्य होगा।

2. विधायी शक्तियां (राष्ट्रपति के संसद के संबंध):

भारत का राष्ट्रपति संसद का एक अंग है (अनु. 79)। राष्ट्रपति को, जो विधायी शक्तियां मिली हुई हैं, इनका प्रयोग वह मंत्रिपरिषद् द्वारा दिए गए परामर्श के अनुसार ही करता है। राष्ट्रपति को प्राप्त विधायी शक्तियों का वर्णन निम्नलिखित शीर्षकों के अंतर्गत किया जा सकता है।

(A) संसद का सत्र आहूत करना, सत्रावसान करना तथा लोकसभा का विघटन करने की शक्तिः

अनु. 85(1) के अनुसार राष्ट्रपति समय-समय पर, संसद के प्रत्येक सदन को ऐसे समय और स्थान पर, जो वह ठीक समझे, अधिवेशन के लिए आहूत करेगा, किन्तु उनके एक सत्र की अंतिम बैठक तथा आगामी सत्र की प्रथम बैठक के बीच 6 माह से अधिक का अंतराल नहीं होना चाहिए। इस अनुच्छेद में जो 'समय एवं स्थान' शब्द है, उससे यह ज्ञात होता है कि यदि राष्ट्रपति किसी कारण संसद की बैठक दिल्ली के संसद भवन से बाहर देश के किसी अन्य स्थान पर आहूत करना चाहे, तो वह ऐसा कर सकता है।

अनु. 85(2) के अनुसार, राष्ट्रपति समय-समय पर

(क) दोनों सदनों का एक साथ या किसी एक सदन का सत्रावसान कर सकेगा,

(ख) लोकसभा का विघटन कर सकेगा।

लोकसभा के विघटन का अर्थ आम चुनावों की घोषणा है।

(B) सदनों में अभिभाषण का और उनको संदेश भेजने और विशेष अभिभाषण देने का राष्ट्रपति का अधिकारः

अनु. 86(1) के अनुसार, राष्ट्रपति संसद के किसी एक सदन में या एक साथ समवेत दोनों सदनों में अभिभाषण कर सकेगा और इस प्रयोजन के लिए सदस्यों की उपस्थिति की अपेक्षा कर सकेगा,

अनु. 86(2) के अनुसार, राष्ट्रपति संसद में उस समय लंबित किसी विधेयक के संबंध में संदेश या कोई अन्य संदेश, संसद के किसी भी सदन को भेज सकेगा। राष्ट्रपति द्वारा इस प्रकार भेजे गए संदेश में इस बात का उल्लेख हो सकता है कि, वह विधेयक के संबंध में क्या विचार रखता है। 1951-52 में भारत में प्रथम आम चुनाव के अवसर पर तत्कालीन राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने हिन्दू संहिता विधेयक पर संसद को एक संदेश भेजकर अपने विचारों से अवगत कराते हुए कहा था कि, व्यक्तिगत रूप से मैं उक्त विधेयक पारित करने के विरूद्ध हूँ, परंतु यदि संसद ने उसे पारित कर दिया तो मैं उसपर अपनी अनुमति प्रदान कर दूंगा। चूंकि विधेयक प्रायः मंत्रियों द्वारा ही प्रस्तुत किए जाते हैं और ये मंत्री

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

राष्ट्रपति के ही प्रतिनिधि होते हैं अत: राष्ट्रपति मंत्रियों के माध्यम से भी अपनी बात सदन तक पहुंचा सकता है। राष्ट्रपति अपने विचारों को अभिभाषण के माध्यम से भी सदन तक प्रेषित कर सकता है। ध्यान रहे, राष्ट्रपति अपनी शक्तियों का सम्पादन मंत्रिपरिषद् के परामर्श पर ही करता है अत: इसकी विधायन के संदर्भ में निजी राय का कोई विधिक और बाध्यकारी अर्थ नहीं हो सकता, केवल नैतिक अर्थ ही हो सकता है।

अनु. 87 के अनुसार, राष्ट्रपति लोकसभा के प्रत्येक सामान्य निर्वाचन (आम चुनाव) के बाद प्रथम सत्र के आरंभ में और प्रत्येक वर्ष के प्रथम सत्र के आरंभ में एक साथ संसद के दोनों सदनों को बुलाकर समवेत अभिभाषण करेगा और संसद को उसके आह्वान का कारण बताएगा। सदन का कार्य होगा कि अभिभाषण में उल्लिखित विषयों पर चर्चा के लिए वह समय निधारित करे।

(C) लोकसभा और राज्यसभा में सदस्यों का मनोनयन करना:

संविधान निर्माताओं का मत था कि संसद के दोनों सदनों के सदस्य जनता द्वारा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से चुने जाने के बाद भी समाज में कुछ ऐसे समूह या हित बचे रहेंगे, जिनका प्रतिनिधित्व देश के सर्वोच्च पंचायत (संसद) में नहीं हो पाएगा, क्योंकि वे बिखरे हुए तथा अल्पसंख्य में हैं, इसलिए उन्होंने लोकसभा तथा राज्यसभा में कतिपय सदस्यों के मनोनयन की प्रणाली स्थापित की। संघीय कार्यपालिका का प्रमुख होने के कारण सदस्यों को मनोनीत करने की यह शक्ति राष्ट्रपति को दी गयी है।

अनु. 331 के अनुसार, भारत के राष्ट्रपति को लोकसभा में ऐंग्लो इण्डियन समुदाय के दो व्यक्तियों को मनोनीत करने का अधिकार है, यदि उसकी राय में (वास्तव में, मंत्रिमंडल की राय में) उस समुदाय का पर्याप्त प्रतिनिधित्व लोकसभा में नहीं है। ऐंग्लों-इंडियन समुदाय में वे अंग्रेज या यूरोप वासी आते हैं जो स्वतंत्रता के बाद इंग्लैण्ड या यूरोप नहीं गए और भारत में ही बस गए। इनकी संख्या मुख्यत: गोआ, पुडूचेरी तथा दिल्ली में है। इनकी संख्या लगभग दो लाख बतायी जाती है। ऐंग्लों-इण्डियन समुदाय को लोकसभा में प्रतिनिधित्व देने के पीछे ब्रिटिश सरकार का दबाव था।

अनु. 80(3) के अनुसार, राष्ट्रपति राज्यसभा में 12 ऐसे व्यक्तियों को मनोनीत करेगा जो साहित्य, विज्ञान, कला तथा समाजसेवा के क्षेत्र में विशेष ज्ञान या अनुभव रखते हैं। संसद के द्वितीय सदन में इन विशिष्ट व्यक्तियों के मनोनयन की यह प्रणाली हमने आयरलैण्ड के संविधान से प्रेरित होकर स्वीकार की है।

अनु. 80(3) और अनु. 331, दोनों ही राष्ट्रपति को क्रमश: लोकसभ तथा राज्यसभा में सदस्यों को मनोनीत करने का अधिकार देने हैं किन्तु दोनों में एक अंतर है। अनु. 331 के अनुसार, दो ऐंग्लों-इण्डियन सदस्यों के मनोनयन के पीछे राष्ट्रपति का ऐच्छिक आधार है, अर्थात् यदि उसकी राय में ऐंग्लों-इण्डियन समुदाय के लोग सामान्य निर्वाचन द्वारा ही चुनकर आ गए हैं; तो यह आवश्यक नहीं कि वह इस समुदाय के दो लोगों को मनोनीत ही करे, वह उन्हें प्रतिनिधित्व मिल जाने के कारण मनोनीत करने से इनकार भी कर सकता है, वह चाहे तो केवल एक सदस्य ही ऐंग्लों-इंडियन समुदाय से मनोनीत करे, किन्तु अनु. 80(3) के अंतर्गत राज्यसभा में 12 व्यक्तियों का मनोनयन उसे करना ही होगा, यहां उसे कोई विवेकाधीन अधिकार नहीं मिला हुआ है।

(D) कुछ विधेयकों को प्रस्तुत करने के पूर्व राष्ट्रपति की अनुमति अपेक्षित:

संविधान में यह उल्लिखित है कि, वे कौन से विधेयक हैं जिन्हें संसद में प्रस्तुत करने के पूर्व राष्ट्रपति की अनुमति लेना अपेक्षित होगा। 'अपेक्षित' शब्द इसलिए है कि, यदि विधेयक प्रस्तुत करने के पूर्व राष्ट्रपति की अनुमति नहीं ली गयी हो किन्तु विधेयक पारित होने के बाद यदि राष्ट्रपति ने उस पर हस्ताक्षर कर दिए हों तो न्यायालय उस विधेयक को इस आधार पर अवैध घोषित नहीं कर सकेंगे कि, पूर्व अनुमति नहीं ली गई थी (अनु. 255)। राष्ट्रपति की पूर्व अनुमति से संसद में प्रस्तुत होने वाले विधेयक इस प्रकार हैं:

1. नए राज्य का निर्माण (ऐसे राज्य जिसके बनने से वर्तमान में विद्यमान किसी राज्य की सीमाएं प्रभावित हों), राज्य की सीमाओं में वृद्धि, कमी या परिवर्तन और राज्य के नाम में परिवर्तन करने वाला कोई विधेयक (अनु. 3),
2. धन विधेयक (अनु. 117),
3. भारत की संचित निधि से धन व्यय करने की सिफारिश करने वाला कोई विधेयक (अनु. 117),
4. कोई विधेयक जो ऐसे कराधान को प्रभावित करता है जिनसे राज्य हितबद्ध हैं या उन सिद्धांतों या नियमों को प्रभावित करता है जिनके आधार पर राज्यों को धन का वितरण होता है या आयकर के प्रयोजनों के लिए 'कृषि आय' की परिभाषा में परिवर्तन करता है या संविधान के भाग 12 के अध्याय 1 के अंतर्गत संघ के लिए 'अधिभार' (सरचार्च या सेश) का प्रावधान करता है। (अनु. 274(1)),
5. व्यापार की स्वतंत्रता पर प्रतिबंध आरोपित करने वाला कोई राज्य का विधेयक (अनु. 301 तथा 304 का अपवाद)।

(E) संसद के पटल पर विभिन्न आयोगों की रिपोर्ट प्रस्तुत करना:

विभिन्न ऐसे संवैधानिक आयोग हैं जो अपनी रिपोर्ट राष्ट्रपति को देते हैं, इन आयोगों द्वारा मिलने वाली रिपोर्ट या प्रतिवेदन को राष्ट्रपति संसद के पटल पर रखता है जिससे कि संसद को इस रिपोर्ट पर कार्यवाही करने का अवसर मिल सके। वह निम्नलिखित आयोगों की रिपोर्ट को प्रस्तुत करता है-(1) नियंत्रक

Drishti IAS

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

एवं महालेखापरीक्षक का प्रतिवेदन (2) वित्त आयोग की रिपोर्ट (3) संघ लोक सेवा आयोग की रिपोर्ट (4) अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के लिए विशेष अधिकारी की रिपोर्ट (5) पिछड़ा वर्ग आयोग की रिपोर्ट (6) राजभाषा आयोग की रिपोर्ट आदि।

(F) विधेयकों पर अनुमति देने या अनुमति न देने की शक्ति:

राष्ट्रपति संसद का अभिन्न अंग हैं। संसद के दोनों सदनों से पारित होने के बाद कोई भी विधेयक राष्ट्रपति की अनुमति के लिए प्रेषित किया जाता है, राष्ट्रपति के हस्ताक्षर के बाद ही कोई विधेयक विधि या कानून का रूप धारण करता है। दोनों सदनों द्वारा पारित कोई विधेयक राष्ट्रपति के सम्मुख प्रस्तुत किए जाने पर राष्ट्रपति निम्नलिखित में से कोई एक कदम उठा सकता है:

(1) वह विधेयक पर अपनी अनुमति दे सकता है,

(2) वह यदि विधेयक के प्रावधानों से असहमत है तो वह उसे उस सदन को पुनर्विचार के लिए वापस लौटा सकता है जहां से वह आरंभ हुआ था अर्थात् जहां वह प्रथम बार प्रस्तुत हुआ था और

(3) कतिपय विधेयकों पर वह अनुमति देने से इनकार कर सकता है।

उपरोक्त (1) के संदर्भ में यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि राष्ट्रपति जब विधेयक को अपनी स्वीकृति दे देता है तो वह विधेयक कानून का स्वरूप धारण कर लेता है।

उपरोक्त (2) का प्रावधान इसलिए है कि सदन द्वारा यदि शीघ्रता से कोई विधेयक पारित कर दिया गया हो, जिसके तकनीकी प्रावधानों पर संसद में कोई विशेष चर्चा नहीं हुई हो या सदन ने ध्यान न दिया हो जिससे भविष्य में समस्याएं उत्पन्न हो सकती हैं तो राष्ट्रपति ऐसे विधेयकों को पुनर्विचार के लिए भेजकर भावी संकट को टाल सकते हैं। किन्तु यदि वह विधेयक दोनों सदनों द्वारा राष्ट्रपति द्वारा दिए गए सलाह के अनुसार पारित कर दिया जाता है या उसके द्वारा दिए गए सलाह के बिना भी पारित कर दिया जाता है तो राष्ट्रपति को भेजे जाने पर उसे अपनी स्वीकृति अनिवार्य रूप से देनी ही पड़ेगी, अर्थात् राष्ट्रपति किसी एक ही विधेयक पर दोबारा हस्ताक्षर से इनकार नहीं कर सकता है।

राष्ट्रपति सदन से संपूर्ण विधेयक पर या उसके किसी प्रावधान विशेष पर भी पुनर्विचार की सिफारिश कर सकता है। यह स्थिति राष्ट्रपति को विलंबकारी वीटो का अधिकार प्रदान करती है, क्योंकि पुनर्विचार के कारण विधेयक लंबित रहेगा और क्रियान्वयन में विलंब होगा।

उपरोक्त (3) के संदर्भ में राष्ट्रपति, मंत्रिमंडल की सलाह से किसी भी विधेयक पर अनुमति देने से इनकार कर सकता है यदि वह प्राइवेट बिल (मंत्रियों के अतिरिक्त किसी भी संसद सदस्य द्वारा प्रस्तुत विधेयक प्राइवेट बिल या निजी विधेयक कहलाता) है। मंत्रियों द्वारा प्रस्तुत सरकारी विधेयक के संदर्भ में भी ऐसी स्थिति आ सकती है। मान लीजिए कि संसद के दोनों सदनों द्वारा पारित कोई विधेयक जिसे पिछले मंत्रिमंडल के किसी मंत्री ने प्रस्तुत व पारित कराया हो तो राष्ट्रपति नए मंत्रिमंडल की सलाह पर उसे विधेयक को अपनी अनुमति नहीं देगा, फलत: वह विधेयक कानून नहीं बन पाएगा। राज्य विधानमंडल द्वारा पारित विधेयक यदि राज्यपाल के द्वारा राष्ट्रपति के विचार के लिए आरक्षित कर लिए जाते हैं तो राष्ट्रपति स्वयं विचार करने के बाद उस विधेयक पर विधानमंडल को पुनर्विचार करने हेतु कह सकता है। यदि विध ानमंडल द्वारा पुनर्विचार करने के बाद वह विधेयक राष्ट्रपति के पास अनुमति हेतु भेजा जाता है और यदि राष्ट्रपति पुन: अपनी अनुमति नहीं देता है तो वह विधेयक वहीं समाप्त हो जाता है। इन दोनों मामलों में राष्ट्रपति को जो वीटो की शक्ति प्राप्त है, वह आत्यंतिक पूर्ण या ऐब्सोल्यूट वीटो है।

राष्ट्रपति के पास जेबी वीटो भी है, जैसे कोई विधेयक संसद के दोनों सदनों द्वारा सम्यक रूप से पारित हाने के बाद जब राष्ट्रपति के पास भेजा जाता है तो संविधान में यह प्रावधान नहीं है कि, राष्ट्रपति कितने दिन के भीतर उस विधेयक पर अपनी अनुमति देगा, इसके कारण राष्ट्रपति चाहे तो उस विधेयक पर लम्बे समय तक अपनी अनुमति रोके रखे। संभव है कि इस बीच लोकसभा का विघटन हो जाने के कारण विधेयक ही रद्द हो जाय। इसे राष्ट्रपति को जेबी वीटो कहते हैं। ज्ञानी जैल सिंह ने भारतीय डाकघर संशोध न अधिनियम, 1986 पर इसी वीटो का प्रयोग करके सबको चौंका दिया था।

इस प्रकार भारत के राष्ट्रपति के पास विलंबकारी (Suspensiv veto), पूर्ण या आत्यंतिक (Absolute veto) तथा जेबी वीटो (Pocket veto) की शक्ति है। राष्ट्रपति को विधेयकों की स्वीकृति से इस कारण जोड़ा गया है कि वह संसद का एक अंग है। साथ ही उसे विधेयकों की स्वीकृति का अधिकार इसलिए भी मिला है कि राष्ट्रपति संघीय कार्यपालिका का प्रमुख है, फलत: कानूनों का क्रियान्वयन भी उसका दायित्व है। अत: कानून बनने के बाद उसे यह देखने का संवैधानिक अधिकार है कि कहीं इन कानूनों के क्रियान्वयन में कोई अड़चन या दिक्कत न आए।

(G) अध्यादेश जारी करने की शक्ति :

अध्यादेश जारी करने की शक्ति राष्ट्रपति की कार्यपालिका शक्ति है, किन्तु विधायन से जुड़े होने के कारण इसका वर्णन विध ायी शक्ति के अंतर्गत किया जा रहा है।

संविधान के अनु. 123 के अनुसार, जब संसद के दोनों सदन सत्र में न हों और उस समय यदि राष्ट्रपति को विश्वास हो जाय कि, ऐसी परिस्थितियां विद्यमान हैं जिनके कारण तुरंत विधायी कार्यवाही करना अपरिहार्य हो गया है तो वह ऐसे अध्यादेश जारी कर सकेगा। इस अध्यादेश द्वारा बने कानूनों का वही प्रभाव होगा

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

जो ससंद द्वार बनाए गए अधिनियम का होता है, अर्थात् जिन विषयों पर संसद को कानून बनाने की शक्ति मिली हुई है उन सभी विषयों पर राष्ट्रपति अध्यादेश जारी कर सकता है। अध्यादेश संसदीय अधिनियम की तरह भूतलक्षी प्रभाव वाला हो सकता है। अध्यादेश के ऊपर वह सभी मर्यादाएं आरोपित हैं जो उस विषय पर कानून बनाते समय संसद पर आरोपित होती हैं जैसे अध्यादेश द्वारा मूलाधिकार छीने या कम नहीं किए जा सकते। इस संदर्भ में अनु. 13(3) महत्वपूर्ण है जिसमें कहा गया है कि 'विधि' शब्द में 'अध्यादेश' सम्मलित है। ऐसा कोई भी अध्यादेश राष्ट्रपति जारी नहीं कर सकता, जिसे अधिनियमित करने हेतु संसद इस संविधान के अधीन सक्षम नहीं है।

राष्ट्रपति द्वारा जारी किए गए किसी अध्यादेश को संसद की आगामी बैठक शुरू होने के 6 सप्ताह के भीतर संसद के दोनों सदनों के समक्ष प्रस्तुत कर उसे अनुमोदित कराना होगा। यदि दोनों सदन 6 सप्ताह के भीतर संसद के दोनों सदनों के समक्ष प्रस्तुत कर उसे अनुमोदित करना होगा। यदि दोनों सदन 6 सप्ताह के भीतर अध्यादेश का अनुमोदन कर देते हैं तो वह कानून बन जाएगा और यदि 6 सप्ताह के भीतर उस अध्यादेश का अनुमोदन नहीं हुआ तो वह अध्यादेश रद्द हो जाएगा, लेकिन अध्यादेश रद्द होने की स्थिति में, रद्द होने के पूर्व उस अध्यादेश के प्रभाव से किए गए सभी कार्य वैध होंगे।

राष्ट्रपति अपने द्वारा जारी किए गए अध्यादेश को किसी भी समय वापस ले सकता है।

यदि संसद के दोनों सदन भिन्न-भिन्न तिथियों को आहूत किए जाते हैं तो 6 सप्ताह के अवधि की गणना, उन तिथियों में से पश्चातवर्ती तिथि से की जाएगी। राष्ट्रपति द्वारा जारी किए गए अध्यादेश की अवधि अधिकतम साढ़े सात माह ही हो सकती है, क्योंकि संसद के दो सत्रों के बीच 6 माह से अधिक का अंतर नहीं हो सकता और जब संसद की बैठक शुरू होगी तो उसके 6 सप्ताह के भीतर अध्यादेश का अनुमोदन करना अपरिहार्य है।

वस्तुतः अध्यादेश कार्यपालिका (सरकार) को आकस्मिक परिस्थितियों में निबटने की शक्ति प्रदान करता है। ऐसी परिस्थितियों की कल्पना करना कठिन नहीं है जब आकस्मिक कानून निर्माण की आवश्यकता पड़ जाए। आकस्मिक परिस्थितियां विद्यमान हैं या नहीं, उसका निर्णय मंत्रिमंडल करता है, क्योंकि उसी की सिफारिश पर राष्ट्रपति अध्यादेश जारी करता है। न्यायालय भी उन परिस्थितियों तथा कारणों की जांच नहीं कर सकता जिसमें कि अध्यादेश जारी करना आवश्यक हो गया था, क्योंकि इसे जारी करने की शक्ति राष्ट्रपति के विश्वास पर आधारित है।

यदि अध्यादेश जारी करने के उद्देश्य से संसद के सत्र का सत्रावसान या स्थगन कर दिया जाता है तो भी अध्यादेश को अवैध नहीं ठहराया जा सकता। बैंक राष्ट्रीयकरण और प्रीवी पर्स समाप्त करने के कानून जब संसद ने ठुकरा दिया तो तत्कालीन इंदिरा गांधी सरकार ने राष्ट्रपति के अध्यादेश द्वारा उसे लागू करा दिया। यह अध्यादेश जारी करने की शक्ति का दुरुपयोग था। संविधान निर्मात्री सभा में राष्ट्रपति को अध्यादेश जारी करने की शक्ति देने के प्रश्न पर काफी वाद-विवाद हुआ था। अनेक सदस्यों ने इसे 'कार्यपालिका का विधायिका में हस्तक्षेप' माना था और कहा कि ऐसा अधिकार देना अलोकतांत्रिक होगा। लेकिन उस समय उन आलोचनाओं को यह कहकर शांत कर दिया गया कि, प्रबुद्ध जनमत द्वारा किसी भी ऐसी संभावना को रोका जा सकता है। अध्यादेश का दुरुपयोग रोकने हेतु अब संसद ने यह नियम बना दिया है कि, जब कभी अध्यादेश का अनुमोदन संसद से कराने के लिए प्रस्तुत किया जाएगा, तो उन परिस्थितियों पर भी प्रकाश डाला जाएगा, जिसके कारण अध्यादेश जारी करना आवश्यक हो गया था।

(H) संसद के सदस्यों की आयोग्यता से संबंधित प्रश्नों का निर्धारण करने की शक्तिः

संविधान के अनु. 103 के अनुसार, राष्ट्रपति को यह शक्ति है कि, यदि संसद के किसी भी सदन का कोई सदस्य अनु. 102(1) में वर्णित किसी अयोग्यता से ग्रस्त हो गया है तो वह उस सदस्य की सदस्यता समाप्त करने का आदेश जारी करे, लेकिन ऐसे किसी प्रश्न का निर्णय करने से पूर्व राष्ट्रपति निर्वाचन आयोग की राय लेगा और ऐसी राय के अनुसार ही काम करेगा। इस निर्णय को लेने में मंत्रिपरिषद की सलाह की आवश्यकता नहीं है। अनु. 102(1) में वर्णित निरर्हता के आधार पर इस प्रकार हैं- (1) यदि कोई सांसद लाभ का पद धारण कर ले, (2) वह घोषित रूप से पागल हो जाए, (3) वह दिवालिया हो जाए, (4) यदि वह भारत की नागरिकता छोड़ दे, (5) यदि वह किसी संसदीय नियम के कारण अयोग्य हो गया है।

संविधान के अनु. 101(2) के अनुसार, यदि कोई व्यक्ति संसद और किसी राज्य के विधानमंडल के किसी सदन, दोनों सदस्य चुन लिया जाता है तो राष्ट्रपति उस समय-सीमा (अर्थात् कितने समय के भीतर) का निर्धारण कर सकते हैं, जिसके भीतर यदि उस व्यक्ति ने विधानमंडल की सदस्यता का त्याग नहीं किया जाता तो उसकी संसद की सदस्यता समाप्त हो जायेगी।

(I) संसद के सदस्य को शपथ ग्रहण कराना:

संविधान के अनु. 99 के अंतर्गत राष्ट्रपति को इस बात के लिए अधिकृत किया गया है कि वह संसद के प्रत्येक सदस्य को, अपना स्थान ग्रहण करने के पूर्व, संविधान की तृतीय अनुसूची में दिए गए प्रारूप के अनुसार शपथ-ग्रहण कराए तथा उनसे शपथ पत्र पर हस्ताक्षर कराए। संसद सदस्यों की शपथ अत्यंत महत्वपूर्ण है क्योंकि बिना शपथ ग्रहण के यदि कोई व्यक्ति संसद की कार्यवाही में भाग लेता है, य मतदान करता है, या संसद में सदस्य के रूप में बैठता हे तो वह प्रतिदिन 500 रुपये की अधि शास्ति (दंड) का भागी होगा, जो संघ को देय ऋण के रूप में वसूला जाएगा (अनु. 104)।

FIRST IAS

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

3. न्यायिक शक्तियां:

भारत के संविधान में 'राष्ट्रपति' एक ऐसा पद है जो कार्यपालिका, व्यवस्थापिका और न्यायपालिका, तीनों से जुड़ा हुआ है। राष्ट्रपति को न्यायिक शक्ति का अधिकार देने का कारण यह हे कि यदि कोई न्यायिक भूल हो जाए तो उसे सुधारा जा सके। भारत के राष्ट्रपति को प्राप्त कार्यपालिका शक्ति के अंतर्गत ही उसकी न्यायिक शक्ति भी आती है, वह न्यायपालिका का भाग नहीं है। उसे अपराधियों को क्षमादान करने की जो शक्ति मिली हुई है वह कार्यपालिका प्रमुख होने के कारण मिली है।

संविधान के अनु. 72 के अनुसार, राष्ट्रपति को किसी अपराध के लिए दोषी ठहराए गए किसी व्यक्ति के दंड को क्षमा, उसका प्रविलंबन (दंड के आदेश का क्रियान्वयन रोक देना), विराम (किसी तथ्य विशेष के कारण या पारिस्थिति विशेष को देखते हुए दंड को रोकना, जैसे किसी स्त्री के मृत्युदंड को उसके गर्भवती होने के कारण रोकना), परिहार (दंडादेश की प्रकृति में परिवर्तन किए बिना उसे कम कर देना जैसे कारावास की 10 वर्ष की सजा को 3 वर्ष कर देना) या लघुगणक (एक प्रकार का दंड के स्थान पर उससे छोटा दंड दे देना, इसमें दंड की प्रकृति भी बदली जा सकती है, जैसे मृत्युदंड के स्थान पर आजीवन करावास देना या दो वर्ष के कारावास को कठोर जुर्माने में बदलना आदि) की शक्ति है। राष्ट्रपति को उपरोक्त शक्तियां निम्नलिखित मामालों में प्राप्त हैं:

(क) यदि दंड का दंडादेश सेना के न्यायालय ने दिया हो,
(ख) दंड का दंडादेश का कारण संघ की कार्यपालिका शक्ति से संबंधित विधि के विरूद्ध अपराध हो और
(ग) उन सभी मामलों, जिनमें मृत्युदंड का आदेश हो।

राष्ट्रपति से उपरोक्त किसी भी कार्यवाही की मांग अनुग्रह या कृपा के रूप में ही की जा सकती है। इन शक्तियो का प्रयोग राष्ट्रपति के विवेक पर निर्भर करता है। इससे किसी अपराध या सजा प्राप्त व्यक्ति के पक्ष में किसी अधिकार का सृजन नहीं होता। राष्ट्रपति अनु. 72 के अंतर्गत प्राप्त शक्तियों का प्रयोग मंत्रिमंडल की सलाह पर ही करता है। दिसंबर 2006 ई. दिए गए एक निर्णय में सर्वोच्च न्यायालय ने कहा है कि राष्ट्रपति ने मृत्युदंड को किन कारणों एवं परिस्थितियों से प्रेरित होकर क्षमा किया है, इसकी न्यायिक समीक्षा की जा सकती है।

4. सैन्य शक्तियां:

संविधान के अनु. 53(2) के अनुसार, संघ के रक्षा बलों का सर्वोच्च समादेश (अर्थात् सेनओं को आदेश देने की सर्वोच्च शक्ति) राष्ट्रपति में निहित है और इस शक्ति का प्रयोग वह कानून के अनुसार करेगा। वह तीनों सेनाओं (जल, थल, वायु) का सर्वोच्च कमाण्डर है। राष्ट्रपति को युद्ध की घोषणा करने का अधि कार है (अर्थात् युद्ध शुरू होने की घोषणा का अधिकार) तथा उसे यह भी घोषणा करने का अधिकार है कि युद्ध कब समाप्त माना जाए। राष्ट्रपति इन शक्तियों का प्रयोग मंत्रिमंडल के परामर्श से ही करता है, अत: ये शक्तियां राष्ट्रपति की कार्यपालिका शक्तियों के अंतर्गत ही आती हैं।

5. आपात काल की घोषणा करने का अधिकार:

राष्ट्रपति को आपातकालीन परिस्थितियों से देश को बचाने एवं संकट को दूर करने के लिए आपातकाल लगाने का अधिकार दिया गया है। अनु. 352 (युद्ध, बाह्य आक्रमण तथा सशस्त्र विद्रोह, इनमें से किसी के आधार पर), अनु. 356(राज्यों में संवैधानिक तंत्र के विफल हो जाने की दशा में वहां राष्ट्रपति शासन लगाने की शक्ति) तथा अनु. 360 (आर्थिक संकट आने पर वित्तीय आपातकाल की घोषणा करने की शक्ति) के प्रावधान राष्ट्रपति को यह अधिकार देते हैं। इनके आधार पर की गयी उद्घोषणा का अनुमोदन संसद करती है। आपातकालीन अधिकारों का प्रयोग राष्ट्रपति अपनी कार्यपालिका शक्ति के अंतर्गत ही करता है और इनकी घोषणा के पूर्व मंत्रिमंडल की सिफारिश अनिवार्य होती है। इनका विस्तृत वर्णन 'आपाकालीन प्रावधान' वाले अध्याय में किया गया है।

राष्ट्रपति की अन्य शक्तियां:

उपरोक्त वर्णित शक्तियों के अतिरिक्त भारत के राष्ट्रपति को अन्य शक्तियां भी प्राप्त हैं जिनका वर्णन संविधान में विभिन्न स्थानों पर किया गया है, जो इस प्रकार हैं:

(क) संसद के दोनों सदनों का संयुक्त अधिवेशन बुलाना और उसकी प्रक्रिया का निर्धारण। प्रक्रिया का निर्धारण राष्ट्रपति लोकसभा के अध्यक्ष राज्यसभा के सभापति के परामर्श से करेगा। (अनु. 108),

(ख) आवश्यकता पड़ने पर किसी राज्य के राज्यपाल को दो या अधिक राज्यों के लिए राज्यपाल नियुक्त करने की शक्ति राष्ट्रपति के पास है (अनु. 153),

(ग) राज्यपाल किसी ऐसी आकस्मिक परिस्थिति में, जिसका वर्णन संविधान में नहीं है, राज्य के राज्यपाल के कृत्यों के निर्वहन के लिए ऐसा उपबंध कर सकेगा, जो वह ठीक समझे (अनु. 160),

(घ) संघ लोक सेवा आयोग तथा संयुक्त राज्य लोक सेवा आयोग के सदस्यों की संख्या और उनकी सेवा शर्तों का निर्धारण, आयोग के कर्मचारी वृन्द की संख्या और उनकी सेवा शर्तों के संबंध में नियम बनाने की शक्ति राष्ट्रपति में होगी (अनु. 318),

(ङ) राष्ट्रपति को यह शक्ति है कि, भारत की आकस्मिकता निधि (अनु. 267) से धन करने की मंजूरी दे, बाद में इसे संसद के समक्ष प्रस्तुत किया जाएगा। राष्ट्रपति आकस्मिकता निधि का संरक्षक है,

TRIAL IAS

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

(च) यदि किसी समय राष्ट्रपति को यह प्रतीत होता है कि, विधि या तथ्य का कोई ऐसा प्रश्न उत्पन्न हो गया है या उत्पन्न होने की संभावना है, जिसके बारे में उच्चतम न्यायालय की राय प्राप्त करना उचित व प्रासंगिक होगा, तो वह उस प्रश्न पर विचार करने हेतु उच्चतम न्यायालय को प्रेषित कर देगा, और वह न्यायालय, ऐसी सुनवाई के पश्चात् जो वह ठीक समझे, राष्ट्रपति को अपनी राय देगा, (अनु. 143)। राष्ट्रपति द्वारा मांगी गयी सलाह पर विचार करने के लिए उच्चतम न्यायालय का मुख्य न्यायाधीश 4 अन्य वरिष्ठ न्यायाधीशों का पैनल बनाएगा और इन पांचों (मुख्य न्यायाधीश सहित) न्यायाधीशों द्वारा बहुमत से यह निर्णय किया जाएगा कि राष्ट्रपति को क्या राय दी जाए। राष्ट्रपति इन न्यायाधीशों द्वारा दी गई राय मानने हेतु विवश नहीं है, वह चाहे तो दी गयी राय को ठुकरा सकता है। उच्चतम न्यायालय भी राष्ट्रपति को राय देने के लिए बाध्य नहीं है, वह चाहे तो राष्ट्रपति को राय देने से इनकार भी कर सकता है, जैसा कि उसने रामजन्मभूमि-बाबरी मस्जिद विवाद के प्रकरण में किया था। जब राष्ट्रपति ने पूछा कि, विवादित स्थान पर मंदिर था या मस्जिद, जो उच्चतम न्यायालय ने इस पर कुछ भी कहने से इंकार कर दिया था। यह एक सराहनीय था क्योंकि न्यायालय के कुछ भी कहने से एक वर्ग की न्यायपालिका के प्रति निष्ठा प्रभावित हो जाती। राष्ट्रपति ने उच्चतम न्यायालय से सर्वप्रथम 'दिल्ली विधि अधिनियम' के संबंध में राय मांगी थी।

(छ) संघ राज्यक्षेत्रों का प्रशासन और राष्ट्रपति :

संविधान के भाग 8 में संघ राज्य क्षेत्र के प्रशासन के बारे में प्रावधान है। संविधान के अनु. 239 के अनुसार, प्रत्येक संघ राज्यक्षेत्र का प्रशासन राष्ट्रपति द्वारा किया जाएगा।

राष्ट्रपति किसी राज्य के राज्यपाल को किसी निकटवर्ती संघ राज्य क्षेत्र का प्रशासन नियुक्त कर सकेगा। राज्यपाल प्रशासक नियुक्त किए जाने पर राष्ट्रपति के निर्देशन में कार्य करेगा।

अनु. 239 क(क), दिल्ली के संबंध में विशेष प्रावधान करता है। अनु. 239 क, क (5) के अनुसार, दिल्ली का मुख्यमंत्री राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किया जाएगा और मुख्यमंत्री की सलाह पर अन्य मंत्री राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किए जाएंगे, तथा मंत्री राष्ट्रपति के प्रसादपर्यन्त कार्य करेंगे। दिल्ली का प्रशासन उपराज्यपाल के पदनाम से चलाया जाएगा। (अनु. 239 क, क (1))।

239 ख के अनुसार, पुडूचेरी के प्रशासक को विधानमंडल का सत्र न चलने की स्थिति में अध्यादेश जारी करने का अधिकार है, किन्तु राष्ट्रपति को उसे इस निमित्त आदेश-निर्देश देने की शक्ति प्राप्त है।

अनु. 240(1) के अनुसार, राष्ट्रपति को निम्नलिखित संघ राज्यक्षेत्र की शांति, प्रगति और सुशासन के लिए नियम-कानून बनाने की शक्ति प्राप्त है- (क) अण्डमान और निकोबार द्वीप, (ख) लक्षद्वीप, (ग) दादर और नागर हवेली, (घ) दमण और द्वीव। राष्ट्रपति द्वारा इन क्षेत्रों के लिए बनाया गया कोई विनियम संसद द्वारा बनाए गए किसी अधिनियम या किसी अन्य कानून का (जो उस समय उस संघ राज्य क्षेत्र में लागू हो) संशोधन कर सकेगा और राष्ट्रपति द्वार प्राख्यापित किए जाने पर उसका वही बल और प्रभाव होगा जो संसद के किसी ऐसे अधिनियम का है जो उस समय उस राज्यक्षेत्र को लागू होता है (अनु. 240(2))।

(ज) अनुसूचित क्षेत्रों तथा जनजाति क्षेत्रों का प्रशासन और राष्ट्रपति:

अनु. 244(1) के अनुसार, पांचवी अनुसूची के उपबंध असम, मेघालय, त्रिपुरा तथा मिजोरम राज्यों से भिन्न किसी राज्य के अनुसूचित क्षेत्रों और अनुसूचित जन-जातियों के प्रशासन और नियंत्रण के लिए लागू होंगे।

अनु. 244(2) के अनुसार, छठी अनुसूची के उपबंध असम, मेघालय, त्रिपुरा तथा मिजोरम राज्यों के जनजाति क्षेत्रों के प्रशासन के लिए लागू होंगे।

उपरोक्त प्रावधान यहां रहने वाले लोगों के कमजोर आर्थिक-सामाजिक स्थिति को दूर करने, सांस्कृतिक पहिचान कायम रखने तथा उन्हें विशिष्ट राजनीतिक सहभागिता देने हेतु किए गए हैं।

राष्ट्रपति को यह शक्ति दी गयी है कि वह किसी क्षेत्र पांचवी अनुसूची के अनुसार संसद द्वारा बनाए गए नियमों/कानूनों के अधीन रहते हुए 'अनुसूचित क्षेत्र' घोषित कर सके। राष्ट्रपति ने इस अधिकार के कारण 1950 ई. में 'अनुसूचि क्षेत्र आदेश' निकाला है। यह 'अनुसूचित क्षेत्र' उन जनजातियों के निवास क्षेत्र हैं जो असम, मेघालय, त्रिपुरा तथा मिजोरम के अतिरिक्त अन्य राज्यों में निवास कर रही हैं। राष्ट्रपति किसी भी समय आदेश द्वारा यह आदेश/निर्देश दे सकेगा कि कोई संपूर्ण अनुसूचित क्षेत्र उसका कोई विनिर्दिष्ट क्षेत्र अब अनुसूचित क्षेत्र का भाग नहीं रहेगा। राष्ट्रपति किसी अनुसूचित क्षेत्र के भाग को उस राज्य के राज्यपाल से परामर्श के बाद ही बढ़ा सकेगा। ऐसे प्रत्येक राज्य का राज्यपाल जहां अनुसूचित क्षेत्र हैं, प्रतिवर्ष या जब भी राष्ट्रपति इस प्रकार अपेक्षा करे, उस राज्य में अनुसूचित क्षेत्रों के प्रशासन के संबंध में राष्ट्रपति को प्रतिवेदन देगा और संघ की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार राज्य को उक्त क्षेत्रों के प्रशासन के बारे में निर्देश देने तक विस्तृत रहेगा।

राज्यपाल को यह अधिकार दिया गया है कि वह यह आदेश दे सकेगा (लेकिन उसके द्वारा दिए गए इस प्रकार के सभी आदेश पहले राष्ट्रपति के सामने प्रस्तुत होंगे और उसकी अनुमति से ही राज्यपाल आदेश जारी करेगा) कि संसद का या उस राज्य के विधानमंडल का कोई अधिनियम उस राज्य के अनुसूचित क्षेत्र को लागू नहीं होगा या वह किन्हीं परिवर्तनों के साथ लागू होगा। राज्यपाल को यह अधिकार है कि, वह अनुसूचित जनजातियों के सदस्यों द्वारा या उनमें भूमि के अंतरण को प्रतिबंधित या विनियमित

TRUE IAS

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

कर सके।

पांचवी अनुसूची के अनुसार, ऐसे प्रत्येक राज्य में, राज्यपाल द्वारा, जहां अनुसूचित क्षेत्र है और यदि राष्ट्रपति ऐसा आदेश दे तो किसी ऐसे राज्य में भी जहां अनुसूचित जनजातियां तो हैं किन्तु वहां अनुसूचित क्षेत्र नहीं है, एक 'जनजाति सलाहकार परिषद' स्थापित की जाएगी जो अधिकतम 20 सदस्यों से मिलकर बनेगी (20 की यह संख्या कम भी हो सकती है, उसका निर्धारण राज्यपाल करेगा) जिसमें 3/4 सदस्य उस राज्य की विधानसभा में अनुसूचित जनजाति के सदस्य होंगे। परंतु यदि उस राज्य की विधानसभा में अनुसूचित जनजाति के सदस्यों की संख्या, उस संख्या के कम है जितने कि जनजाति सलाहकार परिषद में भरे जाने हैं तो शेष स्थान जनजातियों के अन्य सदस्यों से भरे जाएंगे। जनजाति सलाहकार परिषद के सदस्यों की संख्या, उनकी नियुक्ति, योग्यता आदि का निर्धारण राज्यपाल करेगा, क्योंकि वही इसका संस्थापक है।

संविधान के अनु. 342 के अनुसार, राष्ट्रपति किसी संघ राज्य क्षेत्र के संबंध में स्वयं, और जहां कोई राज्य है, वहां के राज्यपाल से परामर्श करने के बाद अनुसूचित जनजाति में शामिल समूहों का निर्णय करेगा या किसी समूह को इसमें शामिल कर सकेगा। बाद में इसे संसद में प्रस्तुत कर उसकी स्वीकृति ली जाएगी।

संविधान में अनुसूचित क्षेत्रों के प्रशासक और राज्यों में अनुसूचित जनजातियों के कल्याण के बारे में प्रतिवेदन देने के लिए एक आयोग की व्यवस्था है (अनु. 339(1))। संघ को यह अधि कार है कि अनुसूचित जनजातियों के कल्याण के बारे में राज्यों के आवश्यक निर्देश दे। यह आयोग मुख्यत: अनुसूचित क्षेत्रों के प्रशासन को सुदृढ़ बनाने तथा वहां रहने वाली जनजातियों के कल्याण के बारे में अपनी रिपोर्ट देता है, जिसे संसद में प्रस्तुत करना बाध्यकारी नहीं है।

एक और आयोग है जो अनु. 338 द्वारा उपबंधित है- अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए राष्ट्रीय आयोग। 89वं संविधान संशोधन (2003ई.) द्वारा अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के लिए पृथक-पृथक राष्ट्रीय आयोग का गठन किया गया। अनु. 338 राष्ट्रीय अनुसूचित जाति आयोग तथा अनु. 338 (क) राष्ट्रीय अनुसूचित जनजाति आयोग का प्रावधान करता है। राष्ट्रीय अनुसूचित जाति आयोग तथा राष्ट्रीय अनुसूचित जनजाति आयोग, दोनों ही में एक अध्यक्ष, एक उपाध्यक्ष और 3 अन्य सदस्य होंगे, जिनकी सेवा-शर्ते तथा पद की अवधि संसद द्वारा इस निमित्त बनायी गयी विधि के उपबंधों के अधीन आयोग का अध्यक्ष तक करेगा (अनु. 338(2) तथा अनु. 338 क (2))। इन आयोगों का कार्य होगा कि, वह अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के सुरक्षा के उपायों, उनके अधिकारों के संरक्षण तथा क्रियान्वयन, उन्हें सामाजिक-आर्थिक प्रगति की प्रक्रिया में शामिल करने संबंधी विषयों पर ध्यान केन्द्रित करते हुए अपना प्रतिवेदन राष्ट्रपति को दें और यदि उसके प्रतिवेदन में कोई अपेक्षा किसी राज्य सरकार से हो तो वह अपने प्रतिवेदन की एक प्रति उस राज्य के राज्यपाल को भी दें।

राष्ट्रपति इस प्रतिवेदन को संसद में तथा राज्यपाल इसे विधानमंडल में प्रस्तुत करेगा। अपने उपरोक्त दायित्वों का निर्वहन करते हुए इन आयोगों को सभी शक्तियां प्राप्त होंगी जो किसी वाद के विचारण के समय सिविल न्यायालय को होती हैं, जैसे किसी व्यक्ति को समन देना, बाध्य करना, शपथ द्वारा उसके कथन का परीक्षण करना, दस्तावेज प्राप्त करना आदि। अनुसूचित जाति एवं जनजाति को प्रभावित करने वाले नीति विषयक मामलों पर प्रत्येक राज्य और संघ का दायित्व होगा कि, वइ इन आयोगों से विचार विमर्श करे ले। अनु. 338(10) के अनुसार, इस अनुच्छेद में अनुसूचित जातियों के प्रति निर्देश का अर्थ पिछड़ा वर्ग और आंग्ल भारतीय समुदायों के प्रति निर्देश भी है।

पांचवी अनुसूची के प्रावधानों को संसद सामान्य कानून निर्माण की प्रक्रिया द्वारा परिवर्तित कर सकती है (अनुसूची 5, पैरा7(2))।

छठी अनुसूची :

चूंकि बात अनुसूचि जाति-जनजाति की की जा रही है फलत: सुविधा की दृष्टि से इसे यहीं प्रस्तुत किया जा रहा है, यद्यपि इसका राष्ट्रपति से कोई संबंध नहीं है।

छठी अनुसूची के प्रावधान असम, मेघालय, त्रिपुरा तथा मिजोरम के जनजाति क्षेत्रों पर लागू होता हैं। इन राज्यों के जनजाति क्षेत्र स्वशासी जिलों के रूप में प्रशासित होंगे। राज्यपाल इन स्वशासी जिलों के क्षेत्र, सीमा या नाम में लोक अधिसूचना द्वारा कोई भी परिवर्तन कर सकता है। ये जिले राज्य सरकार की कार्यपालिका शक्ति के बाहर नहीं होंगे किन्तु इन्हें कुछ विधायी और न्यायिक कार्य सम्पादित करने का अधिकार होगा। इन कार्यों को करने हेतु जिला परिषद तथा प्रादेशिक परिषद बनायी जाएगी।

विधायी शक्ति के अंतर्गत इन्हें आरक्षित वनों से भिन्न वनों का प्रबंधन करने, उत्तराधिकारी संपत्ति का विनियमन करने, विवाह एवं सामाजिक रीति-रिवाजों से संबंधित कानून बनाने का अधिकार होगा। ये जिला परिषदें अपने अपने जिलों में 'जिला निधि ' की स्थापना करेंगी और इन्हें भू-राजस्व का निर्धारण व संग्रहण करने तथा करों का आरोपण करने की शक्तियां होंगी। ये खनिजों से संबंधित पट्टे आदि भी दे सकेंगीं जनजातियों से भिन्न व्यक्तियों की साहूकारी तथा व्यापार के नियंत्रण के लिए विनियमन बनाने की शक्ति भी इन जिला परिषदों में होंगी। राज्यपाल इन्हें कुछ मुकद्दमों को देखने या अपराधों से संबंधित निर्णय देने की न्यायिक शक्ति भी प्रदान कर सकता है।

इन जिला परिषदों तथा प्रादेशिक परिषदों द्वारा बनाए गए

First IAS

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

कानून तबतक अप्रभावी रहेंगे जबतक इन पर राज्यपाल अपनी अनुमति प्रदान न करें। प्रत्येक स्वशासी जिलों के लिए एक जिला परिषद होगी जो अधिकतम 30 सदस्यों से मिलकर बनेगी जिनमें से 4 व्यक्ति राज्यपाल द्वार मनोनीत होंगे और शेष व्यस्क मताधिकार के आधार पर उस जिले के नागरिकों द्वारा निर्वाचित किए जाने जाएंगे। जिला परिषद के लिए निर्वाचन सदस्यों का कार्यकाल 5 वर्ष होगा और मनोनीत सदस्य राज्यपाल के प्रसादपर्यन्त पद धारण करेंगे। इस 5 वर्ष की अवधि को राज्यपाल एक बार में (जब आपातकाल लागू हो) एक वर्ष की अवधि तक विस्तारित कर सकेगा और आपातकाल समाप्त होने की दशा में 6 माह के भीतर नए चुनाव कराने होंगे। यदि जिला परिषद का कोई सदस्य आकस्मिक मृत्यु को प्राप्त हो जाय तो उसका स्थान ग्रहण करने वाला व्यक्ति जिला परिषद के शेष कार्यकाल तक सदस्य बना रहेगा।

राष्ट्रपति संसद के किसी अधिनियम के संबंध में, और राज्यपाल राज्य विधानमंडल के किसी अधिनियम के संबंध में यह घोषणा कर सकेगा कि, इन अधिनियमों के कुछ प्रावधान स्वशासी जिलों और प्रदेशों में लागू नहीं होंगे या कुछ परिवर्तनों के साथ लागू होंगे। इन परिवर्तनों का वर्णन राष्ट्रपति और राज्यपाल की उस घोषणा में होगा।

इन स्वशासी जिलों से संबंधित प्राक्कलित प्राप्तियां (जो राज्य की संचित निधि में जमा की जानी हैं) और व्यय (जो राज्य की संचित निधि में से किए जाने हैं) पहले जिला परिषद के समक्ष विचार-विमर्श के लिए रखे जाएंगे और फिर ऐसे विचार-विमर्श के पश्चात् अनु. 202 के अधीन रहते हुए राज्य विधानमंडल के समक्ष रखे जाने वाले बजट में पृथक रूप से दिखाए जाएंगे।

राज्यपाल, राज्य के स्वशासी जिलों और स्वशासी प्रदेशों के प्रशासन के संबंध में अपने द्वारा विनिर्दिष्ट विषयों की जांच करने और प्रतिवेदन देने के लिए किसी भी समय एक आयोग की नियुक्ति कर सकेगा, यह आयोग इन स्वशासी जिलों एवं प्रदेशों में चिकित्सा, शिक्षा, संचार जैसी जनकल्याणकारी सुविधाओं या किसी नए कानून की आवश्यकता के संबंध में अपनी रिपोर्ट देगा। राज्यपाल, यदि चाहे तो इन जिलों व प्रदेशों का कार्य-भार किसी मंत्री को दे दे और वह मंत्री उपरोक्त वर्णित रिपोर्ट को विधानमंडल में प्रस्तुत करें सरकार को तब विधानमंडल में यह बताना पड़ेगा कि वह इस रिपोर्ट के आधार पर या किसी समय जब उसे यह समाधान हो जाता है कि इन स्वशासी जिलों या प्रदेशों का शासन इस अनुसूची के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा रहा है, तो वह यथास्थिति, लोक अधिसूचना द्वारा किसी जिला परिषद या प्रादेशिक परिषद का विघटन कर सकेगा और निर्देश दे सकेगा कि परिषद के पुनर्गठन हेतु नया चुनाव तुरंत कराया जाए। राज्यपाल, राज्य विधानमंडल के पूर्व अनुमोदन से ऐसी परिषद के प्राधिकार के अधीन आने वाले क्षेत्र का प्रशासन अधिकतम 12 माह की अवधि के लिए अपने हाथ में ले सकेगा अथवा ऐसे क्षेत्र का प्रशासन उपरोक्त वर्णित आयोग को सौंप सकेगा या अन्य ऐसे किसी निकाय को, जिसे वह उपयुक्त समझता है, उक्त 12 माह की अवधि के लिए दे सकेगा। राज्यपाल का उपरोक्त आदेश विधानमंडल की बैठक शुरू होने के 30 दिन के भीतर विधानमंडल से अनुमोदित होना आवश्यक है, अन्यथा राज्यपाल का आदेश निष्प्रभावी हो जाएगा।

यदि राज्यपाल का किसी समय यह समाधान हो जाता है कि, जिला परिषद या प्रादेशिक परिषद के किसी कार्य या संकल्प से भारत की सुरक्षा या लोक-व्यवस्था को खतरा हो सकता है या खतरा पहुंच चुका है तो वह ऐसे कार्य या संकल्प या प्रस्ताव को निलंबित या रदद् कर सकता है। राज्यपाल के इस कार्य को बाद में विधानमंडल का अनुमोदन मिलना आवश्यक है। यदि राज्यपाल उपरोक्त संदर्भ में जिला परिषद या प्रादेशिक परिषद के किसी आदेश या संकल्प या कार्य को निलंबित करता है तो विधानमंडल के अनुमोदन के बाद उक्त निलंबन की अवधि अधिकतम 12 माह तक होगी।

राष्ट्रपति और मंत्रिपरिषद (संवैधानिक प्रावधान):

संविधान निर्माताओं ने हमारे देश में संसदीय प्रणाली लागू की है, अत: राष्ट्रपति संपूर्ण कार्यपालिका शक्तियों का स्वामी होने के बाद भी, एक मंत्रिपरिषद की सलाह मानने हेतु बाध्य है। संविधान के अनु. 74(1) के अनुसार, राष्ट्रपति को सलाह और सहायता देने के लिए एक मंत्रिपरिषद होगी, जिसका प्रधानमंत्री होगा और राष्ट्रपति अपने कृत्यों का प्रयोग करने में ऐसी सलाह के अनुसार कार्य करेगा। परंतु राष्ट्रपति मंत्रिपरिषद से ऐसी सलाह पर दुबारा विचार करने का अपेक्षा कर सकेगा और राष्ट्रपति ऐसे पुनर्विचार के पश्चात् दी गई सलाह के अनुसार काम करेगा। अनु. 74(2) के अनुसार इस प्रश्न की किसी न्यायालय में जांच नहीं की जाएगी कि राष्ट्रपति को मंत्रियों ने सलाह दी या नहीं, और यदि सलाह दी तो क्या दी। न्यायालय यह जांच कर सकते हैं कि क्या कोई ऐसी सामग्री थी जिसके आधार पर सलाह दी गयी थी, और क्या वह उस सलाह के लिए पर्याप्त अनुकूल थी और राष्ट्रपति उसके आधार पर कार्यवाही कर सकते थे, फिर भी यह बात साक्ष्य अधिनियम 1872 की धारा 123 के अंतर्गत विशेषाधिकार के दावे के अधीन है।

अनु. 75(1) के अनुसार प्रधानमंत्री की नियुक्ति, राष्ट्रपति करेगा और अन्य मंत्रियों की नियुक्ति प्रधानमंत्री की सलाह पर राष्ट्रपति द्वारा की जाएगी।

अनु. 75(2) के अनुसार, मंत्री राष्ट्रपति के प्रसादपर्यन्त पद धारण करेंगे, अर्थात् जब मंत्री राष्ट्रपति का विश्वास (व्यवहार में प्रधानमंत्री का विश्वास) खो देंगे तो वह उन्हें मंत्री पद से हटा सकता है। मंत्रियों को पद से हटाने की शक्ति का प्रयोग राष्ट्रपति प्रधानमंत्री की सिफारिश पर ही करता है। मंत्री व्यक्तिगत रूप से राष्ट्रपति के प्रति और सामूहिक रूप से लोकसभा के प्रति उत्तरदायी होते हैं। संविधान में मंत्री बनने हेतु किसी योग्यता का वर्णन नहीं है, केवल अनु. 74(5) यह कहता है कि, यदि कोई व्यक्ति जो निरंतर 6 माह की अवधि तक संसद के किसी सदन का सदस्य

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

नहीं है, उस अवधि (6 माह) की समाप्ति पर, वह मंत्री नहीं रहेगा, अर्थात् मंत्री बनने के 6 माह के भीतर संसद के किसी-न-किसी सदन का सदस्य बन जाना होगा- यही योग्यता है।

अनु. 75(3) के अनुसार, मंत्रिपरिषद लोकसभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी होता है। लोकसभा जनता द्वारा निर्वाचित सदन है, उसके प्रति उत्तरदायित्व का अर्थ है जनता के प्रति उत्तरदायित्व। मंत्रिपरिषद के पास अत्यंत विस्तृत एवं व्यापक शक्तियां होती हैं, कहीं वह इन शक्तियों का दुरुपयोग न करने लगे, इसीलिए उसे उत्तरदायी बनाया गया है। सामूहिक उत्तरदायित्व का अर्थ है किसी एक मंत्री की असफलता का दंड संपूर्ण मंत्रिपरिषद को मिलेगा और यदि एक मंत्री के विरूद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पारित हो जाए तो संपूर्ण मंत्रिपरिषद को पद छोड़ देना पड़ेगा। इसीलिए कहा जाता है कि, मंत्रिपरिषद के सदस्य साथ-साथ तैरते व साथ-साथ डूब जाते हैं।

अनु. 75(4) के अनुसार, किसी मंत्री द्वारा अपना पद ग्रहण करने के पूर्व, राष्ट्रपति, तृतीय अनुसूची में इस प्रयोजन के लिए दिए गए प्रारूप के अनुसार, उसे पद और गोपनीयता की शपथ दिलाएगा। प्रधानमंत्री को भी उसी शपथ प्रारूप के अनुसार शपथ ग्रहण करनी पड़ती है जिसे प्रारूप से मंत्री शपथ ग्रहण करते हैं, क्योंकि प्रधानमंत्री पद हेतु संविधान में अलग से किसी शपथ-प्रारूप का उल्लेख नहीं है।

अनु. 75(6) के अनुसार, मंत्रियों के वेतन एवं भत्ते द्वितीय अनुसूची में वर्णित हैं, जिसमें संसद परिवर्तन कर सकती है।

प्रधानमंत्री का कार्य:

भारत में संसदीय प्रणाली लागू है जिसे व्यवहार में मंत्रिमडल प्रणाली भी कहते हैं क्योंकि संपूर्ण व्यवस्था में नीति निधरिण ओर निर्णय निर्माता की भूमिका मंत्रिमण्डल के पास ही होती है। वह बहुमत के बल पर ससंद में कानूनों को प्रस्तुत एवं पारित कराता है तथा उन कानूनों को लागू भी करता है। मंत्रिमंडल (मंत्रियों का मंडल या समूह) में प्रधानमंत्री की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण है क्योंकि वह 'मंत्रिपरिषद का प्रधान' है (अनु. 74(1))। इसकी इच्छा तक ही समस्त मंत्री पद पर बने रह सकते हैं। लॉर्ड मार्ले के अनुसार, प्रधानमंत्री 'प्राइमस इंटरपेयर्स' अर्थात् 'समकक्षों' में प्रथम होता है। सिद्धांतत: सभी मंत्री अपने अपने पद के संदर्भ में समान हैं, सभी राष्ट्रपति को सलाह व सहायता देने हेतु कार्य करते हैं और ये सभी लोकसभा के प्रति उत्तरदायी हैं किन्तु व्यवहार में निम्नलिखित शक्तियां केवल प्रधानमंत्री के पास हैं जो उसकी स्थिति को अत्यंत महत्वपूर्ण एंव केन्द्रीय बना देती हैं:

1. प्रधानमंत्री लोकसभा में बहुमत दल का नेता होता है। वह सदन में कार्यपालिका का सर्वोच्च प्रतिनिधि है,

2. उसे राष्ट्रपति को सलाह देने का अधिकार है कि, वह किसे मंत्रिमंडल में शामिल करे, किसे कौन सा विभाग दिया जाए, किसका विभाग कब परिवर्तित कर दिया जाए और किसे मंत्रिमंडल से हटा दिया जाय, यह सभी निर्णय प्रधानमंत्री के द्वारा ही किया जाता है।

3. मंत्रिपरिषद का प्रधान होने के कारण वह आवश्यकतानुसार मंत्रिपरिषद की और आवश्यकतानुसार मंत्रिमंडल की बैठक बुला सकता है। इन बैठकों की वह स्वयं अध्यक्षता करता है। मंत्रिपरिषद में सभी स्तर के मंत्री जैसे कैबिनेट मंत्री, राज्य मंत्री (स्वतंत्र प्रभार), राज्य मंत्री, उपमंत्री ये सभी, शामिल होते हैं, और मंत्रीमंडल में केवल कैबिनेट स्तर के मंत्री शामिल होते हैं अर्थात् जब मंत्रिपरिषद की बैठक बुलायी जाए तो सभी स्तर के मंत्री उस बैठक में शामिल होंगे और जब मंत्रिमंडल की बैठक बुलायी जाएतो उसमें केवल कैबिनेट स्तर के मंत्री ही शामिल होंगे। किन्तु दोनों ही बैठकों में प्रधानमंत्री अवश्य शामिल होंगे क्योंकि वहीं इन बैठकों की अध्यक्षता करेगा। महत्वपूर्ण निर्णय मंत्रिमंडल की बैठकों में ही लिए जाते हैं।

4. प्रधानमंत्री का स्थान मंत्रिपरिषद और राष्ट्रपति के बीच है। इसका उल्लेख अनु. 78 में है जिसमें कहा गया है कि, प्रधानमंत्री का कर्तव्य होगा कि, वह संघ के कार्यकलाप के प्रशासन संबंधी और कानून विषयक प्रस्थापनाओं संबंधी मंत्रिपरिषद के सभी निर्णयों से राष्ट्रपति को अवगत कराए।

5. सिद्धान्तत: जितनी भी राय और सलाह राष्ट्रपति को दी जाती है उन सबका निर्णय प्रधानमंत्री ही करता है।

राष्ट्रपति की स्थिति:

भारत ने अपनी संसदीय व्यवस्था, वेस्टमिनिस्टर प्रणाली (ब्रिटेन) से प्रेरित होकर अपनायी है, लेकिन ब्रिटेन में जहां राजतंत्रात्मक लोकतंत्र है वहीं भारत में गणतंत्रीय लोकतंत्र। दोनों ही व्यवस्थाओं में कार्यपालिका के प्रधान के रूप में क्रमश: राजा व राष्ट्रपति की भूमिका नाम-मात्र या संवैधानिक प्रमुख की ही होती है। दोनों देशों में जो संवैधानिक प्रमुख हैं, उनके अधिकारों के प्रमुख प्रयोगकर्ता के रूप में मंत्रिमंडल अधिकृत है। लेकिन ब्रिटेन में 'राजा' की स्थिति को लेकर कभी कोई विवाद नहीं हुआ, लेकिन भारत में 'राष्ट्रपति की स्थिति' अनेक बार राजनीतिक एवं बौद्धिक विचार-विमर्श के केन्द्र में रही है और अब तक इस पद की स्थिति और शक्तियों के बारें में सर्वस्वीकृत का अभाव है।

संविधान सभा में राष्ट्रपति की स्थिति पर मत व्यक्त करते हुए प्रारूप समिति के अध्यक्ष डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने कहा था कि, भारत का राष्ट्रपति अमेरिका के राष्ट्रपति से भिन्न है। अमेरिका का राष्ट्रपति कार्यपालिका का प्रमुख है, प्रशासन का कार्य उसे सौंपा गया है, परंतु भारत का राष्ट्रपति राष्ट्र का प्रमुख है, न कि

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

कार्यपालिका का। वह राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करता है, परंतु राष्ट्र का शासन नहीं चलाता है। वह राष्ट्र का प्रतीक मात्र है।

संविधान का अनु. 53 संघ की संपूर्ण कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति को सौंपता है और अनु. 77(1) में यह उल्लिखित है कि भारत सरकार की समस्त कार्यपालिका कार्रवाई राष्ट्रपति के नाम से की हुई कही जाएगी। किन्तु संविधान का अनु. 74 यह स्पष्ट रूप से कहता है कि, राष्ट्रपति को सलाह और सहायता देने के लिए एक मंत्रिपरिषद होगी जिसका प्रधान प्रधानमंत्री होगा और राष्ट्रपति अपने कृत्यों का प्रयोग करने में ऐसी सलाह के अनुसार कार्य करेगा। राष्ट्रपति इस सलाह पर पुनर्विचार हेतु मंत्रिपरिषद से कहा सकता है किन्तु पुनर्विचार के बाद दी गई सलाह के अनुसार राष्ट्रपति कार्य करेगा। संविधान निर्मात्री सभा में एच.वी. कामथ ने प्रश्न पूछा था कि, यदि किसी विशेष मामले में राष्ट्रपति मंत्रिमंडल के सलाह के अनुसार काम नहीं करता है तो क्या इसे 'संविधान का उल्लंघन' माना जाएगा और क्या इस आधार पर उसे महाभियोग द्वारा हटाया जा सकता है? इसका उत्तर देते हुए भीमराव अम्बेडकर ने कहा था कि राष्ट्रपति मंत्रिपरिषद की सलाह माने हेतु बाध्य होगा क्योंकि ऐसा न करने पर उसे महाभियोग द्वारा हटाया जा सकता है।

राष्ट्रपति मंत्रिपरिषद के परामर्श के बिना कुछ भी नहीं कर सकता है और न ही उसके परामर्श के विरूद्ध ही कुछ कर सकता है। सलाह और सहायता ऐसे शब्द हैं जो केवल राष्ट्रपति के पद की गरिमा बढ़ाने और उस पद के संवैधानिक स्वरूप के समक्ष आने वाली कठिनाईयों को दूर करने के लिए ही प्रयुक्त हुए हैं। 'सलाह और सहायता' शब्द ग्रेट ब्रिटेन और उसके डोमिनियन राज्यों (उपनिवेशों) के संवैधानिक व्यवहारों से लिया गया है। संविधान सभा में अल्लादि कृष्णास्वामी अय्यर ने यह कहा था कि, यह शब्द एक संवैधानिक प्रयोग है और यह उस सुविख्यात ब्रिटिश अभिसमय पर आधारित है जिसके अंतर्गत सम्राट हर स्थिति में मंत्रियों की सलाह पर कार्य करता है चाहे उसके पास कानूनी शक्तियां कितनी ही अधिक क्यों न हो। 'सलाह और सहायता' शब्द को भारत में इसी अर्थ में ग्रहण किया गया है।

भारत में संसदीय प्रणाली होने के कारण राष्ट्रपति केवल नाममात्र की ही कार्यपालिका हो सकता है, क्योंकि वह प्रत्यक्ष रूप से कोई कार्य नहीं करता और नही लोकसभा के प्रति उत्तरदायी है, जबकि मंत्रिपरिषद कार्यपालिका के सभी कार्य करता है और वह लोकसभा के प्रति उत्तरदायी भी है अर्थात् कार्यपालिका शक्तियों का वास्तविक स्वामी मंत्रिपरिषद ही है।

अतः राष्ट्रपति मंत्रिपरिषद् की सलाह नहीं मानता या उसकी सहायता के बिना अपने कार्यों को करता है, या निर्णयों को लेता है तो वह संसदीय प्रणाली के प्रति अवमानना है तथा संविध ान के प्रावधानों का उल्लंघन भी है और उसे इस आधार पर राष्ट्रपति के पद से हटाया जा सकता है। इन्हीं सब कारणों से मार्च 1962 ई. में राज्यसभा के एक कम्युनिस्ट सदस्य भूपेश गुप्त ने एक विधेयक प्रस्तुत किया, इस विधेयक में संविधान में इस प्रकार का संशोधन करने की मांग की गई थी जिसमें राष्ट्रपति द्वारा मंत्रिमंडल की सलाह के बिना कार्य करने का स्पष्ट निषेध हो, किन्तु यह विधेयक पारित न हो सका। इस विधेयक पर विचार करते समय नेहरू जी ने कहा था कि, भारत का संविधान मूलतः ब्रिटिश संसदीय प्रणाली पर आधारित है तथा भारत का राष्ट्रपति राजनीतिक तथा संवैधानिक दृष्टि से ब्रिटिश सम्राट के समान है और वह केवल संवैधानिक अध्यक्ष मात्र ही है।

राष्ट्रपति को संवैधानिक प्रधान के रूप में अपनी भूमिका निभानी है और यह भूमिका मंत्रिपरिषद की सलाह व सहायता के साथ ही निभायी जाएगी। लेकिन एक प्रश्न उठता है कि, क्या राष्ट्रपति हर परिस्थिति में मंत्रिपरिषद **के सलाह के अनुसार कार्य करने के लिए बाध्य है?** यदि किसी कारण से मंत्रिपरिषद लोक सभा में विश्वास मत हार जाए और अपना त्यागपत्र देने की बजाय राष्ट्रपति से लोकसभा को भंग कर चुनाव कराने को कहे तो क्या राष्ट्रपति इस 'सलाह' को मानेगा? या वह बिना लोकसभा भंग किए नई सरकार नई बनाने का प्रयास करेगा? यदि लोकसभा का बहुमत राष्ट्रपति के सामने नई सरकार बनाने का दावा करता हे तो क्या राष्ट्रपति उसे स्वीकार नहीं करेगा?

यदि मंत्रिपरिषद के सभी मंत्री प्रधानमंत्री के विरूद्ध हो जाएं तो ऐसी स्थिति में राष्ट्रपति प्रधानमंत्री की बात मानेगा या मंत्रियों के बहुमत की? यदि मंत्रिपरिषद सरकार किसी विधेयक को तो लोकसभा में पारित करा लेती है किन्तु राज्य सभा में बहुमत न होने के कारण वह विधेयक पारित नहीं हो पाता है तो क्या राष्ट्रपति उस विधेयक से संबंधित कानून को मंत्रिपरिषद द्वारा कहे जाने पर अध्यादेश के माध्यम से कानून का रूप दे सकता है?

यदि मंत्रिपरिषद को लोक सभा में मामूली बहुमत प्राप्त हो और यह संसद का सामना करने में बार-बार कतरा रही है या अविश्वास प्रस्ताव से बचना चाहती है- इन कारणों से मंत्रिपरिषद यदि राष्ट्रपति को सदन का सत्रावसान करने को कहती है तो क्या राष्ट्रपति को इस भयभीत मंत्रिपरिषद की बात मान लेनी चाहिए? क्या उच्च संवैधानिक पदों (राज्यपाल, न्यायाधीश आदि) पर नियुक्ति के मामलों में राष्ट्रपति को मंत्रिपरिषद द्वारा प्रेषित नामों की सूची चुपचाप स्वीकार कर लेनी चाहिए? यदि कोई सरकार देश में आपातकाल इसलिए लगाना चाहती है क्योंकि वह लोकसभा के चुनाव को अभी टालना चाहती है तो क्या राष्ट्रपति इसे स्वीकृति देंगे? यदि केन्द्रीय सरकार किसी इकाई राज्य को अपदस्थ कर राष्ट्रपति शासन लगाना चाहती हो या सेना या सशस्त्र बलों को किसी भी किसी भी राज्य में कानून व्यवस्था ठीक करने या देश की सम्प्रभुता व सुरक्षा के खतरे के नाम पर जबरन भेजना चाहती है तो क्या राष्ट्रपति को मूकदर्शन बन इसे मौन स्वीकृति दे देनी चाहिए? यदि कोई मंत्रिमंडल संपूर्ण रूप से भ्रष्टाचार में लिप्त हो जाए या प्रधानमंत्री पर देशद्रोह या देश की सुरक्षा से समझौता करने के आरोप स्पष्ट दिखाई दे जाएं तो क्या ऐसी दशा में भी राष्ट्रपति

FREE IAS

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

मौन बने रहेंगे? क्या कोई मंत्रिपरिषद राष्ट्रपति को इस बात के लिए बाध्य कर सकता है कि वह किसी विषय पर सर्वोच्च न्यायालय से परामर्श ले या न ले?

इन उपरोक्त दशाओं के अतिरिक्त भी ऐसी अनके परिस्थितियों आ सकती हैं जिनमें यह प्रश्न उठेगा कि, क्या इन स्थितियों में भी राष्ट्रपति को मंत्रिपरिषद की बात माननी चाहिए या स्वयं के विवेक से निर्णय लेना उचित होगा। उपरोक्त प्रश्नों एवं संभावनाओं के परिप्रेक्ष्य में इसका उत्तर यही हो सकता है कि सदैव और सभी परिस्थितियों में राष्ट्रपति, मंत्रिपरिषद की सलाह मानने हेतु विवश नहीं हो सकता। इन्हीं सब कारणों से संविधान निर्मात्री सभा के सदस्य रह चुके के.एम. मुंशी ने यह विचार व्यक्त किया था कि, राष्ट्रपति की कुछ शक्तियां अधिमंत्रिमण्डलीय (Super ministerial) हैं और उनके संबंध में मंत्रिपरिषद कोई परामर्श नहीं दे सकता। संविधान सभा में ही के.एम. मुंशी ने यह भी कहा था कि, राष्ट्रपति संपूर्ण संघ का प्रतिनिधित्व करता है तथा स्वतंत्र शक्तियों का प्रयोग करता है क्योंकि उसके निर्वाचन में जनता के प्रांतीय प्रतिनिधि अर्थात् विधायक तथा केन्द्रीय प्रतिनिधि अर्थात् सांसद शामिल होते हैं।

इस कारण राष्ट्रपति पूरे देश की जनता का प्रतिनिधि है और वह उसके प्रति नैतिक रूप से उत्तरदायी भी है जबकि मंत्रिपरिषद केवल लोक सभा के प्रति ही उत्तरदायी है। इस नैतिक दायित्व का राष्ट्रपति को अवश्य ध्यान रखना होगा क्योंकि तभी इस सर्वोच्च पद की गरिमा बनी रहेगी और जब वह नैतिक दायित्व का ध्यान रखेगा तो वह केवल मूकदर्शक नहीं रहा सकता, वरन् आवश्यकता पड़ने पर अपने विवेक से काम लेगा और मंत्रिपरिषद की सलाह को विवेक की कसौटी पर भी कसेगा।

उत्तर प्रदेश के भूतपूर्व मुख्यमंत्री तथा राजस्थान के राज्यपाल रह चुके डॉ. सम्पूर्णानंद ने भी कहा था कि ''लोकतंत्र को बचाने का एकमात्र विकल्प यह है कि राष्ट्रपति को ऐसी शक्तियां दी जाए जिनके अधीन वह अपने विचार से उस समय प्रशासन में हस्तक्षेप कर सके, जब वह यह पाए कि, परिस्थतियां ऐसा करने के अनुकूल हैं।

राष्ट्रपति भारत के सर्वोच्च संवैधानिक पद पर आसीन है। वह अपने विवेक से भी, परिस्थिति-विशेष में निर्णय ले सकता है और संभव है कि वह निर्णय मंत्रिपरिषद के मनोनुकूल न हो। राष्ट्रपति अपना पद ग्रहण करते समय संविधान के प्रति निष्ठा की शपथ लेता है, वह अपने निर्वाचकों तथा अप्रत्यक्ष रूप से पूरे देश की जनता के प्रति भी नैतिक एवं अनौपचारिक रूप से उत्तरदायी है। संविधान के प्रति निष्ठा की शपथ ग्रहण करने के बाद वह किसी की सलाह मात्र से संविधान की भावना के प्रति अन्याय या दुर्व्यवहार नहीं कर सकता। अनेक बार 'राष्ट्रपति' पद पर आसीन व्यक्तियों ने अपने 'विवेक' का प्रयोग करते हुए ऐसे निर्णय लिए हैं जो तत्कालीन मंत्रिपरिषद को अच्छे नहीं लगे, लेकिन राष्ट्रपति को पद से हटाने हेतु महाभियोग के बारे में नहीं सोचा गया, क्योंकि राष्ट्रपति को पद से हटाने का एक ही आधार हो सकता है और वह है संविधान का उल्लंघन। यदि मंत्रिपरिषद राष्ट्रपति के विवेक सम्मत निर्णयों से संतुष्ट नहीं है तो इससे न तो संविधान का उल्लंघन होता है और न ही उसे महाभियोग द्वारा हटाने का आधार बनता है।

'राष्ट्रपति' भारत में एक ऐसा पद है जो वह व्यवस्थापिका कार्यपालिका और न्यायपालिका तीनों से संबद्ध है, जैसे व्यवस्थापिका से इसलिए जुड़ा है क्योंकि संसद का निर्माण राष्ट्रपति, लोकसभा तथा राज्यसभा तीनों से मिलकर होता है (अनु. 79), कार्यपालिका का वह प्रधान है और सभी कार्यपालिका शक्तियां उसमें निहित हैं (अनु. 53) तथा न्यायपालिका के न्यायाधीशों की वह नियुक्ति करता है (अनु. 124) और लोगों के दंड को परिवर्तित एवं क्षमा कर सकता है (अनु. 72)। राष्ट्रपति संविधान के प्रावधानों को सुनिश्चित कराने वाला सर्वोच्च न्यायालय के बाद दूसरी सबसे बड़ी संस्था है और उसे केवल सलाह मानने वाला निकाय कहना और उससे ऐसी अपेक्षा करना उचित नहीं है, क्योंकि उसे अपने पद की गरिमा के संरक्षण तथा अधिकारों के क्रियान्वयन हेतु विवेकसम्मत निर्णय करने का पूरा अधिकार है।

ऐसा करना संवैधानिक भी है, क्योंकि अनु. 53 में कहा गया है कि, राष्ट्रपति अपनी कार्यपालिका शक्तियों का प्रयोग इस संविधान के अनुसार या तो स्वयं या अधीनस्थ अधिकारियों के द्वारा करेगा। 'स्वयं या अधीनस्थ' का तात्पर्य मंत्रिपरिषद और देश की कार्यपालिका के दायित्वों को पूरा करने वाले सभी अधिकारियों तथा कर्मचारियों से है तथा 'स्वयं' शब्द उसे स्वयं विवेक सम्मत निर्णय लेने का अधिकार दे देता है अर्थात् जहां अधीनस्थ अधिकारियों से मदद न मिले या ऐसी मदद लेना वह उचित न समझे, राष्ट्रपति स्वयं निर्णय ले सकता है। ऊपर जिन परिस्थितियों की चर्चा की गई है, उसमें राष्ट्रपति द्वारा स्वयं विवेक सम्मत निर्णय लेना कदापि अनुचित नहीं कहा जा सकता है। वह सदैव उचित, प्रासंगिक एवं संवैधानिक ही होगा।

राष्ट्रपति के अधिकारों तथा उसकी सांविधानिक स्थिति पर विचार-विमर्श करते समय प्रायः यह भुला दिया जाता है कि, यह एक कानूनी नहीं, वरन एक राजनीतिक प्रश्न है, जिसका उत्तर कानूनी अथवा संविधान के शब्दों पर उतना नहीं निर्भर करता, जितना कि, निम्नलिखित परिस्थितियों एवं दशाओं पर

(अ) संसद में विभिन्न राजनीतिक दलों की संख्यात्मक स्थिति, मुख्यतः सत्तारूढ़ दल के समर्थक सांसदों की संख्या,

(ब) राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री के पारस्परिक संबंधों की स्थिति,

(स) राष्ट्रपति की महत्वाकांक्षाएं तथा जनता में उसकी छवि।

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

मान लीजिए कि देश में संकट के घने बादल हों और प्रधानमंत्री एक दुर्बल व्यक्तित्व वाल व्यक्ति हो तथा उसे लोकसभा में अत्यंत मामुली बहुमत प्राप्त है और वह निर्णय लेने की कुशाग्र कला में प्रवीण नहीं है, जबकि राष्ट्रपति एक अत्यंत लोकप्रिय, आकर्षण एवं नेतृत्व की तीव्र क्षमता वाला व्यक्ति हो, अत: ऐसी देशा में संभव है कि जनता देश के नेतृत्व-निर्देशन के लिए राष्ट्रपति की ओर उन्मुख हो, तब जो परिस्थितियाँ बनेगी और उनका जो संवैधानिक महत्व होगा, वह राष्ट्रपति की स्थिति को 'सक्रिय कार्यपालिका प्रमुख' में बदल देगा। निस्संदेह, राष्ट्रपति की वास्तविक स्थिति का ज्ञान और उसकी संवैधानिक शक्तियों का अर्थ कानूनी शब्दकोष या संविधान में खोजने पर नहीं मिलेगा। यह कई घटनाओं तथा परिस्थितियों पर निर्भर करता है जिनका अनुमान तो किया जा सकता है किन्तु गणना नहीं की जा सकती। ऐसी ही काल्पनिक परिस्थितियों की चर्चा करते हुए प्रो. ग्लेडहिल ने भारत के राष्ट्रपति को मिली संवैधानिक शक्तियों के आधार पर यह शंका व्यक्त की है कि वह कभी भी तनाशाह बन सकते हैं। उन्होंने परिस्थितियों का वर्णन कुछ इस प्रकार किया है- यदि किसी राष्ट्रपति को संसद महाभियोग द्वारा पद से हटाने की प्रक्रिया शुरू करे (और राष्ट्रपति अपनी शक्तियों को त्यागना न चाहे अथवा अपने पर की रक्षा करने के लिए तत्पर हा जाय) और 14 दिन की पूर्व सूचना राष्ट्रपति को भेज दे।

राष्ट्रपति चूंकि महत्वाकांक्षी है और पद पर बने रहना चाहता है तो संभव है कि इस 14 दिन के भीतर ही वह लोकसभा को भंग कर दे, ध्यान रहे महाभियोग प्रस्ताव लोकसभा के भंग हो जाने के कारण रद्द हो जाएगा। अब नयी लोकसभा का चुनाव होगा। राष्ट्रपति के लिए आवश्यक नहीं है कि नयी चुनी हुई लोकसभा का तुरंत अधिवेशन बुलाए, क्योंकि संसद के दो सत्रों के बीच 6 माह का अंतर नहीं होना चाहिए। इस 6 माह के भीतर राष्ट्रपति चाहे तो अपनी पंसद के मंत्रियों को मंत्रिमंडल के भीतर शामिल कर ले और अनचाहे मंत्रियों को मंत्रिपरिषद से बाहर कर दे और अध्यादेश द्वार देश का शासन संचालित करे। यह स्थिति आपातकाल की तरह होगी जिसमें मंत्रिमंडल ओर लोकसभा भंग हो जाएंगे और सभी निर्णय राष्ट्रपति की इच्छा पर निर्भर हो जाएंगे।

इस प्रकार राष्ट्रपति धीरे-धीरे कदम बढ़ाकर पूरे देश का नियंत्रण अपने हाथ में ले सकता है। इससे लोकतंत्र और संविधान सभी कुछ उसके अधीन हो जाएंगे। वस्तुत: प्रो. ग्लेडहिल शक्तियों के ऊपर संवैधानिक अतिक्रमण का सुंदर उदाहरण प्रस्तुत करते हैं लेकिन तथ्य तो यह है कि न तो प्रधानमंत्री की सलाह के बिना राष्ट्रपति लोकसभा को भंग कर सकता और न ही उसके इस प्रकार के प्रयासों को संवैधानिक रूप से उचित कहा जाएगा। इस प्रकार के प्रयास क्रांति की आधार शिला होंगे। ग्रैनविल ऑस्टिन ने लिखा है कि, यदि संघीय सरकार स्वेच्छाचारी होती है तो इसके लिए संसद और राजनीतिक निकाय की उत्तरदायित्व निभाने में अक्षमता सबसे बड़ा कारण होगी, वे अपनी अधोगति से संतुष्ट हो चुके हैं, ऐसा माना जाएगा और ऐसी स्थितियां कुल मिलाकर राजनीतिक और संवैधानिक छल कपट होंगी।

कुल मिलाकर भारत में राष्ट्रपति की स्थिति संसदीय प्रणाली के कारण संवैधानिक प्रमुख की ही है किन्तु कुछ अवसर ऐसे हैं जहां वह संवैधानिक प्रमुख से आगे बढ़कर अपनी भूमिका निभा सकता है और इस भूमिका को स्वीकार किया जाना चाहिए। जिस प्रकार इकाई राज्यों में संकट उत्पन्न हो जाने पर संघ सरकार कार्य करती है, उसी प्रकार इकाई राज्यों में संकट उत्पन्न हो जाने पर संघ सरकार कार्य करती है, उसी प्रकार केन्द्र सत्ता का संकट होने पर राष्ट्रपति कार्य कर सकता है। आज राजनीति में जिस प्राकर के चरित्र आ रहे हैं उसे देखते हुए देश के इस सर्वोच्च पद पर बैठे व्यक्ति से कुछ सक्रिय किन्तु संविधान सम्मत भूमिका अपेक्षित है।

राष्ट्रपति सरकार के क्षुद्र राजनीतिक कार्यों या गतिविधि यों को रोकने हेतु एक फिल्टर की भूमिका निभा सकता है, जैसे जब पी.वी. नरसिंहराव ने राज्यसभा में राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत किए जाने वाले सदस्यों की सूची भेजी तो राष्ट्रपति शंकरदयाल शर्मा ने उसे यह कहते हुए अस्वीकार कर दिया कि वे व्यक्ति राज्यसभा से मनोनीत होने के लिए वांछनीय योग्यता नहीं रखते। मंत्रिपरिषद ने राष्ट्रपति की बात मानते हुए ऐसे व्यक्तियों का नाम दुबारा इसी सूची में नहीं भेजा। राष्ट्रपति के.आर. नारायण ने बिहार में राष्ट्रपति शासन (अनु. 356) लगाने की मंत्रिपरिषद की सलाह को यह कहकर मानने से इनकार कर दिया कि, कानून-व्यवस्था राज्यसूची का विषय है और इसमें असफल रहने पर राष्ट्रपति-शासन नहीं लगाया जाना चाहिए। भले ही राष्ट्रपति के उपरोक्त कार्य तत्कालीन मंत्रिपरिषद को अच्छे न लगे हों, किन्तु ये कार्य संवैधानिक एवं उचित थे।

संविद सरकारों के इस युग में राष्ट्रपति को इस प्रकार कार्य करना चाहिए जिससे संविधान की भावना का पालन हो और पद की गरिमा बनी रहे। यह सत्य है कि जब संसद के दोनों सदनों में किसी एक राजनीतिक दल को पूर्ण बहुमत प्राप्त हो तो राष्ट्रपति को अत्यधिक अवकाश नहीं रहता कि वह मनचाहे निर्णय ले किन्तु तब भी संविधान सम्मत निर्णय लेना ही उसके लिए उचित होगा, क्योंकि संविधान के प्रति निष्ठा की शपथ लेकर ही वह पदारूढ़ होता है और संविधान के विरूद्ध निर्णय लेने के लिए मंत्रिपरिषद बाध्य नहीं कर सकता।

ETHER IAS

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

आपातकालीन प्रावधान

सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों में परिवर्तन होने के साथ-साथ संवैधानिक प्रावधानों में भी परिवर्तन करते रहने की क्षमता किसी भी देश के चैतन्य, प्रबुद्ध तथा प्रगतिशील जनमानस की प्रथम पहचान है। भारतीय संविधान की यह विशेषता है कि, उसमें उन सभी विषयों का सामवेश है जिनकी अनुभवजन्य आवश्यकताएं सर्वविदित हैं। कोई भी संविधान सामान्यकालीन दशाओं के लिए ही बनाया जाता हैं, लेकिन इस बात की संभावना बराबर बनी रहती है कि कभी भी असामान्य, विनाशकारी तथा विखंडनकारी शक्तियां सर उठाकर सम्पूर्ण संवैधानिक व्यवस्था को संकटापन्न कर सकती हैं। ऐसी अप्रत्याशित और अचानक उठ खड़ी होने वाली परिस्थितियों के लिए जब तक कोई उपयुक्त वैधानिक एवं संवैधानिक व्यवस्था न हो, तब तक उन परिस्थितियों से निबटने के लिए कोई भी राजनीतिक तंत्र अत्यंत कठिनाई का अनुभव करेगा। इसलिए भारतीय संविधान के भाग 18 में आपात-उपबंध शीर्षक से एक पूरा भाग ही जोड़ा गया है।

भारतीय संविधान निर्मात्री सभा में इस बात पर कुछ सदस्यों को आपत्ति थी कि, आपातकालीन स्थितियों से निबटने के लिए कार्यपालिका को ऐसी शक्तियां दी जा रही हैं जिससे कि वह तानाशाह बन सकती है। ऐसी निर्बाध शक्तियां लोकतांत्रिक मूल्यों के विरूद्ध हैं एवं नागरिकों के मूल अधिकारों की अवहेलना करने वाली हैं। प्रारूप समिति की ओर से इन प्रश्नों का उत्तर देते हुए श्री. टी.टी. कृष्णमाचारी ने कहा कि, 'यह देखाना आवश्यक है कि, सरकार के पास आपात स्थिति का सामना करने के लिए पर्याप्त शक्तियां हैं... यह आपात प्रावधान (जिसमें संभावना है, कि वह अलोकतांत्रिक है) केवल एक उद्देश्य से है कि संविधान बनाने के हमारे प्रयास व्यर्थ न हो जायं और भविष्य में जो लोग सत्ता में आएं उनको संविधान की सुरक्षा के लिए पर्याप्त शक्तियां प्राप्त हों। मैं सभा से अनुरोध करता हूँ कि, इस अध्याय को संविधान की सुरक्षा के लिए सेफ्टी वाल्व की भांति समझा जाना चाहिए।.... अत: इन आपात उपबंधों को एक आवश्यक बुराई की भांति सहना होगाा... ।''

वस्तुत: संविधान निर्माता संविधान के प्रावधानों को जड़ बनाने की तुलना में देश की सुरक्षा को अधिक महत्व देते हुए आपातकालीन दशाओं में परिस्थितियों के अनुसार संवैधानिक परिवर्तन करने के पक्षधर थे, जो कि उचित व प्रासंगिक भी है। आपातकालीन प्रावधानों को हमने जर्मनी के वीमर संविधान के अनुसरण पर बनाया है।

संविधान के भाग 18 में 3 प्रकार के आपातकालीन प्रावधान वर्णित हैं:

(1) युद्ध, बाह्य आक्रमण और सशस्त्र विद्रोह के आधार पर आपातकालीन उद्घोषणा (अनु. 352),

(2) किसी इकाई राज्य में संवैधानिक तंत्र की विफलता की दशा में राष्ट्रपति शासन (अनु. 356) और

(3) वित्तीय/आर्थिक संकट की दशाा में - वित्तीय आपात काल (अनु. 360)।

(1) युद्ध, बाह्य और सशस्त्र विद्रोह के आधार पर आपातकालीन उद्घोषणा (अनु. 352):

यदि राष्ट्रपति को यह विश्वास हो जाय कि युद्ध, बाह्य आक्रमण या सशस्त्र विद्रोह के कारण सम्पूर्ण भारत या उसके किसी भाग विशेष की सुरक्षा संकट में पड़ गयी है तो वह उद्घोषणा द्वारा सम्पूर्ण भारत या उसके उस भाग विशेष में (जहां संकटापन्न है और जिस स्थान को उद्घोषणा में विनिर्दिष्ट किया जाय) आपातकाल की घोषणा कर सकता है।

यह आवश्यक नहीं है कि, युद्ध बाह्य आक्रमण या सशस्त्र विद्रोह के वास्तविक या यथार्थ रूप से उपस्थित होने पर ही आपातकालीन की घोषणा की जाय। राष्ट्रपति इस प्रकार के भावी संकट के उत्पन्न होने की आशंका पर भी आपातकाल की उद्घोषणा पूरे भारत में या उसके भाग विशेष में कर सकते हैं।

युद्ध का तात्पर्य दो अर्थों से है, भारत में किसी राष्ट्र के ऊपर आक्रमण करके युद्ध घोषित कर दिया हो या किसी अन्य देश ने भारत पर आक्रमण करके युद्ध कर दिया हो। दोनों की दशाओं में भारत सरकार को औपचारिक रूप से यह उद्घोषणा करनी होगी कि 'युद्ध' शुरू हो गया है। 'बाह्य आक्रमण' तब तक युद्ध की श्रेणी में नहीं आएगा, जब तक कि औपचारिक रूप से सरकार 'युद्ध' की घोषणा न करें। 'बाह्य आक्रमण' में उन संगठित एवं आतंकवादी गुटों की कार्रवाई भी आ जाएगी जो यदा-कदा सीमापार से घुसपैठ करते रहते हैं, ये प्राय: विदेशी एंव गैर राज्य अभिकर्ता' की तरह आक्रमण करते हैं। कारगिल की लड़ाई को 'बाह्य आक्रमण' कहा जा सकता है, लेकिन वह घोषित रूप से पाकिस्तान के विरूद्ध 'युद्ध' नहीं था, क्योंकि भारत सरकार ने उसे 'युद्ध' की कोटि में रखने की घोषणा नहीं की थी। 'सशस्त्र विद्रोह' का तात्पर्य भारतीय सीमा के भीतर उन असंतुष्ट गुटों द्वारा चलाए जा रहे हिंसक आंदोलन से है, जिनके कारण कभी भी देश की सुरक्षा संकट में पड़ सकती है। उल्फा द्वारा असम में या कश्मीर के भीतर काम कर रहे विभिन्न चरमपंथी गुट या नक्सलवादी गुट आदि की कार्यवाहियां 'सशस्त्र विद्रोह' के अंतर्गत आती है।

भारत के राष्ट्रपति को मंत्रिमंडल के परामर्श पर काम करना होता है, लेकिन आपातकाल की उद्घोषणा राष्ट्रपति केवल परामर्श के आधार पर नहीं कर सकता। आपातकाल लगाने की उद्घोषणा राष्ट्रपति तभी करेगा जब मंत्रिमंडल (प्रधानमंत्री औ मंत्रिमंडल स्तर के अन्य मंत्रियों का समूह) ने राष्ट्रपति को लिखित रूप से आपातकाल लगाने को कहा हो (अनु. 352(3))।

Ehsan IAS

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

अनु. 352 द्वारा राष्ट्रपति को प्रदत्त शक्ति के अंतर्गत युद्ध या बाह्य आक्रमण या सशस्त्र विद्रोह के आधार पर अलग-अलग प्रकार की उद्घोषणाएं करने की शक्ति है (अनु. 352(9))। दिसम्बर 1971 ई. में पाकिस्तान के भारत पर आक्रमण करने की दशा में राष्ट्रपति ने 'बाह्य आक्रमण' के आधार पर आपातकाल लागू किया था, 1971 में बांग्लादेश का उदय तथा शिमला समझौता के बाद स्थितियां शान्त हो गई, लेकिन, आपातकाल की उद्घोषणा जारी रही, यह 1977 तक जारी रही। इसी बीच 25 जून, 1975 ई. को इंदिरा गांधी ने 'आंतरिक अशांति' के आधार पर (उस समय 'सशस्त्र विद्रोह' की जगह 'आंतरिक अशांति' शब्द था) राष्ट्रपति से आपातकाल लगाने को कहा, और आपात काल लागू हो गया। इस प्रकार, 25 जून, 1975 से मार्च 1977 ई. तक भारत में दो प्रकार के आपात काल, अनु. 352 के अंतर्गत लागू रहे:

(1) बाह्य आक्रमण के कारण 1971 में लगाया गया आपातकाल और

(2) आंतरिक अशांति के नाम पर 1975 ई. में लगाया गया आपातकाल

अर्थात राष्ट्रपति अलग-अलग आधारों पर एक ही समय में आपातकाल की दो भिन्न उद्घोषणाएं कर सकता है (अनु. 352(4))।

अनु. 352(1) में प्रयुक्त शब्दावली 'राष्ट्रपति का समाधान' यह संकेत करती है कि, आपातकाल की उद्घोषणा उसके विवेक पर निर्भर है। लेकिन वह केवल स्वविवेक पर ऐसा नहीं कर सकता, उसे मंत्रिमंडल की लिखित स्वीकृति आवश्यक है और मंत्रिमंडल भी संसद की मन:स्थिति का अनुमान लगाकर ही ऐसा निर्णय लेगा, क्योंकि आपातकाल (अनु. 352) लगाने के एक माह के भीतर संसद की स्वीकृति लेनी होगी (आपातकाल का संसद दोनों सदनों में पृथक-पृथक अनुमोदन अनिवार्य है)। इसप्रकार भारत में आपातकाल लगाने के लिए राष्ट्रपति, मंत्रिमंडल तथा संसद-तीनों की पारस्परिक स्वीकृति/सहमति अनिवार्य है। यह लोकतंत्र की सुरक्षा एवं नागरिक अधिकारों के संरक्षण के प्रति हमारी संवैधानिक प्रतिबद्धता या जीवंत उदाहरण है। आपातकाल अत्यंत गंभीर दशाओं में ही (युद्ध या बाह्य आक्रमण या सशस्त्र विद्रोह) लागू किया जाना चाहिए। ऐसी दशाएं जिससे देश व संविधान ही खतरे में पड़ जायं।

भारत में आपातकाल संबंधी प्रावधानों का क्रियान्वयन (अनु. 352):

अनु. 352 के अधीन आपातकाल की प्रथम उद्घोषणा तत्कालीन राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने चीन के आक्रमण को देखते हुए (अर्थात् 'बाह्य आक्रमण' के आधार पर) की थी, जो 26 अक्टूबर, 1962 को लागू हुई। इसके बाद संसद ने भारत रक्षा अधिनियम बनाकर अपने द्वारा बनाए गए विभिन्न आपातकालीन प्रावधानों को स्वीकार किया। इस आपातकाल को 10 जनवरी 1968 ई. को हटा लिया गया।

अनु. 352 के अधीन दूसरी बार उद्घोषणा भारत-पाक युद्ध की संभावना को देखते हुए (बाह्य आक्रमण' के आधार पर) 03 सितम्बर, 1971 ई. को की गई। अभी यह उद्घोषणा लागू ही थी कि 25 जून, 1975 ई. को 'आंतरिक अशांति' के आधार पर देश में आपातकाल लागू कर दिया गया। यह स्थिति ऐसी थी कि आपातकाल का दुहराव हो गया, लेकिन दोनों ही आपातकाल दो भिन्न-भिन्न आधारों पर लगाए गए थे। इन दोनों आपातकालों को एक साथ मार्च 1977 ई. में हटा लिया गया। इस प्रकार, अब तक कुल 3 बार आपातकाल लगाया जा चुका है, दो बार 'बाह्य आक्रमण' के आधार **पर (1962 तथा 1971 ई.) तथा एक बार आंतरिक असाम की के अधार पर** (1975 ई.)। 44वें संविधान संशोधन द्वारा संविधान में संशोधन करके 'आंतरिक अशांति' शब्द की जगह 'सशस्त्र विद्रोह' शब्द जोड़ दिय गया है।

आपातकाल की उद्घोषणा का संसद द्वारा अनुमोदन अनिवार्य:

अनु. 352 के अधीन राष्ट्रपति द्वार की गयी उद्घोषणा को संसद के प्रत्येक सदन में एक माह के भीतर रखा जाएगा और यदि संसद के दोनों सदनों ने अलग-अलग संकल्प द्वारा आपातकाल लगाने की कार्यवाही का अनुमोदन नहीं किया तो एक माह की समाप्ति पर आपातकाल स्वयमेव हट जाएगा और यदि घोषणा का संसद के दोनों सदनों द्वारा अनुमोदन कर दिया जाता है तो यह उद्घोषणा अगले 6 माह तक (संसद के दूसरे सदन द्वारा अनुमोदन की तिथि से अगले 6 माह तक) लागू रहेगी, यदि इसे 6 माह के भीतर राष्ट्रपति द्वारा स्वयं हटा नहीं लिया गया है।

यदि आपातकाल की उद्घोषणा करने के समय 1 माह के भीतर लोकसभा का विघटन हो जाय और नए चुनाव की आवश्यकता पड़ जाय, तो ऐसी दशा में आपातकाल का अनुमोदन एक माह के भीतर राज्यसभा द्वारा किया जाएगा। यदि राज्यसभा एक माह के भीतर आपातकाल की उद्घोषणा का अनुमोदन कर देगी तो आपातकाल, अनुमोदन की तिथि से अगले 6 माह तक जारी रहेगा और यदि अनुमोदन नहीं करती है तो आपातकाल अपनी उद्घोषणा की तिथि से एक माह के बाद स्वयमेव समाप्त हो जाएगा। यदि राज्यसभा ने अनुमोदन करके अगले 6 माह तक आपातकाल जारी रखने का प्रावधान स्वीकार कर लिया और विघटित लोकसभा का चुनावोपरांत गठन हो गया तो ऐसी दशा में पुनर्गठित लोकसभा अपनी प्रथम बैठक के 30 दिनों के भीतर आपातकाल का अनुमोदन करेगी, यदि वह अनुमोदन कर देगी तो उसके अनुमोदन करने की तिथि से अगले 6 माह तक (अब राज्यसभा के पिछले अनुमोदन की तिथि से 6 माह तक नहीं, वरन् नवगठित लोकसभा, के अनुमोदन से अगले 6 माह तक) आपातकाल जारी रहेगा और यदि नवगठित लोकसभा आपातकाल का अनुमोदन नहीं करती है तो राज्य सभा द्वारा अगले 6 माह तक के लिए अनुमोदित होने वाले संकल्प के बाद भी आपातकाल नवनिर्वाचित लोकसभा की प्रथम बैठक के 30 दिनों के बाद समाप्त हो जाएगा। लोकसभा जनप्रतिनिधियों का सदन है अत: उसके विचारों को यहां महत्ता दी गई है।

GS SCORE IAS

आपातकाल का अनुमोदन संसद के दोनों सदनों द्वारा किया जाएगा। ऐसा संकल्प संसद के प्रत्येक सदन द्वारा अपने सदन की सदस्य संख्या के बहुमत तथा उपस्थित एवं मतदान में भाग लेने वाले सदस्यों में से कम-से-कम, दो तिहाई बहुमत द्वारा ही पारित किया जाएगा (अनु. 352(6))।

1975 ई. में जब तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी ने 'आंतरिक अशांति' के नाम पर आपातकाल लगाकर अपनी राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं को पूरा करने के लिए विपक्ष के नेताओं को कारागार में डाल दिया या उन्हें घर में नरजबंद कर दिया, तब इस आपातकाल को लोकतंत्र का शत्रु कहा गया तथा कार्यपालिका की आपातकालीन शक्तियों पर विधायी नियंत्रण की मांग उठायी जाने लगी। 1977 ई. में जनता पार्टी के सत्ता में आने के बाद आपातकाल लागू करने संबंधी प्रावधानों में कुछ परिवर्तन किया गया। 'आंतरिक अशांति' की जगह 'सशस्त्र विद्रोह' शब्दावली रखी गयी तथा लोकसभा को आपातकाल की उद्घोषणा वापास लेने के लिए पहल करने का अधिकार दिया गया। यह परिवर्तन 44वें संविधान संशोधन द्वारा किया गया। इस संशोधन द्वारा यह परिवर्तन भी किया गया कि, आपातकाल पूरे भारत में एक साथ लगने के साथ ही, यदि आवश्यकता पड़े तो भारत के किसी भाग विशेष में भी लगाया जा सकता है अर्थात् मान लीजिए कि केवल पूर्वोत्तर भारत के राज्यों में सशस्त्र विद्रोह हुआ है तो फिर केरल, तमिलनाडु आदि में आपातकाल लगाने का कोई औचित्य नहीं है, जब तक कि पूर्वोत्तर की हिंसा से केरल आदि को कोई खतरा न हो।

राष्ट्रपति मंत्रिमंडल के परामर्श मात्र से कभी भी आपातकाल की उद्घोषणा वापस लेकर उसे समाप्त कर सकता है। आपातकाल को समाप्त करने या वापस लेने के लिए मंत्रिमंडल के परामर्श की ही आवश्यकता है, जबकि आपातकाल लागू करने हेतु मंत्रिमंडल की लिखित स्वीकृति आवश्यक है। लोकसभा के सदस्य भी अपने सामान्य बहुमत से संकल्प पारित कर राष्ट्रपति से आपातकाल समाप्त करने के लिए कह सकते हैं और यदि ऐसा संकल्प पारित हुआ तो राष्ट्रपति आपातकाल की उद्घोषणा वापस ले लेगा इसके लिए प्रावधान इस प्रकार है।

यदि लोकसभा के सदस्य आपातकाल को समाप्त करने की उद्घोषणा करने वाले संकल्प को पारित करने के लिए सदन की बैठक बुलाने की मांग करें तो उन्हें लोकसभा की कुल सदस्य संख्या के 1/10 सदस्यों के हस्ताक्षर वाले प्रपत्र को,

(क) यदि सदन का सत्र चल रहा है तो लोकसभा के अध्यक्ष को,

(ख) यदि सदन का सत्र नहीं चल रहा है तो तो राष्ट्रपति को,

प्रस्तुत करना होगा, जिसे प्राप्त होने के 14 दिन के भीतर सदन का एक विशेष सत्र बुलाया जाएगा और यदि इस विशेष सत्र में लोकसभा अपने सामान्य बहुमत से प्रस्ताव पारित कर देती है कि आपातकाल हटाया जाना चाहिए तो राष्ट्रपति आपातकाल वापस लेने का आदेश जारी कर देगा।

आपातकाल (अनु. 352) की उद्घोषणा का प्रभाव:

आपातकाल एक ऐसी परिस्थिति है जो अप्रत्याशित है, इसमें संविधान एंव लोकतंत्र को बचाने के लिए और देश की सुरक्षा हेतु केन्द्र/संघ को ऐसे अनेक अधिकार मिल जाते हैं जो सामान्य दशाओं में केन्द्र के पास हो ही नहीं सकते, इससे राज्यों के अधिकारों में कटौती हो जाती है। आपातकाल की उद्घोषणा का प्रभाव इस प्रकार है:

(1) सामान्य स्थितियों में केन्द्र केवल अपने द्वारा बनायी गयी विधियों के अनुपालन के संबंध में तथा अपनी कार्यपालिका शक्ति के प्रयोग में ही राज्यों को निर्देश दे सकता है (अनु. 256, 257), लेकिन आपातकाल लागू होने के बाद संघ की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार किसी भी इकाई राज्य को इस बारे में निर्देश देने तक विस्तृत हो जाएगा कि वह अपनी कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग किस प्रकार करे अर्थात् इकाई राज्यों को मिली हुई सम्पूर्ण कार्यपालिका शक्ति का क्रियान्वयन केन्द्र स्वयं निर्देश देते हुए करा सकता है। इसमें राज्य की सरकार तो बनी रहेगी लेकिन उसके ऊपर सम्पूर्ण कार्यपालिका नियंत्रण केन्द्र का होगा (अनु. 353 (क))।

(2) (क) अनु. 352 के अंतर्गत आपातकाल लागू होने के साथ ही केन्द्र की विधायी शक्ति का विस्तार भी सम्पूर्ण इकाई राज्यों पर हो जाता है और संसद को उन विषयों पर भी कानून बनाने का अधिकार मिल जाता है जो सामान्य दशाओं में राज्यसूची में शामिल रहती हैं। संघ/केन्द्र राज्य सूची के विषयों पर कानून बनाकर उनके क्रियान्वयन का दायित्व संघ के अधिकारियों या प्राधिकारियों को सौंप सकता है। अनु. 352 के लागू होने के राज्यों की विधानसभाओं का निलंबन नहीं होता, केवल उसकी विधायी शक्तियां संसद के अधीन हो जाएंगी, जिससे कि संसद इस आपातकाल से निबटने के लिए कानून बना सके (अनु. 352(ख))।

(ख) यदि आपातकाल की घोषणा (अनु. 352) सम्पूर्ण भारत में एक साथ न की जाकर भारत के किसी एक प्रदेश या कुछ प्रदेशों में या किसी एक प्रदेश के कुछ भागों में की जाय तो भी केन्द्र की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार तथा संसद की राज्य सूची के विषयों पर कानून बनाने की शक्ति का विस्तार (उपरोक्त वर्णित 1 तथा 2 (क)) ऐसे राज्यों पर भी होगा जहां भले ही आपातकाल की उद्घोषणा न हुई हो, लेकिन यदि केन्द्र को लगता है कि उसके निकटवर्ती प्रदेश/प्रदेशों में आपातकालीन स्थितियां होने से उस राज्य की सुरक्षा भी प्रभावित हो सकती है, तो केन्द्र उस राज्य को भी आवश्यक कार्यपालिका आदेश एवं विधायी निर्देश दे सकता है, भले ही वहां प्रत्यक्षत: आपातलकाल लागू न हो (अनु. 353 (ख) को परन्तुक), जैसे मान लीजिए कि बिहार व उत्तर प्रदेश में अपातकाल (अनु. 352) लागू हो, लेकिन बिहार

FIRST IAS

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

में व उ.प्र. में आपातकाल लागू करना पड़ा है तो भले ही झारखण्ड व उत्तरांचल में आपातकाल घोषित नहीं किया गया है, लेकिन राष्ट्रपति यहां की दशाओं को ध्यान में रखकर, इन राज्यों की सुरक्षा के लिए इन राज्यों को कतिपय कार्यपालिका आदेश तथा विधायी निर्देश दे सकता है; इन राज्यों में राज्यपाल को अपनी कार्यपालिका शक्तियों के प्रयोग के संबंध में निर्देश दिए जा सकते हैं।

(ग) अनु. 352 के अधीन आपातकाल लागू होने के बाद यदि लोकसभा या राज्यों में विधानसभा का कार्यकाल (उन राज्यों में जहां आपातकाल लागू है या जिनके बारे में राष्ट्रपति को यह विश्वास हो जाय कि पड़ोसी राज्यों में आपातकाल जिन दशाओं में लगाया गया है, वैसी ही दशा किसी अन्य राज्य में भी है, फलत: उस राज्य की सुरक्षा भी प्रभावित हो रही है) पूरा हो रहा हो तो संसद कानून बनाकर लोकसभा तथा विधानसभाओं के कार्यकाल में वृद्धि कर सकती है। यह वृद्धि एक बार में कानून बनाकर अधिकतम 1 वर्ष (1 वर्ष से कम भी वृद्धि की जा सकती है, यदि संसद को लगता है कि आपातकाल शीघ्र ही समाप्त हो जाएगा) के लिए ही की जा सकती है, लेकिन यदि आपातकाल 1 वर्ष से अधिक समय तक लगाने की आवश्यकता प्रतीत हो रही हो, तो संसद प्रस्ताव पारित कर लोकसभा तथा विधानसभाओं का कार्यकाल एक-एक वर्ष के लिए बढ़ाती रह सकती है। परंतु आपातकाल की उद्घोषणा के समाप्त हो जाने के बाद किसी भी परिस्थिति में लोकसभा तथा विधानसभा की अवधि 6 माह से आगे नहीं बढ़ेगी, अर्थात् आपातकाल समाप्त हो जाने के 6 माह के भीतर ही लोकसभा तथा संबंधित राज्यों की विधानसभाओं का (जिनका 5 वर्ष का कार्यकाल पूरा हो गया है) चुनाव कराना आवश्यक होगा (अनु. 83 तथा 172)।

(3) अनु. 352 के अधीन आपातकाल की उद्घोषणा लागू हो जाय तो राष्ट्रपति को यह अधिकार है कि, वह आदेश द्वारा एक निश्चित समय तक (प्राय: आपातकाल लागू रहने की तिथि तक या उस वित्तीय वर्ष की समाप्ति तक, जब आपातकाल लागू रहा हो, वित्तीय वर्ष का तात्पर्य है : 1अप्रैल से 31 मार्च तक की अवधि) केन्द्र व राज्यों के बीच राजस्वों का वितरण करने वाले संवैधानिक प्रावधानों को स्थगित कर दे या उनमें परिवर्तन करने के बाद उसे लागू करने की व्यवस्था करे। राष्ट्रपति द्वारा किए गए इन राजस्व वितरण संबंधी परिवर्तनों को संसद के प्रत्येक सदन में रखा जाएगा और उन सदनों की स्वीकृति के बाद ही यह परिवर्तन लागू होंगे (अनु. 354)।

(4) अनु. 352 के अधीन आपातकाल की उद्घोषणा होने पर न केवल केन्द्र व राज्यों के बीच कार्यपालिका, विधायी एवं वित्तीय संबंधों में परिवर्तन होता है, वरन् नागरिकों के मूलाधिकार भी प्रभावित होते हैं। आपातकाल (अनु. 352) का नागरिकों के मूलाधिकारों पर पड़ने वाले प्रभावों का वर्णन इस प्रकार है:

(क) जब युद्ध या बाह्य आक्रमण के आधार पर (सशस्त्र विद्रोह के आधार पर नहीं) अनु. 352 के अधीन आपातकाल की उद्घोषणा की जाती है, जैसे ही अनु. 352 लागू होता है अर्थात् आपातकाल लगता है, अनु. 358 स्वत: लागू हो जाता है (इसको लागू होने के लिए राष्ट्रपति के किसी पृथक आदेश की आवश्यकता नहीं होती) और नागरिकों को अनु. 19 के द्वारा प्राप्त स्वतंत्रताएं (जो 6 हैं) तुरंत ही स्थगित हो जाती हैं (अनु. 358 (1)), अर्थात् अनु. 358 का क्रियान्वयन केवल एसे ही **आपात तक सीमित है जो अनु. 352 के अधीन युद्ध या बाह्य आक्रमण के आधार** पर लगाया गया हो, सशस्त्र विद्रोह के आधार पर नहीं। अनु. 358 के लागू होने के कारण अनु. 19 द्वारा नागरिकों को मिली 6 स्वतंत्रताएं पूरे भारत में स्थगित की जा सकती हैं, या उन राज्यों में भी स्थगित की जा सकती हैं जहां आपातकाल लागू न किया गया हो। यह राष्ट्रपति के विवेक पर निर्भर है। भले ही आपातकाल पूरे भारत में लगा हो या भरत के किसी भाग विशेष में। ये स्वतंत्रताएं तब तक स्थगित रहेंगी जब तक कि, अनु. 352 (युद्ध या बाह्य आक्रमणा के आधार पर लगाया गया आपातकाल) लागू रहेगा, जैसे ही आपातकाल (अनु. 352) हटेगा, अनु. 358 भी हट जाएगा और नागरिकों को मिली 6 स्वतंत्रताएं स्वयमेव प्राप्त हो जाएंगी।

अनु. 358 के संबंध में एक और तथ्य महत्वपूर्ण है कि, अनु. 358 के अंतर्गत आपातकाल की अवधि में किए गए राज्य के कार्यों को आपातकाल की समाप्ति के बाद न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती।

(ख) अनु. 358 द्वारा अनु. 19 को निलंबित किया जाता है, लेकिन यदि राष्ट्रपति को लगता है कि, आपातकाल में (चाहे युद्ध, बाह्य आक्रमण या सशस्त्र विद्रोह के आधार पर आपातकाल लगाया गया हो) नागरिकों के अन्य मौलिक अधिकारों को भी स्थगित करने की आवश्यकता हैं। राष्ट्रपति पहले से किसी न्यायालय में चले आ रहे मूल अधिकारों को लागू करने से संबंधित मुकदमें में सुनवाई को भी लिनंबित कर सकता है, जब तक कि आपातकाल लागू है। आपातकाल में नागरिकों को न्यायालय में जाकर भी अपने मूल अधिकारों को लागू कराने का अधिकार नहीं होता, केवल अनु. 20 तथा 21 के प्रवर्तन के लिए ही वे न्यायालय (उच्च तथ सर्वोच्च न्यायालय) की शरण ले सकते है। क्योंकि ये दोनों अधिकार आपातकाल में भी छीनें नही ं जा सकते। जीवन की रक्षा का अधिकार प्रदान करना राज्या या सबसे बड़ा दायित्व है, जिससे राज्य आपातकाल में भी वंचित नहीं कर सकता।

(ग) यदि राष्ट्रपति अनु. 352 में वर्णित 'सशस्त्र विद्रोह' के आधार पर आपातकाल लागू करता है तो उसे अनु. 359 के अधीन आदेश द्वारा यह बताना होगा कि अनु. 20 तथा 21 को छोड़कर नागरिकों के किन-किन मूलाधिकारों को निलंबित किया जा रहा है। इसमें अनु. 19 भी शामिल है। जब 'सशस्त्र विद्रोह' के आधार पर आपातकाल (अनु. 352) लागू होगा तब अनु. 358 लागू नहीं होगा क्योंकि अनु. 358 को

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

क्रियान्वयन केवल ऐसे ही आपात तक सीमित है जो युद्ध या बाह्य आक्रमण के आधार पर लागू किया जाय।

(घ) अनु. 352 में वर्णित किसी भी आधार पर (युद्ध या बाह्य आक्रमण या सशस्त्र विद्रोह) यदि आपातकाल भारत के किसी भाग में लागू है तो भी यदि राष्ट्रपति को यह विश्वास हो जाय कि आपातकाल से ग्रस्त राज्यों में व्याप्त गतिविधियों के कारण भारत के किसी अन्य राज्य/राज्यों की सुरक्षा खतरे में है तो वह उस राज्य के लिए भी (भले ही वहां आपातकाल लागू न हो) विधि बना सकेगा या कोई आदेश जारी कर सकेगा, लेकिन इस प्रकार की विधियां तभी बनेंगी या आदेश तभी जारी होंगे, जब यह स्पष्ट उल्लेख हो कि उक्त विधि या आदेश आपातकालीन परिस्थितियों से निबटने के लिए है, ऐसा उल्लेख न होने पर उक्त विधि या आदेश अवैध करार दिया जाएगा (अनु. 359(3))।

अनु. 352 - एक समीक्षात्मक विश्लेषण:

भारतीय संविधान में वर्णित आपातकालीन वास्तव में अप्रत्याशित एवं आकस्मिक दशाओं से निबटने तथा उनपर विजय प्राप्त करने के लिए किए गए है, लेकिन इन प्रावधानों की आलोचना भी होती रही है। आलोचकों का मत है कि, आपातकाल के नाम पर कार्यपालिका को असाधारण संवैधानिक अधिकार दे देना ठीक नहीं है। संसद में सत्तारूढ़ दल का बहुमत होता है और वह इसका प्रयोग आपातकाल को अनवरत बनाए रखने के लिए भी कर सकता है। संसद आपातकाल की उद्घोषणा का अनुमोदन केवल अपने विशेष बहुमत से करती है न कि विशेष बहुमत और आधे राज्यों के अनुसमर्थन से, जबकि आपातकाल से हमारी संघीय व्यवस्था एवं केन्द्र-राज्य संबंध पूरी तरह बदल जाते हैं। संसद के पास आपातकाल का अनुमोदन करने के लिए तो अधिकार है लेकिन आपातकाल को समाप्त करने के लिए उसे अत्यंत सीमित अधिकार है और वह भी प्रभावी नहीं है, क्योंकि लोकसभा में बहुमत सत्तारूढ़ दल का होता है और लोकसभा के सदस्य पार्टी व्हिप का उल्लंघन नहीं कर सकते।

आपातकाल की उद्घोषणा के बाद सदैव ही भारत रक्षा अधिनियम तथा भारत रक्षा नियम बनाए जाते हैं जिनके बाद संघ की कार्यपालिका को असमान्य एंव असीमित शक्तियां प्राप्त हो जाती हैं। आपातकाल में नागरिकों के मूलाधिकार निलंबित हो जाते हैं तथा साथ ही साथ न्यायपालिका के द्वारा उन अधिकारों को क्रियान्वित कराने का अधिकार भी निलंबित रहता है। आपातकाल में बनाए गए प्रावधान संविधान के मूल आदर्शों तथा संविधान की प्रस्तावना में निहित आदर्शों को केवल शब्द मात्र बना देते हैं क्योंकि आपातकाल में कार्यपालिका इन संवैधानिक आदर्शों को प्राप्त करने के नैतिक व संवैधानिक बंधनों से भी मुक्त हो जाती है।

सर्वोच्च न्यायालय के भूतपूर्व न्यायाधीश श्री पी.बी. गजेन्द्रगडकर ने चेतावनी दी थी कि, 'निर्बाध शक्तियों के निरंतर प्रयोग से अन्ततः उन आधारभूत मूल्यों को खतरा पैदा हो सकता है जिनपर देश का लोकतांत्रिक जीवन निर्भर है।'' चीन के आक्रमण के कारण 1962 ई. में लागू आपातकाल 1968 ई. में हटाया गया, इसी प्रकार 1971 ई. में लागू आपातकाल 1977 ई. तक चला, इतनी लंबी अवधि तक कार्यपालिका द्वारा निरंकुश शक्तियों का प्रयोग किसी भी लोकतांत्रिक देश में नहीं होना चाहिए। आपातकालीन शक्तियों से वास्तविक खतरा तब उत्पन्न होता है जब नागरिक व्यवस्थापिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका - तीनों से ही कोई उपचार प्राप्त नहीं कर पाते। आपातकाल यदि लंबे समय तक जारी रहेगा तो एक तरफ अपातकाल की गंभीरता समाप्त हो जाएगी तथा दूसरी ओर नागरिकों को मूलाधिकारों से वंचित रखने से उनका संसदीय प्रणाली एवं प्रजातांत्रिक मूल्यों से विश्वास ही उठ जाएगा।

संविधान सभा के एक सदस्य ने आपातकाल के संबंध में एक भय का उल्लेख किया है। उनके अनुसार, आपातकाल संबंधी अधिकारों का प्रयोग संसद की स्वीकृति या अनुमोदन के बिना भी एक माह (उन्होंने दो माह की बात की है क्योंकि उस समय यह अवधि दो माह ही थी, परंतु अब एक माह है) तक किया जा सकता है। इसके पश्चात् संसद की स्वीकृति के बिना वे स्वय में रद्द हो जाते हैं। परंतु संविधान ने राष्ट्रपति को एक और अधिकार दे रखा है। कल्पना कीजिए कि आपातकाल की उद्घोषणा की 1 माह की अवधि समाप्त होने के पूर्व यदि संसद उसे अपनी स्वीकृति नहीं देती तो सामान्यतया उस घोषणा का प्रभाव 1 माह के अवधि समाप्त होते ही रद्द हो जाता है, परंतु राष्ट्रपति इसी प्रकार की नई घोषणा पुनः कर सकता है जो फिर 1 माह की अवधि तक लागू रहेगी और यदि राष्ट्रपति यह समझते हैं कि आपातकाल की घोषणा का जारी रहना आवश्यक है और संसद इसके लिए तैयार नहीं है तो राष्ट्रपति को (यदि वह ऐसा चाहे तो) यह अधिकार है कि प्रत्येक एक माह की अवधि समाप्त होने के तुरंत बाद इसी प्रकार की नई घोषणा द्वारा आपातकाल की निरंतर आगे बढ़ाता रहे।

इस प्रकार बिना संसद के अनुमोदन के भी आपातकाल लंबे समय तक जारी रह सकता है। यह इसके संभावित दुरुपयोग का एक ऐसा तरीका है जो कोई भी राष्ट्रपति अल्प बहुमत प्राप्त मंत्रिमंडल के साथ मिलकर कर सकता है।

जे.आर. सीवाच ने भी अनु. 352 के दुरुपयोग के संबंध में कतिपय संभावनाएं व्यक्त की हैं, जो ध्यातव्य है:

अनु. 352 में 'सशस्त्र विद्रोह' शब्द को परिभाषित नहीं किया गया है। विद्रोह की प्रकृति तथा विद्रोह के क्षेत्र का विस्तार आदि स्पष्ट नहीं किया गया है। इससे कार्यपालिका की शक्तियां बढ़ा जाती है। वह किसी भी विद्रोह या संगठित कार्यवाही को 'सशस्त्र विद्रोह' कहकर आपातकाल लागू कर सकती है और यह भी हो सकता है कि वह किसी बहुत बड़ी कार्रवाई को भी विद्रोह होने पर भी सारे देश में आपातकाल की उद्घोषणा लागू कर दी जाय। कार्यपालिका किसे सशस्त्र विद्रोह मानेगी और किसे नहीं मानेगी-यह उसका अपना निर्णय है, जिसे न्यायपालिका में चुनौती नहीं दी जा सकती है।

FIRST IAS

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

सीवाच के अनुसार, मंत्रिमंडल की लिखित सलाह का उपबंध बहुत अच्छा है, परंतु वह भी आपातकालीन शक्तियों के दुरुपयोग को रोकने के लिए प्रभावी नहीं है। यदि मंत्रिमंडल में कमजोर मंत्री होंगे या प्रधानमंत्री अत्यंत शक्तिशाली या प्रभावशाली व्यक्तित्व के हैं जो वे मंत्री आपातकाल लगाने या न लगाने का निर्णय करते समय प्रधानमंत्री द्वारा ही निर्देशित होने लगेंगे, वे उसके इशारों पर नाचेंगे। आपातकाल लगाने का परामर्श मंत्रिमंडल देता है लेकिन मंत्रिमंडल में प्रधानमंत्री सर्वोपरि है अत: उसकी इच्छा की अनदेखी नहीं की जा सकती और कोई मंत्री ऐसा साहस भी नहीं कर सकता। यथार्थ में, मंत्रिमंडल से परामर्श का अर्थ प्रधानमंत्री का स्वयं का निर्णय ही होता है।

राष्ट्रपति के पास इस बात का परीक्षण करने का कोई मापदंड नहीं है कि आपातकाल लगाने का लिखित परामर्श देते समय प्रधानमंत्री ने अन्य मंत्रियों के साथ कोई परामर्श किया या नहीं, क्या वास्तव में अन्य मंत्रियों ने अपने विचारों से प्रधानमंत्री को अवगत कराया था? या अगले लोकसभा चुनाव में टिकट न देने जैसा भय दिखाकर तो मंत्रियों को कहीं स्वीकृति प्राप्त नहीं कर ली गयी है? यह प्रश्न 1975 ई. में उठ खड़ा हुआ था जब तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरागांधी ने मंत्रिमंडल से विचार विमर्श किए बिना राष्ट्रपति से आपातकाल लगाने को कहा तथा राष्ट्रपति ने आपातकाल की उद्घोषणा कर दी। मंत्रिमंडल के अनेक सदस्यों को दूसरे दिन समाचार पत्रों से ज्ञात हुआ कि, देश में आपातकाल लागू कर दिया गया है।

किसी भी मंत्री ने इंदिरा गांधी से यह पूछने का साहस (दुस्साहस) नही किया कि उन्होंने राष्ट्रपति को आपातकाल लगाने का परामर्श देने के पूर्व मंत्रिमंडल के अन्य सदस्यों से बातचीत क्यों नहीं की? मोहन धारिया के मंत्री पद से बरखास्त होने के बाद मंत्रिमंडल के अन्य सभी सदस्य अपनी स्थिति एवं मंत्री पद को लेकर सदैव सशंकित रहते थे, अत: उन्होंने इंदिरा गांधी से कुछ नहीं पूछा। सीवाच का मत है कि, ऐसे भयभीत मंत्री आपातकाल लगाने या न लगाने के प्रश्न पर प्रधानमंत्री की आरे ही देखेंगे, स्वयं कुछ नहीं कर सकते। अत: मंत्रिमंडल की लिखित सलाह का प्रावधान (जो वास्तव में प्रधानमंत्री की वैयक्तिक सलाह में परिवर्तित हो गया है) भी आपातकालीन शक्तियों के दुरुपयोग को रोकने के संबंध में व्यर्थ सिद्ध हुआ है।

जे.आर. सीवाच ने लिखा है कि, अनु. 352 का यह उपबंध भी कि, आपातकाल की उद्घोषणा की स्वीकृति संसद के प्रत्येक सदन के विशेष बहुमत द्वारा की जानी चाहिए - बहुत प्रभावशाली नियंत्रण नहीं है। यदि उपस्थित एवं मतदान में भाग लेने वाले सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत के स्थान पर, सदन की कुल सदस्य संख्या के दो-तिहाई बहुमत की स्वीकृति की व्यवस्था की गई होती तो वह संभवत: अधिक प्रभावशाली नियंत्रण सिद्ध होती। उपस्थित तथा मतदान में भाग लेने वाले सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत की स्वीकृति, विपक्ष के सदस्यों को गिरफ्तार करने के पश्चात् आसानी से प्राप्त की जा सकती है।

उदाहरण के लिए, यदि लोकसभा में सत्तारूढ़ दल के 273 तथा विपक्ष के 272 सदस्य हों तो विपक्ष के 136 सदस्यों को गिरफ्तार करने के बाद सत्तारूढ़ दल आसानी से उपस्थित एवं मतदान में भाग लेने वाले सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत का समर्थन प्राप्त कर सकता है। इसी प्रकार यदि राज्यसभा में सत्तारूढ़ दल को 124 तथा विपक्ष के 120 सदस्य होंगे तो विपक्ष के 60 सदस्यों को गिरफ्तार करने के बाद, उपस्थित व मतदान में भाग लेने वाले सदस्यों का दो-तिहाई बहुमत आसानी से जुटाया जा सकता है।

1934 ई. में हिटलर ने जर्मनी में ऐसा ही किया था, वहां पर संविधान संशोधन करने के लिए उपस्थित तथा मतदान में भाग लेने वाले सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत की आवश्यकता थी। हिटलर ने कम्युनिस्ट तथा सोशलिस्ट दलों के सदस्यों को संसद से निकालकर, शेष सदस्यों को मिलाकर दो तिहाई बहुमत द्वारा संविध**ान का संशोधन कर दिया था। भारत में भी इस प्रकार की संभावना** को रद्द नहीं किया जा सकता है, क्योंकि आंतरिक आपातकाल की उद्घोषणा होने के तुरंत बाद 25 जून 1975 ई. को संसद के 39 सदस्यों को गिरफ्तार करने के पश्चात् आपातकालीन उद्घोषणा को संसद के पटल पर स्वीकृति के लिए रखा गया था। भविष्य में उपस्थित एवं मतदान में भाग लेने वाले सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत की स्वीकृति के लिए इससे भी अधिक सांसदों को गिरफ्तार किया जा सकता है। वास्तव में, आपातकाल लगाने की उद्घोषणा को संसद की स्वीकृति प्रत्येक सदन के कुल सदस्यों की संख्या के दो-तिहाई बहुमत से प्राप्त करने का प्रावधान किया जाना चाहिए।

राष्ट्रपति भी आपतकालीन शक्तियों के दुरुपयोग की संभावना को देखते हुए कतिपय निर्णय ले सकता है। जब उसे आपातकाल लगाने की उद्घोषणा जारी करने को मंत्रिमंडल कहे और राष्ट्रपति को लगता है कि आपाताकालीन शक्तियों का दुरुपयोग किया जाएगा, तो उसे एक बार अपने विवेक का प्रयोग करते हुए इसे पुनर्विचार के लिए वापस कर देना चाहिए। राष्ट्रपति चाहे तो अपने व्यक्तिगत विचारों से भी प्रधानमंत्री/मंत्रिमंडल को अवगत करा सकता है, लेकिन यदि मंत्रिमंडल पुनर्विचार के उपरांत भी राष्ट्रपति को आपातकाल लगाने को कहता है तो उसे उद्घोषणा जारी कर देना होगा। राष्ट्रपति यदि चाहे तो आपातकाल लगाने के पूर्व उच्चतम न्यायालय से परामर्श भी मांग सकता है, क्योंकि यह तथ्य का प्रश्न है, जो देश की जनता के अधिकारों तथा संप्रभुता व सुरक्षा से जुड़ा हुआ है। इस प्रकार, राष्ट्रपति के स्तर पर आपातकाल के दुरुपयोग रोकने हेतु प्रयास किया जा सकता है।

सर्वोच्च न्यायालय भी इस दिशा में कदम उठा सकता है यदि लोकसभा का कार्यकाल पूरा हो चुका है तथा कोई सरकार केवल आपातकाल इसलिए लगाना चाहती है कि एक-एक वर्ष तक लोकसभा की अवधि बढ़ायी जाती रहे तथा वह शासन पर

IFS IAS

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

नियंत्रण बनाए रखे एवं सत्ता में बनी रहे तो इस प्रकार सरकार को (जो तथ्यत: असंवैधानिक एवं विधित: संवैधानिक है) उसके कर्त्तव्यों, दायित्वों के अनुपालन तथा अधिकारों के प्रयोग की याद दिलाते हुए सर्वोच्च न्यायालय उसे संविधान की मूल भावना के साथ न्याय करने का आदेश दे सकता है, क्योंकि संविधान के शब्दों की तुलना में, संविधान की मूल भावना अधिक महत्वपूर्ण तथा अनुपालन योग्य होती है। आपातकालीन दशाओं में भी देश में 'कानून का शासन' ही बना रहे तथा कार्यपालिका एवं व्यवस्थापिका दोनों ही संविधानेतर संस्था का रूप धारण न कर लें और व्यक्ति की गरिमा सुनिश्चित बनी रहे- इन सबकी देखरेख करना सर्वोच्च न्यायालय का प्रथम दायित्व है, क्योंकि वह संविधान तथा जनता के मूल अधिकारों, दोनों का संरक्षक है। सर्वोच्च न्यायालय को यह अधिकार मिलना चाहिए कि, वह एक संवैधानिक पीठ बनाकर सरकार के आपातकाल लगाने या उसे जारी रखने के तर्कों को सुनने के बाद ही आपातकाल बढ़ाने संबंधी निर्णय दे।

उन उपयों के अतिरिक्त जागरूक जनमत तथा निष्पक्ष प्रेस भी आपातकालीन शक्तियों/प्रावधानों के दुरुपयोग को रोकने हेतु सशक्त एंव सार्थक भूमिका निभा सकते हैं। 1975 ई. में आपातकाल लगाने का जो देशव्यापी विरोध हुआ था, वह इस बात का प्रमाण है कि देश की जनता लोकतंत्र को बचाने के लिए आगे आ सकती है।

इकाई राज्यों की सुरक्षा करने का संघ का कर्त्तव्य (अनु. 355):

भारतीय संघ के इकाई राज्य अपनी सुरक्षा हेतु केन्द्र पर निर्भर हैं। संघ का यह कर्त्तव्य होगा कि बाह्य आक्रमण एवं आंतरिक अशांति से प्रत्येक राज्य की सुरक्षा करे और प्रत्येक राज्य की सरकार का संविधान के उपबंधों के अनुसार चलाया जाना सुनिश्चित करे। इसका तात्पर्य यह है कि, यदि किसी इकाई राज्य की सरकार संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चल रही है या खुलेआम संविधान के प्रति अनास्था प्रदर्शित कर रही है तो केन्द्र सरकार को उसे ऐसा करने से रोकने का अधिकार है। इस संदर्भ में केन्द्र सरकार उक्त राज्य-सरकार को चेतावनी स्वरूप कुछ निर्देश भी दे सकती है (अनु. 365 के अंतर्गत) और उन निर्देशों को न मानने की दशा में वहां राष्ट्रपति शासन (अनु. 356) लागू किया जा सकता है।

अनु. 355 के बारे में एक विवाद प्राय: उठता रहा है कि केन्द्र सरकार किसी इकाई राज्य की आंतरिक सुरक्षा करने हेतु कदम कैसे उठाए? क्या केन्द्र सरकार को आंतरिक अशांति से ग्रस्त किसी इकाई राज्य द्वारा सुरक्षा हेतु मदद मांगने की प्रतिक्षा करनी चाहिए? या स्वयं अपने विवेक से किसी राज्य में अर्द्धसैनिक बल या सैन्य बलों को भेजकर उस राज्य की आंतरिक अशांति से रक्षा का कर्त्तव्य निभाना चाहिए।

ऐतिहासिक अनुभव यही बताता है कि, इकाई राज्य कानून व्यवस्था को राज्य सूची का विषय मानते हुए उसमें केन्द्र के किसी भी हस्तक्षेप का विरोध करते हैं। केन्द्र भी सुरक्षा बलों को भेजने में, राज्यों को वास्तविक मदद पहुंचाने की मंशा का कम तथा स्वेच्छाचार का प्रयोग अधिक करता रहा है। अतीत में ऐसे अनके उदाहरण हैं जब केन्द्र ने किसी राज्य में कम सैन्य बल भेजा तो कहीं आवश्यकता से अधिक सैन्य बल भेजकर असंतोष पैदा किया है। कुछ के बारे में तो सैन्य बल न भेजकर केन्द्र ने राज्यों से कहा है कि, उनकी अपनी पुलिस इन घटनाओं से निपटे। इस प्रकार के उदाहरण 1990 ई. के पूर्व प्राय: मिलते रहे हैं। वर्ष 2007 के अंतिम माह में नंदीग्राम और सिंगूर (पश्चिम बंगाल) में बनाए जा रहे 'विशेष आर्थिक जोन' (Special Economic Zone- SEZs) को लेकर व्यापक व संगठित हिंसा हुई और केन्द्र सरकार काफी समय तक हाथ पर हाथ धरे इसलिए बैठी रही कि उसे अशंका थी कि, यदि उसने पश्चिम बंगाल में सैन्य बलों को जबरदस्ती भेजा, तो वामपंथी दलों द्वारा समर्थन वापस लेने से मनमोहन सिंह के नेतृत्व वाली कांग्रेस सरकार गिर जाएगी। यदि केन्द्र, अनु. 355 का अनुपालन राजनीतिक लाभ-हानि के तराजू पर रखकर करेगा, तो संविधान की भावना आहत होगी तथा संविधान के प्रावधान केवल शब्द बनकर ही रह जाएंगे।

अनु. 355 का अनुपालन तथा उसके अंतर्गत की जाने वाली कार्रवाई के प्रत्येक पहलू पर विचार करने के उपरांत ही कदम आगे बढ़ाना चाहिए, क्योंकि यह प्रावधान हमें अनु. 365 तथा बाद में अनु. 356 के क्रियान्वयन की ओर ले जा सकता है। केन्द्र को अपना कर्त्तव्य निभाते हुए राज्यों की सुरक्षा को सर्वोच्च प्राथमिकता देनी चाहिए, लेकिन राज्यों का पक्ष भी सुना जाना चाहिए। यदि राज्यों की भावना की अनदेखी की जाएगी तो हमारी संघीय व्यवस्था तथा लोकतंत्र दोनों ही आहत होंगे।

राज्यों में संवैधानिक तंत्र के विफल हो जाने की दशा में उपबंध (अनु. 356):

अनु. 355 में केन्द्र को राज्यों में संवैधानिक शासन की देखरेख करने वाले संरक्षक की स्थिति प्रदान की गयी है। केन्द्र को अनु. 356 में यह अधिकार भी दिया गया है कि राज्यों में संवैधानिक तंत्र विफल हो जाने पर कदम उठाए।

अनु. 356(1) के अनुसार, यदि राष्ट्रपति का, किसी राज्य के राज्यपाल से प्रतिवेदन मिलने पर या 'अन्यथा' यह समधान हो जाए कि, ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है जिससे उस राज्य का शासन इस संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता है तो राष्ट्रपति उस राज्य की कार्यपालिका के (अर्थात् राज्यपाल एवं मंत्रिमंडल के) या किसी निकाय या अन्य प्राधिकारी (इसका तात्पर्य राज्य विधानमंडल के अधिनियमों द्वारा स्थापित संस्थाओं से है) के सभी या कोई कृत्य अपने हाथ में ले लेगा, केवल उच्च न्यायालय की शक्तियां यथावत रहेंगी। राष्ट्रपति को यह घोषणा करने का अधिकार है कि राज्य विधानमंडल की शक्तियां संसद

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

द्वारा या उसके प्राधिकार के अधीन (सरल शब्दों में कहें तो उसकी देखरेख के अधीन) प्रयोग की जाएंगी। अनु. 356 का क्रियान्वयन राष्ट्रपति के 'समाधान' पर निर्भर है। वह या तो राज्यपाल से मिली रिपोर्ट के आधार पर निर्णय ले या मीडिया से मिल रहे राज्य संबंध ी समाचारों के आधार पर ('अन्यथा' शब्द का यही अर्थ है) चूंकि इस मामले में (अनु. 356) राष्ट्रपति को महत्वपूर्ण अधिकार देता है कि वह यह निर्णय करे कि राज्य की कार्यपालिका तथा विधायी शक्तियां किसे दी जाए- इसलिए अनु. 356 के लागू होने को, सामान्य भाषा में 'राष्ट्रपति शासन' कहते हैं।

पिछले वर्षों में सर्वोच्च न्यायालय, उच्च न्यायालयों तथा कभी-कभी अधीनस्थ न्यायालयों द्वारा भी किसी राज्य में कानून व्यवस्था की बिगड़ती हुई स्थिति को देखते हुए अनु. 356 के लगाने जैसी दशाएं होने की बात की गई है। बिहार में लालू-राबड़ी शासन को लेकर न्यायाधीशों ने कई बार ऐसी टिप्पणियां की हैं। प्रश्न उठता है कि क्या न्यायालयों को इस प्रकार की राय व्यक्त करने का अधिकार है? क्या न्यायालयों की राय को आधार बनाकर किसी राज्य में राष्ट्रपति शासन लगाया जा सकता है? यह प्रश्न इसलिए भी उठ रहा है क्योंकि, 'अन्यथा' (अनु. 356(1)) में आया शब्द) शब्द की परिभाषा अत्यंत व्यापक हो सकती है और यह संविधान में नहीं दी गई है।

वस्तुत: अनु. 356 को लेकर वैसे ही काफी वाद-विवाद रहा है, किसी भी प्रकार का नया विवाद आराजकता को पैदा करेगा, लेकिन यह भी ध्यान देने की बात है कि, इकाई राज्यों में संवैधानिक सरकार बनी रहे, या राज्यों का शासन संविधान के उपबंधों के अनुसार ही चले, यह देखना केन्द्र का कर्त्तव्य है तो वहीं सर्वोच्च न्यायालय का भी संविधान का संरक्षक एवं संविधान के प्रावधानों का व्याख्याता होने के कारण यह दायित्व है कि सम्पूर्ण देश में संविधान का अनुपालन यह सुनिश्चित कराए। इस बिन्दु पर सर्वोच्च न्यायालय तथा केन्द्र सरकार दोनों के ही कार्यों में समानता है किसी प्रकार की पारस्परिक असहमति दोनों की गरिमा को धुंधला करेगी। ऐसा नहीं होना चाहिए कि, केन्द्र सरकार द्वारा लगाए गए अनु. 356 को सर्वोच्च न्यायालय अमान्य कर दे और सर्वोच्च न्यायालय द्वारा बार-बार कहे जाने के बावजूद भी (कि उक्त राज्य सरकार संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चल रही है या पूरी राज्य सरकार ही सर्वोच्च न्यायालय की लगातार अवमानना की दोषी है) केन्द्र सरकार अनु. 356 का प्रयोग ही न करे।

अनु. 356 द्वार किसी राज्य में संवैधानिक तंत्र की विफलता की उद्घोषणा को यदि राष्ट्रपति ने वापस नहीं लिया है तो वह उद्घोषणा दो मास के भीतर संसद के प्रत्येक सदन में रखा जाएगी और दो मास के बीतने पर उद्घोषणा लागू नही रह जाएगी, यदि दोनों सदनों ने दो मास के भीतर उस उद्घोषणा को संकल्प द्वारा अनुमोदित नहीं कर दिया है। संसद के अनुमोदन के बिना यह उद्घोषणा अधिकतम दो मास तक रह सकती है। अनुमोदन करने के बाद उद्घोषणा अपने उद्घोषणा की तिथि से अगले 6 माह तक रहेगी।

यदि अनु. 356 की उद्घोषणा होने के दो मास के भीतर ही लोकसभा का विघटन हो जाय तथा उद्घोषणा का अनुमोदन लोकसभा में नहीं हुआ हो या लोकसभा का विघटन हो जाए और नए आम चुनावों की घोषणा होने के बाद किसी राज्य में अनु. 356 लगाने की आवश्यकता पड़ जाय, तो ऐसी दशाओं में राज्य सभा अनु. 356 लगाने की आवश्यकता पड़ जाय, तो ऐसी दशाओं में राज्यसभा अनु. 356 की उद्घोषणा का अनुमोदन करेगी और जब पुन: लोकसभा चुनकर आ जाएगी तो अपनी प्रथम बैठक के बाद एक माह (30 दिन) के भीतर उसे राष्ट्रपति शासन की उद्घोषणा का अनुमोदन करना होगा। यदि उद्घोषणा का अनुमोदन हो गया तो अगले 6 माह तक उस राज्य में राष्ट्रपति शासन जारी रहेगा और यदि अनुमोदन नहीं हुआ तो उस राज्य में राष्ट्रपति शासन नयी लोकसभा के गठन के पश्चात् होने वाली प्रथम बैठक के 30 दिन पूरा होने पर समाप्त हो जाएगा (अनु. 356(3))।

राष्ट्रपति द्वारा जारी उद्घोषणा कभी भी वापस ली जा सकती है। संसद के दोनों सदनों द्वारा अनुमोदित उद्घोषणा, यदि राष्ट्रपति द्वारा वापस नहीं ली जाती है तो ऐसी उद्घोषणा अपने जारी होने की तिथि से 6 माह की समाप्ति तक लागू रहेगी यदि ऐसी चली आ रही उद्घोषणा को अनुमोदित करते हुए उसे जारी रखने का संकल्प दोनों सदनों द्वारा पुन: 6 माह अर्थात् एक वर्ष से आगे की अवधि के लिए तभी बढ़ाया जाएगा जब:

(क) अनु. 352 के अधीन आपातकाल की उद्घोषणा सम्पूर्ण भारत में अथवा उस इकाई राज्य में अथवा उस इकाई राज्य के किसी भाग में लागू हो जहां अनु. 356 को लागू करने की अवधि का विस्तार करना है और

(ख) निर्वाचन आयोग यह प्रमाणित कर दे कि उस राज्य में राष्ट्रपति शासन (अनु. 356) इसलिए आवश्यक है कि राज्य विधानसभा का साधारण निर्वाचन कराने की कठिनाइयां हैं (अनु. 356(5))।

लेकिन किसी भी दशा में अनु. 356 की अवधि किसी भी राज्य में अनवरत 3 वर्ष से आगे (अपनी प्रथम उद्घोषणा की तिथि से अगले 3 वर्ष तक) कदापि नहीं बढ़ायी जा सकती है (59वें संविधान संशोधन द्वारा स्थापित)।

राष्ट्रपति शासन की दशा में राज्य की विधायी शक्तियों का प्रयोग (अनु. 357):

जब किसी राज्य में अनु. 356 की उद्घोषणा की जाती है और संसद के दोनों सदनों के अनुमोदन के उपरांत वहां विधानसभा भंग कर दी जाती है तो राज्य विधानमंडल की विधि निर्माण की शक्ति राष्ट्रपति के पास चली जाती है। वह इस शक्ति को

First IAS

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

किसी अन्य प्राधिकारी को तभी प्रत्यायोजित कर सकेगा, जब संसद इसकी स्वीकृति दे दे।

राष्ट्रपति को यह अधिकार है कि, जब लोकसभा सत्र में नहीं है तब राज्य की संचित निधि में से व्यय के लिए, संसद की स्वीकृति मिलने तक ऐसे व्यय को स्वीकृति दे सके, बाद में व्यय की स्वीकृति का संसद अनुमोदन करेगी।

राष्ट्रपति शासन के दौरान राष्ट्रपति या संसद द्वारा बनाए गए या किसी अन्य प्राधिकारी द्वारा बनाए गए या राष्ट्रपति द्वारा प्रत्यायोजित होगा किए जाने के कारण बनाए गए कानूनों का वहीं प्रभाव होगा जो राज्य विधनामंडल द्वारा बनाए गए तद्विषयक कानूनों का होता है। इन कानूनों में संशोधन या तो संसद या तो इन्हें बनाने वाली संस्थाएं कर सकेंगी या राष्ट्रपति शासन समाप्त होने के बाद सक्षम विधानमंडल द्वारा इसमें कोई संशोधन किया जा सकेगा (अनु. 357(2))।

अनु. 356-एक आवलोकन:

भारतीय शासन व्यवस्था का स्वरूप संघात्मक होने के बावजूद भी केन्द्र के पास इतनी अधिक शक्तियाँ हैं जिनकी केन्द्रीय व्यवस्थापिका (संसद) को न केवल राज्यों की सीमाओं में परिवर्तन करने का अधिकार है, वरन् विशेष दशाओं में केन्द्र और राज्यों की सरकारें निलंबित एवं बरखास्त करने का भी अधिकार है। राज्य सरकार के न रहने की दशा में हमारी संघात्मक व्यवस्था 'एकात्मक' प्रतीत होने लगती है। राज्य सरकार को हटाकर राष्ट्रपति शासन लगाने का प्रावधान (अनु. 356) ने केवल संविधान निर्माण के दौरान वरन् संविधान लागू होने के बाद भी विवादों का केन्द्र बिन्दु रहा है। संविधान सभा के अनेक सदस्यों ने इस प्रावधान पर यह कहते हुए आपत्ति की थी कि, इससे राज्यों की स्वतंत्रता व स्वायत्तता खतरे में पड़ जाएगी और केन्द्र मनमानी करने लगेगा। एच.वी. कामथ ने भावावेश भरे वक्तव्य में संविधान सभा को संबोधित करते हुए कहा कि, ''जिस प्रकार हिटलर ने सारी शक्तियों को हड़प लिया उसी प्रकार केन्द्र सरकार भी आपतकाल के नाम पर राज्यों की सभी शक्तियों को स्वयं में केन्द्रित कर लेना चाहती है... ईश्वर सदस्यों सदबुद्धि दें कि वे इस प्रकार के अनुच्छेदों को संविधान में शामिल न होनें दे कि वे इस प्रकार के अनुच्छेदों को संविधान में शामिल न होनें दें।'' हृदयलाल कुंजरु ने कहा कि यदि कोई राज्य सरकार संवैधानिक गलती करती है तो उसे दंडित करने का अधिकार उसे चुनने वाले मतदाताओं को दे देना चाहिए, न कि केन्द्र सरकार को, क्योंकि राज्य की सरकार अपने मतदाताओं के प्रति ही उत्तरदायी है, न कि केन्द्र सरकार के प्रति, अत: अनु. 356 का प्रावधान अलोकतांत्रिक है।

संविधान सभा में अय्यर ने इस प्रावधान के समर्थन में बोलते हुए कहा था कि, जो लोग इस अनुच्छेद का विरोध कर रहे हैं, वे उसे आवश्यकता से अधिक भयंकर बता रहे हैं। उन्होंने कहा कि राष्ट्रपति किसी भी राज्य में आपातकाल तभी लगाएगा जब मंत्रिमंडल उसे ऐसा करने के लिए कहे और मंत्रिमंडल यह जानता है कि आपातकाल का अनुमोदन उसे संसद से कराना होगा और संसद में उस राज्य के सदस्य भी होंगे जहां आपातकाल लगाया गया है। यदि आपातकाल अनुचित एवं अतार्किक है जो संसद कभी भी इसकी स्वीकृति नहीं दगी। उनके अनुसार संसद, संघ की कार्यपालिका द्वारा राज्यों में अनावश्यक रूप से लगाए गए आपातकाल का निरीक्षण करेगी- ऐसे में इसका दुरुपयोग नहीं हो सकता। अपने वक्तव्य के क्रम में उन्होंने आगे कहा कि इसका विरोध करने वाले सदस्य केवल इस अनुच्छेद के संभावित दुरुपयोग से भयभीत हैं, इसके प्रयोग (सद्प्रयोग) में निहित संभावित अच्छाइयों (राज्य की सरकार को संविधान के प्रावधानों के अनुसार काम करने के लिए अनुशासित बनाए रखना) को आंख से ओझल कर रहे हैं। डॉ. अम्बेडकर ने इस प्रावधान के संबंध में उठने वाली चिंताओं को एक आदर्शात्मक वाक्य बोलकर समाप्त करने का प्रयास किया, लेकिन स्वतंत्रता के बाद केन्द्र सरकारों के व्यवहार ने इस वाक्य को व्यर्थ ही सिद्ध किया है। डॉ. अम्बेडकर ने कहा था कि,

''...हम यह आशा करते हैं कि, इन अनुच्छेदों के प्रयोग की आवश्यकता नहीं होगी और ये संविधान की पुस्तकों में ही बने रहेंगे। यदि इन्हें कभी लागू किया जाता है तो यह आशा करता हूँ कि राष्ट्रपति किसी प्रांत के प्रशासन को निलंबित करने के पूर्व सभी उचित सावधानी बरतेंगे।''

जिन प्रावधानों के बारे में यह कल्पना की गयी थी कि इनका प्रयोग शायद ही कभी होगा, उनका प्रयोग अबतक लगभग 110 से अधिक बार हो चुका है। अधिकतर मामलों में इस अनुच्छेद के क्रियान्वयन की आवश्यकता इसलिए पड़ी क्योंकि इकाई-राज्यों में सरकार का गठन करना असंभव था, लेकिन कुछेक मामलों में सरकार के गठन का प्रयास किए बिना ही केन्द्र सरकार ने अपने राजनीतिक लाभ के लिए राज्यों में राष्ट्रपति शासन लगाया है। राष्ट्रपति शासन, सर्वप्रथम 1951 ई. में पंजाब में लगाया गया था। 1952 ई. में पेप्सू (PEPSU -पटियाला एण्ड ईस्ट पंजाब स्टेट्स यूनियन) में लागू किया गया।

राष्ट्रपति शासन लगाने को लेकर बड़ी घटनाएं 1977 तथा 1980 ई. में हुई हैं। दोनों में ही अतिवादी राजनीतिक सोच का परिचय दिया गया। 1977 ई. में 9 राज्यों (उत्तर प्रदेश, बिहार, राजस्थान, मध्यप्रदेश, बंगाल, पंजाब एवं हरियाणा...) में कांग्रेसी सरकारों को यह कहते हुए जनता पार्टी सरकार (जो 1977 में हुए लोकसभा चुनावों में जीतकर केन्द्र में प्रथम बार गैर कांग्रेसी सरकार बनाने में सफल हुई थी) ने बरखास्त कर दिया और यह तर्क दिया कि इन राज्यों में कांग्रेस का एक भी सांसद चुनाव नहीं जीत सका है, जबकि इन राज्यों में कांग्रेस की सरकारें हैं, अत: यह माना जाना चाहिए कि, इन राज्यों की कांग्रेसी सरकारों ने जनता का विश्वास खो दिया है और जनता के विश्वास को खो देने के दशा में उन्हें पद छोड़कर नए चुनाव कराने चाहिए। केन्द्र सरकार के इस निर्णय के विरूद्ध राजस्थान ने एक याचिका सर्वोच्च न्यायालय में दायर की।

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

इस वाद में सर्वोच्च न्यायालय के 7 न्यायाधीशों की विशेष पीठ ने निर्णय देते हुए कहा कि, अनु. 356 के अंतर्गत राष्ट्रपति शासन लगाने हेतु आवश्यक नहीं है कि, राष्ट्रपति केवल राज्यपाल की रिपोर्ट के अनुसार ही कार्य करे या उसे रिपोर्ट की प्रतिक्षा करे, यदि केन्द्र सरकार किसी अन्य कारण या आधार से संतुष्ट हो जाए कि राज्य को संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा रहा है या नहीं चलाया जा सकता तो वह राष्ट्रपति के किसी राज्य सरकार को बरखास्त करने को कह सकती है। उस समय न्यायालय ने इस तर्क को मानने से इनकार कर दिया कि, अनु. 356 के अंतर्गत कोई कार्रवाई संसद के दोनों सदनों के अनुमोदन के बाद ही की जा सकती है। न्यायाधीशों के अनुसार, अनु. 356 में इस प्रकार की किसी सीमा का उल्लेख नहीं है, लेकिन न्यायाधीश गुप्ता और भगवती ने माना कि, यदि राष्ट्रपति ने दुर्भावनावश या किसी राजनीतिक प्रतिबद्धता या द्वेषवश यह निर्णय लिया है कि सरकार संविधान के प्रावधानों के अनुसार नहीं चल रही है तो न्यायालय इस द्वेष या दुर्भावना का परीक्षण कर सकता है। ऐसे मामलों में लगाया गया राष्ट्रपति शासन 'राष्ट्रपति के समाधान' पर आधारित नहीं कहा जा सकता है। तत्कालीन मुख्य न्यायाधीश चन्द्रचूड ने परामर्श दिया कि, सभी राजनीतिक दलों को मिलकर अनु. 356 के संदर्भ में एक स्वस्थ एवं संविधानसम्मत परम्परा स्थापित करनी चाहिए, जिससे कि अनु. 356 के स्वेच्छाचारी प्रयोग से बचा जा सके। ऐसी परम्पराएं केन्द्र सरकार द्वारा स्थापित की जाएं, न कि न्यायालय द्वारा क्योंकि अनु. 356 का प्रयोग केन्द्र सरकार ही करती है।

1977 ई. में बनी जनता पार्टी सरकार का आंतरिक कलह के कारण 1980 में पतन हो गया, परिणामतः देश में लोकभा के चुनाव कराए गए जिसमें कांग्रेस पार्टी को पूर्ण बहुमत प्राप्त हुआ। कांग्रेस पार्टी ने भी नौ राज्यों में (उत्तर प्रदेश, बिहार, राजस्थान, मध्यप्रदेश, पंजाब, उड़ीसा, गुजरात, महाराष्ट्र तथा तमिलनाडु) में जनता पार्टी सरकारों को यह कहते हुए बरखास्त कर दिया कि, वे जनता का प्रतिनिधित्व नहीं कर रही हैं, क्योंकि उन 9 राज्यों में कांग्रेस पार्टी के प्रत्याशियों (सांसदों) को जनता ने मत देकर विजयी बनाया है। वस्तुतः यह बरखास्तगी एक प्रकार से बदला लेने की कार्रवाई थी।

इन घटनाओं ने 356 को संवैधानिकता के आवरण में ढ़के हुए कए राजनीतिक हथियार के रूप में स्थापित कर दिया, जिसका प्रयोग केन्द्र सरकार राष्ट्रपति के साथ मिलकर इकाई राज्यों को दंडित करने में या अनायास पेरशान या पीड़ित करने के लिए कर सकती है। 1980 के बाद देश में केन्द्र-राज्य संबंधों को अनु. 356 के विशेष संदर्भ में परिभाषित करने की मांग उठने लगी। 1983 में केन्द्र-राज्य संबंधों के अध्ययन हेतु गठित सरकारिय आयोग ने 1987 ई. में प्रेषित अपने प्रतिवेदन में अनु. 356 के बारे में निम्नलिखित बातें कही थीं:

1. अनु. 356 के अंतर्गत राष्ट्रपति के अंतर्गत शासन की घोषणा करने के पूर्व इकाई राज्य को 'अंतिम चेतावनी' दी जानी चाहिए। इसे केवल उन्हीं राज्यों में लागू करना चाहिए जहां इसे लागू न करने के गंभीर परिणाम होंगे। अनु. 356 का प्रयोग केन्द्र सरकार को 'अंतिम विकल्प' के रूप में ही करना चाहिए।

2. अनु. 356 में समुचित संशोधन करके यह प्रावधान किया जाना चाहिए कि इसका अनुमोदन एक निश्चित समय सीमा के भीतर संसद के दोनों सदनों द्वारा कराया जाए,

3. राज्यपाल द्वारा अनु. 356 के प्रयोग के संदर्भ में राष्ट्रपति को भेजी गई रिपोर्ट को संसद के दोनों सदनों में रखा जाए जिससे कि संसद वह जान सके कि, किस आधार पर राष्ट्रपति शासन लगाया गया है।

अनु. 356 और न्यायिक पुनरावालोकनः

अनु. के अंतर्गत किसी राज्य में राष्ट्रपति शासन लगाने की शक्ति न्यायिक पुनरावलोकन के दायरे में आती है या नहीं - यह वाद-विवाद का विषय रहा है। इस संदर्भ में संघीय कार्यपालिका तथा सर्वोच्च न्यायालय के विचार मेल नहीं खाते। केन्द्र अपने अधिकार की बात करता रहा तो न्यायालय इकाई राज्यों के संवैधानिक स्वायत्ता की। 1992 ई. में अयोध्या कांड के बाद जब कुछ राज्य सरकारों को (मध्यप्रदेश, राजस्थान तथा हिमाचल प्रदेश) धर्मनिरपेक्ष के अनुपालन में असफल रहने के कारण बरखास्त किया गया था तो एस.आर. बोम्मई बनाम भारत संघ (1994) के वाद में सर्वोच्च न्यायलय की 9 सदस्यीय पीठ ने कहा था कि, अनु. 356 के अंतर्गत राष्ट्रपति शासन लगाने तथा विधानसभा भंग करने की राष्ट्रपति की शक्ति का सर्वोच्च न्यायालय पुनरीक्षण कर सकता है। वह उन कारणों का परीक्षण कर सकता है जिसके कारण किसी राज्य सरकार को बरखास्त कर विधानसभा भंग की गयी है। यदि जांच में सर्वोच्च न्यायालय यह पाता है कि राज्य सरकार को गलत आधार पर या पर्याप्त संवैधानिक आधारों के अभाव में केवल द्वेषवश बरखास्त किया गया है तो सर्वोच्च न्यायालय उस सरकार को प्रतिष्ठित कर विधानसभा को जीवित कर सकता है, अर्थात् सरकार ने अनु. 356 लगाने की जांच कर सकता है। इस वाद में न्यायालय ने कहा कि, राष्ट्रपति शासन लागू हाने के साथ ही विधानसभा को भंग नहीं किया जा सकता। इस संबंध में दिशा-निर्देश देते हुए माननीय सर्वोच्च न्यायालय ने कहा कि, राष्ट्रपति शासन की उद्घोषणा करके विधानसभा को निलंबित किया जा सकता है, लेकिन उसे तबतक भंग नहीं किया जा सकता कि संसद के दोनों सदनों का अनुमोदन न मिल जाए। न्यायालय ने कहा कि, संविधान के मूलभूत ढांचे के उल्लंघन के आधार पर किसी भी राज्य सरकार को बरखास्त करके वहां अनु. 356 के अधीन राष्ट्रपति शासन लगाया जा सकता है क्योंकि मूलभूत ढांचे का अनुपालन न करने की दशा में यह माना जाएगा कि यह सरकार संविधान के प्रति वचनबद्ध नहीं है। न्यायालय ने यह भी कहा कि, किसी राजनीतिक दल का भारी बहुमत से केन्द्र में सत्तारूढ़ होना किसी राज्य में विपक्षी दल की सरकार को बरखास्त करने का कारण नहीं हो सकता।

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

बोम्मई वाद के इस निर्णय के संदर्भ में यदि अनु. 356 का प्रयोग किया जाए तो बेहतर विकल्प सिद्ध होगा।

आर्थिक/वित्तीय आपात के बारे में प्रावधान (अनु. 360):

अनु. 360(1) के अनुसार, यदि राष्ट्रपति का यह समाधान हो जाए कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गयी है जिससे कि, भारत या उसके राज्यक्षेत्र के किसी भाग का वित्तीय स्थायित्व या आर्थिक साख संकट में है तो वह उद्घोषणा द्वारा इस आशय (वित्तीय आपातकाल) की घोषणा कर सकेगा।

यह घोषणा संसद के प्रत्येक सदन के समक्ष दो माह के भीतर रखी जाएगी, यदि उस अवधि की समाप्ति के पूर्व संसद के दोनों सदन उसे अनुमोदित नहीं कर देते तो दो माह पूरा होने के बाद यह उद्घोषणा लागू नहीं रह जाएगी और यदि उद्घोषणा दो माह के आगे तबतक जारी रहेगी, जबतक कि इसे राष्ट्रपति द्वारा स्वयं न हटाया जाए। वित्तीय आपातकाल एक बार संसद का अनुमोदन प्राप्त कर लेने के बाद कब हटाया जाएगा-इसका निर्धारण केवल राष्ट्रपति ही करेगा (अनु. 360(2))। वित्तीय आपाकाल न तो संसद द्वारा 6-6 माह के लिए बढ़ाया जाएगा और न ही संसद वित्तीय आपातकाल समाप्त करने हेतु राष्ट्रपति पर किसी प्रकार का दबाव ही डाल सकती है, जैसा कि अनु. 352 के संदर्भ में है।

यदि राष्ट्रपति द्वारा वित्तीय आपातकाल की उद्घोषणा के दो माह के भीतर ही लोकसभा का विघटन हो जाए या वित्तीय आपातकाल की उद्घोषणा, उस समय की जाए जब लोकसभा विघटित कर आम चुनाव कराने के आदेश जारी कर दिए गए हो जाते उस दशा में वित्तीय आपातकाल की उद्घोषणा का अनुमोदन राज्यसभा द्वारा किया जाएगा, और सामान्य निर्वाचन के बाद नई लोकसभा को वित्तीय आपातकाल की उद्घोषणा का 30 दिन के भीतर अनुमोदन करना होगा, अन्यथा वित्तीय आपातकाल समाप्त हो जाएगा (अनु. 360(2))।

वित्तीय आपातकाल की उद्घोषणा का प्रभाव:

वित्तीय आपातकाल लागू रहने के दौरान संघ की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार हो जाता है, और वह किसी राज्य को वित्तीय मामलों में आवश्यक दिशा-निर्देश (राष्ट्रपति के द्वारा) भेज सकता है, जिसका पालन अनिवार्य होगा। इन दिशा निर्देशों के अंतर्गत:

(1) किसी राज्य के कार्यकलाप के संबंध में सेवा करने वाले सभी या किसी वर्ग के व्यक्तियों के वेतन और भत्तों में कमी की जा सकती है,

(2) धन विधेयकों या वित्त विधेयकों या इनसे जुड़े हुए अन्य किसी भी विधेयक को राज्य विधानमंडल द्वारा पारित किए जाने के पश्चात राष्ट्रपति के विचार हेतु आरक्षित किया जा सकता है,

(3) वित्तीय आपात के दौरान राष्ट्रपति संघ के अधीन सेवारत व्यक्तियों, जिनमें उच्चतम तथा उच्च न्यायालयों के न्यायाधीश भी शामिल हैं, के वेतन और भत्तों मे कमी करने का निर्देश जारी कर सकता है।

भारत में वित्तीय आपातकाल की उद्घोषणा अबतक कभी नही की गई है।

संघ द्वारा दिए गए निर्देशों का अनुपालन करने में या उनको प्रभावी बनाने में असफल करने का प्रभाव (अनु. 365): राज्यों में राष्ट्रपति शासन (अनु. 356) लगाने का एक और आधार

अनु. 365 के अनुसार, यदि संघ अपनी कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग करते हुए इकाई राज्यों को कोई निर्देश दे और कोई राज्य उन निर्देशों का पालन न करे या पालन प्रभावी ढंग से न करे या पालन करने में असमर्थ रहे तो वहां राष्ट्रपति के लिए यह मानना विधिपूर्ण होगा कि, ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गयी है कि, जिससे उस राज्य का शासन इस संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता। जब राष्ट्रपति इस प्रकार का निष्कर्ष निकाल लेगा, तो वह इसी आधार पर अनु. 356 का क्रियान्वयन भी उस राज्य में कर सकता है। तात्पर्य यह है कि संघ द्वारा दिए गए निर्देशों का अनुपालन इकाई-राज्यों के लिए अनिवार्य है। इस प्रकार के कुछ निर्देशों के उदाहरण इस प्रकार हैं:

केन्द्र किसी भी अंतर्राष्ट्रीय संधियों या समझौतों को स्वीकार करने के बाद यदि आवश्यक हो तो किसी राज्य को इस संबंध में आवश्यक निर्देश जारी कर सकता है (अनु. 253),

संघ, अनुसूचित जनजातियों के कल्याण के लिए राज्य को तत्संबंधी नियमों-कानूनों के प्रभावी ढंग से क्रियान्वयन के बारे में निर्देश दे सकता है अनु. 339(2) आदि।

ध्यातव्य रहे कि संविधान में संघ द्वार दिए गए निर्देशों का अनुपालन न करने की दशा में केन्द्र सरकार इकाई राज्य की सरकार को पदच्युत कर वहां राष्ट्रपति शासन लगा सकती है, लेकिन संविधान में उनके स्थानों पर संघ सरकार को भी आवश्यक निर्देश दिए गए हैं, जिनका पालन संघ की इच्छा पर निर्भर है, उसके लिए न्यायालय भी उस बाध्य नहीं कर सकता। संघ सरकार से पालन हेतु अपेक्षित निर्देशों के उदाहरण इस प्रकार हैं:

नीति निदेशक तत्वों का सम्पूर्ण भाग (अनु. 36-51), हिन्दी भाषा के विकास के लिए निर्देश (अनु. 351) आदि।

यदि संघ सरकार संविधान-निर्माताओं की आकांक्षाओं के अनुसार दिए गए संवैधानिक निर्देशों का पालन स्वेच्छा से नहीं करती है तो संवैधानिक प्रावधानों का औचित्य एवं प्रासंगिकता ही संकटापन्न हो जाएगी और साथ ही संघ भी राज्यों से निर्देशों का पालन किस नैतिक शक्ति के करवाएगा जब वह स्वयं निर्देशों का पालन नहीं कर रहा है। ऐसी दशा में इकाई द्वारा इन केन्द्रीय निर्देशों को भले ही दबाव या भय से क्रियान्वित किया जाए, लेकिन उनकी स्वयं की इच्छा समाप्त हो जाएगी। संघात्मक शासन में संवैधानिक अनुशासन सबसे बड़ी आवश्यकता होती है, जिसका पालन यदि स्वेच्छा एवं नैतिकता के स्थान पर दबाव या भय द्वारा किया जाएगा तो संघवाद के भविष्य पर ही प्रश्नचिन्ह् लग जाएगा।

FIRST IAS

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

इकाई राज्य की कार्यपालिका

संघीय व्यवस्था के लक्षणों से युक्त हमारा संविधान राज्यों के लिए भी संविधान के भीतर ही स्वतंत्र संवैधानिक व्यवस्था का प्रावधान करता है। भारत में इकाई राज्यों के लिए संसदीय व्यवस्था ही अपनाई गई है, जिसे इच्छा या आवश्यकतानुसार एक सदनीय या दो सदनीय बनाया जा सकता है। केन्द्र में राष्ट्रपति की भांति इकाई राज्यों में भी संवैधानिक प्रधान की व्यवस्था है जिसे 'राज्यपाल' के नाम से जाना जाता है।

अनु. 153 के अनुसार, प्रत्येक राज्य का एक राज्यपाल होगा, किन्तु परिस्थितिवश किसी एक राज्य के राज्यपाल को एक या अधिक राज्यों का भी कार्यभार सौंपा जा सकता है। अनु. 154 के अनुसार, राज्य की कार्यपालिका शक्ति राज्यपाल में निहित होगी और वह इसका प्रयोग इस संविधान के अनुसार स्वयं या अपने अधीनस्थ अधिकारियों द्वारा करेगा। 'अधीनस्थ अधिकारियों' का तात्पर्य मंत्रिमंडल के सदस्य तथा प्रशासनिक अधिकारियों के समूह से है।

राज्यपाल की नियुक्ति (अनु. 155):

राज्यपाल की नियुक्ति कैसे की जाय, इस प्रश्न को लेकर संविधान सभा में अनेक मत उभरकर सामने आए। संविधान सभा की प्रांतीय समिति ने इस संबंध में सिफारिश की थी कि, राज्यपाल का चुनाव वयस्क मताधिकार के आधार पर प्रत्यक्ष रूप से जनता द्वारा किया जाना चाहिए। परंतु जब प्रारूप समिति ने इस विषय पर विचार किया तो उसके कुछ सदस्यों ने यह कहा कि यदि राज्यपाल तथा मुख्यमंत्री दोनों को ही प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित किया गया तो उन दोनों में इस बात को लेकर विवाद उत्पन्न होने की संभावना है कि कौन जनता का वास्तविक प्रतिनिधि है और इस कारण कौन सर्वोच्च है? इस विवाद के कारण शासन में गतिरोध पैदान होने की संभावना है।

यद्यपि गतिरोध पैदा होने की संभावना को डॉ. अम्बेडकर ने यह कहकर खारिज कर दिया था कि, मुख्यमंत्री का चुनाव तो नीति के आधार पर होगा लेकिन राज्यपाल का चुनाव 'नीति' के आधार पर संभव नहीं है क्योंकि उसके पास कोई वास्तविक शक्ति नहीं होगी। अम्बेडकर के अनुसार राज्यपाल का चुनाव उसके व्यक्तित्व के आधार पर होगा, इसलिए यदि हम राज्यपाल को चुनाव द्वार नियुक्त करें तो भी मुख्यमंत्री व राज्यपाल के बीच झगड़े की कोई संभावना नहीं है। राज्यपाल की नियुक्ति के संदर्भ में जो दूसरा सुझाव था, उसके अनुसार, राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा उन चार नामों में से की जाय तो विधानसभा तथा विधानपरिषद के सदस्यों की संयुक्त बैठक में आनुपातिक प्रतिनिधित्व की एकल संक्रमणीय मत प्रणाली के आधार पर चुने जाय।

इस सुझाव पर यह आपत्ति की गयी थी कि यदि राज्य विधानमंडल द्वारा प्रेषित चार नामों में से प्रथम स्थान के नाम पर राष्ट्रपति ने सहमति नही दी और दूसरे, तीसरे या चौथे स्थान के नाम पर सहमति दे दी तो क्या राज्य विधानमंडल उसे उतने ही उत्साह के साथ स्वीकार कर पाएगा जिस उत्साह के साथ वह प्रथम स्थान के नाम को स्वीकार कर लेता? इसमें एक भय यह भी था कि, जिन सदस्यों ने मत दिया है यदि उनकी पंसद के उम्मीदवार को राज्यपाल नहीं बनाया गया तो उनकी नहीं है। इससे केन्द्र राज्य संबंधों में तनाव की आशंका से इनकार नहीं किया जा सकता। इन सारे विवादों से बचने हेतु राष्ट्रपति के सामने यह विवशता हो जाती कि उसे उस व्यक्ति को ही राज्यपाल नियुक्त करना पड़ता जो कि नामिका में सर्वप्रथम स्थान पर हो।

राज्यपालों की नियुक्ति के संबंध में तृतीय सुझाव यह था कि वे प्रत्यक्ष रूप से राष्ट्रपति सभा के सदस्यों ने यह निर्णय किया कि, राज्यपाल के प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष निर्वाचन की प्रणालियों के अपने-अपने दोष हैं अत: राष्ट्रपति द्वारा राज्यपाल के मनोनयन की प्रणाली ही उचित है। जब इस बात पर सहमति बन गई कि राष्ट्रपति केन्द्रीय मंत्रिपरिषद के परामर्श पर राज्यपाल को नियुक्त करेंगे, तो उसी समय अल्लादि कृष्णास्वामी अय्यर तथा जवाहर लाल नेहरू दोनों ने यह विचार व्यक्त किया कि, राज्यपाल की नियुक्ति करते समय केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकार (मुख्यमंत्री) से भी परामर्श करे।

किन्तु राज्य सरकार से परामर्श करने के सुझाव को यह कहकर ठुकरा दिया गया कि, मुख्यमंत्री से परामर्श करने का कोई विशेष महत्व नहीं है, क्योंकि हो सकता है कि कुछ समय पश्चात् वह व्यक्ति मुख्यमंत्री ही नहीं रहे। राज्यपाल का कार्यकाल 5 वर्ष होता है तथा मुख्यमंत्री का कार्यकाल निश्चित नहीं होता। ऐसा करने से (राज्यपाल जो केन्द्र का प्रतिनिधि होता है तथा जिसका कार्य यह देखना है कि राज्य सरकार संविधान के प्रावधानों का पालन कर रही है या नहीं) राज्यपाल के मुख्यमंत्री के प्रति भी निष्ठावान बन जाने की संभावना है क्योंकि उसके नाम की सहमति मुख्यमंत्री ने भी दी है, परिणामस्वरूप राज्यपाल की निष्ठा संदिग्ध हो जाएगी। इसी कारण राज्य सरकार से परामर्श के बाद राज्यपाल को नियुक्त करने की पद्धति त्यागकर उसे पूरी तरह राष्ट्रपति और केन्द्रीय मंत्रिपरिषद के विचार-विमर्श पर आधारित कर दिया गया, ऐसा ही प्रावधान कनाडा में भी है और यह व्यवस्था वहीं से प्रेरित होकर की गयी।

राज्यपालों की नियुक्ति से संबंधित एक सुझाव भारत के भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश के. सुब्बाराव ने दिया है। पूना विश्वविद्यालय में बोलते हुए उन्होंने कहा कि, राज्यपालों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा मंत्रिपरिषद के परामर्श से नहीं की जानी चाहिए, बल्कि एक उच्चाधिकार प्राप्त समिति की सलाह से की जानी चाहिए। उन्हें उनके पद से तबतक नहीं हटाना चाहिए, जबतक कि, सर्वोच्च न्यायालय उनके दुराचरण की घोषणा न कर दें और जिस किसी भी राज्यपाल को इस प्रकार पद से हटाया जाय उसे केन्द्र व राज्य

ETOOS IAS

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

सरकार में कोई भी अन्य पद नहीं दिया जाना चाहिए।

सम्प्रति, संविधान के अनु. 155 के अनुसार, राज्य के राज्यपाल को राष्ट्रपति अपने हस्ताक्षर और मुद्रा सहित अधिपत्र द्वार नियुक्त करेगा। व्यवहार में राष्ट्रपति राज्यपाल के पद पर नियुक्ति हेतु उस व्यक्ति के नाम पर सहमति दे देता है जिसे मंत्रिमंडल ने राज्यपाल बनाना सुनिश्चित किया है। लेकिन मंत्रिमंडल ने कई बार राज्यपालों के चयन में उस गंभीरता का परिचय नहीं दिया, जैसा कि संविधान निर्माता चाहते थे। अनेक बार देखा गया है कि लोकसभा में चुनाव हारे हुए नेता को या किसी असंतुष्ट नेता को राज्यपाल बनाकर उसे 'खुश' किया जाता है। पूर्व मुख्य न्यायाधीश जे.एम. वर्मा के अनुसार यह पद्धति अमेरिका के 'लूट प्रणाली (Spoile systeem) की भांति हो गयी है, जहां राष्ट्रपति बनने पर उन व्यक्तियों को महत्वपूर्ण राजनीतिक पद दे दिया जाता है जो राष्ट्रपति का चुनाव जीतने में उसकी मदद कर चुके होते है। वस्तुतः राज्यपाल उस व्यक्ति को बनाना चाहिए, जो अब 'सक्रिय राजनीति' या 'नौकरशाही' से काफी दूर और अत्यंत सम्मान प्राप्त हो।

पदावधि (अनु. 156):

कोई व्यक्ति जब राज्यपाल के रूप में नियुक्त किया जाता है तो पद ग्रहण की तिथि से उसका कार्यकाल 5 वर्ष तक होता है। राज्यपाल, राष्ट्रपति के प्रसादपर्यन्त (विश्वासपर्यन्त) पद धारण करता है। राष्ट्रपति का विश्वास खोने पर उसे 5 वर्ष के पूर्व भी पद से हटाया जा सकता है। राज्यपाल, राष्ट्रपति को अपने हस्ताक्षर सहित लेख द्वारा त्यागपत्र दे सकता है। परंतु राज्यपाल अपना 5 वर्ष का कार्यकाल समाप्त हो जाने के बाद भी तब तक पद धारण करता रहेगा, जब तक कि उसका उत्तराधिकारी पद ग्रहण न कर ले। ऐसी व्यवस्था इसलिए की गयी है कि मनोनीत राज्यपाल को पद संभालने के लिए कुछ समय मिल सके। लेकिन इसकी आड़ में यदि केन्द्र सरकार अपने किसी 'प्रिय राज्यपाल' का कार्यकाल पूरा हो जाने के बाद भी उसके उत्तराधिकारी की घोषणा न करे, तो यह संविधान के प्रति अन्याय होगा।

संविधान ने राज्यपाल का कार्यकाल 5वर्ष निर्धारित किया है। कभी-कभी राज्यपालों को एक राज्य से दूसरे राज्य में स्थानांतरण कर दिया जाता है और यह स्थनांतरण करते समय उनके द्वारा किसी एक राज्य में बितायी गयी समय सीमा को उनके 5 वर्ष कार्यकाल में जोड़ दिया जाता है, जैसे किसी राज्यपाल ने उत्तर प्रदेश में ढ़ाई वर्ष का कार्यकाल पूरा किया तथा शेष ढ़ाई वर्ष हेतु उसे किसी अन्य राज्य में राज्यपाल बनाकर भेज दिया गया और इस प्रकार दोनों राज्यों में उसके कार्यकाल को मिलाकर 5 वर्ष की पदावधि पूरी मान ली गयी, इस प्रकार के अनेक वास्तविक उदाहरण उपलब्ध हैं। संवैधानिक दृष्टि से राज्यपाल का स्थानांतरण उचित नहीं है क्योंकि वह सरकारी कर्मचारी नहीं है। साथ ही अनु. 159 के अंतर्गत उसे राज्य का मुख्य न्यायाधीश उस राज्य के राज्यपाल पद की शपथ दिलाता है, जिसके अनुसार वह राज्य की जनता की सेवा करने की प्रतिज्ञा करता है।

यह शपथ राज्यपाल अपने 5 वर्ष के कार्यकाल में केवल एक ही बार ले सकता है। जब भी उसका स्थनांतरण किया जाता है तो उसे दुबारा शपथ दिलाई जाती है जिसका सीधा अर्थ है कि उसका यह नया कार्यकाल होगा तथा पदावधि 5 वर्ष होगी। लेकिन केंन्द्रीय सरकार यह अर्थ ग्रहण नहीं करती। वह उसके पिछले कार्यकाल को जोड़कर 5 वर्ष का निर्धारण करती है जो उचित नहीं है क्योंकि संविधान में उच्च न्यायालय निर्धारण करती है जो उचित नहीं है क्योंकि संविधान में उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के समान राज्यपालों के स्थनांतरण की व्यवस्था नहीं है।

योग्यता (अनु. 157):

कोई भी व्यक्ति राज्यपाल नियुक्त होने के लिए तथा योग्य माना जाएगा जब वह

(1) भारत का नागरिक हो तथा

(2) उसने 35 वर्ष की आयु पूर्ण कर ली हो।

पद की शर्तें (अनु. 158):

पद के लिए योग्यता तथा पद की शर्तें दोनों पूरी होने पर ही कोई व्यक्ति राज्यपाल नियुक्त होगा। पद के लिए योग्यता पद ग्रहण करने के पूर्व ही पूरी कर ली जानी चाहिए, जबकि पद की शर्तें पद ग्रहण के बाद पूरी करनी होती हैं। राज्यपाल के पद हेतु निम्नलिखित शर्तें हैं:

(1) राज्यपाल संसद के किसी भी सदन का या किसी राज्य के विधानमंडल के किसी भी सदन का सदस्य नहीं होगा और यदि कोई ऐसा सदस्य राज्यपाल नियुक्त हो जाता है तो यह समझा जाएगा कि उसने उस सदन में अपना स्थान राज्यपाल के रूप में पद ग्रहण करने की तिथि से रिक्त कर दिया है। इस संदर्भ में उसे पद ग्रहण के बाद औपचारिक रूप से त्यागपत्र देने की कोई आवश्यता नहीं है,

(2) राज्यपाल कोई अन्य लाभ का पद धारण नहीं करेगा,

(3) राज्यपाल बिना किराया दिए, अपने शासकीय निवासों के उपयोग का हकदार होगा और ऐसी उपब्धियां, भत्तों और विशेषाधिकारों का भी हकदार होगा जो संसद विधि द्वारा सुनिश्चित करे या जो दूसरी अनुसूची में वर्णित हो।

(4) राज्यपाल पद पर बैठे व्यक्ति की उपलब्धियां और भत्ते उसकी पदावधि के दौरान कम नहीं किए जाएंगे।

यदि पद की शर्तों को ध्यान से देखा जाय तो स्पष्ट होगा कि उपरोक्त (1) और (2) शर्तें उस व्यक्ति को पूरी करनी है जिसे राज्यपाल नियुक्त किया गया है और शेष (3) और (4) ऐशी शर्तें हैं जिसे राज्य को पूरा करना है।

शपथ (अनु. 159):

राज्यपाल के रूप में नियुक्त व्यक्ति तथा ऐसा प्रत्येक

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

व्यक्ति, जिसे राज्यपाल के कृत्यों का निर्वहन करना है, अपना पद ग्रहण करने कपूर्व उस राज्य के उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश या उसकी अनुपस्थिति मे उस न्यायालय के वरिष्ठतम न्यायाधीश के समक्ष शपथ लेगा तथा शपथपत्र पर हस्ताक्षर करेगा।

कोई भी राज्यपाल शपथ लेते समय या तो ईश्वर के नाम की सौगन्ध खा सकता है या सत्यभाव से प्रतिज्ञा कर सकता है। सत्यभाव से प्रतिज्ञा करने की व्यवस्था उनके लिए की गई है जो ईश्वर में विश्वास नहीं करते। लोकतंत्र में किसी भी व्यक्ति को उसकी इच्छा के विरूद्ध ईश्वर के नाम की शपथ लेने के लिए विवश नहीं किया जाना चाहिए, जब तक कि वह स्वयं तैयार न हो। इंग्लैड में व्यक्तियों को ईश्वर के नाम की शपथ लेने के स्थान पर सत्यभाव से प्रतिज्ञा करने के अधिकार की प्राप्ति के लिए एक लम्बा संघर्ष करना पड़ा था। यह संघर्ष करने वालों से चार्ल्स ब्राडले प्रमुख थे। अंत में इंग्लैण्ड में उन व्यक्तियों के शपथ लेने के स्थान पर प्रतिज्ञा करने का अधिकार दे दिया गया जो निरीश्वरवादी थे या जिनका ईश्वर में विश्वास नहीं था या जो यह मानते थे कि ईश्वर की शपथ लेना उनके धर्म के विरूद्ध है। भारत में स्वतंत्रता के पहले भारतवासी शपथ लेने और सत्यभाव से ही प्रतिज्ञा करते थे किन्तु अब वे ईश्वर की शपथ लेने और सत्यभाव से प्रतिज्ञा (Solemnly affirm) करने, दोनो के लिए स्वतंत्र हो गए है।

विशेषाधिकार :

संविधान के अनु. 361 के अनुसार, राज्यपाल को कुछ विशेषाधिकार भी दिए गए हैं, जैसे उसके विरूद्ध न्यायालय में फौजदारी की कार्यवाही आरंभ नहीं की जा सकती और न ही उसकी गिरफ्तारी के वारंट जारी किए जा सकते हैं। उसे संविधान द्वारा जो अधिकार दिए गए हैं उनके प्रयोग के लिए उसके विरूद्ध व्यक्तिगत रूप से कोई कार्यवाही नहीं की जा सकती। यदि कोई व्यक्ति राज्यपाल को पद पर है तो उसके विरूद्ध दीवानी कार्यवाही उस समय तक नहीं की जा सकती है जब तक लिखित रूप से दो माह पूर्व नोटिस न दे दी जाय।

राज्यपाल की शक्तियां:

राज्यपाल की शक्तियों को निम्नलिखित शीर्षक दिया जा सकता है:

(1) कार्यपालिका शक्तियां,

(2) व्यवस्थापितका/विधायी शक्तियां और

(3) न्यायिक शक्तियां

कार्यपालिका शक्तियां:

अनु. 154 के अनुसार, राज्य की कार्यपालिका शक्ति राज्यपाल में निहित होगी और वह इसका प्रयोग इस संविधान के अनुसार स्वयं या अधीनस्थ अधिकारियों के द्वारा करेगा। इसी बात का समर्थन अनु. 166 भी करता है जिसमें कहा गया है, किसी राज्य सरकार की समस्त कार्यपालिका कार्यवाही राज्यपाल के नाम से की हुई कही जाएगी। राज्यपाल राज्य की कार्यपालिका का प्रधान है, इसीलिए अनु. 167 में प्रावधान है कि प्रत्येक राज्य के मुख्यमंत्री का यह कर्तव्य होगा कि वह राज्य के कार्यों के प्रशासन संबंधी और विधि-निर्माण से जुड़े हुए मंत्रिमंडल के सभी प्रस्तावों की जानकारी राज्यपाल को दे।

अनु. 154 में आए 'अधीनस्थ अधिकारियों' पद तात्पर्य मंत्रिपरिषद से है और अनु. 163 में इसे स्पष्ट कर दिया गया है कि, जिन बातों में संविधान द्वारा उसके अधीन राज्यपाल से यह अपेक्षित है कि वह अपने कृत्यों को प्रयोग करने में सहायता व सलाह देने के लिए एक मंत्रिपरिषद होगी, जिसका प्रधान मुख्यमंत्री होगा। राज्यपाल द्वारा जब भी कभी अपने 'विवेक' द्वारा निर्णय किया जाएगा तो वह निर्णय अंतिम होगा। यह प्रश्न उठाया ही नहीं जा सकता कि राज्यपाल को अपने विवेक के अनुसार काम करना चाहिए था या नहीं। राज्यपाल जब मंत्रिमंडल की सलाह से काम करेगा, तब भी यह प्रश्न न्यायालय में नहीं उठाया जाएगा कि राज्यपाल को मंत्रियों ने क्या कोई दी है और दी है तो क्या दी है (अनु. 163)।

राज्यपाल की कार्यपालिका शक्तियों अंतर्गत नियुक्तियां करने का अधिकार समहित है। अनु. 164(1) के अनुसार, मुख्यमंत्री की नियुक्ति राज्यपाल करेगा और अन्य मंत्रियों की नियुक्ति मुख्यमंत्री की सलाह पर राज्यपाल करेगा तथा मंत्री राज्यपाल के प्रसादपर्यन्त पद पर बने रहेंगे। परंतु मध्यप्रदेश, उड़ीसा, छत्तीसगढ़ तथा झारखण्ड में अनुसूचित जनजातियों के कल्याण के लिए एक मंत्री अवश्य रखा जाएगा, जो अनुसूचित जनजातियों के साथ-साथ अनुसूचित जातियों एवं पिछड़े वर्गों के कल्याण का या किसी अन्य कार्य भी भारसाधक होगा। (105 संविधान संशोधन (2007) द्वारा संशोधित तात्पर्य यह है कि यह मंत्री अपने उपरोक्त मूल विभाग के साथ-साथ अन्य विभाग भी संभाल सकता है।

(91 वां संविधान संशोधन, 2003 द्वारा अनु., 2003 अनु. 164 में खंड (1) के बाद निम्नलिखित खंड/प्रावधान जोड़े गए हैं:

(1.क) किसी भी राज्य के मंत्रिपरिषद में मुख्यमंत्री सहित मंत्रियों की कुल संख्या उस राज्य के विधानसभा के कुल सदस्यों की संख्या के पन्द्रह प्रतिशत से अधिक नहीं होगी,

परंतु किसी भी राज्य में मुख्यमंत्री सहित मंत्रियों की कुल संख्या 12 से कम नहीं होगी।

(1.ख) किसी राज्य के विधानसभा का या विधानपरिषद को कोई भी सदस्य, जो किसी राजनीतिक दल से संबद्ध है, जो 10वीं अनुसूची के पैरा 2 के अधीन उस सदन का सदस्य होने के लिए अयोग्य है, उस अवधि के दौरान जो उसकी निरर्हता (अयोग्यता) की तिथि से प्रारंभ होकर उस तिथि तक होगा जिस तिथि पर उसका ऐसे सदस्य के रूप में पदावधि समाप्त होगी या उस तिथि तक होगा जिस तिथि पर उसे निर्वाचित घोषित किया जाता है, जहां वह ऐसी अवधि के समाप्त होने के पूर्व किसी राज्य के विधान सभा का या विधान परिषद वाले किसी राज्य की विध

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

ायिका के किसी भी सदन का चुनाव लड़ता है, जो भी पहले ही, मंत्री के रूप में नियुक्त किए जाने के अयोग्य होगा।

अनु. 164(4) के अनुसार, कोई मंत्री, जो निरंतर 6 माह तक राज्य विधानमंडल के किसी सदन का सदस्य नहीं है, 6 माह की अवधि की समाप्ति पर वह मंत्री नहीं रहेगा। इससे स्पष्ट है कि, राज्यपाल किसी ऐसे व्यक्ति को मंत्री या मुख्यमंत्री बना सकता है जो तत्समय विधानमंडल के सिकी सदन का सदस्य न हो, किन्तु ऐसे व्यक्ति को अनिवार्यत: 6 माह के भीतर विधानमंडल के किसी-न किसी सदन की सदस्यता ग्रहण कर लेनी होगी उस व्यक्ति को जो 6 माह तक विधानमंडल का सदस्य बने बिना मंत्री रह चुका है या मुख्यमंत्री रह चुका है, यदि एक बार पद से त्यागपत्र देने के तुरंत बाद या कुछ समय बाद, पुन: दूसरी बार विधानमंडल का सदस्य बने बिना मंत्री या मुख्यमंत्री बनाया गया तो यह संविधान का उल्लंघन होगा, क्योंकि इसका अर्थ होगा कि, वह व्यक्ति प्रत्येक 6 माह के बाद कुछ दिनों तक अपने पद से त्यागपत्र देकर, पुन: विधानमंडल का सदस्य बने बिना मंत्री या मुख्यमंत्री बनता रहेगा। अत: यह परंपरा स्थापित की जानी चाहिए कि कोई व्यक्ति यदि 6 माह तक विधानमंडल का सदस्य बने बिना, मंत्री रह जाय तो उसे समय समय तक दुबारा मंत्री तब तक नहीं बनाया जाना चाहिए, जब तक कि वह विधानमंडल के किसी भी सदन का सदस्य नहीं बन जाए।

संविधान इस बात पर मौन है कि, क्या कोई मनोनीत सदस्य मुख्यमंत्री बन सकता है? मुख्यमंत्री की नियुक्ति के संबंध में ऐसे भी उदाहरण हैं जबकि राज्यपाल ने बिना किसी की सिफारिश के, एक व्यक्ति को विधान परिषद का सदस्य मनोनीत किया तथा फिर उसे मुख्यमंत्री बना दिया जैसे, मद्रास में 1952 ई. में श्री प्रकाश नें, जो उस समय वहां के राज्यपाल थे, चक्रवर्ती राजगोपालचारी को पहले तो बिना किसी की सिफारिश के, एक व्यक्ति को विधान परिषद का सदस्य मनोनीत किया तथा फिर उसे मुख्यमंत्री बना दिया जैसे, मद्रास 1952 ई. में श्री प्रकाश नें, जो उस समय वहां के राज्यपाल थे, चक्रवर्ती राजगोपालचारी को पहले तो बिना किसी की सिफारिश के विधानपरिषद का सदस्य मनोनीत किया तथा फिर उन्हें मुख्यमंत्री बना दिया। उत्तर प्रदेश में चन्द्रभान गुप्ता ने मुख्यमंत्री रहते हुए, स्वयं को विधानपरिषद का सदस्य मनोनीत किया था। यद्यपि इस संबंध में कोई संवैधानिक प्रावधान नहीं है किन्तु प्रयास करना चाहिए कि जो लोग राज्य के दूसरे सर्वोच्च संवैधानिक पद 'मुख्यमंत्री' को ग्रहण करें, वे विधानमंडल के किसी भी सदन के निर्वाचित सदस्य बन जायं। यदि ऐसा नहीं किया गया तो मनोनयन की संवैधानिक व्यवस्था, जिन कारणों से की गयी है, वह मजाक बनकर रह जाएगी, लोग उसका 'लाभ' उठाकर निर्वाचन से बचने का प्रयास करने लगेंगे।

इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने मनोनीत सदस्यों के मंत्री बनाए जाने संबंधी एक याचिका की सुनवाई करते हुए निर्णय दिया था कि, ''इन प्रावधानों का जो उद्देश्य है उसे मालूम करना कठिन नहीं है। प्रत्येक राज्य में ऐसे अनेक व्यक्ति हैं जिन्होंने विभिन्न क्षेत्रों में सफलता के उच्चतम शिखर को स्पर्श किया है। ऐसे व्यक्तियों के मूल्यवान अनुभव का विधानमंडल में लाभ उठाया जा सकता है लेकिन समय की कमी तथा राजनीति में रुचि न होने के कारण वे चुनाव नहीं लड़ना चाहते। यह सार्वजनिक हित में नहीं है कि उनकी शक्ति राजनीतिक चुनावों में नष्ट कर दी जाय।

उदाहरणतया, राष्ट्रपति किसी प्रसिद्ध वैज्ञानिक को व्यवस्थापिका का सदस्य मनोनीत कर सकता है ताकि अणुशक्ति के उत्पादन से संबंधित कानून बनाने के पूर्व उसकी जानकारी का लाभ उठाया जा सके। अनेक ऐसे क्षेत्र हैं जिनमें निपुण व्यक्तियों को सार्वजनिक हित की पूर्ति के लिए बिना चुनाव लड़े विध नमंडल का सदस्य बनाया जाना चाहिए इसी उद्देश्य से मनोनयन की यह प्रणाली है। इसका उद्देश्य यह नहीं है कि एक पराजित मंत्री को मनोनयन के चोर दरवाजे से विधानमंडल का सदस्य बनाया जा या बहुमत या सत्तारूढ़ दल इसका प्रयोग विधानमंडल में अपने समर्थकों की संख्या बढ़ाने के लिए करे, लेकिन आगे चलकर माननीय न्यायाधीशों ने यह भी कहा कि यदि सत्तारूढ़ दल ऐसा करता है और राज्यपाल ऐसा करने हेतु तैयार है तो वह अनुचित होते हुए भी अवैध नहीं होगा और न्यायालय उसमें कोई हस्तक्षेप नहीं कर सकते, लेकिन लोकतंत्र नैतिकता से ही संचालित हो तो बेहतर होगा और कोई बात भले ही अवैध न हो, यदि अनुचित हे तो अनैतिक भी होगी, अत: इस प्रकार से मनोनीत सदस्य को मंत्री बनाना लोकतंत्र तथा संसदीय राजनीतिक संस्कृति के निर्माण की दृष्टि से उचित नहीं होगा।

राज्यपाल राज्य के महाधिवक्ता को नियुक्त करता है जो राज्य सरकार को विधिक महत्व के मामलों में परामर्श देता है। महाधिवक्ता, राज्यपाल के प्रसादपर्यन्त पद धारण करता है और ऐसा पारिश्रमिक प्राप्त करता है जो राज्यपाल द्वारा निर्धारित किया जाय।

राज्यपाल राज्य लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष तथा सदस्यों को नियुक्त करता है लेकिन आयोग के किसी भी सदस्य या अध्यक्ष को पद से हटाने का अधिकार राज्यपाल को नहीं है। इन्हें कतिपय आयोग्यताओं से ग्रस्त होने पर उच्चतम न्यायालय के प्रतिवेदन पर राष्ट्रपति द्वारा ही हटाया जा सकेगा, अन्यथा नहीं (अनु. 317)।

यदि राज्यपाल का यह समाधान हो जाता है कि राज्य की विधानसभा में आंग्ल-भारतीय समुदाय का प्रतिनिधित्व पर्याप्त नहीं है और प्रतिनिधित्व की उन्हीं आवश्यकता है तो वह उस विध ानसभा में एक आंग्ल भारतीय को सदसय के रूप में मनोनीत का सकता है (अनु. 333)।

जिन राज्यों में द्विसदनीय विधानमंडल है वहां के राज्यपाल को विधानमंडल के उच्च या द्वितीय सदन में कुछ विशेष वर्ग के व्यक्तियों को मनोनीत करने की शक्ति होती है। अनु. 171(5) के

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

अनुसार राज्यपाल द्वारा निम्नलिखित क्षेत्रों में विशेष ज्ञान या व्यावहारिक अनुभव रखने वाले व्यक्ति विधानपरिषद में मनोनीत किए जा सकते हैं:

साहित्य, विज्ञान, कला, समाजसेवा, तथा साहकारिता आंदोलन।

उपरोक्त के अतिरिक्त भी राज्यपाल अन्य अनेक नियुक्तियां करता है जैसे, राज्य महिला आयोग के अध्यक्ष एवं सदस्य, राज्य सूचना आयोग के अध्यक्ष एवं विभिन्न निगमों तथा बोर्डों के अध्यक्ष तथा सदस्य आदि भी राज्यपाल द्वारा ही नियुक्त किए जाते हैं। राज्यपाल द्वारा की जाने वाली संपूर्ण नियुक्तियां मंत्रिपरिषद की सलाह पर ही की जाती हैं।

(2) विधायी शक्तियां:

राज्यपाल विधानमंडल का एक आवश्यक अंग होता है। अनु. 168 के अनुसार, प्रत्येक राज्य के लिए एक विधानमंडल होगा जो राज्यपाल तथा विधानमंडल और यदि उस राज्य में विधानपरिषद अस्तित्व में है तो विधानपरिषद से मिलकर बनेगा। विधानमंडल का अंग होने के कारण राज्यपाल को समय-समय पर विधानमंडल के सदन या सदनों का सत्र आहूत करने का अधिकार होता है किन्तु उसके एक सत्र की अंतिम बैठक तथा दूसरे सत्र की प्रथम बैठक के बीच 6 माह का अंतराल नहीं हो सकता (अनु. 174(1))। अनु. 174(2) के अनुसार, राज्यपाल समय-समय पर विधानमंडल के एक सदन का या दोनों सदनों का (यदि उस राज्य में द्विसदनीय विधानमंडल है) सत्रावसान कर सकेगा। राज्यपाल को यह अधिकार है कि विधानसभा को विघटित कर दे (अनु. 174(3))।

अनु. 175(1) के अनुसार, राज्यपाल को यह अधिकार है कि वह विधानसभा में या विधानपरिषद में या दोनों में समवेत (एक साथ) अभिभाषण कर सकता है। अनु. 175(2) के अनुसार, राज्यपाल राज्य के विधानमंडल में उस समय लिखित किसी विधेयक के संबंध में संदेश या कोई अन्य संदेश उस राज्य के विधानमंडल के किसी भी सदन में भेज सकेगा और वह सदन शीघ्र ही इस संदेश पर विचार करेगा।

अनु. 176 के अनुसार, राज्यपाल विधानसभा के प्रत्येक साधारण निर्वाचन के पश्चात् प्रथम सत्र के आरंभ में और प्रत्येक वर्ष के प्रथम सत्र के आरंभ में विधानसभा में तथा विधानपरिषद वाले राज्य की दशा में, दोनों सदनों में समवेत अभिभाषण करेगा और विधानमंडल को उसका सत्र बुलाने का कारण बताएगा।

अनु. 202 के अनुसार, राज्यपाल, प्रत्येक वित्तीय वर्ष के संबंध में राज्य विधानमंडल के सदन या सदनों के समक्ष उस राज्य की उस वर्ष के लिए प्राक्कलित प्राप्तियों तथा व्यय (अर्थात् आय-व्यय) का वितरण रखवाएगा, जिसे 'वार्षिक वित्तीय विवरण' (अर्थात् बजट) कहा जाता है। कोई भी ऐसा विधेयक जो 'धन विधेयक' है अथवा अनुदान की मांगों से संबंधित है, राज्यपाल की पूर्व अनुमति से ही विधानमंडल में प्रस्तुत किया जा सकता है (अनु. 207)।

अनु. 192 के अनुसार, यदि किसी विधानमंडल सदस्य की सदस्यता को इस आधार पर चुनौती दी जाती है कि वह अनु. 191(1) के अधीन सदस्य नहीं रह सकता, तो इस बात का निर्णय राज्यपाल करेगा और उसका निर्णय अंतिम होगा। परंतु वह अपना निर्णय करने के पूर्व निर्वाचन आयोग से परामर्श करेगा और परामर्श के अनुसार निर्णय करेगा। इस संदर्भ में वह मंत्रिपरिषद की सलाह के अधीन नहीं है।

अनु. 187(3) के अनुसार, जब तक विधानमंडल द्वारा अपने सचिवालय के कर्मचारियों से संबंधित कानून नहीं बनाया जाता, राज्यपाल विधानमंडल के अध्यक्ष तथा विधानपरिषद के सभापति से मंत्रणा करने के बाद उनकी भर्ती, तथा सेवा की शर्तों के संबंध में नियम बना सकता है। इस सदर्भ में भी वह मंत्रिपरिषद के परामर्श से कार्य करने हेतु बाध्य नहीं है।

(3) न्यायिक शक्तियां:

राज्यपाल की न्यायिक शक्तियों का वर्णन अनु. 161 में किया गया है। अनु. 161 के अनुसार, किसी राज्य के राज्यपाल को उस विषय संबंधी, जिस विषय पर उस राज्य की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार है, किसी विधि के विरूद्ध किए गए किसी अपराध के लिए दोषी ठहराए गए किसी व्यक्ति के दंड को क्षमा, दंड को स्थगित करने, दंड को विराम देने (अर्थात् किसी तथ्य विशेष के कारण या परिस्थिति विशेष को देखते हुए दंड को रोकना, जैसे किसी स्त्री के मृत्युदंड को उसके गर्भवती होने के कारण रोकना), दंड का परिहार करने (इसमें दंड की प्रकृति में परिवर्तन किए बिना ही उसको कम कर देना, जैसे कारावास की 5 वर्ष की सजा को घटाकर 2 वर्ष कर देना) की शक्ति है। उसे दंडावेश के निलंबन, परिहार तथा लघुकरण की शक्ति प्राप्त है।

उपरोक्त के अतिरिक्त राज्यपाल को कुछ अन्य शक्तियां भी प्राप्त हैं:

(A) आपातकाल (अनु. 356) से संबंधित शक्ति:

राज्यपाल को यह शक्ति है कि वह इस आशय का प्रतिवेदन राष्ट्रपति को उस समय भेजे, जब उसे यह विश्वास हो जाय कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गयी है कि राज्य का शासन इस संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता। ऐसा प्रतिवेदन मिलने पर केन्द्र द्वारा उस राज्य में 'राष्ट्रपति शासन' की उद्घोषणा की जा सकती है। इस संदर्भ में राज्यपाल अपने 'विवेक' से निर्णय लेगा, 'क्योंकि मंत्रिमंडल की राय से 'राष्ट्रपति शासन' लगाने का प्रतिवेदन तैयार नहीं किया जा सकता है।

(B) अध्यादेश प्राख्यापित करने का अधिकार (अनु. 213):

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

अनु. 213(1) के अनुसार, उस समय को छोड़कर जब किसी राज्य की विधानसभा सत्र में है या विध ानपरिषद वाले राज्य में विधानमंडल के दोनों सदन सत्र में हैं, यदि किसी समय राज्यपाल को यह विश्वास हो जाता है कि ऐसी परिस्थितियां विद्यमान हैं जिनके कारण तुरंत विधायी कार्रवाई करना उसके लिए आवश्यक हो गया है तो वह ऐसे अध्यादेश का प्रभाव वहीं होता हे जो विधानमंडल द्वारा बनाए गए कानूनों का होता है। अध्यादेश की भी वही सीमाएं होती हैं जो विधानमंडल के कानूनों पर लागू होती हैं जैसे यदि कोई विधेयक विधानमंडल में तबतक प्रस्तुत नहीं किया जा सकता जब तक कि राष्ट्रपति की पूर्व अनुमति न ली गयी हो तो अध्यादेश द्वारा भी इस विषय पर कानून बनाने के पूर्व राष्ट्रपति की अनुमति आवश्यक होगी।

राज्यपाल का विवेकाधिकार-क्षेत्र एवं सीमाएं:

भारत में राज्यपालों को मिली हुई शक्तियां तथा उनके नियुक्ति की प्रक्रिया कनाडा एवं आस्ट्रेलिया के ही समान है। राज्यपाल के विवेकाधीन शक्तियों के संबंध में अनु. 163 स्पष्टत: कहता है कि, जिन बातों में संविधान द्वारा राज्यपाल से यह अपेक्षित है कि वह अपने विवेक के अनुसार कार्य करे, उस संबंध में उसका निर्णय अंतिम होगा। प्रश्न उठता है कि राज्यपाल किस स्थिति में या किन विषयों के संबंध में अपने विवेक का प्रयोग करेगा, यह स्थितियां निम्नलिखित हैं:

(1) मुख्यमंत्री की नियुक्ति:

अनु. 164(1) के अनुसार, राज्यपाल को यह महत्वपूर्ण शक्ति प्राप्त है कि, वह मुख्यमंत्री की नियुक्ति करे। आम चुनावों के बाद जब किसी एक दल को स्पष्ट बहुमत मिल जाय तो राज्यपाल का उस दल के नेता को मुख्यमंत्री बनाने में कठिनाई नहीं होती। लेकिन यदि चुनावों में किसी भी दल को स्पष्ट बहुमत नहीं मिलता है तो मुख्यमंत्री किसे बनाया जाय, यह प्रश्न उठ खड़ा होता है। अब यहां राज्यपाल के विवेक पर निर्भर करता है कि किस दल के दावे पर विश्वास करता है और उसे सरकार बनाने का निमंत्रण देता है। स्वतंत्रता के बाद यह परंपरा भी स्थापित हुई कि चुनावों में यदि किसी दल को स्पष्ट बहुमत नहीं मिलता है तो राज्यपाल चुनाव में सबसे अधिक स्थान प्राप्त किए दल को सरकार बनाने का आमंत्रण दे, लेकिन यह परंपरा स्थायी नहीं हो पायी। बाद में राज्यपालों ने 'विवेक' का तर्क देकर सबसे बड़े दल के नेता को सरकार बनाने का निमंत्रण देने से इसलिए इनकार कर दिया कि, वह 'स्थायी सरकार' नहीं दे सकता। चुनावों में स्पष्ट बहुमत नहीं मिलने की दशा में राज्यपालों ने प्राय: केन्द्र सरकार की इच्छा को महत्व दिया है।

(2) बहुमत सिद्ध करने हेतु समय-सीमा का निर्धारण:

जब चुनावों के बाद राज्यपाल किसी एसक दल के नेता को मुख्यमंत्री बनने हेतु आमंत्रण करता है तो उसे एक निश्चित समय के भीतर विधानसभा में अपना बहुमत सिद्ध करना पड़ता है। बहुमत कितनें दिनों के भीतर सिद्ध कर दिया जाना चाहिए, इस समय-सीमा का संविधान में वर्णन नहीं है। अत: यह राज्यपाल के विवेक पर निर्भर है कि वह मुख्यमंत्री को कितना समय देता है। प्राय: देखा गया है कि राज्यपालों ने अपनी पसंद की सरकार बनाने हेतु ऐस व्यक्ति को मुख्यमंत्री बनाया जिसका सदन में बहुमत संदिग्ध हो और बहुमत सिद्ध करने हेतु कभी 30 दिन तो कभी 45 दिन तक समय दिया और कभी राज्यपाल ने इस समय सीमा को 10 दिन तक ही सीमित कर दिया। एक लंबी समय सीमा की अवधि को 10 दिन तक ही सीमित कर दिया। एक लंबी समय सीमा की अवधि में बहुमत को सिद्ध करने का तरीका राजनीतिक सौदेबाजी को प्रश्रय देता है।

(3) सत्र आहूत करना:

राज्यपाल समय-समय पर विधानमंडल का सत्र आहूत करता है। वर्ष में कम-से-कम दो सत्र अवश्य आहूत होने चाहिए क्योंकि एक सत्र की अंतिम बैठक तथा दूसरे सत्र की प्रथम बैठक की बीच 6 माह का समयान्तराल नहीं होना चाहिए। सामान्यत: 3 सत्र वर्ष में आयोजित होते हैं। राज्यपाल को यदि कभी ऐसा लगे कि सरकार अल्पमत में आ गई है तो वह उसे कभी सदन का सत्र बुलाकर, सदन में बहुमत सिद्ध करने का आदेश दे सकता है। यदि ऐसी स्थिति में मुख्यमंत्री अचानक आहूत किए गए सदन की बैठक में बहुमत सिद्ध करने में आनाकानी करे तो राज्यपाल का यह निर्णय उचित होगा कि मुख्यमंत्री ने बहुमत खो दिया है तथा फिर नयी राजनीतिक संभावना का पता लगाना उसके 'विवेक' पर निर्भर होगा। 1967 ई. में पश्चिम बंगाल के मुख्यमंत्री अजय मुखर्जी को इसलिए बरखास्त कर दिया गया कि, वह राज्यपाल द्वारा निश्चित की गयी अवधि के भीतर विधानसभा में अपना बहुमत सिद्ध करने को तैयार नहीं थे। लेकिन 1970 ई. में उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री चौधरी चरण सिंह को अपना बहुमत सिद्ध करने का अवसर दिए बिना ही बरखास्त कर दिया गया, जबकि वह 24 घंटे के भीतर बहुमत सिद्ध करने को तैयार थे।

(4) विधानसभा का विघटन करना:

किसी सरकार ने, जिसने अपना 5 वर्ष का कार्यकाल पूरा नहीं किया है, यदि वह 5 वर्ष के पूर्व अल्पमत में आ गयी है, ऐसी दशा में राज्यपाल या तो विपक्ष को सरकार बनाने का अवसर देकर जनता को आम चुनावों के बोझ से बचाए अथवा विधानसभा का विघटन करके नए चुनावी आदेश दे। राज्यपाल को इस दशा में स्वविवेक का अधिकार है।

(5) राष्ट्रपति को अनु. 356 के अधीन प्रतिवेदन देना:

राज्यपाल का यह कर्त्तव्य है कि वह राष्ट्रपति को राज्य की स्थितियों से अवगत कराए। यदि कभी राज्यपाल को ऐसा प्रतीत होता है कि राज्य का शासन संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा रहा है तो वह राष्ट्रपति से सरकार भंगकर 'राष्ट्रपति शासन' (अनु. 356) लगाने की मांग कर सकता है। यह कब माना जाएगा कि सरकार संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चल रही है, इसका संविधान में वर्णन नहीं है। यह राज्यपाल के स्वविवेक पर निर्भर है कि वह इस निर्णय पर कैसे पहुंचता है।

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

(6) अनु. 356 के संदर्भ में राज्यपाल की विवेकाधीन शक्तियां:

अनु. 365 के अनुसार, केन्द्र अपनी कार्यपलिका शक्ति के अनुपालन में दिए गए निदेशों का पालन राज्य के लिए आवश्यक है। यदि कोई इकाई-राज्य केन्द्र द्वारा दिए गए निर्देशों का पालन नहीं कर रहा है तो केन्द्र का यह निर्णय निकालना उचित होगा कि राज्य सरकार संविधान के प्रावधानों के अनुसार काम, नहीं कर रही है। ऐसी दशा में उस राज्य सरकार को हटाकर 'राष्ट्रपति शासन' लगाया जा सकता है। राज्यपाल केन्द्र का प्रतिनिधि भी होता है, उसे केन्द्र को यह बताने का अधिकार है कि राज्य केन्द्र के निर्देशों का अनुपालन कहां तक कर रहा है।

(7) कुछ विधेयकों को राष्ट्रपति के विचारार्थ सुरक्षित करना:

राज्य विधानमंडल द्वारा पारित कोई भी विधेयक कानून/विधि का रूप तब तक धारण नहीं करेगा। जबतक कि राज्यपाल उस विधेयक को अपनी स्वीकृति नहीं दे देता। लेकिन राज्यपाल सभी विधेयकों पर अपनी स्वीकृति दे, यह आवश्यक नहीं। अनु. 200 के अनुसार, राज्यपाल का यह संवैधानिक दायित्व है कि ऐसे किसी भी विधेयक को जिसके पारित होने पर उच्च न्यायालय की शक्तियों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा अर्थात् उसकी शक्तियां या अधिकारिता कम हो जाएगी, वह राष्ट्रपति के विचार हेतु आरक्षित कर दे। इसी प्रकार अनु. 254 के अनुसार, राज्यपाल राज्य विधानमंडल द्वारा पारित ऐसे विधेयकों को भी राष्ट्रपति के विचार हेतु आरक्षित कर सकता है जिसका संबंध समवर्ती सूची के विषयों से है और वे उसी विषय पर केन्द्र द्वारा बनाए गए किसी पूर्ववर्ती कानून के विरूद्ध हैं। राज्यपाल किसी भी ऐसे विधेयक को विवेक से राष्ट्रपति के विचारार्थ आरक्षित कर सकता है जो संविधान की मौलिक संरचना या संघात्मक व्यवस्था के किसी प्रावधान का उल्लंघन करते हों। यह राज्यपाल के विवेकाधीन है। अनु. 201 के अनुसार, जब कोई विधेयक राज्यपाल द्वारा राष्ट्रपति के विचार के लिए आरक्षित कर लिया जाता है तो राष्ट्रपति ही घोषित करेगा कि वह विधेयक पर अनुमति देगा या नहीं।

(8) किसी विधेयक को पुनर्विचार हेतु विधानमंडल को वापस भेजना:

राज्य विधानमंडल द्वारा पारित किसी भी विधेयक के प्रावधानों से यदि राज्यपाल असहमत है या वह चाहता है कि राज्य विधानमंडल विधेयक के प्रावधानों पर एक बार पुन: विचार करे तो वह विवेकपूर्वक निर्णय ले सकता है।

राज्यपाल की कुछ अन्य विवेकाधीन शक्तियां इस प्रकार हैं:

छठी अनुसूची के पैरा 9(2) के अनुसार, असम का राज्यपाल अपने विवेक से वह राशि निर्धारित करेगा जो असम में खनिजों के उत्खनन के फलस्वरूप जिला-परिषद को देना है।

अनु. 239(2) के अनुसार, राष्ट्रपति को यह अधिकार है कि वह किसी राज्य के राज्यपाल को किसी निकटवर्ती संघ राज्यक्षेत्र के प्रशासक के रूप में नियुक्त कर दे। इस प्रकार नियुक्त किया गया राज्यपाल अपने मंत्रिपरिषद से स्वतंत्र होकर अपने कार्यों का संपादन करेगा।

उपरोक्त प्रावधानों के अतिरिक्त महाराष्ट्र, गुजरात, नागालैण्ड, मणिपुर तथा सिक्किम के राज्यपालों को कतिपय विशेष दायित्व या अधिकार दिए गए हैं। इन दायित्वों के निष्पादन में वह मंत्रिपरिषद से परामर्श कर सकता है लेकिन वह परामर्श से बंधा हुआ नहीं है। वह चाहे तो मंत्रिपरिषद के परामर्श के विरूद्ध भी निर्णय ले सकता है। इन मामलों में राज्यपाल का व्यक्तिगत निर्णय ही 'अंतिम निर्णय' होगा। राज्यपाल के निर्णय पर मंत्रिपरिषद या कोई भी न्यायालय आपत्ति नहीं करेगा। ये विशेष दायित्व इस प्रकार हैं:

(1) अनु. 371(2) के अनुसार, महाराष्ट्र, के राज्यपाल को विदर्भ के संदर्भ में तथा गुजरात के राज्यपाल को सौराष्ट्र के संदर्भ में यह विशेष शक्ति होगी कि, वे इन क्षेत्रों के विकास हेतु विशेष कदम उठाएं।

(2) अनु. 371 क (1) ख के अनुसार, नागालैण्ड के राज्यपाल का राज्य के कानून-व्यवस्था के संदर्भ में विशेष दायित्व होगा, जब तक कि नागाओं के आंदोलन के कारण राज्य में अशांति एंव हिंसा बनी रहती है।

(3) अनु. 371 ग (1) के अनुसार, मणिपुर के राज्यपाल का यह विशेष दायित्व होगा कि, वह राज्य के पहाड़ी क्षेत्रों के निर्वाचित सदस्यों से मिलकर बनने वाली राज्य की विधानसभा की समिति का उचित कार्यकाल सुनिश्चि करे।

(4) अनु. 371 च(छ) के अनुसार, सिक्किम के राज्यपाल का यह विशेष दायित्व होगा कि, वह शांति की स्थापना हेतु और सिक्किम की जनता के सामाजिक व आर्थिक विकास को सुनिश्चित करने हेतु कार्य करे।

उपरोक्त राज्यों के राज्यपालों को विशेष दायित्व के निर्वहन में स्वविवेक के अनुसार निर्णय लेना होगा। इस संदर्भ में वे राष्ट्रपति के निर्देशों के अधीन रहेंगे। वस्तुत: जहां कहीं भी राज्यपाल के स्वविवेक की बात कही जाती है, वहां वह राष्ट्रपति के दिशा-निर्देश से ही परिचालित होगा क्योंकि वह राष्ट्रपति के प्रतिनिधि के रूप में ही काम करता है। राज्यपाल के पास कुछ ऐसी शक्तियां भी हैं, जिनका प्रयोग वह मंत्रिमंडल या राष्ट्रपति के परामर्श से न करके अन्य एजेंसिया की सलाह से करता है जैसे अनु. 192 के अनुसार, यदि किसी विधानमंडल के सदस्य की सदस्यता को इस आधार पर चुनौती दी जाय कि वह अनु. 191(1) के अधीन सदस्य नहीं रह सकता तो इस बात का निर्णय राज्यपाल निर्वाचन आयोग के परामर्श से करेगा और उसके द्वारा दिए गए परामर्श को मानेगा।

इस प्रकार देखाा जाय तो राज्यपाल 3 आधारों के साथ कार्य करता है (1) मंत्रिमंडल के परामर्श से, (2) स्वविवेक से (लेकिन राष्ट्रपति के निर्देशों के अधीन) तथा (3) अन्य एजेंसियों के परामर्श से जैसे अनु. 192।

FIRST IAS

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

भारत में दबाव गुट

प्रत्येक समाज में अनेक प्रकार के समूह पाए जाते हैं जो मानव जीवन के विभिन्न पक्षों का प्रतिनिधित्व करते हैं। मानव समाज समुदायों से निर्मित है; मनुष्य अपने धार्मिक, नैतिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक विकास के लिए अलग-अलग समूहों का निर्माण करते हैं। समाज में समूहों के निर्माण उनकी अनेकता के दो आधार होते हैं- (अ) हितों की एकता (ब) हितों की विभिन्नता।

एक ही प्रकार के हित रखने वाले व्यक्ति एक समूह में संगठित होते हैं ताकि सामूहिक प्रयास के द्वारा वे अपने उद्देश्यों की पूर्ति कर सकें। चूंकि समाज में रहने वाले व्यक्तियों के हित एक से नहीं होते, उनमें विभिन्नता पाई जाती है, इसलिए उन विभिन्न हितों को विकसित और सुरक्षित रखने के लिए अलग-अलग समूहों का निर्माण किया जाता है। यदि सभी व्यक्तियों की समस्याएं और हित एक से होते, तो समाज में अनेक समुदायों और संगठनों का निर्माण न होता। विश्वविद्यालय जैसी छोटी संस्था में भी अलग-अलग संस्थाएं विश्वविद्यालय के प्रशासकीय कर्मचारियों के हितों से भिन्न हैं। अत: अध्यापक और कर्मचारी अपने-अपने हितों के आधार पर अलग-अलग समूहों का निर्माण करते हैं।

इसी प्रकार एक ही धर्म को मानने वाले, एक भाषा बोलने वाले, एक क्षेत्र विशेष में रहने वाले व्यक्ति अलग-अलग समूहों का निर्माण करते हैं। परिणामस्वरूप समाज में धार्मिक, आर्थिक व्यावसायिक, सांस्कृतिक आदि, अनेक प्रकार के संगठन पाए जाते हैं वे समूह जो सरकार से कुछ सुविधाएं प्राप्त करने के लिए अथवा ऐसे कार्यों को न करने के लिए जो उस समूह के हितों के विरूद्ध हो, सरकार पर दबाव डालते हैं, दबाव गुट कहलाते हैं। विस्तृत अर्थों में अध्यापकों का संघ, श्रमिक संगठन, व्यापारिक समूह, धार्मिक समुदाय, नैतिक विकास के लिए बनाए संगठन आदि दबाव गुट कहे जा सकते हैं, क्योंकि जब भी सरकार कोई ऐसी नीति अपनाती है जो इनमें से किसी वर्ग या समूह के हितों के विरूद्ध होती है तो संबंधित समूह की ओर से उसका विरोध किया जाता है और विभिन्न साधनों से सरकार पर यह दबाव डाला जाता है कि वह इस नीति को न अपनाए।

इस पकार के दबाव को नकारात्मक दबाव का नाम दिया जा सकता है, अर्थात् सरकार पर यह दबाव डालना कि वह किसी कार्य विशेष को न करे अथवा नीतिविशेष को न कि समय-समय पर वह सरकार से इस बात की मांग करते रहते हैं कि उस समूह के समुचित विकास के लिए आवश्यक सुविधाएं देने हेतु सरकार आवश्यक कार्यवाही करें संगठनों की ओर से विशेष सुविधाएं दिए जाने की मांग की जाती है और उसको पूरा कराने के लिए ये समूह आंदोलन कराते हैं। संक्षेप, दबाव गुट अपने सदस्यों कि हितों को विकसित करने के लिए, आवश्यक सुविधाएं प्राप्त करने तथा सरकार को ऐसे कार्यों को जो उनके हितों के विपरीत हो, करने से रोकने के लिए सरकार पर दबाव डालते हैं।

विशिष्ट अर्थों में दबाव गुटों का अर्थ ऐसे समूहों से है जिनके अलग-अलग आर्थिक हित हों अर्थात् आर्थिक आधार पर जिनके बीच विभेद किया जा सके। इन अर्थों में श्रमिक अध्यापक, कर्मचारियों, व्यापारियों, उत्पादकों जैसे समूहों को ही दबाव समूह कहा जाना चाहिए। एक धार्मिक या सांस्कृतिक समूह में विभिन्न आर्थिक हितों का प्रतिनिधित्व करने वाले व्यक्ति होते हैं अत: विशिष्ट अर्थों में उन्हें हित समूह नहीं कहा जा सकता है। वी.ओ. की. के अनुसार 'हित समूह ऐसे गैर सरकारी संगठन हैं जिनका निर्माण सार्वजनिक नीति को प्रभावित करने के लिए किया जाता है। यह प्रत्याशियों के चयन तथा सरकार के व्यवस्थापन के उत्तरदायित्व की अपेक्षा सरकार को प्रभावित करने का प्रयत्न करके अपने हित साधन में लगे रहते हैं।' 'आडीगार्ड' ने दबाव समूहों का अर्थ बताते हुए यह लिखा है कि 'एक दबाव समूह ऐसे लोगों का औपचारिक संगठन है जिनके एक अथवा अधिक सामान्य उद्देश्य एवं स्वार्थ हों और जो घटनाओं के क्रम को विशेष रूप से सार्वजनिक नीति के निर्माण और शासन को इसलिए प्रभावित करने का प्रयास करें कि उनके अपने हितों की रक्षा और वृद्धि हो सकें।'

कोई समूह दबाव समूह है या नहीं, इसका निर्धारण इस बात से होता है कि वह सरकार पर दबाव डालता है या नहीं, उसका महत्व तथा दबाव की सीमा उसके संगठन, सदस्य संख्या, सदस्यों की योग्यता और आर्थिक स्थिति जैसे तत्वों पर निर्भर करती है।

सरकार पर दबाव डालने के लिए दबाव गुट परिस्थिति के अनुसार सांविधानिक और संविधानेत्तर साधनों को अपनाते हैं। जब भी ऐसे आवश्यकता होती है, तो आरम्भ में दबाव गुट अपनी मांगों को सांविधानिक तरीकों से पूरा कराने का प्रयत्न करते हैं। समूह के सदस्य विधायको, राजनीतिक पद-धारकों और पदाधि कारियों आदि से सम्पर्क स्थापित करते हैं और स्मृति-पत्र आदि देकर उन्हें अपनी मांगों से अवगत कराते हैं। इसके अतिरिक्त प्रेस के माध्यम से भी दबाव गुट अपनी मांगों को सरकार तक पहुंचाने का प्रयत्न करते हैं। लेकिन जब व्यक्तिगत सम्पर्क, वार्तालाप और शांतिपूर्ण ढंगों से सरकार पर समुचित दबाव डालने में असफल हो जाते हैं, तो वे प्रदर्शन, हड़ताल और आंदोलन जैसे साधनों को अपनाकर अपनी मांगों को पूरा कराने के लिए सरकार पर दबाव डालते हैं। बड़े दबाव गुट विशेषकर व्यापारिक समूह चुनाव में उन राजनीतिक दलों की आर्थिक सहायता करते हैं तथा ऐसे प्रत्याशियों का समर्थन करते हैं जिनके सिद्धांत अथवा दृष्टिकोण उस दबाव समूह के हितों के अधिक अनुकूल होते हैं।

अमेरिका और अन्य पश्चिमी देशों में दबाव गुट सरकार को प्रभावित करने के लिए एक अन्य प्रणाली अपनाते हैं जिसे 'लाबीइंग' कहा जताा है। इसका विशिष्ट अर्थ यह है कि विभिन्न

GTB IAS

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

दबाव गुट कुछ एसे कर्मचारी नियुक्त करते हैं जिनका कार्य विधानमण्डल में जाकर विधायकों से उस समय सम्पर्क स्थापित करना होता है जब उस समूह विशेष के हितों से संबंधित कोई विषय विधानमण्डल के विचाराधीन हो। ऐसे अवसरों पर ये पदाधिकारी विधानमण्डल के परिसर में जाते हैं और जो विधायक सदन में आते-जाते हैं, उनको सदन में विचाराधीन विषय के संबंध में अपना दृष्टिकोण बताते हैं और उन्हें इस बात के लिए तैयार करने का प्रयत्न करते हैं कि वे उस विषय पर उस दबाव गुट के दृष्टिकोण का सदन में समर्थन करें। विस्तृत तथा प्रचलित अर्थों में लाबाइंग के अंतर्गत विधायकों से सदन के परिसर में तथा उसके बाहर व्यक्तिगत सम्पर्क स्थापित करना और सरकार के विचाराधीन किसी मामले की पैरवी करना आदि होता है।

दबाव गुटों के स्वभाव को समझने के लिए उनके और राजनैतिक दलों के बीच पाए जाने वाले अंतर को जानना आवश्यक है। इन दोनों के बीच होता है, जबकि गुटों का लक्ष्य सरकार से कुछ सुविधाएं प्राप्त करने के लिए उस पर दबाव डालना होता है। इसीलिए राजनीतिक दल विभिन्न निर्वाचनों में अपने उम्मीदवार खड़े करते हैं और विधानमण्डल में अधिक से अधिक स्थान प्राप्त करना चाहते हैं, जबकि दबाव गुट निर्वाचनों में अपना उम्मीदवार नहीं खड़ा करते, बल्कि उस राजनीतिक दल का समर्थन करते हैं जिसकी नीतियां उस समूह के हितों के अधिक अनुकूल होती है।

राजनीतिक दल सैदव क्रियाशील रहते है और सरकार द्वारा बनाई जाने वाली नीतियों और किए जाने वाले कार्यों से सम्बद्ध रहते हैं, जबकि दबाव गुट सदैव सक्रिय नहीं रहते, वे उस समय सक्रिय होते हैं, जब सरकार से कुछ सुविधाएं चाहते हैं या सरकार द्वारा प्रतिपादित कोई नीति या कानून उन्हें अपने हितों के विरूद्ध दिखाई देता है और वे उसे परिवर्तित या संशोधित कराना चाहते है। दूसरे शब्दों में दबाव गुटों का सम्बंध सरकार की प्रत्येक नीति या कार्य से नहीं होता। राजनीतिक दलों की अपेक्षा दबाव गुटों का कार्यक्षेत्र विशिष्ट और संकुचित होता है। उनका मुख्य संबंध अपने समूह के सदस्यों के हितों से होता है, सम्पूर्ण समाज से नहीं। राजनीतिक दल सामान्य रूप से सर्वसाधारण के हितों को सुरक्षित और प्रोत्साहित करने के लिए कार्य करते हैं।

यह भी कहा जाता है कि दबाव गुटों की सदस्यता परस्पर व्यापी होती है, अर्थात् एक व्यक्ति एक साथ एक से अधिक हितों समूहों का सदस्य हो सकता है, जबकि कोई व्यक्ति एक साथ दो राजनीतिक दलों का सदस्य नहीं हो सकता। एक दबाव गुट में विभिन्न राजनैतिक विचारधारा मानने वाले हो सकते हैं, जबकि एक राजनीतिक दल के सभी सदस्य कुछ निश्चित राजनीतिक सिद्धांतों को मानने वाले होते हैं जिनके आर्थिक हित तो भिन्न-भिन्न हैं, लेकिन वह एक ही राजनीतिक वैचारिकी में विश्वास करते हैं।

दबाव गुटों का निर्माण समुदाय बनाने की स्वतंत्रता पर निर्भर करता है। गैर जनतांत्रीय शासन व्यवस्थाओं में समुदाय बनाने का अधिकार अत्यधिक सीमित होता है। अतः उसमें संगठित हित समूह और दबाव गुटों की संख्या कम होती है और वे अधिक प्रभावशाली नहीं होते। जनतंत्रीय शासन व्यवस्था में स्वतंत्रता के अधिकार के अंतर्गत संघ और समुदाय बनाने का अधिकार भी सम्मिलित होता है, अतः जनतंत्र में दबाव गुटों की संख्या ज्यादा होती है और वे अधिक प्रभावशाली भी होते हैं। जनतांत्रीय शासन व्यवस्था का केन्द्र बिन्दू व्यक्ति होता है जिसे सरकार के बनाने और परिवर्तित करने में समान अधिकार दिया जाता है। जब ये प्रभुत्व सम्पन्न व्यक्ति एक समूह में संगठित हो जाते है तो निस्संदेह उनकी शक्ति और प्रभाव भी बढ़ जाता है। फलस्वरूप जनतंत्रीय शासन व्यवस्था में दबाव गुट सरकार के निर्माण और कार्य संचालन में महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकते हैं। इसीलिए मैककीन ने दबाव गुटों को 'अमूर्त सरकार' की संज्ञा दी है।

भारत में दबाव गुटों का निर्माण स्वतंत्रता प्राप्ति के पहले से ही आरम्भ हो चुका था। स्वयं कांग्रेस दल की स्थापना 1885 में ऐसी संस्था के रूप में हुई थी जिसका उद्देश्य ब्रिटिश सरकार से यह मांग करना था कि भारतीय लोक सेवा में भारतवासियों के लिए स्थानों की संख्या बढ़ाई जाए तथा इस सेवा में प्रवेश के लिए निधरित अधिकतम आयु सीमा को बढ़ाया जाए। 1920 में भारतीय राजनीति में गांधी जी ने प्रवेश किया और राष्ट्रीय आंदोलन को एक नई दिशा दी। गांधी जी ने कृषक तथा श्रमिक वर्ग को संगठित किया और कांग्रेस द्वारा चलाए जाने वाले आंदोलन को एक जन-आंदोलन का रूप दिया। प्रथम विश्वयुद्ध से पहले कुछ श्रमिक संगठनों का निर्माण हो चुका था। उदाहरण के लिए 1890 में बम्बई में एक ट्रेड यूनियन 'दि बाम्बे मिल हेड्स एसोसिएशन' के नाम से संगठित हुई। 1918 से भारत में श्रमिक आंदोलन तेजी से शुरू हुआ और केवल एक वर्ष में सात ट्रेड यूनियनों की स्थापना हुई। श्रमिक संगठनों के निर्माण में गांधी जी ने विशेष रूचि ली। 1920 में राष्ट्रीय स्तर पर एक ट्रेड यूनियन 'ऑल इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस' के नाम से संगठित हुई जिसका अध्यक्ष कांग्रेस दल के तत्कालीन अध्यक्ष लाला लाजपत राय को बनाया गया। 1936 में राष्ट्रीय पर किसानों का संगठन 'ऑल इंडिया किसान सभा' के नाम से स्थापित हुआ, जिसे कांग्रेस का निर्देशन तथा समर्थन प्राप्त था। इस संस्था की ओर से जमींदारों उन्मूलन तथा भूमि के पुनर्वितरण की मांग की गई।

स्वतंत्रता के पश्चात् भारत के दबाव गुटों की संख्या स्वाभाविक रूप से बढ़ी। जिसका कारण वयस्क मताधिकार, राजनीतिक समानता, सरकार के कार्यक्षेत्र में विस्तार और संविधान द्वारा वाक्, प्रेस तथा समुदाय बनाने की स्वतंत्रता के अधिकारों का दिया जाना था। भारत के संविधान ने राजनीतिक सत्ता का अंतिम स्रोत जनता को माना और सरकार के निर्माण का अधिकार जनसाधारण को प्रदान किया। प्रतिनिधिक शासन प्रणाली की स्थापना के परिणामस्वरूप राजनीतिक दल स्वभाविक रूप से बहुत ज्यादा क्रियाशील हो गए और व्यावहारिक राजनीति में जनसाधारण के भाग लेने के कारण स्वयं राजनीतिक दलों ने विभिन्न वर्गों को हितों

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

के आधार पर संगठित करना आरंभ किया। फलस्वरूप भारत में व्यावसायिक, श्रमिक, व्यापारिक, जातीय तथा साम्प्रदायिक हितों का प्रतिनिधित्व करने वाले संगठनों का निर्माण हुआ।

यह एक निर्विवाद तथ्य है कि भारत में दबाव गुट पश्चिमी देशों की तरह सुसंगठित, क्रियाशील और प्रभावी नहीं हैं और कुछ विशेष क्षेत्रों को छोड़कर अधिकांश क्षेत्रों में दबाव गुटों का कार्यभाग केवल औपचारिक सा प्रतीत होता है। भारत में दबाव गुटों का प्रभाव प्रशासन से कुछ सुविधाएं प्राप्त करने तक सीमित रहा है, वे सरकार की नीतियों में परिवर्तन की सामर्थ्य नहीं रखते। दबाव गुटों के विकसित न हो सकने के कारणों में निरक्षता, राजनीतिक चेतना का अभाव, नेतृत्व का संकट और एक ही राजनीतिक दल का आधिपत्य उल्लेखनीय हैं।

राबर्ट एल, हार्डग्रवे ने भारत के दबाव गुटों की निम्नलिखित विशेषताएं बताई हैं।

(1) भारत में दबाव गुटों का विकास बहुत मंद गति से हुआ और जो दबाव गुट हैं वे भी बहुत कमजोर हैं।

(2) अधिक शक्तिशाली न होने के कारण दबाव गुटों की प्रशासन तक पहुंच बहुत कम है और शक्तिहीनता की स्थिति में होने के कारण वे सरकार को निचोड़ने वाली शक्ति समझने हुए यथासम्भव उससे अलग रहना चाहते हैं।

(3) कांग्रेस दल के अंदर पाए जाने वाले गुटों ने विशिष्ट हितों के एजेंट के रूप में कार्य किया है।

(4) अधिकांश भारतीयो में निम्न कोटि की राजनीतिक सामर्थ्य की भावना पाई जाती है। उनके विचार से सरकारी पदाधिकारी सामान्यतया दूरस्थ, अनुत्तरदायी तथा भ्रष्ट है। दूसरी ओर पदाधिकारी दबाव गुटों को शंका की दृष्टि से देखते हैं।

भारत में कार्यात्मक अथवा व्यवसायिक आधार पर संगठित होने वाले गुटों में व्यापारिक, श्रमिक और कृषक दबाव गुटों का प्रमुख स्थान है। देश की राजनीतिक में इन दबाव गुटों का कार्यभाग और इनकी प्रभावशीलता का संक्षिप्त उल्लेख आगे किया जाएगा।

व्यापारिक समूह:

भारत में व्यापारिक समूहों के निर्माण का इतिहास 19वीं शताब्दी के आरम्भ से शुरू होता है। 1833 के बाद जब भारत में ईस्ट इंडिया कंपनी के व्यापारिक एकाधिकार का अंत हो गया और भारत में व्यापार करने का अवसर ब्रिटेन के व्यापारिक हितों को खुले रूप में मिल गया तो भारत में ब्रिटिश व्यापारिक समूह बड़े पैमाने पर व्यापार में लग गए। इससे भारत में व्यापारिक हितों को सुरक्षित रखने की समस्या उत्पन्न हुई और देश के बड़े व्यापारिक केन्द्रों मद्रास, बम्बई, कलकत्ता आदि में यूरोपीय चैम्बर्स का निर्माण हुआ। प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् जब भारतवासियों की रुचि औद्योगिक क्षेत्र में बढ़ी तो अनेक औद्योगिक संगठनों का निर्माण हुआ। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद भारत में औद्योगिक विकास तेजी से होने के कारण इन समुदायों की संख्या बढ़ती गई।

19वीं शताब्दी के अंतिम भाग में विभिन्न उद्योगों तथा व्यापारिक हितों का प्रतिनिधित्व करने वाले समुदायों का निर्माण क्षेत्रीय स्तर पर होना आरम्भ हुआ और कलकत्ता, मद्रास, बम्बई, मद्रास आदि बड़े शहरों में क्षेत्रीय आधार पर व्यापारिक संगठनों की स्थापना हुई। ऐसा पहला चैम्बर 1885 में दक्षिणी भारत में बना और 1887 में 'बंगाल नेशनल चैंबर ऑफ कॉमर्स' के नाम से बंगाल में व्यापारिक हितों के बढ़ावा देने के लिए और व्यापार करने वालों के हितों को सुरक्षित रखने के लिए बनाया गया जिसमें 35 व्यापारिक संस्थायें सदस्य बनी थीं। इस संगठन की सदस्यता के लिए यह भी शर्त रखी गई कि इसमें केवल वहीं कंपनियां सदस्य हो सकती थी जिसके बोर्ड ऑफ डायरेक्टर्स में कम से कम आधे डायरेक्टर्स हों और जिसमें लगी पूंजी का कम से कम आधा भाग भारतवासियों का हो। 1907 में बम्बई में इंडियन मर्चेन्ट चैम्बर और 1909 में 'दि सदर्न इंडिया चैंबर ऑफ कॉमर्स' की स्थापना हुई।

भारतीय व्यापारियों तथा उत्पादकों के कुछ संगठनों का निर्माण भाषा, धर्म तथा जातीय विभिन्नताओं के आधार पर भी हुआ। देश के विभिन्न भागों में विशेष जाति के कुछ लोगों ने अपने व्यापारिक हितों को सुरक्षित रखने के लिए 'चैम्बर्स ऑफ कॉमर्स' की स्थापना की। कुछ व्यापारिक क्षेत्रों में आरम्भ से ही मारवाड़ी, जैन तथा पारसी जाति तथा धर्म के लोगों का आधिपत्य रहा है। इन धर्मों तथा जातियों के लोगों ने जो देश के विभिन्न भागों में फैले हुए हैं, अपने अलग-अलग व्यापारिक संगठनों का निर्माण किया। उदाहरण के लिए 1887 में पश्चिमी बंगाल में 'नेशनल चैंबर ऑफ कॉमर्स' की स्थापना की गई जिसका उद्देश्य बंगाली व्यापारियों के हितों को विकसित करना था। उसी प्रकार 1900 में 'मारवाड़ी चैम्बर्स ऑफ कॉमर्स' का निर्माण किया गया जिसका लक्ष्य मारवाड़ी जाति के व्यापारिक हितों को सुरक्षित रखना था। 1932 में बंगाल ही में मुस्लिम व्यापारियों का एक संगठन 'मुस्लिम चैंबर ऑफ कॉमर्स' स्थापित किया गया। स्वतंत्रता के पश्चात् इसका नाम बदलकर 'औरिएन्टल ऑफ कॉमर्स' रख दिया गया।

एक लेखक, स्टेनली कोचनेक के अनुसार, 'भारत के व्यापारिक समूहों की कुछ अपनी विशेषताएं हैं, जिनके कारण वे अन्य देशों के दबाव गुटों से भिन्न मालूम होते हैं।' यह विशेषताएं निम्नलिखित हैं:

1. अधिकांश देशों के व्यापारिक संगठनों के विपरीत, भारत में दो समानान्तर संघीय संगठन (फेडरेशन ऑफ इंडस्ट्री) पाए जाते हैं। इन संगठनों का निर्माण दो विरोधी हितों, विदेशी पूंजी और देशी पूंजी के संरक्षक के रूप में हुआ था लेकिन वास्तव में यह अंतर अब कठोरता के साथ नहीं पाया जाता, क्योंकि बहुत से देशी व्यापारिक संगठन 'एसोसिएटेड चैंबर्स ऑफ कॉमर्स' से भी सम्बद्ध पाए जाते हैं।

2. अन्य देशों के विपरीत भारत के उपर्युक्त संघीय संगठन औद्योगिक और व्यापारिक हितों दोनों का प्रतिनिधित्व करते हैं, अर्थात् इनके सदस्य व्यापारिक समूह और औद्योगिकसंगठन, दोनों ही हैं।

FREE IAS

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

3. भारत के व्यापारिक समूहों में ब्रिटेन के व्यापारिक संघों के समान एकता नहीं पाई जाती। लगभग प्रत्येक बड़े व्यापारिक और औद्योगिक केन्द्रों में चैंबर्स की बहुतायत है और जहां

केवल एक चैंबर काफी हो सकता था वहां अनेक चैंबरों का निर्माण किया गया है।

4. अन्य देशों की तुलना में भारत में व्यापारिक संघों में तीव्र राजनीतिक अभिमुखीकरण का विकास हुआ है और वे अन्य प्रकार के कार्य के सम्पादन से कम संबंध रखते हैं। कारण

यह है कि स्वतंत्रता के पूर्व व्यापारिक संघों को केन्द्रीय विधान मण्डल में औपचारिक रूप से प्रतिनिधित्व प्राप्त था। स्वतंत्रता के बाद उसक अंत कर दिया गया जिसके बाद

संसद में व्यापारिक वर्ग का प्रतिनिधित्व कम हो गया। इस कारण व्यापारिक संघ ही एकमात्र साधन रह गए जिनके माध्यम से व्यापारिक वर्ग अपनी मांगों को व्यक्त कर सकता है। अत: भारत के व्यापारिक समूहों ने राजनीतिक पक्ष पर विशेष बल दिया है:

भारत में राष्ट्रीय स्तर पर निम्नलिखित तीन महत्वपूर्ण व्यापारिक संघों का निर्माण हुआ हैं:

(क) एसोसिएटेड चैंबर्स ऑफ कॉमर्स

(ख) फेडरेशन ऑफ इण्डियन चैंबर्स ऑफ कॉमर्स ऐंड इण्डस्ट्री (फिक्की)

(ग) ऑल इंडिया मैन्युफैक्चरर्स आर्गेनाइजेशन।

उपर्युक्त ऑल इंडिया मैन्युफैक्चरर्स आर्गेनाइजेशन मध्यम आकार के उद्योग समूहों का संगठन है जिसके अधिकांश सदस्य बम्बई की उद्योग संस्थाएं हैं। इस संघ का अपेक्षाकृत ज्यादा प्रभाव तथा राष्ट्रीय महत्व नहीं है।

असोसिएटेड चैम्बर्स ऑफ कॉमर्स:

ऐतिहासिक दृष्टि से असोसिएटेड चैम्बर्स सबसे प्राचीन व्यापारिक संघ हैं जिसकी स्थापना 1920 में हुई थी।

जैसा लिखा जा चुका है, 1833 में ईस्ट इंडिया कंपनी के व्यापारिक एकाकिधार को समाप्त होने के बाद ब्रिटिश व्यापारियों को स्वतंत्र रूप से भारत में व्यापार करने का अवसर मिला। फलस्वरूप कलकत्ता, बम्बई और मद्रास में यूरोपियन व्यापारिक समूहों का निर्माण हुआ। इन समूहों के संगठन का आधार क्षेत्रीय था। औद्योगिकरण की प्रगति के साथ औद्योगिक समूहों का निर्माण व्यापारिक समूहों से पृथक, नहीं हुआ और वही समूह व्यापारिक और औद्योगिक दोनों हितों का प्रतिनिधित्व करते थे। ऐसे संगठनों में 'कलकत्ता चैम्बर्स ऑफ कॉमर्स', बंगाल चैम्बर्स ऑफ कॉमर्स तथा 'बाम्बे चैम्बर्स ऑफ कॉमर्स' के नाम उल्लेखनीय है। 1920 में विभिन्न स्थानों पर बने इन व्यापारिक संगठनों ने एक केन्द्रीय संगठन 'एसोसिएटेड चैम्बर्स ऑफ कॉमर्स' के नाम से बनाया।

'असोसिएटेड चैम्बर्स ऑफ कॉमर्स' पर बंगाल चैम्बर का प्रभुत्व रहा, क्योंकि यह इनके घटकों में सबसे ज्यादा मालदार संगठन था और इसी के द्वारा इस संघीय संगठन के व्यय का दायित्व मिल गया। 1892 के 'कौंसिल ऐक्ट' के अधीन ब्रिटिश चैंबरों को लेजिस्लेटिव कौंसिल में पृथक प्रतिनिधित्व देने की व्यवस्था की गई। इनके प्रतिनिधियों का नामांकन वायसराय के द्वारा किया जाता था। 1919 के ऐक्ट में व्यापारिक हितों को केन्द्रीय विधानमंडलों में प्रत्यक्ष प्रतिनिधित्व देने की व्यवस्था की। व्यापारिक समूहों ने विधानमण्डल के माध्यम से अपने हितों को प्रोत्साहित करने के बजाया गवर्नर, वायसराय तथा उच्च पदाधिकारियों से व्यक्तिगत सम्बन्ध स्थापित करने पर ज्यादा जोर दिया। 1935 के ऐक्ट के अधीन यूरोपिन व्यापारिक समूहों को राष्ट्रीय तथा प्रादेशिक स्तर पर विधान मण्डल में ज्यादा प्रतिनिधित्व देने की व्यवस्था की गई और इस प्रकार उन्हें लेजिस्लेटिव कौन्सिल की ओर से ज्यादा ध्यान देने की अवसर मिला। यूरोपीय समूहों की ओर से विधान मण्डल में अपने प्रतिनिधियों को वेतन देने के हेतु एक फण्ड की स्थापना की गई।

स्वतंत्रता के बाद 'एसोसिएटेड चैम्बर्स आफ कॉमर्स' के स्वरूप में भी परिवर्तन आया और नियोजन के बाद भारत में विदेशी पूंजी के विनियोग का स्वरूप परिवर्तित हुआ। भारतवासियों के स्वामित्व की अनेक कंपनियों ने 'असोसिएटेड चैंबर्स ऑफ कॉमर्स' की इकाइयों की सदस्यता ग्रहण की और इस प्रकार देशी और विदेशी पूंजी के बीच का पृथक्करण काफी हद तक समाप्त हो गया। बहुत सी पुरानी कंपनियों का जो ब्रिटेनवासियों के स्वामित्व में थी, भारतीयकरण हुआ और उनके प्रबंध तथा पूंजी में भारतवासियों का भाग काफी बढ़ गया है। औद्योगिकरण की प्रक्रिया में तेजी आने के कारण और नियोजन के प्रादुर्भाव के फलस्वरूप भारत सरकार ने विदेशी कंपनियों के सहयोग से अनेक उद्योगों की स्थापना की और इससे भारत में विदेशी व्यापार का स्वरूप बदल गया। इन परिवर्तनों के फलस्वरूप 'असोसिएटेड चैंबर्स ऑफ कॉमर्स' की इकाइयों के संगठन में भी परिवर्तन हुआ और उस पर भारतवासियों का प्रभुत्व स्थापित हो गया। ऐसा कहा जाता है कि असोसिसएटेड चैंबर्स के संगठन का स्वरूप अधिक साधारण तथा संघीय है। कोई भी कंपनी प्रत्यक्ष रूप से इस संघीय संगठन का सदस्य नहीं बन सकती, पहले उसे क्षेत्रीय चैंबर्स की सदस्यता ग्रहण करनी होती है। इसके विपरीत फेडरेशन ऑफ इण्डियन चैंबर्स में कंपनियां प्रत्यक्ष रूप से भी सदस्य हो सकती हैं।

असोसिएटेड चैंबर्स 'शांत कूटनीति' का पोषक है और वह अपनी कठिनाइयों को दूर करने के लिए स्थायी कर्मचारियों तथा मंत्रियों को प्रभावित करने का प्रयत्न करता है। यह संघ प्रचार पर विश्वास नहीं करता और संसद में यह लाबीइंग करने को भी पसंद में नहीं करता है। यह सरकार के समक्ष विभिन्न विषयों जैसे कर, बजट-नीतियों, महत्वपूर्ण विधायिनी प्रस्ताव आदि के संबंध में अपना अलग विचार रखता है और निर्यात को प्रोत्साहित करने, आयात नीति और उद्योगों को लाइसेन्स देने की नीति तथा प्रक्रिया

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

आदि के सम्बन्ध में अपने सुझाव सरकार को देता है। इस संगठन का अधिक भारतीयकरण हो रहा है। देशी और विदेशी पूंजी के बीच ऐतिहासिक विभाजन का अंत हो रहा है।

1986 में 'फेडरेशन ऑफ इंडिया चैंबर्स ऑफ कॉमर्स एण्ड इंडस्ट्री' में विभाजन होने के बाद 'असोसिएटेड चैंबर्स ऑफ कॉमर्स' एक सशक्त संगठन के रूप में विकसित हुआ। 17 अगस्त 1987 को 'इंडियन मर्चेन्ट्स चैंबर्स' तथा 'फिक्की' से अलग हुए व्यापारिक गुट ने औपचारिक रूप से 'असोचैम' की सदस्याता ग्रहण कर ली। इसी के तुरंत बाद एसोचैम के संविधान को परिवर्तित किया गया। नए प्रावधानों के अनुसार असोचैम के सदस्य को फिक्की का भी सदस्य बनने पर कोई रोक नहीं होगी। असोचैम के भावी अध्यक्ष एल.एम. थापर ने संवाददाताओं को बताया कि 'फिक्की' को एक प्रतिद्वंन्द्वी (राइवल) संगठन समझना गलत होगा, क्योंकि यह दोनों ही शिखर संस्थाएं औद्योगिक और व्यापारिक हितों का प्रतिनिधित्व करती है। उन्होंने यह सम्भावना व्यक्त की कि भविष्य में इन दोनों उच्च संगठनों के विलयन से देश के उद्योग और व्यापार का एक उच्चतम संगठन अस्तित्व में आ सकता है।

संशोधित प्रावधानों के अनुसार 'असोचैम' में तीन प्रकार के सदस्य हैं - 6 प्रोमोटर चैम्बर्स, 15 संरक्षक सदस्य (पैट्रन मेम्बर्स) तथा साधारण सदस्य।

'असोचैम के संरक्षक सदस्यों में टाटा, महेन्द्रा, हिन्दुस्तान लीवर, मफतलाल, राहुल बजाज, आई.टी.सी., मैकनेल एवं मैगर तथा डालमिया एवं जैन के नाम उल्लेखनीय हैं।

'असोचैम' और 'फिक्की' दोनों ही संगठनों का मूल उद्देश्य आर्थिक विकास में व्यक्तिगत क्षेत्र (प्राइवेट सेक्टर) की भूमिका को सरकार द्वारा मान्यता दिलाना है असोचैम व्यक्तिगत क्षेत्र में सरकार द्वारा उदारतापूर्ण नीति अपनाए जाने की अपेक्षा करता है।

फेडरेशन ऑफ इण्डियन चैम्बर्स ऑफ कॉमर्स एण्ड इण्डस्ट्री (फिक्की):

यह फेडरेशन भारत का सबसे बड़ा और प्रभावशाली व्यापरिक संघ रहा है। इसकी स्थापना 1927 मं जी.डी. बिरला द्वारा की गई थी और पिछले चार दशकों में लगभग 200 से अधिक व्यापारिक और औद्योगिक संघ तथा 400 से अधिक व्यक्तिगत कंपनियां इसकी सदस्य हो गई हैं। इन इकाइयों के माध्यम से फेडरेशन लगभग एक लाख व्यापारिक कंपनियों का प्रतिनिधित्व करता है। असोसिएटेड चैंबर्स के विपरीत फेडरेशन शुद्ध रूप से भारतीय व्यापारिक समूहों का उच्चतम संगठन है। आर्थिक दृष्टि से भी फेडरेशन की स्थिति काफी दृढ़ है।

गत 40 वर्षों में फेडरेशन की वार्षिक सभा को अधिकांशतः प्रधानमंत्री द्वारा संबोधित किया जाता रहा है। फेडरेशन का एक सचिवालय है, जो विभिन्न मंत्रियों और प्रशासकीय पदाधिकारियों से निरंतर संबंध स्थापित करता है और उन्हें विभिन्न विषयों पर अपने विचारों से अवगत कराता है। इन साधनों के अतिरिक्त फेडरेशन द्वारा समय-समय पर विभिन्न व्यापारिक समस्याओं के संबंध में विचार-गोष्ठियों का आयोजन किया जाता है। संघ ने लाबीइंग की पद्धति को गौण साधन के रूप में अपनाया है जिसका कारण यह है कि संसद में व्यापारिक प्रतिनिधित्व का अंत किये जाने और किसी व्यापारिक दल के अभाव में लाबीइंग की पद्धति के अधिक प्रभावकारी होने की ज्यादा आशा नहीं की जा सकती।

फिक्की में फूटः

1983 के बाद शक्ति की होड़ ने बड़े उद्योगपतियों के गुटों के बीच संघर्ष उत्पन्न कर दिया। उद्योगपति क्षेत्रीय आधार पर दो प्रमुख गुटो में विभाजित हो गये, एक ओर मोदी और बिड़ला और दूसरी ओर सिंघानिया तथा जैन थे। बिड़ला और मोदी घरानों ने फिक्की को अपनी 'जेबी संस्था' बना लिया, जिसे दूसरे व्यापरिक घराने सहन नहीं कर सकते थे। फिक्की पर अपना अधिपत्य जमाने के लिए मोदी ग्रुप ने इस संगठन में बोगस सदस्य बड़ी संख्या में बनाए। 1982 में फिक्की की सदस्य संख्या 850 थी, 1983 में यह संख्या 1448 तक पहुंच गयी जिसमें वाराणसी का आटा चक्की व्यवसाय संघ, अमृतसर टेलर्स एसोसिएशन हापुड़-गुड़-गट्टा व्यापार संघ, कबाड़ी बाजार एसोसिएशन मेरठ, श्री हलवाई समिति जयपुर, टूरिस्ट टैक्सी आपरेटर यूनियन जैसी साधारण संस्थाएं भी सम्मिलित थीं। यह स्पष्ट है कि इन साधारण प्रकार के व्यापारियों को फिक्की का सदस्य बनाने से न कोई लाभ था न हानि, किन्तु केवल मतों की गिनती बढ़ाने के लिए मोदी ग्रुप ने इन्हें फिक्की का सदस्य बनाया था।

फिक्की की कार्यकारणी अपना प्रभुत्व जामाने के पीछे दो प्रमुख उद्देश्य थे। प्रथम, यह कि फिक्की के माध्यम से उद्योगपति, प्रधानमंत्री, मंत्रियों, सचिवों तथा अन्य उच्च अधिकारियों के निकट संपर्क में आ सकते हैं और विभिन्न प्रकार के लाभ तथा सुविधाएं प्राप्त कर सकते हैं। द्वितीय, लगभग साठ ऐसी सरकारी समितियों हैं जिन पर फिक्की की कार्यकारणी अपने प्रतिनिधियों को मनोनीत करता है, उदाहरण के लिए एक्सपोर्ट प्रमोशन कौंसिल, कस्टम व सेन्ट्रल एक्साइज परामर्शदात्री समिति, डायरेक्ट टैक्सेज परामर्शदात्री इत्यादि। फिक्की की आंतरिक गुटबंदी के फलस्वरूप 1986 में 15 प्रभावशाली सदस्यों ने इससे त्यागपत्र दे दिया जिसका नेतृत्व इंडियन मर्चेन्ट्स चैंबर द्वारा किया गया। फिक्की में उभरते विवाद के कारण यह संस्था स्वाभाविक रूप से कमजोर हुई है।

व्यापारिक समूहों के लक्ष्यः

स्वतंत्रता से पूर्व भारत के व्यापारिक समूहों का प्रभाव यद्यपि ब्रिटिश सरकार पर अधिक न था, किन्तु यह दबाव गुट सरकार से कुछ आवश्यक सुविधाएं प्राप्त करने के अधिक ऋणों की सुविधाएं, करों में कमी किया जाना, संक्षेप में ऐसी परिस्थितियों का निर्माण करना शामिल था, जिससे भारतीय उद्योगों के विकसित होने में सहायता मिल सके। भारतीय व्यापारिक संगठनों ने विभिन्न सरकारी संस्थाओं में प्रतिनिधित्व किए जाने की भी मांग की।

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

यद्यपि ब्रिटिश सरकार ने इन संघों को मान्यता दी और कुछ मामलों में इनके सुझावों को भी स्वीकार किया, फिर भी व्यापारिक संघ अंसतुष्ट रहे। स्वतंत्रता आंदोलन के आरंभ के साथ ही ये व्यापरिक संघ कांग्रेस दल के साथ हो गए और उन्होंने ब्रिटिश सरकार के विरूद्ध गांधी जी की नीतियों का पूर्ण समर्थन किया। कांग्रेस द्वारा चलाए वाले स्वदेशी आंदोलन से व्यापारिक वर्गो को और अधिक प्रोत्साहन मिला। उन्हें यह आशा थी कि ब्रिटिश सरकार का अंत होने और स्वतंत्रता मिलने के पश्चात् उनके हितों को ज्यादा संरक्षण मिल सकेगा, व्यापारिक संघों ने राष्ट्रीय आंदोलन में कांग्रेस का साथ दिया।

स्वतंत्रता के पश्चात् राजनीतिक सत्ता कांग्रेस दल के हाथ आई। कांग्रेस ने दशे में समाजवादी ढंग के समाज' की स्थापना की घोषणा की। यह नीति काफी हद तक व्यापारिक वर्गो के हित में न थी, लेकिन व्यापरिक वर्गो ने यह भी महसूस किया कि कांग्रेस के अतिरिक्त कोई अन्य ऐसी संस्था नहीं है जिसमें वह शरण ले सकें। इसलिए परिस्थितियों का विश्लेषण करने के पश्चात् व्यापारिक वर्ग इस परिणाम पर पहुंचा कि उसे कांग्रेस का स्पष्ट रूप से विरोध न करना चाहिए। व्यापारिक वर्ग में ने आरंभ से ही एक यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाया और कांग्रेस की आर्थिक नीति के मौलिक सिद्धांतों का विरोध न करके नियोजन का समर्थन किया। व्यापारिक संघों ने पहली पंचवर्षीय योजना का स्वागत किया, लेकिन कुछ अन्य आधारों पर उसकी आलोचना की, जैसे व्यक्तिगत क्षेत्र के विकास के लिए समुचित सुविधाओं का अभाव, करों में वृद्धि, सहकारी खेती की नीति का अपनाया जाना, विदेशी सहायता पर अधिक निर्भरता, संकेतात्मक नियोजन के बजया सम्पूर्ण विस्तृत को अपनाना इत्यादि।

संक्षेप में भारत के व्यापारिक वर्ग का नियोजन के प्रति दृष्टिकोण शत्रुतापूर्ण नहीं रहा है और कभी भी इन समूहों ने सार्वजनिक क्षेत्र का पूर्णतया अंत करने की मांग नहीं की। इसलिए वीनर का कहना है कि भारत में व्यापारिक वर्ग का दृष्टिकोण अत्यधिक यथार्थवादी रहा है और व्यापारिक परिस्थितियों को दृष्टि में रखते हुए उनका यह विचार रहा है कि उनके हितों का संरक्षण कांग्रेस के अतिरिक्त किसी अन्य दल में नहीं हो सकता।

व्यापारिक समूह के दबाव साधन:

व्यापारिक समूह अपने हितों को प्रोत्साहित तथा सुरक्षित रखने के लिए निम्नांकित साधनों को मुख्य रूप से अपनाते रहे हैं:

1. राजनीतिक दलों में संबद्धता:

साधारणतया दबाव गुट सरकार पर प्रभाव डालने के लिए विरोधी राजनीतिक दलों की सहायता लेते हैं लेकिन भारत में विरोधी दलों के अत्यधिक शक्तिहीन होने के कारण दबाव गुटों ने यह महसूस किया कि विपक्षी राजनीतिक दलों के समर्थन से उन्हें कोई विशेष लाभ नहीं मिल सकता। विशेषकर व्यापारिक समूहों ने केवल इस डर से कि कोई भी विरोधी दल सत्ता में आने की स्थिति में नहीं है, कांग्रेस दल का समर्थन किया, यद्यपि कांग्रेस के सिद्धांत उनके हितों के ज्यादा अनुकूल न थे। व्यापारिक समूह कांग्रेस का समर्थन प्राप्त करने के लिए कांग्रेस दल को करोड़ों रुपये वार्षिक चंदा देते रहे। कांग्रेस के अतिरिक्त कुछ अन्य राजनीतिक दलों को भी व्यापारिक समूह समय-समय पर आर्थिक सहायता देते रहे हैं और इस प्रकार उन्होंने इस बात का प्रयत्न किया है कि सत्तारूढ़ दल तथा विरोधी दल दोनों ही का समर्थन उन्हें प्राप्त रहे।

2. संसद से संपर्क:

स्वतंत्रता से पूर्व व्यापारिक समूह मुख्य रूप से दो तरीकों से सरकार पर प्रभाव डालते थे। सरकारी तथा अध र्-सरकारी परामर्शदात्री संस्थाओं, आयोगों तथा अन्य संस्थाओं में इन दबाव गुटों को प्रतिनिधित्व दिया जाता था और इस प्रकार दबाव गुटों को अपना दृष्टिकोण सरकार तक पहुंचाने में मदद मिलती थी। इसके अतिरिक्त विधानमण्डलों में बड़े व्यापारिक समूहों को व्यावसायिक आधार पर प्रतिनिधित्व दिया जाता था। अत: दबाव गुटों को इस बात का अवसर प्राप्त था कि वह विधानमण्डल के समक्ष अपने विचारों को प्रत्यक्ष रूप से प्रस्तुत कर सकें। स्वतंत्रता के पश्चात् विधानमण्डलों में व्यापारिक समूहों के प्रतिनिधित्व को औपचारिक रूप से समाप्त कर दिया गया। फिर भी व्यापारिक वर्ग के अनेक महत्वपूर्ण सदस्यों ने स्वतंत्र पार्टी तथा अन्य दालों के टिकट पर अथवा निर्दलीय प्रत्याशी के रूप में चुनाव लड़ा और उनमें से कुछ को सफलता भी मिली। उदाहरण के लिए बाबू भाई चिनाई, जी.एल. बंसल. जी.डी. सोमानी. मीनू मसानी, पीलू मोदी, आदि संसद के सदस्य रहे हैं, उन्होंने व्यापारिक वर्ग का प्रतिनिधित्व किया है।

पश्चिमी देशों विशेषकर अमेरिका में दबाव गुट सरकार पर प्रभाव डालने के लिए जिस प्रणाली का सबसे अधिक प्रयोग करते हैं, वह 'लाबीइंग' की पद्धति कहलाती है। भारतीय संसद में 'लाबीइंग' की पद्धति अलोकप्रिय तथा अप्रभावी रही है। एक लेखक कोचेनेक के अनुसार भारत में व्यापारिक समूहों के द्वारा की जाने वाली 'लाबीइंग' को संसदीय संपर्क कहना ज्यादा उचित होगा।

3. मंत्रियों तथा स्थायी कर्मचारियों से व्यक्तिगत संपर्क:

भारत में व्यापारिक वर्ग अपनी मांगों को मनवाने के लिए जिस पद्धति का सबसे अधिक प्रयोग करते हैं, वह मंत्रियों, संसद-सदस्यों तथा स्थायी कर्मचारियों से व्यक्तिगत संपर्क स्थापित करना तथा उनसे पत्र व्यवहार के द्वारा अपनी मांगों को सरकार तक पहुंचाना है। व्यापारिक संगठनों के प्रतिनिधि मण्डल प्रधानमंत्री तथा अन्य मंत्रियों आदि से मिलते रहते है और उनके समक्ष अपनी समस्याओं को रखते हैं। फेडरेशन के वार्षिक अधिवेशन का उद्घाटन प्राय: प्रधानमंत्री के द्वारा संपादित होता है। ऐसे अवसरों पर व्यापारिक समूह अपनी कठिनाइयों और मांगों को मंत्रिमंडल के सदस्यों आदि के समक्ष रखते हैं। बहुत से समूह उच्च सरकारी

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

पदाधिकारियों को अपनी वार्षिक बैठक में आमंत्रित करते हैं। ब्रिटिश काल में संघ ने अपनी वार्षिक बैठकों में वायसराय को आमंत्रित करते हैं। ब्रिटिश काल में संघ ने अपनी वार्षिक बैठकों में वायसराय को आमंत्रित किया और इस बात का प्रयत्न किया कि उच्च अधिकारियों से संपर्क बनाए रखा जाए। सरकार की ओर से भी प्राय: विभिन्न विषयों पर व्यापारिक समूहों के मत आमंत्रित किए जाते हैं और इनके प्रतिनिधियों को बहुत से आयोगों, निगमों तथा अन्य परामर्शदात्री संस्थाओं में सम्मिलित किया जाता है।

संसद सदस्यों तथा प्रशासकी पदाधिकारियों से मैत्रीपूर्ण संबंध स्थापित करके व्यापारिक समूह अधिक से अधिक सुविधाएं प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं। इस मैत्री का आधार कभी-कभी जातीयता होता है और कभी विभिन्न प्रकार की भेंट देकर प्रशासकीय कर्मचारियों को अनुगृहीत किया जाता है। कुछ व्यापारिक संगठन विधायकों, मंत्रियों तथा उच्च प्रशासकीय पदाधिकारियों के लड़कों को अपने यहां उच्च पदों पर नियुक्त करके उनका समर्थन प्राप्त करते हैं। इसमें संदेह नहीं कि यह उच्च प्रशासकीय पदाधिकारी व्यापारिक समूहों की समस्याओं को हल करने में बड़ी हद तक सहायता होते हैं।

4. प्रेस:

व्याापरिक वर्ग की मांगों को सरकार तक पहुंचाने में प्रेस का कार्यभाग काफी महत्वपूर्ण रहा है। देश के अधि कांश महत्वपूर्ण समाचार पत्र बड़े पूंजीपतियों द्वारा चलाये जा रहे हैं। जैसे 'टाईम्स ऑफ इंडिया' इकोनॉमिक्स टाईम्स' - डालमिया जैन द्वारा, 'हिन्दुस्तान टाईम्स', और 'ईस्टर्न इकोनॉमिस्ट', बिड़ला द्वारा, 'स्टेट्समैन ऑफ कॉमर्स', टाटा और मफतलाला द्वारा, 'इंडियन एक्सप्रेस' और फाइनेंशियल एक्सप्रेस, गोइनका द्वारा चलाये जा रहे हैं। इन समाचार पत्रों तथा मासिक पत्रिकाओं के माध्यम से व्यापारिक संघ सरकार के निर्णय तथा समस्याओं पर प्रकाश डालते हैं और जनमत को अपने पक्ष में करने का प्रयत्न करते हैं। कुछ बड़े व्यापारिक संघों में अनुसंधानशालाओं की स्थापना की गई है जिसमें इस बात पर शोध किया जाता है कि व्यापारिक हितों को किस तरह से बढ़ावा दिया जा सकता है, सरकार द्वारा प्रस्तावित आर्थिक नीतियों में क्या दोष है, उन्हें किसी प्रकार व्यापारिक वर्गों के हितों के अनुकूल बनाया जा सकता है तथा सरकार से किन नई सुविध ाओं की मांग की जाए, जिससे व्यापारिक वर्गों का अपेक्षित विकास हो सके।

व्यापारिक समूहों का प्रभाव: एक समीक्षा:

गत वर्षों में व्यापारिक समूहों के निष्पादन को देखकर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भारतीय व्यापारिक समूह सरकार की मौलिक नीतियों में परिवर्तन कराने की पर्याप्त क्षमता नहीं रखते। इन समूहों ने आरम्भ से ही सरकार की आर्थिक नीतियों का समर्थन किया और व्यापारिक वर्ग के बहुमत ने सदैव एक यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाते हुए यह स्वीकार किया है कि कांग्रेस के अतिरिक्त किसी अन्य राजनीतिक दल से सम्बद्ध होने से कोई विशेष लाभ नहीं पहुंच सकता है।

यहां यह बात उल्लेखनीय है कि कांग्रेस की समाजवादी नीतियां सैद्धांतिक रूप से व्यापारिक समूहों के हितों के अधिक अनुकूल नहीं थीं, जबकि स्वतंत्र पार्टी तथा जनसंघ की आर्थिक नीतियों सैद्धांतिक रूप से व्यापारिक समूहों के हितों के अधिक अनुकूल थीं। लेकिन कांग्रेस दल की आर्थिक नीतियों से टकराव होने के बाद भी व्यापारिक समूहों का बहुमत कांग्रेस के साथ रहा और विरोधी दलों को उन्होंने कोई विशेष समर्थन नहीं दिया। व्यापारिक संघों ने यह महसूस किया कि सरकार के सहयोग के बिना देश का आर्थिक विकास तथा उत्पादन कार्य केवल व्यक्तिगत क्षेत्र के द्वारा नहीं किया जा सकता, इसलिए व्यापारिक समूहों में नियोजन कार्य पूर्ण सहयोग दिया। भारतीय व्यापारिक समूहों की प्रभावशीलता पर प्रकाश डालते हुए ब्रनार्ड ब्राउन ने लिखा है कि व्यापारिक संगठनों का संसद तथा मंत्रिमंडल द्वारा नीति निर्माण के कार्य पर बहुत ही कम प्रभाव पड़ता है और यदि सरकार किसी मामले में दृढ़ हो जाती है, तो व्यापारिक संगठन उसकी उस कार्य को करने से रोक नहीं सकते हैं।

वीनर का विचार है कि व्यापारिक समूह कांग्रेस द्वारा समाजवादी नीतियों के अपनाए जाने की घोषणा के पश्चात् भी उसका समर्थन इस कारण करते रहे हैं, क्योंकि कांग्रेस की समाजवादी नीतियां उस सीमा तक कार्यान्वित नहीं की गई हैं जिस रूप में वह कागज पर दिखाई देती हैं। ऐसा भी देखा गया है कि प्रशासन को अपने पक्ष में करके दबाव गुट ऐसे ढंग से नियमों तथा उप-नियमों का निर्माण कराने में सफल होते हैं, जिससे एक अधि नियम का स्वरूप ही बदल जाता है। संसद द्वारा जो कानून पारित होता है उसको व्यावहारिक रूप देने के लिए आवश्यक नियमों तथा उपनियमों का निर्माण संबंधित विभागों द्वारा किया जाता है, इसे प्रतिनिहित विधायन कहा जाता है।

व्यापारिक समूह उन विभागीय पदाधिकारियों से जिनके द्वारा नियमों का निर्माण किया जाता है, संपर्क स्थापित करके और उन्हें विभिन्न तरीकों से अनुगृहीत करे इस बात का प्रयत्न करते हैं कि नियमों तथा उपनियमों का निर्माण इस प्रकार किया जाए, जिससे व्यापारिक समूहों के हितों को कम से कम हानि पहुंचे वीनर ने इस स्थिति पर प्रकाश डालते हुए यह लिखा है कि 'यद्यपि करो की दर ऊंची हैं लेकिन करों का भुगतान नहीं किया जाता, आयात पर कठोर प्रतिबंध है लेकिन उनका पालन नहीं होता, सार्वजनिक क्षेत्र विस्तृत होता है लेकिन व्यक्तिगत व्यापारियों को ठेके मिलते हैं और वे भारी लाभ उठाते हैं, किसी व्यापार को आरम्भ करने या एक बस अथवा टैक्सी चलाने के लिए लाइसेंस आवश्यक होता है लेकिन स्थानीय कांग्रेस दल और स्थानीय प्रशासन की सहायता से स्थानीय व्यापारी उन्हें खरीद सकते हैं.। वीनर के इस कथन का अर्थ यह है कि भारत में जो आर्थिक नीतियां बनती हैं, उसका कार्यान्वयन ठीक ढंग से नहीं होता। यही कारण है कि समाजवाद लाने का आदर्श पूरा नहीं हो सकता है।

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

श्रमिक संगठन:

भारतीय राजनीति में दूसरा महत्वपूर्ण दबाव गुट श्रमिकों का है। यद्यपि प्रथम विश्वयुद्ध के पहले कुछ ट्रेड यूनियनों का निर्माण हो चुका था लेकिन भारत में श्रमिक आंदोलन व्यवस्थित रूप से 1918 से आरम्भ हुआ जब केवल एक ही वर्ष में 7 यूनियनों का संगठन किया गया। 1920 में गांधी जी के राजनीति में प्रवेश करने के बाद श्रमिक आंदोलन तेजी से आगे बढ़ा, क्योंकि गांधीजी ने श्रमिकों को संगठित करके उन्हें राष्ट्रीय आंदोलन में सक्रिय रूप से भाग लेने के लिए प्रेरित किया। 31 अक्टूबर 1920 को राष्ट्रीय स्तर पर एक श्रमिक संगठन 'ऑल इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस' के नाम से स्थापित हुआ।

यह विभिन्न यूनियनों का एक संघ था। 'आल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस' का निर्माण कांग्रेस दल के नेताओं के प्रयत्नों के फलस्वरूप हुआ और इसके प्रथम अध्यक्ष कांग्रेस पार्टी के तत्कालीन अध्यक्ष लाला लाजपत राय निर्वाचित हुए। द्वितीय विश्वयुद्ध के बीच जब अधिकांश कांग्रेस नेता जेल में थे तो साम्यवादी दल के नेताओं को अपनी शक्ति को बढ़ाने का अवसर मिला और उन्होनें आल इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस पर अपना अधिकार जमा लिया। इस श्रमिक संगठन के साम्यवादी दल के नियंत्रण में चले साथ मिलकर उपरोक्त संगठन के माध्यम से श्रमिकों के कल्याण के लिए कार्य नहीं कर सकते। अत: 1947 में कांग्रेस के नेताओं ने एक अन्य श्रमिक संघ 'इंडियन नेशनल ट्रेड यूनियन कांग्रेस' की स्थापना की।

इस प्रकार श्रमिक संगठनों का निर्माण दलीय आधार पर होना प्रारंभ हुआ। स्वतंत्रता के पूर्व श्रमिकों को संगठित करने का मुख्य उद्देश्य, राष्ट्रीय आंदोलन में उनका सहयोग प्राप्त करना था। यह एक ऐसा उद्देश्य था जिस पर सभी राजनीतिक दल एक मत थे। स्वतंत्रता के पश्चात् जब देश में जनतांत्रिय शासन व्यवस्था की स्थापना की गई और वयस्क मताधिकार के सिद्धांत को मान्यता दी गयी तो सभी राजनीतिक दलों का मूल उद्देश्य जनमत को अपने पक्ष में करके राजनीतिक सत्ता को प्राप्त करना हो गया। इसलिए सभी राजनीतिक दलों ने विभिन्न समूहों पर अपना नियंत्रण स्थापित करने का प्रयत्न किया और श्रमिक संगठन भी दलीय राजनीति का शिकार बन गए।

प्रत्येक राजनीतिक दल ने विभिन्न श्रमिक संगठनों पर अपना नियंत्रण स्थापित करके उन्हें अपने राजनीतिक स्वार्थों की पूर्ति के लिए प्रयोग करना शुरू कर दिया। फलस्वरूप श्रमिक संगठन राजनीतिक दलों के हाथों में उपकरण मात्र बन गए। 1948 में समाजवादी दलों ने एक नए श्रमिक संगठन 'हिन्द मजदूर सभा' की स्थापना की और 1950 में 'यूनाइटेड ट्रेड यूनियन कांग्रेस' का निर्माण साम्यवादी वामपक्षी दल द्वारा किया गया। इस प्रकार स्वतंत्रता मिलने के दो वर्षों के अंदर भारत में राष्ट्रीय स्तर के तीन श्रमिक संघों का निर्माण हुआ। इस समय 'ऑल इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस' तथा यूनाइटेड ट्रेड यूनियन कांग्रेस' साम्यवादी दलों के नियंत्रण में हैं। 'हिन्द मजदूर सभा' पर समाजवादी दलों का नियंत्रण है और 'इंडियन नेशनल ट्रेड यूनियन कांग्रेस' पर कांग्रेस दल का स्वामित्व है। इन चारों संघों में इंडियन नेशनल ट्रेड यूनियन कांग्रेस सबसे बड़ा श्रमिक संगठन है जिसकी सदस्य संख्या अन्य सभी संघों से बहुत ज्यादा है। उपलब्ध आंकड़ों के अनुसार राष्ट्रीय स्तर पर मान्यता प्राप्त श्रमिक संघों की सदस्य-संख्या तथा उनसे सम्बद्ध इकाई यूनियनों की संख्या निम्नलिखित है:

	श्रमिक संघ	संबद्ध यूनियनों की संख्या	कुल सदस्य संख्या
1.	इंडियन नेशनल ट्रेड यूनियन कांग्रेस	1604	22,36,128
2.	भारतीय मजदूर संघ	1333	12,11,345
3.	हिंद मजदूर सभा	426	7,62,882
4.	यूनाइटेड ट्रेड यूनियन कांग्रेस	134	6,21,359
5.	ऑल इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस	1080	3,44,746
6.	सेंटर ऑफ इंडियन ट्रेड यूनियन्स	1474	3,31,031
7.	नेशनल लेबर आर्गनाइजेशन	172	2,46,450
8.	यूनाईटेड ट्रेड यूनियन कांग्रेस	175	1,65,614
9.	ट्रेड यूनियन कोआर्डीनेशन सेंटर	65	1,23,048
10.	नेशनल फ्रंट ऑफ इंडियन ट्रेड यूनियन्स	80	84,123

FREE IAS

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

उपर्युक्त तालिका से यह स्पष्ट हो जाता है कि संबद्ध इकाइयों की संख्या तथा कुल सदस्यों की संख्या, दोनों की दृष्टि से इंडियन नेशनल ट्रेड यूनियन कांग्रेस सबसे बड़ा संघ है। श्रमिकों का बहुमत कांग्रेस के साथ है, क्योंकि इंडियन नेशनल ट्रेड यूनियन कांग्रेस, कांग्रेस दल से संबंधित संस्था है।

श्रमिक संघ के उद्देश्य :

आरम्भ में श्रमिक संगठनों की मांगें मुख्य रूप से आर्थिक विषयों तक सीमित थीं और उन्हें राजनीति से कोई विशेष सम्बंध न था। स्वतंत्रता से पहले, श्रमिकों के साथ अच्छा व्यवहार करने और निरीक्षणों (सुपरवाइजरी आफिसर्स) द्वारा उनके साथ दुर्व्यवहार को रोकने की मांग की जाती थी। ये निरीक्षण अधिकारी अंग्रेज हुआ करते थे और उनका व्यवहार भारतीय श्रमिकों के साथ अच्छा न था। धीरे-धीरे श्रमिक संगठनों की मांगें राजनीतिक मांगों में परिवर्तन हाने लगीं, क्योंकि आर्थिक और राजनीतिक समस्याओं के बीच पूर्ण पृथक्करण करना सम्भव न था। 1919 में मांटेग्यू चेम्सफोर्ड सुधार योजना के तैयार होने के समय अनेक राजनीतिक समस्याएं, उदाहरणार्थ वयस्क मताधिकार, विधान मण्डलों में श्रमिकों का प्रतिनिधित्व, केन्द्र तथा प्रांतों के बीच शक्तियों का वितरण जैसी समस्याएं चिारधीन थीं।

श्रमिक संगठनों ने उदन समस्याओं पर अपने विचार-स्वतंत्रतापूर्वक व्यक्त किए। आल इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस ने वयस्क मताधिकार की मांग की और यह भी कहा कि जब तक इस सिद्धांत को कार्यान्वित नहीं किया जाता, उस समय तक के लिए केन्द्रीय तथा प्रांतीय विधानमंडलों में श्रमिकों को विशेष प्रतिनिधित्व दिया जाना चाहिए। आल इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस ने अनिवार्य तथा नि:शुल्क शिक्षा सुविधा देने और श्रमिकों को व्यावसायिक प्रशिक्षण दिए जाने की मांग की श्रमिक संगठनों ने ऐसे राजनीतिक सुधारों की मांग की जिससे देश की स्वशासन की दिशा में ले जाया जा सके।

अन्य देशों की तरह भारत में भी श्रमिक संघों की स्थापना का उद्देश्य श्रमिकों की स्थिति में सुधार लाना तथा उनके हितों को अधिकतम संरक्षण प्रदान करना है। इन उद्देश्यों की पूर्ति हेतु श्रमिक संगठन अधिक मजदूरी देने, कार्य के समय को निश्चित करने, कार्य करने की परिस्थितियों में सुधार लाने, छंटनी के विरूद्ध संरक्षण प्राप्त करने आदि के लिए क्रियाशील रहते हैं और उस समय-समय पर सरकार पर इस आशय से दबाव डालते हैं कि वह श्रमिकों को उनके शोषण के विरूद्ध संरक्षण प्रदान करके उन्हें अपने समुचित विकास का अवसर प्रदान करें। उपरोक्त चारों श्रमिक संगठनों के उद्देश्य लगभग एक समान हैं। वह सभी एक ऐसी समाजवादी व्यवस्था स्थापित करना चाहते हैं, जिसमें श्रमिकों का शोषण न हो, उन्हें अपने कार्य के अनुपात में मजदूरी मिल सके, उत्पत्ति के साधनों का राष्ट्रीयकरण हो, मजदूरों को वास्तविक रूप से नागरिक स्थान प्राप्त हो। इन उद्देश्यों को पूरा करने के लिए चारों श्रमिक संघ भिन्न-भिन्न साधनों को अपनाने के पक्ष में हैं।

श्रमिक संघों के दाबव-साधन:

इंडियन नेशनल ट्रेड यूनियन कांग्रेस सांविधानिक साधनों द्वारा श्रमिकों की स्थिति में सुधार लाना चाहती है। इन साधनों में विधायन, शिक्षा, प्रचार, पारस्परिक वार्ता आदि उल्लेखनीय हैं। हिन्द मजदूर सभा अर्थात् समाजवादी दल भी श्रमिक समस्याओं को यथासंभव सांविधानिक ढंगों से हल करना चाहता है और हड़ताल आदि को अंतिम साधन के रूप में अपनाने के पक्ष में हैं। इन दोनों के विपरीत आल इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस तथा यूनाइटेड ट्रेड यूनियन कांग्रेस बल का प्रयोग करने के पक्ष में हैं। चूंकि इन श्रमिक संगठनों पर साम्यवादी दलों का नियंत्रण है, इसलिए इनका कहना है कि पूंजीवादी व्यवस्था का अंत तथा श्रमिकों के शोषण को खत्म करने का एक मात्र उपाय क्रांति है।

ये दोनों संगठन श्रमिकों की समस्याओं को हल करने तथा उनके हितों को सुरक्षित रखने के लिए हिंसात्मक ढंगों को अपनाने में भी कोई संकोच नहीं करते। उनके अनुसार अधिक से अधिक बल का प्रयोग करके श्रमिकों के हितों को प्रोत्साहित किया जा सकता है। इस स्थिति को दृष्टि में रखते हुए वीनर का मत है कि भारत में श्रमिक संगठनों के बीच एक तनाव की स्थिति है। यह तनाव श्रमिक संगठनों का पारस्परिक तनाव नहीं है, बल्कि इस तनाव के पीछे उन राजनीतिक दलों के सिद्धांतों के बीच पाया जाने वाला टकराव मौजूद हैं जो उन श्रमिक संगठनों को संचालित करते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि कांग्रेस दल इंडियन नेशनल ट्रेड यूनियन कांग्रेस को एक उत्तरदायी यूनियन के रूप में विकसित करना चाहता है। दूसरी ओर समाजवादी दल हिंद मजदूर सभा को जनतंत्रीय ढांचे में रखते हुए आंदोलनात्मक ढंग का समर्थन करता है। इन दोनों के विपरीत साम्यवादी दल श्रमिक संगठनों को क्रांतिकारी तथा हिंसात्मक ढंगों से राजनीतिक सत्ता दिलाने के लिए प्रयत्नशील है। तीनों राजनीतिक दलों के आदर्शों तथा कार्यपद्धति में अंतर होने के कारण उन श्रमिक संगठनों के बीच भी तनाव होना स्वाभाविक है जो इन अलग-अलग राजनीतिक दलों के नियंत्रण में हैं।

श्रमिक संघों की विशेषताएं:

भारत में श्रमिक संगठनों की कुछ विशेषताएं हैं, जो उन्हें पश्चिमी देशों की ट्रेड यूनियनों से कुछ भिन्न हैं:

1. भारतीय श्रमिक संगठन सुसंगठित हैं जिसके कारण सरकार पर उनका दबाव पूरी तरह नहीं पड़ता। अनेक ट्रेड यूनियनें किसी भी संघीय ट्रेड यूनियन से संबद्ध न होकर स्वतंत्र रूप से कार्य करती है। जिसके कारण विभिन्न ट्रेड यूनियनों के बीच सामंजस्व का अभाव है।

2. भारतीय श्रमिक संगठन राजनीतिक दलों के नियंत्रण में कार्य करते हैं। राजनीतिक दल श्रमिक संगठनों को अपने दलीय हितों के लिए इस्तेमाल करते हैं। परिणाम यह हैं कि विभिन्न राजनीतिक दल श्रमिकों के हितों की अपेक्षा दल के हितों को अधिक महत्व देते हैं जिससे श्रमिकों की स्थिति में अपेक्षाकृत

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

सुधार नहीं हो सकता है।

3. श्रमिक संगठनों के विभिन्न राजनीतिक दलों से संबद्ध होने के कारण उनके बीच पारस्परिक मतभेद और प्रतिस्पर्धा होना स्वाभाविक है। इसी को वीनर ने श्रमिक संगठनों के बीच टकराव की संज्ञा दी है। विभिन्न श्रमिक संगठनों के बीच पाए जाने वाले विरोध के कारण श्रमिक संगठन अपने मौलिक उद्देश्य को पूरा करने में अधिक सफल नहीं हो सके हैं।

4. भारत में श्रमिक संगठनों का नेतृत्व बाहरी व्यक्तियों के हाथ में है, अर्थात् विभिन्न श्रमिक संगठनों में अध्यक्ष, मंत्री आदि पदों पर श्रमिकों के बजाय राजनीतिक दलों के ख्याति प्राप्त नेता कार्य करते हैं और इस प्रकार श्रमिक संगठनों का नेतृत्व उन लोगों के हाथ में होता है जो स्वयं श्रमिक वर्ग का सदस्य न होने के कारण उनकी समस्याओं और आवश्यकताओं से भलीभांति परिचित नहीं होते हैं। इन बाहरी नेतृत्व का कारण है

श्रमिक वर्ग का अधिकांशत: अशिक्षित होना, इसलिए वह अपने संगठनों का नेतृत्व ऐसे व्यक्तियों के हाथों में देना चाहते हैं जो शिक्षित, अनुभवी तथा राजनीतिक क्षेत्र में महत्वपूर्ण हों। ऐसा समझा जाता है कि इस प्रकार उनकी समस्याओं को सरकार के समक्ष ज्यादा अच्छे ढंग से रखा जा सकता है और उनको सुलझाने में ज्यादा मदद मिल सकती है।

5. श्रमिक संगठनों की निर्बलता का एक कारण उनकी आर्थिक स्थिति का खराब होना है। सदस्यों से लिए जाने वाले मासिक शुल्क के अतिरिक्त उनकी आय को कोई और साधन नहीं है। इसलिए श्रमिक संगठनों की आर्थिक स्थिति का खराब होना स्वाभाविक है जिसके कारण वे अपने उद्देश्यों के प्रचार आदि में अधिक धन नहीं लगा सकता है।

6. यद्यपि श्रमिक संगठन अपनी कुछ मांगों, उदाहरण के लिए मजदूरी की दरें बढ़वाने, कार्य करने की दशाओं में सुधार लाने, आदि को पूरा करवाने में सफल हुए हैं, लेकिन अधि कांश सुविधाएं पारस्परिक वार्ता, मध्यस्थता अथवा विधायकों के माध्यम से प्राप्त हुई हैं, सामूहिक सौदेबाजी द्वारा नहीं। विभिन्न श्रमिक संगठनों की ओर से हड़ताले तथा आंदोलन बराबर होते रहे हैं। निर्वाचनों के अवसर पर श्रमिक संगठन ज्यादा सक्रिय रूप से कार्य करते हुए दिखाई देते हैं, लेकिन राजनीति में, विशेषकर नीतियों के निर्माण के संबंध में उनका अपना अधिक प्रभाव नहीं दिखाई देता। वीनर का कहना है कि भारत में विभिन्न श्रमिक संगठन तीन विरोधी दिशाओं में विकसित हो रहे हैं और उनके बीच घोर टकराव की स्थिति उत्पन्न हो चुकी है। श्रमिक संगठनों के बीच टकराव उत्पन्न होने के कारण विभिन्न राजनीतिक दलों का उन पर नियंत्रण स्थापित हो जाना है। इन राजनीतिक दलों के सिद्धांतों, नीतियों तथा कार्यक्रमों में विरोध है और सभी दल इन श्रमिक संगठनों को राजनीतिक साधन के रूप में प्रयोग करते हैं। इसका परिणाम संगठनों का बड़ी हद तक अप्रभावी हो जाना है, कारण यह है कि जो श्रमिक संगठन विरोधी राजनीतिक दलों के नेतृत्व तथा निर्देशन में कार्य करते हैं, सरकार स्वाभाविक रूप से उन्हें विरोधी संगठनों के समान समझती है और ऐसे संगठनों के द्वारा उठाई गई उचित मांगों पर भी इस कारण ध्यान नहीं देती कि उन मांगों को पूरा करने का श्रेय विरोधी दलों को मिलेगा और इससे उनके सबल होने में मदद मिलेगी। विरोधी दलों द्वारा

संचालित श्रमिक संगठनों को सरकार इस कारण भी प्रभावहीन तथा असफल बनानाचाहती है ताकि श्रमिकों में विरोधी दलों का प्रभाव न बढ़ने पाये। इस स्थिति का परिणाम यह है कि श्रमिक संगठन सरकार की विरोधी संस्थायें बनकर रह गए हैं।

कृषक समूह:

भारत की लगभग 70 प्रतिशत जनसंख्या ग्रामों में निवास करती है और ग्रामीण जनता का 90 प्रतिशत भाग कृषि के द्वारा अपनी जीविकोपार्जन करता है। इस दृष्टि से कृषक वर्ग भारत के आर्थिक हितों में सबसे बड़ा वर्ग है, जो अपनी समस्याओं की दृष्टि से भी अन्य समूहों से बिल्कुल भिन्न है, लेकिन यह आश्चर्य की बात है कि इतना बड़ा वर्ग होते हुए भी कृषक समाज अब तक सुसंगठित नहीं हो सका है।

कृषकों को संगठित करने के प्रयत्न और कृषक आंदोलन का आरंभ 19वीं शताब्दी में तब हुआ जब बंगाल, महाराष्ट्र और पंजाब आदि में कृषकों द्वारा आंदोलन हुए, लेकिन इन आंदोलनों को कोई विशेष प्रभाव सरकार पर नहीं पड़ा। 1917 में गांधी जी ने चम्पारण के किसानों को संगठित किया और गुजरात में लगान वसूली के खिलाफ 1918 में एक सत्याग्रह कराया। 1920 में गांधी जी के हाथों में कांग्रेस का नेतृत्व आने के पश्चात् गांधी जी ने ग्रामीण जनता का समर्थन प्राप्त करने पर विशेष बल दिया और किसानों को संगठित करने की ओर विशेष ध्यान दिया। 1928 में लगान के विरूद्ध 'बारदोली सत्याग्रह' हुआ और 1932 में जूट और रूई के उत्पादकों को कांग्रेस द्वारा संगठित किया गया।

1936 में कांग्रेस के लखनऊ अधिवेशन में एक कृषि सुधार योजना अपनाई गई। इसी वर्ष कुछ कांग्रेसियों और साम्यवादी दल के कुछ नेताओं द्वारा 'ऑल इंडिया किसान कांग्रेस' की स्थापना की गयी। कांग्रेस से अलग इस प्रकार के संगठन बनाने का विरोध कुछ कांग्रेसियों की ओर से किया गया जिसके फलस्वरूप 1937 में इस संगठन के नाम से 'कांग्रेस' शब्द को निकाला दिया गयसा और 'सभा' शब्द जोड़ा गया। 1939 में 'ऑल इंडिया किसान सभा' के तत्कालीन अध्यक्ष आचार्य नरेन्द्रदेव ने कांग्रेस से अलग इस संगठन का निर्माण किये जाने के उद्देश्यों पर प्रकाश डालते हुए यह कहा था कि कांग्रेस एक बहुवर्गीय संगठन है जिसमें कृषकों के हितों की पूर्ति समुचित रूप से नहीं हो रही है। उदाहरण के लिए कांग्रेस में जमींदारों के प्रभाव के कारण बहुत से भूमि सुधार संबंधी अधिनियम कार्यान्वित नहीं हो सके, अत: किसानों का एक पृथक संगठन कृषकों का विशेष समस्याओं को हल करने में सहायक हो सकेगा।

IRS IAS

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

'किसान सभा' एक संघीय संगठन था जिममें विभिन्न राज्यों के कुछ कृषक संगठन सदस्य थे। 1937 में कांग्रेस द्वारा आठ राज्यों में मंत्रिमंडल का निर्माण किया गया। इन कांग्रेसी सरकारों ने जमींदारी उन्मूलन की योजना नहीं बनाई, फलत: कृषक वर्ग इन सरकारों से असंतुष्ट था। किसान सभा की ओर से पंजाब में लगाये जाने वाले करों के खिलाफ और बिहार में जमींदारी उन्मूलन तथा लगान घटाने आदि मांगों के लिए करों के खिलाफ और बिहार में जमींदारीं उन्मूलन तथा लगान घटाने आदि मांगों के लिए आंदोलन चलाया गया। 1939 में मंत्रिमंडल से त्यागपत्र देने के बाद कांग्रेस नेता जेल चले गये और किसान सभा पर साम्यवादी दल का अधिपत्य स्थापित हो गया।

द्वितीय विश्वयुद्ध के संबंध में किसान सभा ने साम्यवादियों के साथ ब्रिटेन की नीति का समर्थन किया और इस प्रकार कांग्रेस का विरोध किया। परिणाम यह हुआ कि किसान सभा से गैर साम्यवादी व्यक्तियों ने अपने संबंध तोड़ दिये। 1942 में कांग्रेस द्वारा चलाये गये ब्रिटिश विरोधी आंदोलन में कांग्रेस के बहुत से नेता जेल चले गये और किसान सभा को कृषकों को संगठित करने का पूरा अवसर मिला।

युद्ध समाप्त होने के समय तक किसान सभा में आंतरिक विरोध उत्पन्न हो गया और 1944 में बिहार के अत्यधिक प्रभावशाली किसान नेता स्वामी सहजानन्द किसान सभा से अलग हो गये, उनका आरोप यह था कि साम्यवादी दल ने पाकिस्तान की मांग के संबंध में मुस्लिमलीग का समर्थन किया था। स्वामी सहजानंद ने एक पृथक संगठन 'ऑल इंडिया यूनाइटेड किसान सभा' के नाम से संगठित किया।

स्वतंत्रता के पश्चात् जब साम्यवादी दल पर प्रतिबंध लगाया गया तो किसान सभा पर भी रोक लगा दी गई है। यह प्रतिबंध 1950 तक चलताा रहा। 1950 में किसान सभा ने इस बात का प्रयत्न किया कि किसान सभा से अलग हुए व्यक्ति उसमें पुन: वापस आ जायें लेकिन इसमें कोई सफलता नहीं मिली। 1954 में आल इंडिया किसान सभा ने 10,87,000 सदस्य संख्या होने का दावा किया जो 1956 में घट कर 73,600 रह गई।

1957 के चुनाव में किसान सभा ने साम्यवादी दल के उम्मीदवारों का समर्थन किया, लेकिन ऐसा लगता है कि किसान सभा का किसान-मतदाताओं पर कोई विशेष प्रभाव न पड़ा, क्योंकि साम्यवादी दल को इस चुनाव में केवल 15,7 प्रतिशत मत मिल सके। किसान सभा की ओर से समान्य रूप से करों को घटाने, 25 एकड़ से अधिक भूमि के अवैधानिक ढंग से हस्तांतरित किये जाने की जांच करने, अधिकतम भूमि सीमा को व्यक्तियों के बजाय परिवारों पर लगाने, लघु सिंचाई योजनाएं बनाने, अप्रत्यक्ष करों में कमी करने, औद्योगिक वस्तुओं और कृषि वस्तुओं के मूल्यक के बीच संतुलन स्थापित करने आदि की मांग की गई।

1957 में हुए 15वें प्रादेशिक सम्मेलन में किसान सभा ने इस बात की घोषणा की कि वह कृषि के लिए ऋण, सिंचाई सुविधाओं में सुधार, खाद्यन्न, शिक्षा, स्वास्थ्य, पीने का पानी तथा सिंचाई की दर को कम कराने के लिए आंदोलन चलोयगी। सभा ने यह भी घोषणा कि कि वर्तमान विधायिनी ढांचे में रहते हुए अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए प्रयत्न करेगी।

किसान सभा और यूनाइटेड किसान सभा के अतिरिक्त विभिन्न राज्यों में किसानों के अलग-अलग संगठन संगठित किये जाते रहे हैं जिसमें फारमर्स फोरम, किसान पंचायत आदि प्रमुख हैं लेकिन इनमें से कोई संगठन अधिक लोकप्रियता नहीं प्राप्त कर सका। इन संगठनों की गतिविधियों और उपलब्धियों के विषय में जानकारी के लिए सामग्री का अभाव है।

राज्य में किसान आंदोलन:

1980 के बाद देश के विभिन्न राज्यों, महाराष्ट्र, गुजरात, कर्नाटक, आन्ध्रप्रदेश, पंजाब, हरियाणा तथा उत्तर प्रदेश में बड़े स्तर पर किसान आंदोलन हुए तथा कुछ नये संगठन अस्तित्व में आये। तमिलनाडु में सी, नारायण स्वामी नायडू, महाराष्ट्र में शरद जोशी पंजाब में भूपेन्द्र सिंह मान, कर्नाटक में प्रोफेसर नंजुन्दा स्वामी और एस.एच. रूद्रप्पा तथा उत्तर प्रदेश में महेन्द्र सिंह टिकैत के नेतृत्व में सुसंगठित रूप से किसान आंदोलन हुए जिनमें हिंसा की अनेक घटनायें हुई। किसानों की प्रमुख मांगों में एक सामान्य मांग खाद्यान्न का लाभकारी मूल्य रहा है जो तमिलनाडु से प्रारम्भ होकर देश के अन्य राज्यों में फैल गयी।

1979-80 में महाराष्ट्र में एक चमत्कारी नेता शरद जोशी का अभ्युदय हुआ जिनके नेतृत्व में प्याज, गन्ना और तम्बाकू के मूल्य में वृद्धि कराने के लिए किसानों ने राज्यों के विभिन्न भागों में आंदोलन किये। किसान आंदोलन के फलस्वरूप 1980 में महाराष्ट्र सरकार ने गन्ने का मूल्य बढ़ाना स्वीकार किया। इस सफलता के कारण शरद जोशी में किसानों का विश्वास और अधिक बढ़ गया। किसान हितों के लिए सुसंगठित रूप से संघर्ष करने के उद्देश्य से 1 जनवरी1982 को शरद जोशी 'शेतकारी संगठन' के नाम से एक नये 'संगठन का निर्माण किया। शरद जोशी के प्रमुख मांग कृषि को लाभकारी बनाने हेतु खाद्यन्न लाभकारी मूल्य (मिुनरेटिव प्राइस) निश्चित कराना है।

1985-87 में शरद जोशी द्वारा किसानों के लिए अनेक हिसांत्मक आंदोलन चलाए गए जिनके परिणाम स्वरूप किसानों की अनेक मांगे पूरी भी हुई।

किसानों की विभिन्न समस्याओं के निदान के लिए कर्नाटक में 1950 में बराबर आंदोलन होते रहे, लेकिन 1980 के बाद से इन आंदोलनों का रूप हिंसात्मक हो गया। प्रोफेसर नंजुन्दा स्वमी तथा एच.एस रूद्राप्पा के नेतृत्व में किसानों ने सुसंठित रूप से अपनी मांगों के लिए संघर्ष किय। धारवाड़ जिले में किसानों पर की गयी फाइरिंग के बाद 'रैयत संघ' द्वारा सशक्त किसान आंदोलन

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

शुरू हुए। रैयत संघ कर्नाटक राज्य में किसानों का सबसे बड़ा संगठन है। 1980 में गुण्डू राव सरकार द्वारा लगाये गए (बैटरमेन्ट लैवी) के विरूद्ध तथा पानी और सिंचाई की समस्याओं को लेकर एक आंदोलन प्रारंभ हुआ। अगस्त 1982 में किसानों और पुलिस के बीच टकराव हुआ। इसी के साथ गन्ने का उत्पादन करने वाले क्षेत्रों में किसानों ने गन्ना मूल्य बढ़ाने के लिए आंदोलन किया। 1983 में राज्य में कांग्रेस सरकार के पतन और जनता पार्टी को सत्ता में लाने में रैयत संघ ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की।

जनवरी 1984 में रैयता संघ ने सरकार को एक 19 सूत्रीय मांग पत्र दिया और 26 जनवरी 1984 से रैयत संघ ने पूरे राज्य में 'रास्ता रोको' और 'रेल रोको' आंदोलन प्रारंभ कर दिया।

रैयत संघ ने अपनी 19 मांगों में से सात मांगों को तुरन्त स्वीकार किये जाने का आग्रह किया। इनमें से कुछ इस प्रकर की मांगे थीं- किसान आंदोलन में भाग लेने वाले के विरूद्ध फौजेदारी के मुकदमों की वापसी सहकारी तथा अन्य व्यापारिक बैंकों से किसानों द्वारा लिये गये ऋणों की माफी, खाद्यान्न का लाभकारी मूल्य निर्धारण इत्यादि। सरकार ने इन मांगों को स्वीकार करने में अपनी पूर्ण असमर्थता व्यक्त की। इस आंदोलन में लगभग 30 हजार किसान गिरफ्तार किए गए। अन्त में सात दिनों बाद जनमत को अपने पक्ष में बनाए रखने के लिए संघ ने अपना आंदोलन स्थगित कर दिया।

गुजरात में भारतीय किसान संघ ने सितम्बर 1986 से किसान आंदोलन अग्र रूप से प्रारंभ किया। निरंन्तर सूखे के फलस्वरूप किसानों की आर्थिक स्थिति अत्यधिक खराब हो गयी जिसने किसानों को हिंसक बना दिया। पूरे देश में सबसे ज्यादा बिजली शुल्क गुजरात में लिया जाता है। किसानों की 31 सूत्रीय मांगों में बिजली दर में कमी, खाद्यन्न का लाभकारी मूल्य, सरकारी कर्जों की माफी जैसी कुछ मांगे प्रमुख थीं। सितम्बर 1986 से मार्च 1987 तक के बीच किसान संघ 17 विराट प्रदर्शन किये तथा रैलियां संगठित की। जनवरी 1987 को बीजापुर में हुई रैली में लगभग चार लाख किसानों ने भाग लिया। 19 मार्च 1987 को किसानों ने गुजरात विधान सभा का घेराव किया जिसने हिंसात्मक रूप धारण कर लिया। किसानों पर पुलिस फायरिंग हुई जिमें दस सिकान मारे गये। 27 मार्च को किसानों ने 'रास्ता रोकों' और 'जेल भरो' आंदोलन शुरू कर दिया। इस आंदोलन के फलस्वरूप जून 1987 में गुजरात सरकार ने बिजली की दरों में कुछ रियायतें देना स्वीकार किया। कृषक आंदोलन का प्रारंभ भारतीय किसान संघ द्वारा किया गया था लेकिन बाद में एक अन्य किसान संगठन 'खेदुत समन्वय समिति' इस आंदोलन में शामिल हो गया। 1987-88 के बीच इस संगठन द्वारा अनेक हिंसापूर्ण आंदोलन चलाए गए।

पंजाब में मार्च 1984 में भारतीय किसान यूनियन के नेता भूपेन्द्र सिंह मान के नेतृत्व में किसानों ने आंदोलन किया और एक सप्ताह तक चण्डीगढ़ में राजभवन का घेराव किया। इस घेराव में 50 हजार किसान सम्मिलित थे। आंदोलन का मुख्य मुद्दा खाद्यान्न के लिए लाभकारी मूल्य तथा बिजली की दरों में कमी की मांग थी। सात दिनों के इस घेराव के परिणामस्वरूप सरकार ने किसानों की लगभग सभी मांगों को मान लिया।

उत्तर प्रदेश में 'भारतीय किसान यूनियन' के नाम से एक किसान संगठन का निर्माण चौधरी चरण सिंह द्वारा अगस्त 1979 में किया गया। इसका मुख्य उद्देश्य जाटों को संगठित करना था। किसान यूनियन की स्थापना हरियाणा राज्य के गुड़गांव जिले में हुई थी। यूनियन के प्रमुख कार्यकर्ताओं में ग्राम कान्झवाला (दिल्ली) के उदय सिंह और तारा सिंह थे। कान्झावाला में भूमि संबंधी कुछ विवाद था। भारतीय किसान यूनियन ने सबसे पहले इसी मुद्दे को उठाया। दिल्ली, हरियाणा और मेरठ के हजारों जाटों ने कान्झावाला में एक महीने तक प्रदर्शन किया। अंत में सरकार ने यूनियन की मांगों को मान लिया। इस सफलता के बाद चौधरी चरण सिंह के जन्म दिन पर भारतीय किसान यूनियन ने दिल्ली में एक विशाल रैली का आयोजन किया।

भारतीय किसान यूनियन की शाखाएं दिल्ली, हरियाणा और पंजाब में हैं। उत्तर प्रदेश में किसान यूनियन का प्रभाव-क्षेत्र मुख्य रूप से पश्चिमी उत्तर प्रदेश है जहां जाटों की संख्या बहुत ज्यादा है।

कांग्रेस दल की ओर से 16 फरवरी 1981 के दिन दिल्ली में एक विशाल किसान रैली संपन्न हुई जिसमें लगभग 25 लाख किसानों ने भाग लिया। इस रैली के आयोजन का उद्देश्य केवल यह दिखाना था कि देश के किसानों का बहुत बड़ा बहुमत कांग्रेस दल के साथ है।

1986 में उत्तर प्रदेश सरकार ने विद्युत मूल्य 22.5रु. बढ़ाकर 30रु. प्रति हार्सपावर कर दिया। भारतीय किसान यूनियन ने इस वृद्धि का घोर विरोध किया। जनवरी-मार्च 1987 में में महिन्द्र सिंह टिकैट के नेतृत्व में पश्चिमी उत्तर प्रदेश के जिला गए। सरकार की दमनात्मक नीति के मुकाबले में किसान न ठहर सके। 20 फरवरी 1988 को महेन्द्र सिंह टिकैत ने अपना आंदोलन वापस ले लिया। किसानों की कोई भी मांग पूरी न हो सकी। यह आंदोलन 25 दिनों तक चलने के बाद बिना किसी समझौते के समाप्त हो गया। स्वयं महेन्द्र सिंह टिकैत के शब्दों में 'सरकार से किसानों की गोलियुों और डण्डों के अतिरिक्त और कुछ न मिल सका।'

किसान आंदोलन - एक समीक्षा:

देश के विभिन्न भागों में हुए किसान आंदोलनों का अध्ययन करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि छोटी-मोटी स्थानीय समस्याओं के अतिरिक्त पूरे देश में किसानों की कुछ सामान्य मांगे रही है। जो निम्नलिखित हैं:

(1) उत्पादन का लाभकारी मूल्य,

(2) करों, विशेषकर बिजली की दरों में कमी,

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

(3) सरकारी कर्जों की माफी,
(4) मौलिक भूमि-सुधार
(5) खाद तथा कृषि यंत्रों के लिए अनुदान,
(6) सिंचाई की सुविधा,
(7) सस्ते दामों पर दैनिक आवश्यकता की वस्तुओं की व्यवस्था,
(8) कृषि -श्रमिकों की मजदूरी दर में वृद्धि।

जहाँ तक इन मांगों के पूरा होने की बात है, केवल यह कहा जा सकता है कि किसानों की मूल समस्याओं को कोई स्थायी हल राष्ट्रीय स्तर पर अभी तक नहीं निकल पाया है। विभिन्न राज्यों में हुए आंदोलनों के कारण राज्य सरकारों ने समय-समय पर कुछ मांगों को भले ही मान लिया हो, लेकिन भारत सरकार ने ऐसी कोई स्थायी नीति या योजना नहीं बनाई जिससे किसानों की मुख्य समस्याओं का निराकरण हो पाता। इसका अर्थ यह हुआ कि साधारण प्रकार की रियायतें प्राप्त करने और छोटे-छोटे मुद्दों के लिए किसानों को निरन्तर संघर्षरत रहना पड़ेगा। इस दृष्टि से किसान आंदोलन हिंसात्मक होते हुए भी बहुत अधिक और स्थायी रूप से प्रभावी सिद्ध नहीं हुए।

संख्या में बहुत ज्यादा होते हुए भी किसान - समुदाय, धर्म, जाति, आर्थिक स्थिति तथा क्षेत्रीय आधार पर विभाजित हैं। पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता के कारण किसान अपने सामूहिक हितों के लिए सुसंगठित रूप से कार्य नहीं कर पाते। ऐसा लगता है कि विभिन्न राज्यों में होने वाले अधिकांश किसान आंदोलन जाति-आधारित आंदोलन रहे हैं। उदाहरण के लिए महाराष्ट्र में शरद जोशी द्वारा चलाए गया आंदोलन में मुख्य रूप से उच्च जाति के किसान सक्रिय रहे हैं जबकि दलित वर्ग का बहुत अधिक समर्थन उन्हें नहीं मिल पाया है। जोशी स्वयं ब्राह्मण हैं और मराठा जाति के किसान मुख्य रूप से उनके साथ हैं। इसी प्रकार गुजरात में कृषक आंदोलनों का नेतृत्व पटेल समुदाय के हाथों में रहा है। उत्तर प्रदेश में भारतीय किसान यूनियन द्वारा चलाया गया आंदोलन मुख्यत: जाट किसानों का आंदोलन है और इसलिए राज्य के उन जिलों तक सीमित रहा जहाँ जाटों की संख्य बहुत ज्यादा है।

यह भी कहा जाता है कि दक्षिण भारत में किसानों में अधिकांश आंदोलन धनी और बड़े किसानों द्वारा संचालित थे। खाद्यान्न को लाभकारी मूल्य की मांग या बिजली दरों में कमी से छोटे किसानों की अपेक्षा बड़े किसानों को अधिक लाभ होता है। किसानों की एक श्रेणी कृषि कामगारों की है जिनके पास स्वयं भूमि नहीं है, वे केवल मजदूरी पर खेतों में काम करते हैं; कुछ आंदोलनों में ये भी सम्मिलित रहे हैं। छोटे किसानों के पास न तो ट्यूबवेल हैं और न ही ट्रेक्टर तथा अन्य उपकरण। इसलिए किसान आंदोलनों में उठाई गई मांगों में बड़े किसानों का हित ज्यादा निहित था।

उत्पादन की दृष्टि से भी किसान विभाजित हैं। गन्ना उत्पादकों और कपास उत्पादकों की अलग-अलग समस्याएं हैं इसलिए जब गन्ने के मूल्य बढ़ाने की बात होती है तो सारा किसान वर्ग उसमें ज्यादा रूचि नहीं लेता। इस स्थिति के फलस्वरूप ऐसे कम आंदोलन हुए हैं जिसमें एक राज्य विशेष के समस्त किसानों ने सुसंगठित रूप से आंदोलन में भाग लिया हो। इससे किसान शक्ति स्वाभाविक रूप से क्षीण होती है।

साधनों की दृष्टि से किसान असहाय से दिखाई देते हैं, वे विरोध रूप में अपने खेतों को बहुत दिनों तक खाली नहीं छोड़ सकते। अगर वह फसल पैदा न करें तो अधिकांश किसानों का जीविकोपार्जन असंभव हो जायेगा। यदि रेलवे के कर्मचारी हड़ताल करते हैं तो उससे सरकार को भारी हानि होती है, इसलिए सरकार ऐसी स्थिति आने से घबराती है। यदि किसान उत्पादन न करें तो वह भूखों मर जायेंगें। आर्थिक स्थिति खराब होने के कारण किसान यह भी नहीं कर सकता कि अपने उत्पादन को अधिक दिनों तक अपने पास रोके रहे और अधिक मूल्य मिलने का इंतजार में उसे बाजार में न लाये। विशेषकर छोटे किसानों में तो प्रतीक्षा-क्षमता बहुत ही कम होती है।

विभिन्न किसान आंदोलनों में रैली, प्रदर्शन रास्ता रोको, जेल भरों और गांव बंदी के साधनों को सामान्य रूप से अपनाया गया। यह समस्त साधन ऐसे हैं जिनका प्रत्यक्ष प्रभाव जन-साधारण पर पड़ता है। इसलिए यातायात रोकने का कार्यक्रम ज्यादा दिनों तक नहीं चलाया जा सकता, क्योंकि इसे किसानों के प्रति जन-सहानुभूति नहीं रह जाती। यह कारण था कि महाराष्ट्र, कर्नाटक, गुजरात तथा उत्तर प्रदेश में चलाये गये आंदोलनों को स्वयं किसान संगठनों ने या तो स्थगित कर दिया या उन्हें वापस ले लिया। उदाहरण के लिए 1987-88 में उत्तर प्रदेश में महेन्द्र सिंह टिकैत के नेतृत्व में किसानों का इतना बड़ा आंदोलन हुआ कि उसने सरकार को हिला दिया लेकिन अंत में सरकार के कठोर रवैये को देखकर टिकैत को आंदोलन वापस लेना पड़ा।

विगत दशकों में निर्मित अधिकांश किसान संगठनों ने अपने राजनीतिक दलों से असम्बद्ध रखने का दावा किया। उत्तर प्रदेश में तो टिकैत ने सत्तारूढ़ तथा विपक्ष के किसी नेता को अपने मंच से बोलने तक अवसर नहीं दिया। लेकिन व्यावहारिक रूप से अधिकांश किसान आंदोलनों में राजनीतिक दलों में सक्रिय भूमिका अदा की। उदाहरण के लिए 1986 में गुजरात में हुआ किसान आंदोलन आरंभ में अराजनीतिक रहा लेकिन बाद में विरोधी दलों के नेता इसमें सम्मिलित हो गये। महाराष्ट्र में हुए कपास उत्पादक आंदोलन का समर्थन शिव सेना तथा दलित नेता प्रकाश अम्बेडकर तथा कुछ वामपंथी दलों ने किया।

महाराष्ट्र के किसान नेता शरद जोशी ने 1980 में यह घोषणा की थी कि 'मैं अपनी जिंदगी में न वोट मांगूगा, न किसी राजनीतिक दल को समर्थन दूंगा।' इसके बिल्कुल विपरीत 1987 में उन्होंने कहा कि, 'टकराव का काल समाप्त हो गया है, अब

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

सहयोग का युग प्रारंभ होना है।' शरद जोशी ने कहा कि वह चुनाव लड़ेंगे और तीन-चार वर्षों में कांग्रेस का विकल्प उपस्थित करेंगे। वास्तविकता यह है कि किसान संगठन अपने को दलीय प्रभाव से मुक्त नहीं रख सकते। राजनीतिक दलों के समर्थन के बगैर आंदोलन में जान नहीं आती। लेकिन उसका परिणाम यह होता है कि सत्तारूढ़ दल उनकी मांगों को भी स्वीकार करने में संकोच करता है, क्योंकि वह इसका श्रेय विपक्षी दलों को नहीं देना चाहता।

राष्ट्रीय स्तर पर कृषकों के प्रभावी संगठनों का निर्माण और विकास न होने का एक अन्य कारण कृषक का अशिक्षित होना है। कृषक जनता अपने अधिकारों और कर्तव्यों का पूर्ण ज्ञान न होने के कारण आसानी से गुमराह की जा सकती है और विभिन्न राजनीतिक दल तथा क्षेत्रीय नेता इस स्थिति से पूरा लाभ उठाते रहे हैं। विभिन्न राजनीतिक दलों के द्वारा जब कोई आंदोलन चालया जाता है या कोई प्रदर्शन अथवा हड़ताल कराई जाती है तो ग्रामीण क्षेत्रों में स्त्री-पुरुषों को मजदूरी देकर लाया जाता है।

कृषकों की दयनीय स्थिति का एक प्रमुख कारण ग्रामीण क्षेत्र में सामंतवादी वर्ग का प्रभाव है। जमींदारी उन्मूलन के बाद भी भूतपूर्व राजाओं और जमींदारों का प्रभाव कुछ अधिकार का प्रयोग करता है और कृषक वर्ग उनके कहने पर मताधिकार जैसे मूल्यवान अधिकार का प्रयोग करता है। विभिन्न राजनीतिक दल चुनाव में प्राय: भूतपूर्व जमीदारों के माध्यम से कृषकों का समर्थन प्राप्त करते हैं और इससे जमींदार वर्ग विधायकों और प्रशासकों के सम्पर्क में रहते हैं। कृषक जनता का एक बड़ा भाग अब भी यह समझता है कि बिना इन जमींदारों की सहायता के वह सरकार के द्वारा दी जाने वाली सुविधाओं से लाभान्वित नहीं हो सकता और प्रशासकीय पदाधिकारियों के अत्याचार से अपने को सुरक्षित नहीं रख सकता। परिणाम यह है कि जमींदारी उन्मूलन के बाद भी भूतपूर्व जमींदारों का राजनीति पर प्रभाव समाप्त नहीं हुआ है।

यद्यपि सरकार की ओर से अनेक भूमि सुधार योजनाएं अपनाई गई लेकिन उनको पूरी तरह से कार्यान्वित नहीं किया गया परिणाम यह है कि अनेक प्रकार की सुधार योजनाएं कागज तक सीमित रह गयी और किसानों की आर्थिक स्थिति में अपेक्षित सुध ार न हो सका। ऐसा लगता है कि आर्थिक उलझनों के कारण भी साधारण किसान किसी संगठन के निर्माण में अधिक रूचि नहीं लेता।

भारत में किसानों के नाम के अनेक राजनीतिक दलों का निर्माण होता रहा है। जैसे किसान मजदूर प्रजा पार्टी, कृषक पार्टी आदि, लेकिन इन राजनीतिक दलों में भी किसानों के अतिरिक्त सभी वर्ग और व्यवसाय के लोग सदस्य रहे हैं। यही कारण है कि कृषकों का प्रत्यक्ष तथा सुसंगठित प्रभाव देश की राजनीति में बहुत ज्यादा नहीं रहा है।

IAS

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

संघीय न्यायपालिका (उच्चतम/सर्वोच्च न्यायालय)

संघात्मक प्रावधानों से युक्त होने के बावजूद भी हमारा संविधान केन्द्र व राज्यों के लिए न्यायालयों की दुहरी प्रणाली की व्यवस्था नहीं करता। भारतीय संविधान संघ और राज्यों के लिए एक ही प्रकार की सोपानात्मक न्याय प्रणाली का प्रावधान करता है जिसमें सबसे ऊपर सर्वोच्च या उच्चतम न्यायलय प्रतिष्ठित है और उसके नीचे राज्यों के अपने-अपने उच्च न्यायालय हैं। उच्च न्यायालय के नीचे के न्यायालयों अर्थात् अधीनस्थ न्यायालयों का गठन अलग-अलग राज्यों में थोड़ी-बहुत भिन्नता लिए हुए है।

संविधान के भाग 5 का अध्याय 4, संघ की न्यायपालिका के प्रावधानों से सुसज्जित है। संसद को सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना, संगठन, अधिकार एवं शक्तियों को विनियमित करने हेतु कानून बनाने की शक्ति है। जब संविधान बना तो सर्वोच्च न्यायालय में एक मुख्य न्यायाधीश तथा 7 अन्य न्यायाधीश थे, किन्तु जनसंख्या और मुकदमों की वृद्धि के कारण न्यायाधीशों की संख्या भी बढ़ानी पड़ी। सम्प्रति, सर्वोच्च न्यायालय में 1 मुख्य न्यायाधीश और 25 अन्य न्यायाधीश कार्यरत हैं। (अनु. 124 (1))।

न्यायाधीशों की नियुक्ति की प्रक्रिया:

अनु. 124(3) के अनुसार, कोई व्यक्ति सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश के रूप में तभी नियुक्त होगा जब वह भारत का नागरिक हो और

(क) किसी उच्च न्यायालय का या ऐसे दो या अधिक न्यायालयों का लगातार कम-से-कम 5 वर्ष तक न्यायाधीश रहा हो, अथवा

(ख) किसी उच्च न्यायालय का या ऐसे दो या अधिक न्यायालयों का लगातार कम से कम 10 वर्ष तक अधिवक्ता रहा हो, अथवा

(ग) राष्ट्रपति की राय में पारंगत विधिवेत्ता हो।

'पारंगत विधिवेता' का तात्पर्य यह है कि, राष्ट्रपति की दृष्टि में वह कानून और संविधान का अच्छा जानकार हो। किसी पारंगत विधिवेत्ता को न्यायाधीश के रूप में नियुक्त करने का प्रावधान हमने अमेरिकी संवैधानिक प्रावधानों से ग्रहण किया है। वहाँ कानून के योग्य अध्यापकों को न्यायालय में स्थान देने की परंपरा रही है। यह प्रावधान अपनाकर हमने भी योग्यतम लोगों को सम्मान देने तथा उनके गुण एवं ज्ञान का लाभ समाज को देने का प्रयास किया है। किन्तु भारत में अबतक किसी भी न्यायाधीश को पारंगत विधिवेता होने के आधार पर सर्वोच्च न्यायालय के स्थान नहीं मिला है।

सर्वोच्च न्यायालय में किसी व्यक्ति को न्यायाधीश नियुक्त करने से पूर्व राष्ट्रपति सर्वोच्च न्यायालय के और राज्यों के उच्च न्यायालयों के ऐसे न्यायाधीशों से परामर्श करेगा जिनसे राष्ट्रपति इस प्रयोजन के लिए परामर्श करना आवश्यक समझे। परंतु तब भी सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश से परामर्श करना बाध्यकारी होगा।

सुप्रीम कोर्ट एडवोकेट्स ऑन रिकार्ड ऐसोसिएशन बनाम भारत संघ' के वाद में 9 न्यायाधीशों की पीठ ने 7:2 के बहुमत से यह निर्णय दिया कि नियुक्ति भारत के मुख्य न्यायाधीश की राय से ही की जा सकती है। नियुक्ति के मामले में कोई भी राय देने के पूर्व मुख्य न्यायाधीश अपने वरिष्ठतम सहयोगियों से परामर्श करेगा। यह परामर्श लिखित रूप में होना चाहिए और यदि कोई न्यायाधीश किसी व्यक्ति को न्यायाधीश के रूप में नियुक्त नहीं करना चाहता है तो उसकी इस 'असहमति' को अन्य वरिष्ठ न्यायाधीशों की सलाह अलग-अलग है तो ऐसी दशा में मुख्य न्यायाधीश की राय को प्राथमिकता दी जानी चाहिए। मुख्य न्यायाधीश एक व्यक्ति के रूप में नहीं, वरन् न्यायपालिका के अध्यक्ष या प्रधान के रूप में निर्णय लेता है अतः उसकी राय का या उसके दृष्टिकोण का महत्वपूर्ण स्थान है, सरकार की राय या दृष्टिकोण का नहीं। इसी बाद में यह निर्णय भी किया गया है कि, मुख्य न्यायाधीश के पद पर सर्वोच्च न्यायालय के वरिष्ठतम न्यायाधीश की ही नियुक्ति की जानी चाहिए।

शपथ :

अनु. 124(6) के अनुसार, सर्वोच्च न्यायालय का न्यायाधीश होने के लिए नियुक्त व्यक्ति, अपना पद ग्रहण करने से पूर्व राष्ट्रपति या उसके द्वारा नियुक्त व्यक्ति समक्ष, संविधान की तृतीय अनुसूची में इस प्रयोजन के लिए दिए गए प्रारूप के अनुसार शपथ लेगा या प्रतिज्ञा करेगा और उस पर अपने हस्ताक्षर करेगा। राष्ट्रपति यदि स्वयं व्यस्त है या अस्वस्थ है तो शपथ ग्रहण कराने के लिए वह मुख्य न्यायाधीश या किसी अन्य न्यायाधीश को कह सकता है, जैसे, 12 जनवरी, 2007 ई. को तत्कालीन मुख्य न्यायधीश वाई.के. सब्बरवाल ने तीन न्यायाधीशों को शपथ दिलायी-हरजीत सिंह बेदी, विकास श्रीधर सिरपुरकर तथा कुचीरेड्डी सुदर्शन रेड्डी।

पदावधि और पद से हटाया जाना :

राष्ट्रपति अपने हस्ताक्षर और मुद्रा सहित अधिपत्र द्वारा सर्वोच्च न्यायालय के प्रत्येक न्यायाधीश को नियुक्त करेगा और वह न्यायाधीश तब तक पद ग्रहण करेगा, जब तक वह 65 वर्ष की आयु का नहीं हो जाता, अर्थात् 65 वर्ष की आयु पूरी होने पर कोई भी न्यायाधीश अपने पद से कार्यमुक्त हो जाएगा, किन्तु इस संदर्भ में, अनु. 128 एक अपवाद का सृजन करता है। कि पूर्व सहमति से, किसी ऐसे व्यक्ति से जो सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश का पद धारण कर चुका है और सर्वोच्च न्यायालय में न्यायाधीश नियुक्त होने के लिए सम्यक् रूप से अर्हित है, सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश के रूप में बैठने एवं कार्य करने का अनुरोध कर

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

सकेगा और प्रत्येक ऐसा व्यक्ति, जिससे इस प्रकार का अनुरोध किया जाता है, इस प्रकार बैठने व कार्य करने के दौरान ऐसे भत्तों का हकदार होगा जो राष्ट्रपति अपने आदेश द्वारा अवधारित करे। उसे उस न्यायालय के न्यायाधीश की सभी अधिकारिता, शक्तियां, एवं विशेषाधिकार होंगे, किन्तु उसे अन्यथा उस न्यायालय का न्यायाधीश नहीं समझाा जाएगा।

कोई भी न्यायाधीश राष्ट्रपति को सम्बोधित अपने हस्ताक्षर सहित लेख द्वारा पद त्याग सकता है और इसके अतिरिक्त किसी भी न्यायाधीश को अनु. 124(4) में वर्णित महाभियोग प्रक्रिया द्वारा भी पद से हटाया जा सकता है।

अनु. 124(1) के अनुसार सर्वोच्च न्यायालय के किसी न्यायाधीश को उसके पद से तबतक नहीं हटाया जा जाएगा जब तक साबित कदाचार या असमर्थता के आधार पर हटाए जाने के लिए संसद के प्रत्येक सदन द्वारा अपनी कुल सदस्य संख्या के बहुमत द्वारा तथा उपस्थित और मत देने वाले सदस्यों के कम-से-कम दो-तिहाई बहुमत द्वारा समर्थित समावेदन, राष्ट्रपति के समक्ष उसी सत्र में रखे जाने पर राष्ट्रपति ने उसे पद से हटाने का आदेश नहीं दे दिया है। इस संदर्भ में यह ध्यान रखने योग्य तथ्य है कि किसी न्यायाधीश को पद से हटाने का प्रस्ताव संसद के एक ही सत्र में प्रस्तावित, पारित और स्वीकृत होना चाहिए। संसद के सत्रावसान के कारण महाभियोग प्रस्ताव समाप्त माना जाएगा और उसे संसद के नए सत्र में प्रस्तावित, पारित और स्वीकृत कराना होगा। किसी असमर्थ एवं भ्रष्ट न्यायाधीश को पद से हटाने के लिए समान्य बहुमत की जगह दो-तिहाई बहुमत के प्रावधान को संविधान निर्माताओं ने यह सोचकर स्वीकार किया था कि, उससे न्यायाधीश सुरक्षित एवं दबावमुक्त कार्य कर सकेंगे।

किसी न्यायाधीश कदाचार या असमर्थता के अन्वेषण एवं उसे सिद्ध करने की प्रक्रिया (अर्थात् महाभियोग प्रक्रिया) का संसद कानून बनाकर विनिमय कर सकेगी। (अनु. 124(5))। महाभियोग का प्रस्ताव संसद के किसी भी सदन में पहले प्रस्तुत किया जा सकता है। लोकसभा में प्रस्ताव प्रस्तुत करने के लिए 100 सांसदों तथा राज्यसभा में प्रस्ताव लाने के लिए 50 सांसदों की स्वीकृति आवश्यक है। प्रस्ताव का प्रारूप (आरोप पत्र) लोकसभा में स्वीकार तथा राज्यसभा में सभापति को सौंपा जाता है। स्पीकर या सभापति प्रस्ताव प्राप्त करने के बाद 3 सदस्यी जाँच समिति का गठन करेंगे। समिति के अध्यक्ष सर्वोच्च न्यायालय के कोई भी वर्तमान न्यायधीश होंगे, जबकि दूसरा सदस्य किसी भी उच्च न्यायालय का मुख्य न्यायाधीश तथा तृतीय सदस्य प्रख्यात कानूनवेत्ता होना चाहिए। यह समिति जाँच के बाद अभी रिपोर्ट सदन को सौंपती है। समिति द्वारा आरोप सही पाए जाने पर संसद के दोनों सदनों में मतदान होता है और अपेक्षित बहुमत से पारित हो जाने के बाद राष्ट्रपति उस न्यायाधीश को पद से हटने का आदेश जारी कर देता है।

उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश के रूप में पद धारण कर चुके न्यायाधीश कार्यावकाश के बाद भारत के राज्यक्षेत्र के भीतर किसी न्यायालय में या किसी प्राधिकारी के समक्ष अभिवचन या कार्य नहीं करेंगे (अनु. 124(7)), किन्तु अनु. 128 इसका अपवाद है, जिसका वर्णन ऊपर किया जा चुका है।

वेतन आदि :

अनु. 125(1) के अनुसार, सर्वोच्च न्यायाल के न्यायाधीशों को ऐसा वेतन दिया जाएगा, जो संसद कानून द्वारा सुनिश्चित करे। उन्हें जो वेतन दिया जाएगा वह संविधान की द्वितीय अनुसूची में विनिर्दिष्ट है। संसद न्यायाधीशों के वेतन, भत्तों, विशेषाधिकारों, अनुपस्थिति, छुट्टी एवं पेंशन के संबंध में कानून बना सकती है, परंतु किसी न्यायाधीश की नियुक्ति के बाद उसके वेतन, भत्ते, विशेषाधिकार, अनुपस्थिति तथा छुट्टी आदि के बारे में कोई अलाभकारी परिवर्तन नहीं किया जाएगा।

विशेष परिस्थितियों में कुछ अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति :

अनु. 126 के अनुसार जब सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश का पद रिक्त है या जब मुख्य न्यायाधीश अनुपस्थिति के कारण या किसी अन्य कारण से अपने पद के कर्त्तव्यों का पालन करने में असमर्थ है, तब न्यायालय के अन्य न्यायाधीशों में से कोई एक न्यायाधीश, जिसे राष्ट्रपति इस प्रयोजन हेतु नियुक्त करे, उस पद के कर्त्तव्यों का पालन करेगा। ऐसा न्यायाधीश 'कार्यकारी मुख्य न्यायाधीश' के रूप में कार्य करेगा।

अनु. 127 के अनुसार, यदि किसी समय सर्वोच्च न्यायालय के क्षेत्र को आयोजित करने या चालू रखने के लिए उस न्यायालय के न्यायाधीशों की गणपूर्ति प्राप्त न हो (अर्थात् किसी कारण से स्थायी न्यायाधीशों का अभाव हो) तो मुख्य न्यायाधीश राष्ट्रपति की पूर्व सहमति से और संबंधित उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश के परामर्श करने के पश्चात्, उस उच्च न्यायालय के ऐसे न्यायाधीश को, जो सर्वोच्च न्यायालय का न्यायाधीश बनने की योग्यता रखता हो, सर्वोच्च न्यायालय की बैठकों में उतनी अवधि के लिए जितनी आवश्यक हो, 'तदर्थ न्यायाधीश' के रूप में उपस्थित रहने के लिए लिखित रूप से अनुरोध कर सकेगा। ऐसे न्यायाधीश का कर्त्तव्य होगा कि, वह अपने पद के अन्य कर्त्तव्यों पर प्राथमिकता देकर उस समय एवं उस अवधि के लिए सर्वोच्च न्यायालय की बैठकों में उपस्थित हो और जब वह इस प्रकार उपस्थित होता है तो उसे सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश के अधिकार और शक्तियां प्राप्त होंगी।

अनु. 128 के अनुसार, सर्वोच्च न्यायालय की बैठकों में सेवानिवृत न्यायाधीशों की उपस्थिति का प्रावधान है।

सर्वोच्च न्यायालय का स्थान (अनु.130):

भारत का सर्वोच्च न्यायालय नई दिल्ली में है। किन्तु यदि इसकी बैठकें नई दिल्ली के अतिरिक्त भारत में कहीं अन्यत्र

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

आयोजित करनी है तो मुख्य न्यायाधीश, राष्ट्रपति की पूर्व सहमति से स्थान एवं समय तक तय कर सकता है।

सर्वोच्च न्यायालय की अधिकारिता :

सर्वोच्च न्यायालय के अधिकार क्षेत्र को निम्नलिखित शीर्षकों में विभाजित किया जा सकता है:

(क) प्रारंभिक अधिकार-क्षेत्र,

(ख) अपीलीय अधिकार-क्षेत्र,

(ग) परामर्शदायी अधिकारिता और

(घ) अभिलेख न्यायालय

प्रारंभिक आधिकारिता :

ऐस विवाद जिसमें प्रारंभिक (और अंतिम) सुनवाई केवल सर्वोच्च न्यायालय में ही की जा सकती है, किसी अन्य न्यायालय में ऐसे वाद प्रस्तुत नहीं किए जाएंगे, वे सर्वोच्च न्यायालय की प्रारंभिक अधिकारिता से जुड़े माने जाते हैं। संविधान के अनु. 131 के अनुसार सर्वोच्च न्यायालय को निम्नलिखित प्रकृति के विवाद में प्रारंभिक अधिकारिता प्राप्त है:

(1) भारत सरकार और एक या अधिक राज्यों के बीच उत्पन्न विवाद या

(2) एक ओर भारत सरकार और किसी राज्य या राज्यों और दूसरी ओर एक या अधिक राज्यों के बीच उत्पन्न विवाद या

(3) दो या अधिक राज्यों के बीच उत्पन्न विवाद।

इस प्रकार स्पष्ट है कि संघ की विभिन्न इकाइयों के बीच उत्पन्न विवाद सर्वोच्च न्यायालय की प्रारंभिक क्षेत्राधिकारिता में आएंगे। लेकिन यदि किसी व्यक्ति और संघ या संघ की इकाइयों के बीच कोई विवाद उत्पन्न हो तब ऐसा विवाद सर्वोच्च न्यायालय की प्रारंभिक अधिकारिता के अन्तर्गत नहीं आएगा, वरन् वह तो सामान्य कानून के अंतर्गत सामान्य न्यायालय में लाया जाएगा।

संघ और इकाई राज्य के बीच उत्पन्न विवाद तथा इस संदर्भ में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा आरंभिक अधिकारिता के प्रयोग का सर्वप्रथम उदाहरण 1961 ई. में आया, जब पश्चिम बंगाल सरकार ने भारत सरकार द्वारा बनाए गए कोयला धारक क्षेत्र (अर्जन और विकास) अधिनियम, 1957 को असंवैधानिक घोषित करने की मांग की। सर्वोच्च न्यायालय ने अपने निर्णय में पश्चिम बंगाल सरकार की मांग को ठुकरा दिया।

एक महत्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि, भारतीय संविधान केवल सर्वोच्च न्यायालय के प्रारंभिक क्षेत्राधिकार का ही वर्णन नहीं करता, वरन वह यह भी बताता है कि कुछ ऐसे भी विवाद हैं जो सर्वोच्च न्यायालय के आरंभिक क्षेत्राधिकार में नहीं आएंगे इस प्रकार के विवाद और तत्संबंधी संवैधानिक प्रावधान इस प्रकार हैं:

1. अनु. 131 के परन्तुक और अनु. 363(1) में विनिर्दिष्ट विवाद, जिसके अनुसार, इस संविधान में किसी बात के होते हुए भी, किन्तु अनु. 143 (राष्ट्रपति द्वारा सर्वोच्च न्यायालय से परामर्श मांगने) के उपबंधों के अधीन रहते हुए सर्वोच्च न्यायालय या किसी अन्य न्यायालय को किसी ऐसी संधि, करार, प्रसंविदा, वचनबद्ध, सनद या वैसी ही अन्य किसी लिखे हुए उपबंध से-जो इस संविधान के प्रारंभ के पूर्व किसी देशी राज्य के शासन द्वारा की गयी थी और जिसमें भारत डोमिनियन की सरकार या उसकी पूर्ववर्ती कोई सरकार एक पक्षकार थी और जो संविधान के प्रारंभ होने के पश्चात् लागू है- उत्पन्न किसी विवाद में या ऐसी संधि, करार, प्रसंविदा, वचनबंध, सनद या वैसी ही अन्य लिखित (लिखे हुए प्रावधान) से संबंधित इस संविधान के किसी उपबंध के अध ीन उत्पन्न किसी अधिकार या उससे उत्पन्न किसी दायित्व या बाध्यता के संबंध में किसी विवाद में अधिकारिता नहीं होगी, अर्थात् कुल मिलाकर संविधान निर्माण या लागू होने के पूर्व किए गए संधि, प्रसंविदा, करार, वचनबध, सनद या वैसे ही अन्य लिखे हुए उपबंधों से उत्पन्न विवाद में सर्वोच्च न्यायालय को कोई अधि कारिता नहीं होगी अर्थात् ऐसे बाद उसकी सुनावाई हेतु प्रस्तुत नहीं किए जाएंगे।

2. अनु. 262 के अंतर्गत संसद, विधि द्वारा किसी अन्तर्राज्यीय नदी या उसके जल के प्रयोग, वितरण या नियंत्रण के संबंध में किसी विवाद या परिवाद के न्याय निर्णयन का उपबंध कर सकेगी और साथ ही यह उपबंध भी सकेगी कि, सर्वोच्च न्यायालय या अन्य कोई न्यायालय इस संबंध में अपनी अधिकारिता का प्रयोग नहीं करेगा।

3. अनु. 280 के अधीन बनाए गए वित्त आयोग को सौंपे गए विषयों से संबंधित विवाद भी सर्वोच्च न्यायालय की अधिकारिता के बाहर है।

4. अनु. 290 के अनुसार इस संविधान के उपबंध ों के अधीन किसी न्यायालय या आयोग के व्यय अथवा किसी व्यक्ति को या उसके संबंध में, जिसने इस संविधान के प्रारंभ के पूर्व भारत में क्राउन के अधीन अथवा संविधान लागू होने के पश्चात् संघ या किसी राज्य के क्रियाकलाप के संबंध में सेवा की है, और उसके संदेय पेंशन भारत संघ या किसी राज्य की संचित निधि पर भारित है (यदि उसका मिलने वाली पेंशन के संबंध में करार दिया गया हो तो उतना जितना कि करार द्वारा निश्चित है और यदि करार न हो तो पेंशन की राशि सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश द्वार नियुक्त मध्यस्थ द्वारा निर्धारित किया जाए) उस व्यक्ति को उतनी राशि संचित निधि में से दी जाएगी। इससे संबंधि त या उत्पन्न किसी विवाद में सर्वोच्च न्यायालय या अन्य किसी भी न्यायालय को वाद ग्रहण करने की अन्य कोई अधिकारिता नहीं होगी।

5. अनु. 257 (4) के अनुसार, संघ द्वारा किसी

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

राज्य या राज्यों में संचार साधनों के निर्माण या बनाए रखने के बारे में अथवा रेलों की सुरक्षा के लिए किए जाने वाले उपायों के बारे में, किसी राज्य को दिए गए निर्देश के पालन में किसी इकाई राज्य द्वारा किए जाने वाले व्यय के निर्धारण से उत्पन्न कोई विवाद सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश द्वारा नियुक्त मध्यस्थ द्वारा सुलझाया जाएगा और व्यय का निर्धारण वही करेगा तथा उसका निर्णय सर्वमान्य होगा। इस संबंध में किसी भी अन्य न्यायालय या सर्वोच्च न्यायालय को अन्य कोई भी अधिकारता नहीं होगी।

6. अनु. 258(3) के अनुसार, जब संघीय सरकार किसी राज्य अथवा उसके अधिकारियों को अपनी ओर से कुछ शक्तियाँ प्रदान करके उन्हें कुछ कार्य सौंप देती है तो उन शक्तियों के प्रयोग के संबंध में अथवा कार्य संपादन में हुए व्यय की राशि का निर्धारण को लेकर यदि कोई वाद-विवाद उत्पन्न हो जाता है तो ऐसी राशि का निर्धारण मुख्य न्यायाधीश द्वारा नियुक्त मध्यस्थ द्वारा होगा तथा उसका निर्णय सर्वमान्य होगा। इस संबंध में सर्वोच्च या किसी अन्य न्यायालय को कोई अधिकारिता नहीं होगी।

मूल अधिकारों के संबंध में सर्वोच्च न्यायालय की अधिकारिता (अनु. 32):

आरंभिक अधिकारिता का तात्पर्य यह होता है कि, विवाद उत्पन्न होने पर बिना निचले न्यायालयों में गए सीधे सर्वोच्च न्यायालय में जाकर उपचार प्राप्त किया जाय। यद्यपि संविधान का अनु. 131 सर्वोच्च न्यायालय की आरंभिक अधिकारिता में मूल अधिकारों से जुड़े हुए विवादों को शामिल नहीं करता। इसी कारण डी.डी. बसु मूल अधिकारों के उल्लंघन के विरूद्ध नागरिकों को उपचार प्रदान करने की शक्ति (अनु. 32) को उसकी आरंभिक अधिकारिता स्वीकार नहीं करते। अनु. 32 मूलाधिकारों के उल्लंघन पर त्वरित उपचार की व्यवस्था करता है जिसके अनुसार कोई व्यक्ति अपने मूलाधिकारों के संरक्षण हेतु सीधे सर्वोच्च न्यायालय में जा सकता है। सर्वोच्च न्यायालय नागरिकों के मूलाधिकारों की रक्षा हेतु 5 प्रकार की रिट जारी कर सकता है - बन्दी प्रत्यक्षीकरण, परमादेश, प्रतिषेध, उत्प्रेषण और अधिकार पृच्छा।

जिसप्रकार मूल अधिकारों के उल्लंघन पर व्यक्ति सीध ` सर्वोच्च न्यायालय की शरण ले सकता है ठीक उसी प्रकार राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति के निर्वाचन से जुड़े हुए मुद्दे (अनु. 71) तथा जनहित याचिकाएं भी सीधे सर्वोच्च न्यायालय के न्याय निर्णय के अधिकार में हैं किन्तु इन दोनों को सर्वोच्च न्यायालय की आरंभिक अधिकारिता (अनु. 131) में शामिल नहीं किया गया है।

2. अपीलीय अधिकारिता:

यद्यपि संघात्मक व्यवस्था में सर्वोच्च न्यायालय सबसे ऊँचे शिखर पर प्रतिष्ठित है, वह सर्वोच्च अपीलीय न्यायालय है क्योंकि उसे संघ के सभी इकाई राज्यों के उच्च न्यायालयों के निर्णयों के विरूद्ध अपील सुनने का अधिकार प्राप्त है। उसकी अपीलीय अधिकारिता 4 शीर्षकों में विभाजित की जा सकती है:

(क) संवैधानिक मामले,
(ख) सिविल मामले,
(ग) दांडिक मामले तथ
(घ) विशेष इजाजत/अनुमति से अपील

(क) संवैधानिक मामले में अपील (अनु. 132):

संविधान के अनु. 132(1) के अनुसार, भारत के राज्यक्षेत्र में किसी उच्च न्ययालय की सिविल, दांडिक या अन्य कार्यवाही में दिए गए किसी निर्णय, डिक्री या अंतिम आदेश की अपील सर्वोच्च न्यायालय में ही होगी, यदि उच्च न्यायालय अनु. 134(क) के अधीन यह प्रमाणित कर देता है कि उसे मामले में इस संविधान की व्याख्या के बारे में कानून का कोई सारवान प्रश्न निहित है।

यदि उच्च न्यायालय के एकल न्यायाधीश के निर्णय के विरूद्ध अपील उसी उच्च न्यायालय की बड़ी पीठ में किए जाने की व्यवस्था है तो सर्वोच्च न्यायालय में अपील करने हेतु एकल न्यायाधीश द्वारा प्रमाणपत्र दिया जाना अनुचित है।

सर्वोच्च न्यायालय के समक्ष अपील में अपीलार्थी उच्च न्यायालय के निर्णय के औचित्य पर उस आधार से भिन्न किसी आधार पर चुनौती नहीं दे सकता जिसपर उसे प्रामणपत्र दिया गया है, किन्तु सर्वोच्च न्यायालय विशेष अनुमति ..... दे सकता है, लेकिन ऐसी अनुमति केवल उन्हीं मामलों में दी जाएगी जहाँ सर्वोच्च न्यायालय को लगे कि अन्याय हुआ है। उच्च न्यायालय द्वारा प्रमाणपत्र दिए जाने के बाद भी सर्वोच्च न्यायालय अपील को ठुकरा सकता है यदि उसे यह विश्वास हो जाय कि मामला अपील के योग्य नहीं है।

यदि उच्च न्यायालय प्रमाणपत्र देने से इनकार कर देता है लेकिन सर्वोच्च न्यायालय को यह विश्वास हो जाता है कि मामले में संविधान की व्याख्या का कोई सारवान् विधिक प्रश्न समाहित है तो वह ऐसे डिक्री, आदेश, या निर्णय के विरूद्ध अनु. 136 के अधीन सर्वोच्च न्यायालय में 'अपील की विशेष अनुमति' दे सकता है।

(ख) सिविल मामलों में अपील (अनु. 133)

अनु 133(क) के अनुसार, भारत के राज्यक्षेत्र में किसी उच्च न्यायालय की सिविल कार्यवाही में दिए गए किसी निर्णय, **या** अंतिम आदेश की अपील सर्वोच्च न्यायालय में होगी यदि उच्च न्यायाल अनु. 134(क) के अधीन प्रमाणित कर देता है कि,

(क) उस मामले में विधि के व्यापक महत्व का कोई सारवन प्रश्न समाहित है और
(ख) उच्च न्यायालय की राय में उस प्रश्न का सर्वोच्च न्यायालय द्वारा विनिश्चय आवश्यक है।

अनु. 133(2) के अनुसार, अनु. 132 में किसी बात के

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

होते हुए भी, सर्वोच्च न्यायालय में खण्ड (1) के अधीन अपील करने वाला कोई पक्षकार ऐसी अपील के आधारों में यह आधार भी बता सकेगा कि, इस संविधान की व्याख्या के बारे में विधि के किसी सारवान् प्रश्न का निर्धारण गलत किया गया है।

अनु. 133(3) के अनुसार, इस अनुच्छेद में किसी बात के होते हुए भी उच्च न्यायालय के एक न्यायाधीश के निर्णय, डिक्री या आदेश की अपील सर्वोच्च न्यायालय में तबतक नहीं होगी जब तक कि संसद कानून द्वारा अन्यथा उपबंध न करे।

अनु. 133 के अधीन अपील की शर्तें कठोर हैं क्योंकि अब यही दिखाना पर्याप्त नहीं है कि प्रश्न एक सार्वजनिक महत्व का है और जनसाधारण से जुड़ा हुआ है, बल्कि यह दिखाना भी आवश्यक है कि उच्च न्यायालय की राय में इस प्रश्न का सर्वोच्च न्यायालय द्वारा निपटारा आवश्यक है। किसी ऐसे प्रश्न जिस पर दो उच्च न्यायालयों ने पृथक-पृथक मत व्यक्त किया हो, उसे सर्वोच्च न्यायालय द्वारा निपटाया जाना अपेक्षित है।

(ग) दांडिक/फौजदारी मामलों में अपील (अनु. 134):

अनु. 134(1) के अनुसार, किसी उच्च न्यायालय की दांडिक कार्यवाही में दिए गए किसी निर्णय, अंतिम आदेश या दण्डादेश की अपील सर्वोच्च न्यायालय में की जा सकेगी, यदि:

(क) उस उच्च न्यायालय ने अपील में किसी अभियुक्त व्यक्ति की दोषमुक्ति के आदेश को उलटकर उसे मृत्युदंड दे दिया हो, या

(ख) उस उच्च न्यायालय ने अपने प्राधिकार के अधीनस्थ किसी न्यायालय से किसी मामले को विचार हेतु अपने पास मंगा लिया हो और ऐसे विचार के उपरांत अभियुक्त को मृत्युदंड दे दिया हो।

उपरोक्त दोनों प्रकार के मामलों में उच्च न्यायालय के प्रमाणपत्र के बिना भी सर्वोच्च न्यायाल में अपील की जा सकती है, किन्तु उच्च न्यायालय के प्रमाणपत्र से दांडिक मामलों में अपील तभी की जा सकेगी जब उच्च न्यायालय अनु. 134(क) के अधीन प्रमाणित कर दे कि मामला सर्वोच्च न्यायालय में जाने के योग्य है और यह प्रामाण पत्र तभी दिया जायेगा जब उस मामले में विधि का कोई सारवान प्रश्न हो या व्यापक रूप से सार्वजनिक महत्व का कोई प्रश्न हो या न्याय के किसी सारवान सिद्धांत का उल्लंघन हुआ हो।

अनु. 134(2) के अनुसार, संसद को यह अधिकार है कि वह दांडिक मामलों में सर्वोच्च न्यायालय की अधिकारिता को बढ़ा सकता है। इस संदर्भ में संसद ने 1970 ई. में एक अधिनियम पारित कर सर्वोच्च न्यायालय की दांडिक अधिकारिता को बढ़ा दिया है। इसके अधीन निम्नलिखित मामलों में उच्च न्यायालय से सर्वोच्च न्यायालय के अपील की जा सकती है, यदि:

(क) अपील करने के बाद उच्च न्यायालय ने निचले न्यायालय के रिहाई के आदेश को
उलटकर अभियुक्त को 'आजीवन करावास' का या 10 वर्ष या अधिक के कारावास का दंड दिया है, या

(ख) उच्च न्यायालय, अपने अधीनस्थ न्यायालय से किसी मामले को परीक्षण के लिए अपने
पास मंगाकर अभियुक्त को आजीवन करावास या 10 वर्ष से अधिक दंड दे दिया हो।

सर्वोच्च न्यायालय में अपील के लिए प्रमाणपत्र (अनु. 134 (क)):

44वें संविधान संशोधन (1978) द्वार अनु. 132, 133 तथा 134 में संशोधन करके सर्वोच्च न्यायालय में उच्च न्यायालय से अपील के लिए प्रमाणत्र दिए जाने के विषय में विलंब को कम करने का प्रयास किया गया है। इस संशोधन द्वारा जोड़े गए अनु. 134 (क) के अनुसार प्रत्येक उच्च न्यायालय जो अनु. 132, 133 तथा 134 के खंड (1) के अधीन किसी निर्णय, डिक्री, दंड या अंतिम आदेश को पारित करता है वह:

(क) यदि ऐसा करना ठीक समझता है तो स्वप्रेरणा से, या

(ख) यदि ऐसा निर्णय, डिक्री, दंडादेश या अंतिम आदेश पारित किए जाने या दिए जाने के
तुरंत पश्चात् व्यथित पक्षकर द्वारा या उसकी ओर से आवेदन किया जाता है।

तो वह उच्च न्यायालय यथाशीघ्र विचार करेगा कि उक्त मामलों में सर्वोच्च न्यायालय में अपील का प्रमाण पत्र दिया जाय या नहीं।

कुछ मामलों का अंतरण (अनु. 139 (क)):

अनु. 139(क), 42वें संविधान संशोधन (1976) द्वारा जोड़ा गया है। अनु. 139 क(1) के अनुसार, यदि ऐसे मामले, जिनमें विधि के समान या सारत: प्रश्न समाहित है, सर्वोच्च न्यायालय के और एक या कुछ अधिक उच्च न्यायालयों के समक्ष लंबित हैं, सर्वोच्च न्यायालय का स्वप्रेरणा से या भारत के महान्यायवादी द्वारा ऐसी किसी मामले के किसी पक्षकार द्वारा किए गए आवेदन पर यह समाधान हो जाता है कि ऐसा प्रश्न व्यापक महत्व का सारवान् प्रश्न है तो सर्वोच्च न्यायालय उस उच्च न्यायालय या उन उच्च न्यायालयों के समक्ष लंबित मामलों को अपने पास मंगा सकेगा और उन सभी मामलों को स्वयं निपटा सकेगा।

परंतु सर्वोच्च न्यायालय इसप्रकार मंगाए गए मामलो को उक्त विधि के प्रश्नों का अवधारणा करने के पश्चात् ऐसे प्रश्नों पर अपने विचार/निर्णयों की प्रतिलिपि सहित, उस उच्च न्यायालय को जिससे मामला मंगा लिया है, लौटा सकेगा और वह उच्च न्यायालय

FREE IAS

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

उसके प्राप्त होने पर उस मामले को ऐसे निर्णय के अनुरूप निपटाने हेतु आगे कार्यवाही करेगा।

अनु. 139 क(2)के अनुसार, यदि सर्वोच्च न्यायालय न्याय के उद्देश्य की पूर्ति के लिए ऐसा करना समीचीन समझता है तो वह किसी उच्च न्यायालय के समक्ष लंबित किसी मामले, अपील या अन्य कार्यवाही का अन्तरण किसी अन्य उच्च न्यायालय को कर सकेगा। वह मामले को अपने पास भी मंगा सकता है, लेकिन राज्य के भीतर उच्च न्यायालय से निचले स्तर के न्यायालयों में पारस्परिक हस्तांतरण की शक्ति या निम्न न्यायालय से उच्च न्यायालय में हस्तांरण की शक्ति संबंधित राज्य के उच्च न्यायालय को होगी।

(घ) अपील के लिए सर्वोच्च न्यायालय की विशेष अनुमति (अनु. 136):

अनु. 136(1) के अनुसार, सर्वोच्च न्यायालय अपने विवेकानुसार, भारत के राज्यक्षेत्र में किसी न्यायालय या अधिकरण द्वारा किसी वाद या मामले में पारित किए गए या दिए गए किसी निर्णय, डिक्री, आदेश या दंडादेश की अपील के लिए विशेष अनुमति दे सकेगा।

लेकिन इसका एक अपवाद है। सशस्त्र बलों से संबद्ध किसी विधि के अधीन गठित किसी न्यायालय के निर्णय आदि से अपील की विशेष अनुमति नहीं दी जा सकती (अनु. 136(2))।

इस अनुच्छेद द्वारा सर्वोच्च न्यायालय को अत्यंत व्यापक अधिकार मिल गया है। अब सर्वोच्च न्यायालय स्वविवेक से जहां आवश्यक हो, वहां हस्तक्षेप कर सकता है। सामान्य अपील प्रक्रिया के अनुसार किसी अधीनस्थ न्यायालय से निर्णय आने के बाद सर्वप्रथम उच्च न्यायालय में अपील कर चुकने और उसका भी निर्णय आ जाने के बाद सर्वोच्च न्यायलय में अपील की जा सकती है किन्तु अनु. 136 के अंतर्गत सर्वोच्च न्यायलय उच्च न्यायालय की उपेक्षा करके अधीनस्थ न्यायालय से सीधे अपील सुनने की विशेष अनुमति दे सकता है। यह अत्यंत विशिष्ट शक्ति है जिसका प्रयोग अत्यंत आपवादित परिस्थितियों में और बहुत सोच विचार करके ही किया जाना चाहिए।

(3) परामर्शदात्री अधिकारिता (अनु. 143):

अनु. 143(1) के अनुसार यदि किसी राष्ट्रपति को प्रतीत होता है कि विधि या तथ्य का कोई ऐसा प्रश्न उत्पन्न हुआ है या उत्पन्न होने की संभावना है जो सार्वजनिक महत्व का है तथा उस पर सर्वोच्च न्यायालय की राय प्राप्त करना समीचीन है तो वह उस प्रश्न को विचारार्थ सर्वोच्च न्यायालय को निर्देशित कर सकेगा और वह न्यायालय ऐसी सुनवाई के बाद, जो वह ठीक समझता है राष्ट्रपति को उस पर अपनी राय देगा।

राष्ट्रपति को सलाह देने के पूर्व सर्वोच्च न्यायालय का मुख्य न्यायाधीश अपने 4 वरिष्ठ सहयोगी न्यायाधीशों (अर्थात् कम-से-कम कुल 5 न्यायाधीश, यह संख्या 5 से अधिक भी हो सकती है) के साथ वार्ता करके इसका निर्धारण करेगा कि राष्ट्रपति को क्या सलाह दी जाय। ऐसी वार्ता में मुख्य न्यायाधीश के अपने व्यक्तिगत विचार महत्वपूर्ण माने जायेंगे। चूंकि सर्वोच्च न्यायालय संविधान का संरक्षक है और संविधान का व्याख्याता भी है अत: महत्वपूर्ण संवैधानिक एवं विधिक मामलों में उसकी राय जान लेना आवश्यक व उपयोगी है जिससे कि बाद में उठने वाले विवादों से बचा जा सके। राष्ट्रपति के लिए सर्वोच्च न्यायालय द्वारा दिए गए सलाह या परामर्श को मानना बाध्यकारी नहीं है और न हीं सर्वोच्च न्यायालय ही इस बात के लिए बाध्य है कि वह प्रत्येक मसले पर सरकार को अपनी राय दे। आयोध्या मसले पर सर्वोच्च न्यायालय ने सरकार को कोई भी राय या परामर्श देने से इनकार कर दिया था। भारत के राष्ट्रपति ने सर्वप्रथम 1951 ई. में सर्वोच्च न्यायालय से दिल्ली विधि अधिनियम, 1912 के संबंध में परामर्श मांगा था। सर्वोच्च न्यायालय द्वारा दिए गए परामर्श को मानने हेतु राष्ट्रपति विवश नही है किन्तु ऐसे परामर्श में किए गए विनिश्चय या प्रतिपादित सिद्धांत अधीनस्थ न्यायालयों के लिए मार्गदर्शक एवं बाध्यकारी होंगे।

अमेरिका में शक्ति पृथक्करण के सिद्धांत को अपनाने के कारण न्यायापालिका, कार्यपालिका को किसी भी मामले में परामर्श नहीं देती किन्तु कनाडा के संविधान में सर्वोच्च न्यायालय को ऐसी राय देने का अधिकार है।

(4) अभिलेख न्यायालय (अनु. 129):

संविधान के अनु. 129 के अनुसार, सर्वोच्च न्यायालय को अभिलेख न्यायालय (Courts of Record) का दर्जा प्राप्त है। इसका दो अर्थ होता है - प्रथम, सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय लिखित होते हैं और उसको एक रिकार्ड की भांति सुरक्षित रखा जाता है तथा इसका निर्णय अधीनस्थ न्यायालयों के लिए बाध्यकारी होते हैं अर्थात् सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय को निम्न न्यायालयों की विधिक कार्यवाही में नजीर या उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है तथा द्वितीय, अभिलेख न्यायालय को अपनी अवमानना के लिए किसी भी व्यक्ति को दंड देने का अधिकार है।

न्यायालय की अवमाननता हेतु आर्थिक दंड या कारावास या दोनों भी दिया जा सकता है। न्यायाधीशों को भी न्यायालयों की अवमानना हेतु दंडित किया जा सकता है।

सर्वोच्च न्यायालय की कुछ अन्य शक्तियाँ :

सर्वोच्च न्यायालय को न्यायिक पुनर्विलोकन का अधि कार है (अनु. 137), जिसके अंतर्गत उसे उन कानूनों को रद्द करने का अधिकार है जो संविधान के विरूद्ध हैं।

संसद कानून बनाकर सर्वोच्च न्यायालय को संघ सूची के विषयों के संबंध में कुछ अतिरिक्त अधिकारिता व शक्तियाँ सौंप

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

सकती है (अनु. 138)।

अनु. 139 के अनुसार, संसद कानून द्वारा सर्वोच्च न्यायालय को मूल अधिकारों से भिन्न किसी अन्य प्रयोजनों के लिए ऐसे निर्देश, आदेश या रिट (जिनके अंतर्गत बन्दी प्रत्यक्षीकरण, परमादेश, प्रतिषेध, उत्प्रेषण तथा अधिकार पृच्छा की रिट शामिल हैं) निकालने की शक्ति प्रदान कर सकेगी।

अनु. 140 के अनुसार, संसद कानून द्वारा सर्वोच्च न्यायालय को ऐसी अनुपूरक शक्तियां प्रदान करने हेतु उपबंध कर सकेगी जो इस संविधान के प्रावधानों से असंगत न हो और जो उस न्यायालय को कार्यसंपादन में अधिक सक्षम बनाते हों।

अनु. 141 के अनुसार, सर्वोच्च द्वारा घोषित कानून अर्थात् दिया गया निर्णय भारत राज्यक्षेत्र के भीतर स्थित सभी न्यायालयों के लिए बाध्यकारी होगा, लेकिन स्वयं सर्वोच्च न्यायालय किसी अन्य न्यायालय के निर्णय से बंधा हुआ नहीं है। वह न केवल अन्य न्यायालयों के, बल्कि स्वयं के द्वारा अतीत में दिए गए किसी निर्णय को भी बदलकर उसे अधिक प्रासंगिक एवं समयानुकूल बना सकता है।

अनु. 145 के अनुसार, सर्वोच्च न्यायालय को यह अधि कार है कि वह समय-समय पर राष्ट्रपति के अनुमोदन से न्यायालय की प्रक्रिया एवं प्रक्रिया पद्धति के विनियमन हेतु नियम बना सकता है।

सर्वोच्च न्यायालय संविधान का संरक्षक है:

भारतीय संविधान निर्माताओं ने संविधान को परिवर्तित होती परिस्थितियों में भी समयानुकूल एवं प्रासंगिक बनाए रखने के लिए उसमें संशोधन करने की शक्ति संसद को दे दी है। लेकिन संविधान की व्याख्या करने का अधिकार तथा संविधान के संरक्षकत्व का दायित्व सर्वोच्च न्यायालय को सौंपा, संभवत: उन्हें लोक प्रतिनिधियों के बीच होने वाले संवाद की तुलना में न्यायिक विवेक पर अधिक भरोसा था। संविधान में ऐसे अनके प्रावधान हैं जो सर्वोच्च न्यायालय को संविधान के संरक्षक के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं।

सर्वप्रथम, अनु. 32 के प्रावधान सर्वोच्च न्यायालय को नागरिकों के मूल अधिकारों का संरक्षक घोषित करते हैं। मूलाधि कारों का उपयोग सुनिश्चित करने हेतु सर्वोच्च न्यायालय 5 प्रकार की रिट जारी कर सकता है। सर्वोच्च न्यायालय की इस शक्ति के अभाव में मौलिक अधिकारों की वही स्थिति होगी कि पक्षी को उड़ाने को प्रयास तो किया जा रहा है लेकिन उसके पंख काट लिए गए हों।

द्वितीय, अनु. 131 सर्वोच्च न्यायालय की आरंभिक अधि कारिता का वर्णन करता है, इसके अनुसार संघ और इकाई राज्यों के बीच होने वाले किसी प्रकार के विवाद को सुलझाने का अधि कार सर्वोच्च न्यायालय के पास है और इस विवाद में उसका निर्णय अंतिम माना जाएगा। केन्द्र व इकाई राज्यों के बीच कोई भी टकराव संघात्मक व्यवस्था के बिखराव के कारण हो सकता है अत: सर्वोच्च न्यायालय का दायित्व है कि वह उचित, न्यायपूर्ण एवं प्रासंगिक निर्णय देकर इस प्रकार के मामलों को निपटाए जिससे न केवल संघात्मक व्यवस्था सुरक्षित रहे, वरन संविधान की गरिमा भी बनी रहे।

तृतीय अनु. 137 के प्रावधान सर्वोच्च न्यायालय को न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति प्रदान करते हैं जिसके अनुसार, सर्वोच्च न्यायालय को यह अधिकार है कि कार्यपालिका द्वारा दिया गया कोई आदेश या व्यवस्थापिका (संसद) द्वारा बनाया गया कोई कानून यदि संविधान के प्रावधानों से असंगत है या उसके प्रतिकूल है तो वह उस आदेश या कानून को रद्द घोषित कर दे। न्यायपालिका के इस अधिकार को 'न्यायिक पुनर्विलोकन का अधिकार' कहते हैं। इंग्लैण्ड में न्यायालयों को यह अधिकार नहीं है कि वे संसद द्वारा बनाए गए किसी कानून को रद्द कर दें, इसके दो कारण हैं, प्रथम, वहाँ व्यवस्थापिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका में व्यवस्थापिका अर्थात् संसद सर्वोच्च है अत: संसदीय सर्वोच्चता का घोषित सिद्धांत होने के कारण न्यायपालिका को संसदीय विधायन पर रोक लगाने का कोई अधिकार नहीं है तथा द्वितीय, वहां संसद सामान्य कनून निर्माण प्रक्रिया (अर्थात् सामान्य बहुमत) द्वारा संविध ान के किसी भी प्रावधान में कोई भी संशोधन कर सकती है। अमेरिका के संविधान में न्यायिक पुनर्विलोकन की व्यवस्था है और भारत ने न्यायिक पुनर्विलोकन का प्रावधान वहीं से ग्रहण किया है लेकिन कुछ बातों में भारत और अमेरिका के न्यायिक पुनर्विलोकन के प्रावधानों में अंतर है। भारत में सर्वोच्च न्यायालय 'विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया' के सिद्धांत का पालन करता है। सर्वोच्च न्यायालय किसी भी ऐसे आदेश को तथा किसी भी कानून को इसलिए अवैध ठहरा सकता है कि, वह संविधान के स्थापित प्रावधानों के प्रतिकूल है अर्थात् आदेश देने या कानून बनने के बाद। लेकिन भारत में संसद न्यायिक पुनर्विलोकन से बचने हेतु अपने दो-तिहाई बहुमत से संविधान में संशोधन कर सकती है और इस प्रकार न्यायपालिका की न्यायिक पुनर्विलोकन से बच सकती है।

अमेरिका में 'विधि की उचित प्रक्रिया' का सिद्धांत होने के कारण सर्वोच्च न्यायालय कार्यपालिका के किसी भी आदेश या व्यवस्थापिका के किसी भी कानून को औचित्य या दुर्भावना के आधार पर भी रद्द घोषित कर सकता है यदि वह संविधान के प्रावधानों के प्रतिकूल है। वहां न्यायिक पुनर्विलोकन एक बहुत महत्वपूर्ण साधन है क्योंकि संशोधन संविधान की प्रक्रिया अत्यंत जटिल है। इस प्रकार अमेरिका में न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति और परिधि भारत की तुलना में व्यापक है। वस्तुत: भारतीय संविध ान निर्माताओं ने न्यायालय की सर्वोच्चता तथा संसदीय प्रणाली के बीच एक समन्वय-संतुलन बनाने का काम किया है जबकि अमेरिका में निरपेक्ष रूप से न्यायपालिका को अधिक शक्तियां सौंप दी गई हैं।

FREE IAS

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति का प्रयोग करके भारत में सर्वोच्च न्यायालय न केवल नागरिकों के मूलाधिकारों का संरक्षण करने में सफल रहा है, वरन् उसने इकाई राज्यों के संवैधानिक अधिकारों को भी संरक्षित कर संघवाद को सुदृढ़ बनाने में सफलता प्राप्त की है।

चतुर्थ, भारत में सर्वोच्च न्यायालय को अनु. 143 के अंतर्गत राष्ट्रपति को परामर्श देने की शक्ति प्राप्त है। जटिल कानूनी प्रश्नों या स्पष्ट संवैधानिक प्रावधानों पर राष्ट्रपति को अपनी बहुमूल्य राय देकर न्यायालय संविधान के प्रावधानों को न केवल स्पष्ट करता है, बल्कि उसकी व्याख्या भी करता है। जिस मामले में इस संविधान की व्याख्या के बारे में विधि का कोई महत्वपूर्ण प्रश्न समाहित है, उस मामले पर निर्णय के लिए या राष्ट्रपति को परामर्श देने के लिए विचार करने हेतु बैठने वाले न्यायधीशों की संख्या (मुख्य न्यायधीश सहित) न्यूनतम 5 होगी। (अनु. 143(3))। भारत गणतंत्र के सर्वोच्च पदाधिकारी के लिए न्यायापालिका की राय अत्यंत महत्वपूर्ण है। इससे न केवल सरकार का मार्गदर्शन होता है, वरन् उसे न्यायालय के दृष्टिकोण की जानकारी भी पहले हो जाती है जिससे कि बाद में होने वाले विवादों से बचा जा सके।

पंचम, केशवानंद भारती वाद (1973) में सर्वोच्च न्यायालय ने (किसी वाद का निर्णय करने बैठी यह सर्वोच्च न्यायालय की सबसे बड़ी बेंच थी, यह पूर्ण पीठ थी, क्योंकि तब सर्वोच्च न्यायालय में 14 न्यायाधीश थे तथा 13 न्यायाधीशों ने मिलकर 7 : 6 के बहुमत से) यह निर्णय दिया था कि, संसद संविधान के प्रावधानों में कोई भी संशोधन कर सकती है किन्तु वह संविधान की मूल संरचना में कोई भी संशोधन नहीं कर सकेती। संविधान की मूल संरचना को असंशोधनीय बताकर सर्वोच्च न्यायालय ने संसदीय सर्वोच्चता के बहाने नागरिक अधिकारों में निरंतर कटौती करते रहने की प्रवृत्ति पर न केवल अंकुश लगाया, वरन् न्यायपालिका - व्यवस्थापिका के बीच चल रहे द्वन्द में अपनी स्थिति अत्यंत मजबूत कर ली। मूल संरचना क्या है, इसे व्यवस्थापिका या संसद नहीं जानती, इसक निर्धारण सर्वोच्च न्यायालय करेगा। इसके कारण भारतीय न्यायपालिका पर भी ह्यूज की यह टिप्पणी ठीक बैठती है जो उन्होंने अमेरिकी संविधान के बारे में कहा था कि, संविधान वही है जो न्यायाधीश कहते हैं। मूल संरचना सिद्धांत के प्रतिपादन के कारण न्यायपालिका आज न केवल संविधान का व्याख्यता और संरक्षक है वरन् वह संविधान के भाग्य, भविष्य एवं अस्तित्व का निर्धारक भी बन गया है।

इन उपर्युक्त संवैधानिक प्रावधानों और न्यायिक व्यवस्थाओं के कारण आज सर्वोच्च न्यायालय महत्वपूर्ण संवैधानिक भूमिका का निर्वाह करने लगा है। भले ही इस भूमिका के बारे में संविधान निर्माताओं ने कभी सोचा भी न रहा हो किन्तु स्वार्थी राजनीतिज्ञों तथा संसदीय उत्श्रृंखलता पर परिस्थितिजन्य एवं सामयिक नियंत्रण लगातार न्यायपालिका ने संविधान को सुरक्षित व संरक्षित किया है। जनहित याचिकाओं (1986 ई. में सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश पी.एन. भगवती द्वारा शुरू की गई व्यवस्था) के युग का प्रारंभ कर न्यायपालिका के आज लोककल्याणकारी न्यायप्रणाली अपनाकर राजनीतिक व्यवस्था को सुधारने का जो प्रयास किया है वह संवैधानिक इतिहास में अद्वितीय है। जनहित याचिकाओं ने 'जनकेन्द्रित लोकतंत्र' को प्रतिष्ठित कर न केवल नागरिक अधिकारों के प्रति लोगों की चेतना बढ़ायी है, वरन् उन्हें आशा की एक किरण भी दिखलायी है। इस रूप में सर्वोच्च न्यायालय की भूमिका महत्पूर्ण हो गयी है।

न्यायापालिका की स्वतंत्रता को बनाए रखने वाले प्रावधान :

भारतीय संविधान में न्यायपालिका को महत्वपूर्ण संवैधानिक दायित्व एवं अधिकार दिए गए हैं। इनका बिन दबाव के समुचित ढंग से निर्वहन हो इसके लिए न्यायापालिका की स्वतंत्रता परम आवश्यक है। न्यायापलिका की स्वतंत्रता व निष्पक्षता न केवल मौलिक अधिकारों की सुरक्षा हेतु आवश्यक है वरन् संघात्मक व्यवस्था की दृढ़ता एवं मजबूती के लिए भी आवश्यक है। भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में न्यायाधीशों को राजनीतिक दबाव से मुक्त कर उन्हें स्वतंत्र बनाए रखने के लिए निम्नलिखित प्रावधान किए गए हैं:

(क) सर्वोच्च न्यायालय के न्यायधीशों की नियुक्ति भारत के राष्ट्रपति द्वारा की जाती है और नियुक्ति करने में राष्ट्रपति भारत के मुख्य न्यायाधीश से अवश्य परामर्श करते है और जब मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति करनी हो तो वह उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों एवं सर्वोच्च न्यायालय के वरिष्ठ न्यायाधीशों से मंत्रणा/परामर्श करता है। इस परामर्श द्वारा एक सहमति बनाने का प्रयास होता है कि जिससे कि बाद में कोई विवाद न हो।

(ख) न्यायाधीशों की पद से अवकाश ग्रहण करने की लंबी उम्र (65 वर्ष) तथा पद से हटाने के लिए महाभियोग की जटिल प्रक्रिया उनकी कार्य में स्वतंत्रता बनाए रखने में सहायक है।

(ग) न्यायाधीशों को निष्पक्ष एवं भयमुक्त रखने के लिए ही संविधान ने उनका वेतन सुनिश्चित कर रखा है, वह भारत की संचित निधि पर भारित है। न्यायाधीशें के वेतन-भत्ते में कोई कटौती वित्तीय आपातकाल को छोड़कर नहीं की जा सकती है। उनके वेतन-भत्ते में उनके कार्यकाल के दौरान कोई अलाभकारी परिवर्तन भी नहीं किया जा सकता है।

(घ) अनु. 146(3) के अनुसार, सर्वोच्च न्यायालय के प्रशासनिक व्यय एवं न्यायाधीशों और अन्य कर्मचारियों के वेतन, भत्ते आदि भी भारत की संचित निधि पर ही भारित होते हैं जिसमें कटौती नहीं की जा सकती है और न ही संसद में इस पर मतदान हो सकता है।

(ङ) सर्वोच्च न्यायालय के किसी न्यायाधीश के आचरण के संबंध में कोई भी चर्चा या वाद-विवाद संसद में उस न्यायाधीश को हटाने के प्रस्ताव को प्रस्तुत करने के बाद ही होगी अर्थात् महाभियोग के समय, अन्यथा नहीं।

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

(च) सेवानिवृत होने के बाद सर्वोच्च न्यायालय का न्यायाधीश किसी भी न्यायालय में या किसी अन्य अधिकारी के समक्ष अभिवचन या कार्य नहीं करेगा। यह प्रावधान सेवानिवृत्ति के निकट पहुंच चुके न्यायाधीशों को राजकीय प्रलोभन से बचाने हेतु किया गया है। प्राय: यह देखा गया है कि, सेवानिवृत्त न्यायाधीशों को सरकारी पदों पर नियुक्त किया जाता रहा है, जैसे किसी आयोग का अध्यक्ष या राजदूत आदि। लेखक की दृष्टि से यह भी एक प्रलोभन है। संवैधानिक प्रावधान यह होना चाहिए कि न्यायाधीशगण सेवानिवृत्त होने के बाद किसी भी प्रकार की राजकीय नियुक्ति नहीं पा सकते। अनुचित दबाव और प्रलोभन से बचाव हेतु एक बेहतर कदम होगा। संविधान में जो सेवानिवृत्त न्यायाधीशों को सर्वोच्च न्यायालय के बैठकों में बुलाने की व्यवस्था है (अनु. 128), उस पर भी न्यायाधीशों की स्वतंत्रता एवं निष्पक्षता के परिप्रेक्ष्य में चिंतन की आवश्यकता है। यह अनुच्छेद भी अनुचित प्रलोभन का कारण व आधार बन सकता है।

(छ) संविधान के अनु. 50 में कार्यपालिका और न्यायापलिका के पृथक्करण का प्रावधान न्यायपालिका की स्वतंत्रता बनाए रखने का ही एक प्रयास है।

(ज) संसद सर्वोच्च न्यायालय की अधिकारिता को बढ़ा सकती है (जैसे, वह अपील करने वाले वादों की प्रकृति में परिवर्तन कर सकती है, इसकी दंडिक सीमा का विस्तार कर सकती है, इसे अनु. 32 के प्रयोजनों आर्थात् मूल अधिकारों से भिन्न विषयों में भी निर्देश, आदेश या रिट निकालने की शक्ति दे सकती है) किन्तु किसी भी दशा में इसकी शक्तियों को कम नहीं किया जा सकता।

उपरोक्त संवैधानिक उपबंधों के अतिरिक्त अनेक न्यायिक निर्णयों द्वारा भी सर्वोच्च न्यायालय ने अपनी गरिमा व स्वतंत्रता को बनाए रखने का प्रयास किया है।

सुप्रीम कोर्ट एडवोकेट्स ऑन रिकार्ड ऐसोसिएशन बनाम भारत संघ के वाद में सर्वोच्च न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि उच्च तथा सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति तथा उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के स्थानांतरण के मामले में सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश का निर्णय ही मान्य होगा जो वह अपने वरिष्ठ सहयोगियों से विचार-विमर्श करके देगा, सरकार को केवल त्रुटिपूर्ण नियुक्तियां ही रोकने का अधिकार है।

एक अन्य वाद में सर्वोच्च न्यायालय ने कहा कि, सर्वोच्च न्ययालय में मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति केवल वरिष्ठता के आधार पर ही की जा सकती है।

न्यायपालिका की स्वतंत्रता व निष्पक्षता हेतु उपरोक्त प्रावधान आवश्यक हैं। सर्वोच्च न्यायालय ने अपने एक निर्णय में न्यायापालिका की स्वतंत्रता को संविधान का आधारभूत ढाँचा माना है जिसे संसद संशोधित नहीं कर सकती।

IAS

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

राज्यों में न्यायपालिका (उच्च न्यायालय)

संविधान के अनु. 214 के अनुसार, प्रत्येक राज्य का एक उच्च न्यायालय होता है, जिसे इकाई राज्य की न्यायिक प्रणाली में शीर्ष स्थान प्राप्त है। संसद को यह अधिकार होगा कि वह कानून द्वारा दो या दो से अधिक राज्यों के लिए और किसी केन्द्र शासित प्रदेश के लिए एक ही उच्च न्यायालय की स्थापना कर सकेगी (अनु. 231(1))। ऐसा इसलिए किया गया है कि जिन प्रदेशों की जनसंख्या कम है या भौगोलिक क्षेत्रफल कम है वहां इस प्रकार के दो छोटे प्रदेशों या केन्द्रशासित प्रदेशों के लिए एक ही उच्च न्यायालय स्थापित करके धन के अपव्यय से बचा जा सके।

उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की संख्या संविधान में सुनिश्चित नहीं की गयी है। संविधान के अनु. 216 में लिखा है कि प्रत्येक उच्च न्यायालय मुख्य न्यायाधीश और ऐसे अन्य न्यायाधीशों से मिलकर बनेगा जिन्हें राष्ट्रपति समय-समय पर नियुक्त करना आवश्यक समझे अर्थात् न्यायाधीशों की संख्या में परिवर्तन राष्ट्रपति के विवेक पर निर्भर है। राष्ट्रपति स्थायी एवं अस्थायी दोनों ही प्रकार के न्यायाधीशों की नियुक्ति उच्च न्यायालय में कर सकता है।

यदि किसी उच्च न्यायालय के कार्य में आकस्मिक रूप से वृद्धि हो जाय, या उसके पास बहुत सारे बकाया कार्य लंबे समय से पड़े हों जो न्यायाधीशों की कमी के कारण निपटाए नहीं जा पा रहे हैं तो राष्ट्रपति ऐसी दशा में उस उच्च न्यायालय में अस्थायी रूप से न्यायाधीशों की संख्या बढ़ा सकता है। इस प्रकार जो भी व्यक्ति न्यायाधीश बनाया जाएगा, उसकी योग्यता उच्च न्यायालय में न्यायाधीश बनने की अवश्य होगी। ऐसे न्यायाधीश 'अपर न्यायाधीश' कहे जाते हैं, इनकी नियुक्ति दो वर्ष के लिए ही की जाएगी (अनु. 224(1))।

जब कभी कोई न्यायाधीश अनुपस्थिति के कारण या ऐसी दशाा में जब वह अपने कर्त्तव्यों का पालन करने में किसी भी कारणवश असमर्थ है या मुख्य न्यायाधीश के रूप में अस्थायी रूप से कार्य करने के कारण जब किसी न्यायाधीश का पद खाली है और इससे न्यायालय का सामान्य कार्य प्रभावित हो रहा है तो ऐसी दशा में राष्ट्रपति सम्यक रूप से अर्हित किसी व्यक्ति को तबतक के लिए उस उच्च न्यायालय में न्यायाधीश के रूप में कार्य करने हेतु नियुक्त कर सकेगा जब तक कि स्थायी न्यायाधीश अपने कार्यभार को पुनः ग्रहण न कर ले (अनु. 224(2))। इनका कार्यकाल अपर न्यायाधीश की भांति (2 वर्ष) निश्चित नहीं है लेकिन इस प्रकार के 'कार्यकारी न्यायाधीशों' तथा उपरोक्त वर्णित 'अपर न्यायाधीश' किसी भी दशा में 62 वर्ष की आयु तक ही पद धारण कर सकेंगे। (अनु. 224(3))।

राष्ट्रपति को उच्च न्यायालयों में 'कार्यकारी मुख्य न्यायाधीश की भी नियुक्ति का अधिकार है। अनु. 223 में उल्लिखित है कि, जब किसी उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश का पद रिक्त है या जब कोई मुख्य न्यायाधीश अनुपस्थिति के कारण या किसी अन्य कारण से अपना कार्यभार ग्रहण करने में असमर्थ है तो राष्ट्रपति उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों में से किसी एक न्यायाधीश को (प्रायः वरिष्ठतम न्यायाधीश को) 'कार्यकारी मुख्य न्यायाधीश' के रूप में नियुक्त कर सकेगा।

अनु. 223 तथा 224 के अधीन की जाने वाली नियुक्तियां (अर्थात् कार्यकारी मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति एवं अपर तथा कार्यकारी न्यायाधीश की नियुक्ति) भारत के राष्ट्रपति द्वारा की जाती है, किन्तु किसी उच्च न्यायालय के सेवानिवृत्त न्यायाधीश को उच्च न्यायालय की बैठकों में शामिल करने हेतु बुलाने का अधिकार उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश को होगा। अनु. 224(क) के अनुसार, किसी राज्य के उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश, किसी भी समय राष्ट्रपति की सहमति से, उसी राज्य के या किसी अन्य राज्य के उच्च न्यायालय के न्यायाधीश के रूप में कार्य कर चुके व्यक्ति से, उच्च न्यायालय में न्यायाधीश के रूप में बैठने तथा कार्य करने का अनुरोध कर सकेगा। ऐसे न्यायाधीशों की वही शक्तियां, अधिकारिता एवं विशेषाधिकार होंगे जो उच्च न्यायालय के अन्य न्यायाधीशों को प्राप्त हैं लेकिन इनकी गिनती स्थायी न्यायाधीश के रूप में नहीं की जाएगी। सेवानिवृत्त न्यायाधीशों की उच्च न्यायालय के न्यायाधीश के रूप में नियुक्ति तभी की जाएगी जब वे अपनी सहमति दे देंगे।

उच्च न्यायालय में न्यायाधीश बनने के लिए योग्यता:

अनु. 217(2) के अनुसार, कोई व्यक्ति किसी उच्च न्यायालय में न्यायाधीश के रूप में नियुक्ति के लिए तभी अर्हित होगा जब वह, भारत का नागरिक हो और

(क) भारत के राज्यक्षेत्र में कम-से-कम 10 वर्ष तक न्यायिक पद धारण कर चुका है, अथवा

(ख) किसी उच्च न्यायालय का या ऐसे दो या अधिक न्यायालयों का लगातार कम-से-कम 10 वर्ष तक अधिवक्ता रहा हो।

कोई भी भारतीय नागरिक उपरोक्त (क) अथवा (ख) में कोई भी एक योग्यता रखने पर भारत में किसी भी उच्च न्यायालय का न्यायाधीश नियुक्त किया जा सकता है।

उपरोक्त (क) को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि भारत के राज्यक्षेत्र में न्यायिक पद धारण करने की अवधि की गणना करते समय वह अवधि भी शामिल की जाएगी जिसके दौरान कोई व्यक्ति न्यायिक पद धारण करने के पश्चात् किसी उच्च न्यायालय का अधिवक्ता रहा हो अथवा उसने किसी अधिकरण के सदस्य के रूप में पद धारण किया है अथवा संघ या राज्य के अधीन कोई ऐसा पद धारण किया है जिसके लिए विधि का विशेष ज्ञान अपेक्षित है।

Forest IAS

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

उपरोक्त (ख) को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि, भारत में किसी उच्च न्यायालय का अधिवक्ता रहने की अवधि की गणना करते समय वह अवधि भी शामिल की जाएगी जिसके दौरान कोई व्यक्ति अधिवक्ता रहने के पश्चात न्यायिक पद धारण किया है, अथवा किसी अधिकरण के सदस्य का पद धारण कियाहै, अथवा संघ या राज्य के अधीन कोई ऐसा पद धारण किया है, जिसके लिए विधि का विशेष ज्ञान अपेक्षित है।

न्यायाधीशों के नियुक्ति की प्रक्रिया:

अनु. 217(1) के अनुसार, उच्च न्यायालय का प्रत्येक न्यायाधीश राष्ट्रपति द्वारा अपने हस्ताक्षर और मुद्रा सहित अधिपत्र द्वारा नियुक्त किया जाएगा, ऐसा करने में राष्ट्रपति सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश से, उस राज्य के राज्यपाल से तथा उस उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश से परामर्श करेगा। राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त कोई भी न्यायाधीश 62 वर्ष की आयु में सेवानिवृत्त हो जायेगा। मुख्य न्यायाधीश को नियुक्त करने में राष्ट्रपति को राज्यपाल द्वारा दिए जाने वाले परामर्श का निर्धारण राज्य का मंत्रिमंडल करेगा या स्वयं राज्यपाल अपने विवेक से करेगा इस पर संविधान मौन है। यदि राज्यपाल राज्य मंत्रिमंडल की सलाह के अनुसार राष्ट्रपति को परामर्श देगा तो वह उच्च न्यायालय में इकाई राज्य की सरकार का हस्तक्षेप होगा और यदि वह अपने विवेक से परामर्श देगा तो सामान्यत: यह माना जायेगा कि उसने केन्द्र सरकार की इच्छा के अनुरूप काम किया है।

यहां पूरा अवकाश है कि राज्यों में मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति में 'राजनीतिक खेल' खेला जा सके। ध्यान रहे सर्वोच्च न्यायालय में किसी भी न्यायाधीश की नियुक्ति में कार्यपालिका के किसी भी प्राधिकारी का सीधा हाथ नहीं है लेकिन राज्यों में उच्च न्यायलयों के मुख्य न्यायाधीश का नियुक्त करने की प्रक्रिया के 'राजनीतिक दबाव' का शिकार होने **की प्रयाप्त संभावना है। संविधान का अनुच्छेद 50 कार्यपालिका से न्यायापालिका के पृथक्करण की बात करता है, लेकिन मुख्य न्यायाधीश की** नियुक्ति की प्रक्रिया में राज्यपाल के परामर्श को शामिल करने का प्रावधान इस अनुच्छेद की भावना के अनुकूल नहीं प्रतीत होता। इन्टरनेशलन कमीशन ऑफ ज्यूरस्ट्सि को भी भारत में न्यायाधीशों के चयन की प्रक्रिया में राजनीतिक गंध महसूस हुई थी और विधि आयोग की 14वीं रिपोर्ट में भी उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की चयन प्रक्रिया में कार्यपालिका के बढ़ते अनुचित हस्तक्षेप को लेकर प्रश्न खड़े किए गए थे।

न्यायाधीशों द्वार पदत्याग या उन्हें पद से हटाने की रीति:

अनु. 217(1) के अनुसार, उच्च न्यायालय का कोई भी न्यायाधीश राष्ट्रपति को सम्बोधित अपने हस्ताक्षर सहित लेख द्वारा अपना पद त्याग सकेगा। अनु. 217(1)(ख) के अनुसार, उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को पद से हटाने की वही प्रक्रिया है जो सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश को पद से हटाने के लिए वर्णित है। यह प्रक्रिया इस प्रकार है:

सर्वोच्च न्यायालय (इस संदर्भ में यहां इसे न्यायालय समझा जाना चाहिए) के किसी भी न्यायाधीश को उसके पद से तब तक नहीं हटाया जाएगा, जबतक 'सिद्ध कदाचार' या 'असमर्थता' के आधार पर संसद` प्रत्येक सदन द्वारा अपनी कुल सदस्य संख्या के बहुमत तथा उपस्थित एवं मतदान में भाग लेने वाले सदसयों के दो-तिहाई बहुमत द्वारा समर्थित समावेदन राष्ट्रपति के समक्ष उसी सत्र में रखे जाने पर राष्ट्रपति ने आदेश नहीं दे दिया है।

त्यागपत्र एवं महाभियोग द्वारा हटाए जाने पर कोई भी न्यायाधीश पद छोड़ देगा। न्यायाधीश का पद उस दशा में भी रिक्त माना जाएगा, जब राष्ट्रपति द्वारा किसी न्यायाधीश को किसी अन्य राज्य के उच्च न्यायालय में या सर्वोच्च न्यायालय में नियुक्त कर दिया जाता है (अनु. 217(1)) (ग)। किसी न्यायाधीश को एक उच्च न्यायालय से किसी दूसरे राज्य के उच्च न्यायालय में स्थानांतरित करने के पूर्व राष्ट्रपति को सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश से परामर्श करना होगा (अनु. 222(1))। त्यागपत्र एवं पद से हटाए जाने के प्रावधान स्थायी, अपर और कार्यकारी न्यायाधीश सभी पर समान रूप से लागू होते हैं।

आयु के सम्बंध में विवाद (अनु. 217(3)):

अनु. 217(3) के अनुसार, यदि उच्च न्यायालय के किसी न्यायाधीश की आयु के बारे में कोई प्रश्न उठता है या कोई विवाद उत्पन्न होता है तो ऐसे प्रश्न या विवाद का निपटारा भारत का राष्ट्रपति सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश से विचार-विमर्श करने के पश्चात् करेगा और राष्ट्रपति का निर्णय अंतिम होगा। इस संबंध में उसे मंत्रिमंडल के परामर्श के अनुसार काम करने की आवश्यकता नहीं है। यदि सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश की आयु के बारे में कोई प्रश्न उठता है तो उसका निर्णय संसद करेगी। राष्ट्रपति के यह कार्य न्यायिक प्रकृति के हैं।

शपथ या प्रतिज्ञान (अनु. 219):

अनु. 219 के अनुसार, उच्च न्यायालय का न्यायाधीश नियुक्त होने वाला प्रत्येक व्यक्ति अपना पद ग्रहण करने के पूर्व उस राज्य के राज्यपाल द्वारा या उसके द्वारा इस हेतु नामित व्यक्ति के समक्ष संविधान की तृतीय अनुसूची में इस प्रयोजन के लिए दिए गए प्रारूप के अनुसार शपथ लेगा या प्रतिज्ञान करेगा और उस पर अपने हस्ताक्षर करेगा।

स्थायी न्यायाधीश रहने के बाद विधि व्यवसाय पर कुछ प्रतिबंध (अनु. 220):

किसी उच्च न्यायालय के स्थायी न्यायाधीश के रूप में पद धारण करने के पश्चात् कोई भी न्यायाधीश या सर्वोच्च न्यायालय तथा अन्य राज्यों के उच्च न्यायालयों के अतिरिक्त भारत में कहीं भी किसी न्यायालय यासिकी प्राधिकारी के समक्ष अभिवचन या कार्य (वकालत) नहीं करेगा। ऐसा इसलिए किया गया है कि कोई न्यायाधीश अपने किसी पूर्व मित्र न्यायाधीश की मदद कर न्याय को प्रभावित न कर सके। किन्तु यह प्रतिबंध अपर तथा कार्यकारी न्यायाधीशों पर लागू नहीं होता है। सेवानिवृत्त न्यायाधीशों

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

को विशेष दशाओं में उसी उच्च न्यायालय में न्यायाधीश के रूप में कार्य करने हेतु बुलाया जा सकता है (अनु. 224(क))।

वेतन, भत्ते आदि (अनु. 221):

उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के वेतन, भत्तों, अनुपस्थिति, छूट्टी और पेंशन आदि के बारे में कानून संसद बताएगी। इसा वर्णन द्वितीय अनुसूची में किया गया है। वेतन-भत्ते उस राज्य की संचित निधि पर भारित होते हैं लेकिन सेवानिवृत्त होने के बाद उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों को मिलने वाली पेंशन केन्द्र (भारत सरकार) की संचित निधि पर भारित होता है। किसी भी न्यायाधीश के वेतन-भत्तों में, अनुपस्थिति, छुट्टी और पेंशन आदि के संबंध में उसके अधिकारों में उसकी नियुक्ति के पश्चात् उसे लिए कोई अलाभकारी परिवर्तन नहीं किया जाएगा।

अभिलेख न्यायालय (अनु. 215):

भारत का प्रत्येक उच्च न्यायालय अभिलेख न्यायालय होता है जिसे अपने अपमान/अवमान हेतु दंड देने की शक्ति होती है। अभिलेख न्यायालय का यह तात्पर्य भी होता है कि, उसके निर्णय निचले न्यायालयों में उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किए जा सकते हैं तथा इसकी समस्त कार्यवाही लिखित रूप से होगी।

रिट निकालने की उच्च न्यायालय की शक्ति (अनु. 226):

अनु. 226, अनु. 32 के ही समान अधिकारिता प्रदान करता है लेकिन अनु. 226 की अधिकारिता व्यापक है। जहां सर्वोच्च न्यायालय किसी व्यक्ति के **केवल मूल अधिकारों के उल्लंघन पर ही अनु. 32 के अंतर्गत रिट जारी कर सकता है,** वहीं उच्च न्यायालय मूल अधिकारों के उल्लंघन पर तो रिट जारी करेगा ही, वह संविधान के अन्य भागों/अनुच्छेदों से मिलने वाले विधिक/संवैधानिक अधिकारों का राज्य या किसी व्यक्ति द्वारा उल्लंघन होने पर भी ऐसे आदेश, निर्देश या रिट (जिसके अंतर्गत बन्दी प्रत्यक्षीकरण, परमादेश, प्रतिषेध, अधिकार पृच्छा तथा उत्प्रेषण की रिट शामिल है- इनमें से कोई) निकालने की शक्ति रखता है।

अनु. 32 के अंतर्गत सर्वोच्च न्यायालय संपूर्ण भारत में स्थित किसी भी पदाधिकारी या व्यक्ति के विरूद्ध इस प्रकार की रिट जारी कर सकता है जबकि उच्च न्यायालय अपनी भौगोलिक अधिकारिता के भीतर ही रिट जारी करेगा। उच्च न्यायालय उस परिस्थिति में भी रिट निकालने की शक्ति रखता है जब किसी प्राधिकारी के कार्य या आदेश का परिणाम उस उच्च न्यायालय की अधिकारिता सीमा के भीतर रहने वाले व्यक्ति को प्रभावित करता है, भले ही उस प्राधिकारी का निवास स्थान उस राज्य के उच्च न्यायालय की भौगोलिक सीमा के बाहर है।

उच्च न्यायालय का अधीनस्थ न्यायालयों पर नियंत्रण:

भारतीय संघीय व्यवस्था में इकाई राज्यों की न्यायिक प्रणाली में शीर्षस्थ स्थान पर होने के कारण उच्च न्यायालय को अधीनस्थ न्यायालयों पर कतिपय प्रशासनिक नियंत्रण प्राप्त है। यह उच्च न्यायालय की अपीलीय अधिकारिता के अतिरिक्त है जैसे, अनु. 227 के अनुसार, प्रत्येक उच्च न्यायालय अपनी अधिकारिता शक्ति के अंतर्गत आने वाले राज्य या राज्य क्षेत्रों के सभी न्यायाल**य (सशस्त्र बलो से संबंधित किसी न्यायालय या अधिकरण को छोड़कर) और अधिकरण (न्यायिक अधिकरण) का अधीक्षण करेगा ऐसा करने में उच्च न्यायालय** अन्य न्यायालयों से विवरण मंगा सकेगा तथा उनकी सामान्य कार्यवाही के संचालन हेतु नियम बना सकेगा। वह अधीनस्थ न्यायालयों की फीस भी निर्धारित कर सकता है।

सर्वोच्च न्यायालय के एक निर्णय के अनुसार, अनु. 227 के अधीन उच्च न्यायालयों को जो अधीक्षण की शक्ति मिली हुई है वह संविधान की मूल संरचना है जिसे संविधान में संशोधन करके भी नहीं छीना जा सकता है।

अनु. 228 के अनुसार, यदि उच्च न्यायालय का यह समाधान हो जाता है कि उसके अधीनस्थ किसी न्यायालय में लंबित किसी मामले में इस संविधान की व्याख्या के बारे में विधि का कोई सारवान प्रश्न निहित है जिसका समाधान उक्त मामले के निपटारे हेतु आवश्यक है तो वह उसे मामले को अपने पास मंगा सकेगा। अपने पास मामले को मंगा लेने के बाद या तो उच्च न्यायालय सम्पूर्ण मामले को स्वयं निपटा देगा या विधि के सारवान प्रश्न का समाधान करके अपने समाधान के निर्णय की प्रति उस न्यायालय को लौटा सकेगा जहां से उसने वह मामला मंगा लिया था। फिर वह अधीनस्थ न्यायालय, उच्च न्यायालय के निर्णय के अनुरूप आगे कार्यवाही करेगा तथा मामले को निपटाएगा।

अधीनस्थ न्यायलयों के अक्षीक्षण की शक्ति केवल यह सुनिश्चित करने के लिए प्रदान की गयी है कि अधीनस्थ न्यायालय व न्यायाधिकरण अपनी अधिकारिता सीमा का उल्लंघन न करें।

अनु. 233 के अनुसार, किसी राज्य में जिला न्यायाधीश के पद की स्थापना, इस पद पर नियुक्ति एवं पदोन्नति, उस राज्य के राज्यपाल द्वारा संबंधित उच्च न्यायालय के परामर्श पर किया जाएगा।

अनु. 234 के अनुसार, राज्यपाल संबंधित उच्च न्यायालय तथा राज्य लोक सेवा आयोग से परामर्श करने के पश्चात्, जिला न्यायाधीश के पद से भिन्न पदों पर नियुक्तियां कर सकेगा। ये नियुक्तियां राज्य की न्यायिक सेवा के अंतर्गत आती हैं।

अनु. 235 के अनुसार, जिला न्यायालयों और उनके अधीनस्थ न्यायालयों का नियंत्रण करने की शक्ति (जिसके अंतर्गत राज्य की न्यायिक सेवा के व्यक्तियों और जिला न्यायाधीश के पद से अवर (निम्न) किसी पद को धारण करने वाले व्यक्तियों की पदस्थापना, प्रोन्नति एवं उनकी छुट्टी देना शामिल है) उच्च न्यायलय में निहित है।

उपरोक्त अनु. 233,234 तथा 235 के संदर्भ में आए 'जिला न्यायाधीश' पद के अंतर्गत निम्नलिखित शामिल हैं:

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

नगर सिविल न्यायालय का न्यायाधीश, अपर जिला न्यायाधीश, संयुक्त जिला न्यायाधीश, सहायक जिला न्यायाधीश, लघुवाद न्यायालय का मुख्य न्यायाधीश, मुख्य प्रेसीडेन्सी मजिस्ट्रेट, अपर मुख्य प्रेसीडेन्सी मजिस्ट्रेट, सेशन न्यायाधीश, अपर सेशन न्यायाधीश और सहायक सेशन न्यायाधीश (अनु. 236(क))।

उपरोक्त अनु. 234 तथा 235 में आए 'न्यायिक सेवा' पद में ऐसी सेवा शामिल हे जो ऐसे व्यक्तियों से मिलकर बनती है जिसके द्वारा जिला न्यायाधीश के पद का और जिला न्यायाधीश के पद से अवर (निम्न) पदों का भरा जाना आशयित (तात्पर्यित) है (अनु. 236(ख))।

उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की स्वतंत्रता व निष्पिक्षता बनाए रखने हेतु सर्वोच्च न्यायालय ने अनेक बार आदेश-निर्देश सरकारों को (राज्यों की सरकारों तथा केन्द्र सरकार को) जारी किए हैं। इस संदर्भ में एक महत्वपूर्ण आदेश यह भी है कि उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों को जांच आयोगों की अध्यक्षता न सौंपी जाए, क्योंकि इससे उनके ऊपर अनावश्यक दबाव पड़ सकता है, जिससे जांच प्रभावित हो सकती है। इस बात की संभावना से इनकार नहीं किया जा सकता है कि सरकारें अपने पसंद की जांच रिपोर्ट तैयार करने के लिए न्यायाधीश को प्रलोभन (पदोन्नति) दें।

देश में उच्च न्यायालयों में बढ़ते हुए मुकदमों की संख्या को देखते हुए 2002 ई. में ही सर्वोच्च न्यायालय ने उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की संख्या बढ़ाने को कहा था, लेकिन अब तक कोई कार्यवाही नहीं की जा सकी है।

फिरदस IAS

अधीनस्थ न्यायालय

उच्च न्यायालयों के अधीन कई श्रेणी के न्यायालय होते हैं इन्हें संविधान में अधीनस्थ न्यायालय कहा गया है। इनका गठन राज्य अधिनियम कानून के आधार पर किया गया है। विभिन्न राज्यों में इनके अलग-अलग नाम और अलग-अलग दर्जे हैं लेकिन व्यापक परिप्रेक्ष्य में इनके संगठनात्मक ढ़ांचे में समानता है। प्रत्येक राज्य जिलों में बंटा हुआ है और प्रत्येक जिले में एक जिला अदालत होती है। इस जिला अदालत का उस उस जिले भर में अपील संबंधी क्षेत्राधिकार होता है। इन जिला अदालतों के अधीन कई निचली अदालतें होती हैं, जैसे -अतिरिक्त जिला अदालत, सब-कोर्ट, मुंसिफ मजिस्ट्रेट अदालत, द्वितीय श्रेणी विशेष न्यायिक मजिस्ट्रेट अदालत, रेलवे के लिए विशेष न्यायिक मजिस्ट्रेट अदालत, कारखाना कानून और श्रम कानूनों के लिए विशेष मुंसिफ मजिस्ट्रेट अदालत आदि। जिला अदालत का मुख्य कार्य अधीनस्थ न्यायालयों से आई अपीलों को सुनना है लेकिन अदालत विशेष हैसियत के तौर पर मूल मामलों को भी अपने हाथ में ले सकती है। उदाहरण के लिए भारतीय उत्तराधिकार कानून, अभिभावक और आश्रित कानून तथा भूमि अधिग्रहण कानून आदि से संबंधित मामलों की सुनवाई भी कर सकती है।

अधीनस्थ न्यायालयों में एक जिला न्यायाधीश की न्यायालय और दूसरा मुंसिफ न्यायाधीश का न्यायालय होता है। जिला स्तर पर के अधीनस्थ न्यायालय को जिला न्यायाधीश या सत्र न्यायाधीश के न्यायालय के नाम से जाना जाता है। इस स्तर के न्यायालय में अतिरिक्त न्यायाधीश, संयुक्त न्यायाधीश और सहायक न्यायाधीश की अदालतें सम्मिलित होती है। जिला न्यायाधीश और सत्र न्यायाधीश का न्यायालय, जिला स्तर पर आरंभिक क्षेत्राधिकार का मुख्य न्यायालय होता है। संविधान के प्रावधानों के अनुसार, एक ही अधिकारी दीवानी और फौजदारी कानूनों के तहत कार्य करता है और यह जिला एवं सत्र न्यायाधीश के नाम से जाना जाता है। इन न्यायालयों का वित्तीय अधिकार क्षेत्र सीमित नहीं होता है। ये न्यायालय उन मामलों को भी सुनवाई कर सकते हैं जिसमें अधिकतम सजा एक वर्ष से अधिक न हो।

अधीनस्थ न्यायालयों की दूसरी श्रेणी के न्यायालय मुंसिफ न्यायाधीश या दीवानी न्यायाधीश या प्रथम श्रेणी के ज्यूडीशियल मजिस्ट्रेट के न्यायालय के नाम से जाने जाते हैं। सामान्यतया इन न्यायालयों की स्थापना प्रखंड (तहसील) स्तर पर की जाती है, जिसके अधिकार क्षेत्र में अनेक तालुकें या तहसीलें हो सकती है।

जिला न्यायाधीशों की नियुक्तिः-

संविधान के अनुच्छेद 233(1) के अनुसार, किसी राज्य या राज्यपाल जिला न्यायाधीश की नियुक्ति संबंधित उच्च न्यायालय के परामर्श से करता है। दूसरा, अनुच्छेद 233(2) के अनुसार, जो व्यक्ति केन्द्र या राज्य को सेवा में पहले से नहीं है वैसी स्थिति में उस व्यक्ति को कम से कम सात वर्ष का अधिवक्ता का अनुभव हो, साथ ही उच्च न्यायालय ने उसकी नियुक्ति की सिफारिश की हो। संविधान के अनुच्छेद 234 के अनुसार राज्यपाल जिला न्यायाधीशों से भिन्न व्यक्ति को भी जिला न्यायाधीश के रूप में नियुक्त कर सकता है किन्तु वैसे व्यक्ति, राज्य लोक सेवा आयोग द्वारा अथवा उच्च न्यायालय में नियुक्त कर सकता है किन्तु वैसे व्यक्ति, राज्य लोक सेवा आयोग द्वारा अथवा उच्च न्यायालय के परामर्श के बाद ही राज्यपाल द्वारा जिला न्यायाधीश के पद पर नियुक्त किये जा सकते हैं।

अधीनस्थ न्यायालयों की स्वतंत्रताः-

संविधान में अधीनस्थ न्यायालयों की स्वतंत्रता की व्यवस्था की गई हैं। जिला न्यायाधीशों की नियुक्ति, स्थानांतरण, पदोन्नति आदि राज्यपाल द्वारा उच्च न्यायालय से परामर्श के बाद की जाती है।

ग्राम न्यायालय :-

गांव-गांव तक त्वरित एवं सस्ता न्याय पहुंचाने के उद्देश्य हेतु संसद ने दिसम्बर 2008 में ग्राम न्यायालय विधेयक को मंजूरी प्रदान की। इसके अंतर्गत खण्ड स्तर पर 5,067 न्यायालय स्थापित किए जाएंगे। उल्लेखनीय है कि यह अधिनियम 2 अक्टूबर 2009 से प्रभावी हो गया है। यह अधिनियम जम्मू-कश्मीर, अरूणाचल प्रदेश, सिक्किम एवं जनजाति क्षेत्रों को छोड़कर समस्त भारत पर प्रभावी होगा।

राज्य सरकार, संबद्ध उच्च न्यायालय से परामर्श के पश्चात्, अधिसूचना के द्वारा पंचायत समिति स्तर पर एक या अधिक ग्राम न्यायालय का गठन कर सकेगी, लेकिन जिन राज्यों में पंचायत समिति का माध्यम स्तर नहीं हैं, वहां पर ग्राम पंचायत के समूहों के लिए उकसे सन्निकट ग्राम न्यायालय स्थापित कर सकेगी। इसका मुख्यालय पंचायत समिति के मुख्यालय में होगा या वहां, जहां राज्य सरकार निर्धारित करे। राज्य सरकार, उच्च न्यायालय के परामर्श से, प्रत्येक ग्राम न्यायालय के लिए एक न्यायाधिकारी नियुक्ति करेगी एवं ऐसा न्यायाधिकारी प्रथम श्रेणी के न्यायाधीश नियुक्त होने के योग्य होना चाहिए। ऐसो न्यायाधिकारी की नियुक्ति में अनुसूचित जाति, जनजाति, महिलाओं एवं ऐसे अन्य वर्गों एवं समुदायों को जिन्हें राज्य सरकार समय-समय पर अधिसूचना में उल्लिखित करे, पर्याप्त प्रतिनिधित्व दिया जाएगा। न्यायाधिकारी के वेतन-भत्ते एवं सेवाकाल तथा शर्तें प्रथम श्रेणी के न्यायाधीश के समान होंगी।

न्यायाधिकारी अपने अधिकार क्षेत्र में आने वाले गांवों का दौरा करेगा एवं घटना स्थल के आस-पास कार्यवाही आरंभ कर सकेगा। ग्राम न्यायालय को ऐसे आपराधिक, दीवानी मामले, दावों एवं विवादों को स्वीकार करने का अधिकार है जिनमें मृत्युदंड, आजीवन कारावास एवं दो वर्ष से अधिक की सजा का प्रावाधन न

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

हो। चोरी एवं संपत्ति संबंधी मामले ग्राम न्यायालय में स्वीकार किए जा सकते हैं। ग्राम न्यायालय को दीवानी न्यायालय की सभी शक्तियां प्राप्त होंगी। उल्लेखनीय है कि ग्राम न्यायालय की स्थापना एवं संचालन संबंधी सभी खर्चे केन्द्र सरकार वहन करेगी।

वस्तुतः ग्राम न्यायालय के अस्तित्व में आने से दूरस्थ भारतीयों एवं ग्रामीणों तक न्याय की पहुंच संभव हो सकेगी जो न्यायिक व्यवस्था के विकेन्द्रीकरण को सशक्त करेगा।

राष्ट्रीय न्याय अकादमीः-

राज्यों और केन्द्र प्रशासित क्षेत्रों के न्यायिक अधिकारियों के अतिरिक्त उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों के विभागीय अधिकारियों को सेवाकाल के दौरान प्रशिक्षण देने के लिए सरकार ने राष्ट्रीय न्यायिक अकादमी की स्थापना की है। इसका प्रारंभ 5 सितम्बर 2002 को किया गया। इसके अंतर्गत न्यायिक सुधार और नीति-निर्माण के साथ-साथ बेहतर कुशलता एवं शोध प्रदत्त सेवाएं शामिल हैं। साथ ही न्यायालयों के प्रशासन एवं प्रबंधन में सुधार भी इसका उद्देश्य है।

फिशर IAS

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

न्यायिक जवाबदेही

न्यायिक जवाबदेही के मुद्दे ने सर्वाजनिक बहस की चिंगारी पकड़ ली है, जो भारतीय लोकतंत्र के लिए शुभ संकेत है। हाल ही में न्यायिक व्यवस्था में पारदर्शिता एवं जवाबदेही की मांग में आती तीव्र वृद्धि ने, सर्वोच्च एवं उच्च न्यायालय के न्यायाधीश एवं भारत के मुख्य न्यायाधीश को सूचना के अधिकार अधिनियम के अंतर्गत प्रश्नों के प्रति जवाबदेह बनाने के तथ्य सामने रखा है।

उल्लेखनीय है कि संयुक्त राज्य अमेरिका में सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश समाचार-पत्र में अपनी व्यक्तिगम संपत्ति का ब्यौरा सार्वजनिक करते हैं, जबकि यूनाइटेड किंगडम में सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों से संबंधित सभी प्रकार के जानकारी वहां के सूचना अधिकार अधिनियम के अंतर्गत ली जा सकती है। भारत की न्यायपालिका में भी अब न्यायाधीशों की उनकी संपत्ति का ब्यौरा सार्वजनिक करने एवं न्यायाधीशों की नियुक्ति एवं उन पर लगे कदाचार एवं भ्रष्टाचार संबंधी आरोपों की जांच के संबंध में जानकारी सूचना के अधिकार अधिनियम के अंतर्गत ली जा सके। अर्थात् न्यायपालिका में भी सूचना के अधिकार अधिनिम की पहुंच सुनिश्चित हो।

संयुक्त राज्य अमेरिका में न्यायाधीशों को 100 डॉलर या उससे अधिक कीमत के लिए जाने वाले उपहारों की सार्वजनिक घोषणा करनी होगी। ब्रिटेन सरकार ने ऐसे न्यायाधीशों की सूची जारी करने को कहा जो कम्प्यूटर का दुरुपयोग कर रहे हैं या अश्लील साहित्य देखते हैं। ब्रिटेन में न्यायाधीशों की नियुक्ति को न्यायिक नियुक्ति आयोग में चुनौती दी जा सकती है। जनता को यह अधिकार है कि वह न्यायाधीश के खिलाफ भ्रष्टाचार एवं दुर्व्यवहार की शिकायत न्यायिक व्यवहार आयुक्त के समक्ष कर सकती है। यदि शिकायत कर्ता संतुष्ट नहीं है तो वह उस देश के न्यायिक लोकायुक्त (औम्बुडसमैन) को अपील कर सकता है।

अप्रैल, 2008 में एक सूचना अधिकार आवेदन में पूछा गया कि क्या सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश मुख्य न्यायाधीश के समक्ष अपनी संपत्ति का नियतकालिन ब्यौरा प्रस्तुत करते हैं?

इसके कुछ समय बाद भारत के मुख्य न्यायाधीश श्री के. जी. बालाकृष्णन ने कहा कि उनका पद सूचना अधिकार अधि नियम की परिधि में नहीं आता क्योंकि वे संवैधानिक पद हैं। तदुपरांत सोमनाथ चटर्जी ने मुख्य न्यायाधीश के कथन की वैधता को चुनौती दी और कहा कि सूचना अधिकार अधिनियम सभी लोक सेवकों पर लागू होना चाहिए।

मुख्य न्यायाधीश के वक्तव्य ने विवाद खड़ा कर दिया कि क्या सभी संवैधानिक पद सूचना अधिनियम के दायरे से बाहर हैं? क्या ये पद लोक सेवा की परिधि में नहीं आते है? इस दिशा में दिल्ली उच्च न्यायालय ने 12 फरवरी 2010 को एक ऐतिहासिक निर्णय में कहा कि भारत के मुख्य न्यायाधीश का पद सूचना के अधिकार अधिनियम के दायरे में आता है। न्यायालय ने कहा कि, न्यायिक स्वतंत्रता किसी न्यायाधीश का व्यक्तिगत परमाधिकार या विशेषाधिकार नहीं है, बल्कि यह कानून एवं साक्ष्य के आधार पर ईमानदारी एवं निष्पक्षता से निर्णय करने के लिए प्रत्येक न्यायाधीश पर डाली गई जिम्मेदारी है। दिल्ली उच्च न्यायालय की पूर्ण पीठ ने कहा कि भारत के मुख्य न्यायाधीश कानूनन एक लोक प्राधिकार हैं। उच्चतम न्यायालयों के न्यायाधीशों को अपनी संपत्ति सार्वजनिक करनी चाहिए। क्योंकि वे नीचे की अदालतों से कम जवाबदेह नहीं हैं, जिनकी सेवा नियमावाली में संपत्ति की घोषणा करना शामिल हैं।

भारत जैसा मजबूत लोकतंत्र पारदर्शी न्यायपालिका के बगैर संभव नहीं है। ऐसे में हमारी न्यायिक संस्थाओं को पूर्णत: विवादहीन और नैतिकतावादी बनाए रखने की कोशिशें होती रही हैं। न्यायायिक मानक और जिम्मेदारी विधेयक, 2010 इसी दिशा में एक बड़ा कदम है। कानून बन जाने के पश्चात् यह जजेज इन्क्वायरी ऐक्ट, 1968 की जगह लेगा। दरअसल वर्तमान जजेज न इन्क्वॉयरी ऐक्ट की एक बड़ी खामी यह है कि उसमें न्यायिक शिकायतों से जुड़ी जाँच के लिए कोई स्थायी प्राधिकरण नहीं है, जबकि न्याय के मंदिरों को विवाद के छीटों से बचाने के लिए न सिर्फ एक स्थायी तंत्र की जरूरत है, अपितु एक ऐसे कानून की भी आवश्यकता है,जो समसामयिक हो।

अगर न्याय के उच्चासन पर बैठने वाले ही विवाद में घिर जाएं तो फिर रास्ता कौन दिखाएगा। विडबना यह है कि आज न्यायिक सेवा में भ्रष्टाचार की शिकायतें खुद न्यायापालिका से ही आ रही हैं। हालांकि भ्रष्ट न्यायाधीशों के खिलाफ महाभियोग जैसा प्रावधान है, पर बेहद लंबी प्रक्रिया एवं सत्ता राजनीति के निहित स्वार्थ के कारण यह अव्यावहारिक ही है, पर बेहद लंबी प्रक्रिया एवं सत्ता राजनीति के निहित स्वार्थ के कारण यह अव्यवहारिक ही बना रहा। इसलिए लंबे समय से एक ऐसे कानून की जरूरत महसूस की जाती रही है, जिसके तहत न सिर्फ उच्च न्यायिक सेवाओं में एक मानक स्थापित किया जा सके, अपितु न्यायिक कर्तव्यों का निर्वाह भी समय पर हो सके। इस नए विधेयक में उच्च न्यायिक संस्थाओं में दुर्व्यवहार व भ्रष्टाचार के मामलों की जांच तीन न्यायाधीशों की समिति द्वारा करने का प्रावधान है। अगर मामला गंभीर होगा, तो उसे उपराष्ट्रपति की अध्यक्षता वाली न्यायिक निगरानी समिति के सुपुर्द कर दिया जायेगा।

इस समिति में प्रधान न्यायाधीश द्वारा नामांकित उच्च न्यायालय के न्यायाधीश और राष्ट्रपति द्वारा नियुक्ति दो विधिवेत्ता भी होंगे। न्यायिक जवाबदेही को व्यापक रूप देने के लिए देश के सभी उच्च न्यायालयों में जांच समिति के गठन का प्रावधान है। यह विधेयक न्यायिक संस्थाओं पर नजर रखने का काम तो करता ही है, साथ ही अदालतों का बोझ कम करने में भी पहल करता है।

GHOSH IAS

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

इसमें प्रावधान है कि मामलों की सुनवाई पूरी होने के तीन महीने के अंदर निर्णय देना होगा।

न्यायिक जवाबदेही को पुख्ता करने के लिए सरकार एक राष्ट्रीय न्यायिक आयोग स्थापित करने की योजना बना रही है। वर्तमान में सर्वोच्च न्यायालय एवं उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति में कार्यपालिका एवं विधानपालिका की कोई व्यावहारिक भूमिका नहीं है। नियुक्तियां न्यायपालिका द्वारा स्वयं की जाती है। इसलिए दोषी न्यायाधीश मुश्किल से हटाए जाते हैं। इसलिए इस दिशा में एक न्यायिक आयोग की स्थापना की जायेगी जो न्यायाधीशों की नियुक्ति एवं बर्खास्तगी संबंधी मामलों को देखेगा। इसे न्यायाधीशों के खिलाफ अनुशासनात्मक कार्रवाई करवाई करने संबंधी अनुशंसा का अधिकार होगा। अंततः स्वतंत्र, निष्पक्ष एवं जवाबदेह न्यायपालिका ही लोकतंत्र को मजबूती प्रदान कर सकती है। स्वतंत्रता, समानता, अधिकार एवं बंधुत्व को स्थापित कर सकती है। निष्पक्ष एवं स्वतंत्र न्यायपालिका की समायोजना अत्यंत आवश्यक है क्योंकि यह गणतंत्र की आत्मा है एवं किसी भी कीमत पर इसका परिरक्षण आवश्यक है। इसकी सक्रियता एवं उत्तरदायित्व से ही विकसित नागरिक समाज संभव हो पाएगा।

संसद बनाम न्यायपालिकाः अधिकार क्षेत्र का मुद्दा

सैद्धांतिक रूप से संविधान द्वारा शक्तियों का विभाजन संसद, न्यायापालिका एवं कार्यपालिका के मध्य किया गया है ताकि शासन के इन तीनों अंगों के मध्य 'बेहतर सामंजस्य' स्थापित हो सके। किन्तु जब-तब ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न होती रहती है जो इस 'बेहतर सामंजस्य' के मध्य तानव उत्पन्न करती रहती है। इसी प्रकार की एक परिस्थिति उस समय उत्पन्न हुई, जब एक निजी टेलिविजन चैनल द्वारा किए गए एक स्टिंग ऑपरेशन 'दुर्योधन' के द्वारा संसद के सदस्यों द्वारा पैसा लेकर प्रश्न का सनसनीखेज मामला उजागर हुआ।

संसद की आचार समिति (Ethics Committee) की सिफारिश के पश्चात् राज्य सभा ने एक सदस्य की निलम्बित कर दिया। समिति ने उसे स्टिंग ऑपरेशन के दौरान कैमरे के सामने अनुचित और गैर-कानूनी रूप से पैसा लेकर संसद की छवि खराब करने का दोषी पाया था।

लोकसभा ने पैसा लेकर प्रश्न पूछने के इस मामले में पवन बंसल की अध्यक्षता में एक 5 सदस्यीय बहुदलीय समिति का गठन किया। इस समिति ने 10 दोषी सदस्यों को निम्नलिखित किए जाने की सिफारिश की।

सदन में निलम्बन की कार्यवाही के दौरान दोषी सदस्यों को अपने बचाव का एक भी अवसर नहीं दिया गया, जिसकी काफी आलोचना भी की गई।

संसद के इतिहास में यह प्रथम अवसर था जब 11 संसद सदस्यों की सदस्यता एक साथ समाप्त की गई थी।

इन निलम्बित सदस्यों में से एक राज्य सभा सांसद राजा राम पाल (बहुजन समाज पार्टी) ने अपने निलम्बन के विरूद्ध सर्वोच्च न्यायालय में एक रिट याचिका दाखिल की। उसकी यह याचिका इस आधार पर थी कि अनुच्छेद-102 के अंतर्गत उल्लिखित अयोग्यताएं प्रकृति में सर्वसमावेशी (Exhaustive in Nature) प्रकार की हैं तथा ये यथोचित अथवा न्यायसंगत रूप से व्याख्यात्मक नहीं हैं। अतः संसद की अपने सदस्यों को निलम्बित कर सकने की शक्ति संवैधानिक दृष्टिकोण से अनुमोदित नहीं है। पुनश्चः याचिका में तर्क दिया गया कि लोकसभा सदस्यों को निलम्बित करते समय अनुच्छेद-103 की अनदेखी नहीं कर सकती, जिसके अनुसार अयोग्यता संबंधी प्रश्न राष्ट्रपति के समक्ष समाधान हेतु प्रस्तुत किए जाते हैं और उसका निर्णय ही अंतिम होता है। इस संदर्भ में राष्ट्रपति द्वारा निर्वाचन आयोग से भी परामर्श लिया जा सकता है।

16 जनवरी, 2006 को सर्वोच्च न्यायालय ने याचिका को स्वीकार करते हुए लोक सभा के अध्यक्ष, निर्वाचन आयोग एवं केन्द्र को नोटिस जारी कर दिया।

सर्वोच्च न्यायालय द्वारा जारी नोटिस के परिप्रेक्ष्य में लोक समाध्यक्ष द्वारा-20 जनवरी, 2006 को एक सर्वदलीय बैठक बुलाई गई। इस बैठक के पीछे लोक सभाध्यक्ष सोमनाथ चटर्जी का गुप्त मंतव्य सर्वोच्च न्यायालय के नोटिस को नकारना एवं उसके सक्षम अपन पक्ष प्रस्तुत नहीं करना था। यह महसूस किया गया कि यह मुद्दा न्यायिक नहीं है और न्यायालय द्वारा इस संदर्भ में कोई भी याचिका (निलम्बन आदेश के विरूद्ध) स्वीकार नहीं की जानी चाहिए थी।

शीर्ष न्यायालय द्वारा जारी नोटिस के प्रत्युत्तर में लोकसभा अध्यक्ष ने महत्वपूर्ण संवैधानिक प्रश्न उठाया-विधायिका की शक्तियां बनाम न्यायपालिका की शक्तियां। संविधान के अनुच्छेद-194(3) द्वारा राज्य व्यवस्थापिका को तथा अनुच्छेद-105(3) के माध्यम से संघीय संसद को कुछ शक्तियां, विशेषाधिकार एवं उन्मुक्तियां प्रदान की गई हैं। भारत में किसी भी विधान द्वारा इनकी व्याख्या नहीं की गई है।

1951 में अंतरिम संसद के सदस्य एच.जी. मुद्गल पर ध न लेकर प्रश्न पूछने के आरोप लगे थे (उन्होंने निलम्बन से पूर्व ही त्याग-पत्र दे दिया था)। इनके मामले में सदन द्वारा उनके विरूद्ध लगे आरोपों की जांच करने हेतु एक विशेष समिति का गठन किया गया था। वर्तमान मामले के विपरीत मुदुगल को अपने बचाव के दो बार अवसर भी दिए गए - प्रथम बार, समिति के समक्ष, तथा; दूसरी बार समिति द्वारा संसद के समक्ष रिपोर्ट के प्रस्तुतीकरण के समय।

संसद द्वारा अनेक बार विवादास्पद निर्णय लिए गए। दिसम्बर 1978 में लोक सभा ने एक ऐसा प्रस्ताव स्वीकार किया,

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

जिसमें पूर्व प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी को सदन के सत्रावसान तक जेल में रखने की बात करते हुए, विशेषाधिकारों के अतिक्रमण एवं सदन की अवमानना के लिए उनकी सदस्यता समाप्त कर दिए जाने की बात कही गई थी।

मई 1981 में केन्द्र में इंदिरा गांधी सरकार की वापसी के पश्चात् पूर्व लोक सभा द्वारा पारित किया गया उनका निष्कासन संबंधी प्रस्ताव नवगठित संसद द्वारा निरस्त कर दिया गया। इस संदर्भ में सदन द्वारा यह संकल्प पारित किया गया कि 1978 का निष्कासन संसदीय विशेषाधिकार संबंधी कानूनों में कोई पूर्वोदहारण नहीं है और यह निर्णय संसदीय विशेषाधिकारों के कानून के सुस्थापित सिद्धांतों का उल्लंघन करता है।

विगत कुछ समय से न्यायपालिका जनहित मामलों में सक्रिय भूमिका का निर्वहन कर रही है, जिसका परिणाम शक्ति में थोड़े, 'असंतुलन' के रूप में सामने आया है। 1964 में उत्तर प्रदेश विधान सभा यह समझती थी कि उसे यह शक्ति प्राप्त है कि वह इलाहाबाद उच्च न्यायालय की लखनऊ खण्डपीठ के दो जजों, जिन्होंने सदन की अवमानना के लिए कारावास की सजा प्राप्त एक व्यक्ति को जमानत प्रदान की थी, को हिरासत में लेकर अपने समक्ष प्रस्तुत करवा सकती है- वर्तमान समय में ऐसा होना असंभव है।

वर्तमान मामले में धन लेकर प्रश्न पुछने के मामले में बर्खास्त संसद सदस्यों की याचिका पर शीर्ष न्यायालय द्वारा लोक सभाध्यक्ष को दिए नोटिस को लेकर विधायिका और न्यायपालिका के मध्य टकराव की स्थिति उत्पन्न हो गई थी, को हिरासत में लेकर अपने समक्ष प्रस्तुत करवा सकती है- वर्तमान समय में ऐसा होना असम्भव है।

वर्तमान मामले में धन लेकर प्रश्न पुछने के मामले में बर्खास्त संसद सदस्यों की याचिका पर शीर्ष न्यायालय द्वारा लोक सभाध्यक्ष को दिए नोटिस को लेकर विधायिका और न्यायपालिका मे मध्य टकराव की स्थिति उत्पन्न हो गई थी और विधायिका द्वारा न्यायपालिका के ऊपर यह आपेक्ष लगाया गया कि वह विधायिका के अधिकार क्षेत्र का अतिक्रमण कर रही है।

जनवरी 2007 में सर्वोच्च न्यायालय ने धन लेकर प्रश्न पूछने के मामले में सभी 11 सांसदों की बर्खास्तगी को सही ठहराया। शीर्ष न्यायालय की संवैधानिक पीठ द्वारा बहुमत से दिया गया यह निर्णय सराहनीय होने के साथ-साथ निर्वाचित जन-प्रतिनिधि यों के लिए एक सबक भी है कि वे अपनी सीमा रेखा का अतिक्रमण करने की कोशिश न करें। न्यायालय ने सांसदों की बर्खास्तगी को उचित ठहराकर जहां संसद की मर्यादा को बनाए रखने का प्रयास किया है, वहीं इसके अधिकार पर अपनी मुहर लगा दी है। इस फैसले का सबसे ज्यादा असर भाजपा पर हुआ है, जिसके पांच सांसदों पर तलवार गिरी है। फिर भी उसने इसका स्वागत कर 'शुचिया का परिचय' दिया है। जो भी हो, इस निर्णय से विधायिका और न्यायपालिका के बीच तनाव की पैदा हुई स्थिति पर विराम लग गया है। ऐसा नहीं है कि जिन सांसदों की सदस्यता खत्म की गई थी, उन्हें अपना पक्ष रखने की छूट नहीं मिली।

इस मामले में लोक सभा अध्यक्ष सोमनाथ चटर्जी ने पांच सदस्यों की एक समिति गठित कर बर्खास्त सांसदों के नैसर्गिक अधिकार को मान्यता दी थी। समिति ने पूरे मामले पर गंभीरता से विचार कर सदन की सदस्यता से बर्खास्त करने की सिफारिश की, जिसे स्वीकार कर लिया गया। यह सही है कि अगर स्टिंग ऑपरेशन 'दुर्योधन' ने इसकी पोल नहीं खोली होती, तो शायद ही साधारण मतदाता इससे परिचित होता। भ्रष्टाचार के उजागर होने के साथ ही सर्वोच्च न्यायालय का निर्माण वास्तव में एक ऐसा कदम है, जिससे सहमत न होना मुश्किल होगा। संवैधानिक पीठ के चार जजों ने संसद के अधिकार क्षेत्र को उचित मान्यता दी है लेकिन एक जज न्यायमूर्ति आर.वी. रविन्द्रन ने संसद की कार्रवाइयों को गलत बताया और सांसदों की सदस्यता बनाए रखने की बात कही है। इसकी गहराई से समीक्षा होनी चाहिए। सर्वोच्च न्यायालय ने जहां संसद की गरिमा को बहाल रखा है, वहीं यह कहकर विध ायिका और न्यायपालिका के बीच लक्ष्मण रेखा भी खींच दी है कि उसे संसद के न्यायिक और अर्द्ध-न्यायिक निर्णयों की समीक्षा करने का अधिकार है। यह सही है कि संविधान में सांसदों को निष्कासित करने की व्याख्या नहीं की गई है, लेकिन इसका आशय यह नही है कि सांसद होने के नाते उन्हें भ्रष्टाचार की छूट दी जाए।

लोक सभा अध्यक्ष सोमनाथ चटर्जी ने शीर्ष न्यायालय के इस निर्णय का स्वागत किया है, लेकिन उन्होंने इस प्रश्न पर चुप्पी साध ली है कि संविधान के किसी भी हिस्से की न्यायिक समीक्षा का अधिकार सर्वोच्च न्यायालय को है। जो भी हो संसद को अनैतिक कार्यों में संलग्न सदस्यों को बर्खास्त करने का अधिकार है। प्रश्न है कि अधिकार के इस औजार को क्या वह आपराधिक मामले में चल रहे मुकदमे के दौरान चुने गए सांसदों के विरूद्ध प्रयुक्त करेगी? राजनीति और अपराधीकरण की जो तस्वीर सामने है, उसे देखते हुए इस मामले में संसद को सक्रिय होना चाहिए। यह लोकतंत्र की मर्यादा बनाये रखने के लिए अत्यावश्यक है।

TRUST IAS

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

कुटुंब न्यायालय

1984 तक हिन्दू, ईसाई, मुस्लिम और पारसी विधियों के अधीन विवाह-विच्छेद के वादों तथा भरण-पोषण की याचिकाओं पर निर्णय साधारण विशेषकर जिला न्यायालय द्वारा किए जाते थे जिन्हें संबंधित अधिनियमों द्वारा इस विषय पर अधिकारिता मिली हुई थी। इन न्यायालयों द्वारा अपनाई जाने वाली प्रक्रिया क्रमशः सिविल प्रक्रिया संहिता और दंड प्रक्रिया संहिता में दी गई थी। यह एक दुर्वह व्यवस्था थी और न्यायालयों को विधि के अधीन अपनी ओर से अन्वेषण करने की शक्ति नहीं थी। अतः इस तरह के वादों को अंतिम निर्णय पहुंचने में प्रायः बहुत समय लग जाता था।

इसलिए प्रभावी और कमखर्च पर उपचार उपलब्ध कराने की दृष्टि से कुटुंब न्यायालय अधिनियम 1984 के अधीन कुटुंब न्यायालयों की स्थापना की गई। यह अधिनियम न्यायालय को अपने विवेक का प्रयोग करने और संबंधित पक्षों के बीच मैत्रीपूर्ण समझौता कराने की शक्तियां प्रदान करता है।

कुटुंब न्यायालयों की स्थापना के उद्देश्य और कारण हैं : विवाहों और पारिवारिक मामलों से संबंधित विवादों और उनसे विषयों के त्वरित निपटान के लिए सुलह की भावना को बढ़ावा देना।

वाद-विषय या कार्रवाइयों के संबंध में समझौता तक पहुंचने के लिए या जो आरोप एक पक्ष लग रहा है और दूसरा इससे इनकार कर रहा है, इसमें सच्चाई का पता लगाने के लिए परिवार न्यायालय अपनी प्रक्रिया स्वयं निर्धारित कर सकते हैं।

ये न्यायालय निम्नलिखित को विचारार्थ स्वीकार करते हैं:

1. विवाह के पक्षों के बीच विवाह की अकृतता (विवाह को अकृत और शून्य घोषित करने या, यथास्थिति, विवाह को निष्प्रभावी करने) अथवा न्यायिक पृथक्करण अथवा विवाह के विघटन की डिक्री के लिए वाद या कार्रवाई;

2. किसी विवाह की वैधता अथवा किसी व्यक्ति की वैवाहिक स्थिति के विषय में घोषणा कराने के लिए वाद या कार्रवाई;

3. विवाह के पक्षों के बीच उनकी संपत्ति या उनमें से किसी एक की संपत्ति के बारे में वाद या कार्रवाई;

4. वैवाहिक संबंधों से उत्पन्न परिस्थितियों में किसी आदेश या व्यादेश के लिए वाद या कार्रवाई;

5. किसी व्यक्ति की धर्मजता के बारे में घोषणा के लिए वाद या कार्रवाई;

6. भरण पोषण के लिए वाद या कारर्वाई;

7. व्यक्ति का अभिभावकता या किसी अवयस्क की अभिरक्षा, या उस तक पहुंच के संबंध में वाद या कार्रवाई।

अधिनियम के धारा 5 और 6 के द्वारा न्यायालय को यह शक्ति दी गई है कि वह इस अधिकारिता को और भी कुशलतापूर्वक, प्रभावी ढंग से तथा अधिनियम के प्रयोजनों के अनुसार प्रयोग में लाने के लिए समाज कल्याण अभिकरणों और परामर्शदाताओं का सहयोग ले सके।

कुटुंब न्यायालय के प्रत्येक निर्णय अथवा आदेश (अंतर्वर्ती आदेश को छोड़कर) की अपील, तथ्यों तथा विधि दोनों के प्रश्नों पर, उच्च न्यायालय में की जा सकती है।

कुटुंब न्यायालय की एक विशेषता यह है कि इसमें वकीलों द्वारा प्रतिनिधित्व नहीं होता। इन न्यायालयों के समक्ष चलने वाली कार्वाइयों की प्रकृति सुलहकारी तथा परामर्शी है।

सामान्यतया, अधिकांश मामलों में, कुटुंब न्यायालय वकीलों के बिना ही अपना काम चलाते हैं। इससे जटिल प्रक्रियाओं और नियमों का अनुसरण करने में कुछ कठिनाई आ सकती है, किन्तु यदि कोई कमी होती है तो वह कुटुंब संघों और परामर्शदाताओं की सेवाओं से पूरी की जा सकती है। न्यायाधीश त्वरित न्याय दे सकता है और सुलह करा सकता है। जटिल मामलों में, न्यायाधीश संबंधित पक्षों द्वारा इच्छा व्यक्त करने और मामले के शीघ्र निपटाने के लिए जरूरी समझे तो वकीलों को पेश होने की अनुमति दे सकता है।

कुटुंब न्यायालयों की सफलता साधारण वादों की प्रक्रिया से हटने पर और ऐसी प्रक्रिया विकसित करने पर निर्भर करती है जिसमें बिना अधिक व्यय और समय लगाए सच्चाई और जानकारी मालूम की जा सके और त्वरित न्याय दिया जा सके।

इन न्यायालयों के निर्णयों और आदेशों के विरूद्ध अपीलें अन्य न्यायालयों में और अनुच्छेद 136 के अधीन उच्चतम न्यायालय में की जा सकती हैं।

First IAS

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

लोक अदालतें

न्यायालयों के माध्यम से विधिक राहत पाने की प्रक्रिया लंबी और अत्यंत जटिल है और इसमें खर्च भी बहुत लगता है। इसी कारण विवादों को त्वरित तथा कम खर्च में निपटाने के कई भिन्न-भिन्न और नए तरीके निकल आए हैं। ऐसा ही एक तरीका लोक अदालत है।

विवादों को शीघ्रतापूर्वक और कम खर्च में स्वैच्छिक रूप से निपटाने की विधि को बढ़ावा देने के लिए लोक आदालतें उच्चतम न्यायालय के कुछ न्यायाधीशों द्वारा शुरू की गई थीं। अब संसद द्वारा पारित विधिक सेवा प्राधिकरी अधिनियम, 1987 के अधीन लोक अदालतों को सांविधिक दर्जा प्राप्त हो गया है। इस सम्मिश्र अधिनियम का सरोकार कानूनी सहायता, लोक आदालतों और कानूनी सहायता सेवाओं से है। इन युगल संस्थाओं का उद्देश्य सामाजिक न्याय को बढ़ावा देने के लिए कानूनी प्रणाली के प्रचालन को सुनिश्चित करना है- सामाजिक न्याय का विशेष महत्व समाज के दुर्बल वर्गों के लिए है जो आर्थिक तथा अन्य आयोग्यताओं के कारण, सामान्य न्यायालयी प्रक्रियाओं में होने वाले विलंब और व्यय को सहन नहीं कर सकते।

यदि किसी साधारण व्यक्ति को न्याय पाने के लिए किसी निगम, बीमा कंपनी, बड़ी कंपनी, या सरकारी उपक्रम के साथ संघर्ष करने के लिए विवश होना पड़े तो यह संघर्ष सदैव दो असमान पक्षकारों के बीच होता है। अधिकांश मामलों में, व्यक्ति उपयुक्त कानूनी सेवाओं का खर्च नहीं उठा सकता जबकि निगम अच्छे से अच्छे विधि व्यवसायियों की सेवाएं प्राप्त कर सकता है। कभी-कभी न्यायालय के दूसरे खर्च इतने ज्यादा होते हैं कि उन्हें उठाना व्यक्तिगत वादकारी के लिए बहुत कठिन होता है। इसके अतिरिक्त, तकनीकी प्रक्रियाएं जटिल होती जाती हैं, स्थगनों की संख्या बढ़ती जाती है और न्यायालय का खर्च बढ़ता चला जाता है। यही पृष्ठभूमि थी जिसे दृष्टि में रखकर लोक अदालतों की स्थापना का उपबंध करने वाला अधिनियम पारित किया गया।

अधिनियम में यह उपबंध है कि राज्य या जिले के प्राधि कारी समय समय पर सुविधाजनक स्थानों पर लोक अदालतों का गठन करेंगे जिन्हें राज्य अथवा जिला प्राधिकारियों द्वारा प्रदत्त अधि कारिता होगी। अधिनियम में यह भी कहा गया है कि लोक अदालतोां में उस क्षेत्र के न्यायिक अधिकारी और ऐसे सदस्य होंगे जिनके पास राज्य द्वारा विहित योग्यताएं और अनुभव होगा।

लोक अदालतों की अधिकारिता बड़ी व्यापक है। वे सिविल, दांडिक या राजस्व न्यायालयों अथवा अधिकरणों की अधि कारिता में आने वाले किन्हीं मामलों से संबंधित विवादों से जुड़े उभय पक्षों के बीच समझौता या निपटारे सकती हैं। यदि संबंधित पक्ष न्यायालय या अधिकरण में संयुक्त आवेदन प्रस्तुत करके अपना यह आशय व्यक्त करें कि वे आपस में समझौता या निपटारा करना चाहते हैं तो वह मामला लोक अदालत के समक्ष जा सकता है। तब न्यायालय की अध्यक्षता करने वाला न्यायाधीश अथवा अधिकरण, मामले को आगे बढ़ाने के स्थान पर यह आदेश कर देता है कि कार्रवाई समझौते/निपटारे के लिए लोक अदालत को अंतरित कर दी जाए।

अधिनियम में स्वयं ही इस बात का उपबंध है कि लोक अदालत अपने समक्ष चलने वाली कार्रवाई का अवधारण करेगी और विवादी पक्षों के बीच समझौता/निपटारे के लिए अधिकतम शीघ्रता के साथ काम करेगी और यह कि लोक अदालतें विधि के सिद्धांतों, न्याय सिद्धांतों, साम्या और ऋजुता से प्रेरित होंगी। यदि लोक अदालत में विवादी पक्षों के बीच कोई समझौता/निपटारा नहीं हो पाता तो मामला फिर उसी न्यायालय को अंतरित कर दिया जाता है जहां से वह मूलतया प्रेषित किया गया था।

लोक अदालत के अधिनिर्णय को विधित: लागू किया जा सकता है क्योंकि इसे सिविल न्यायालय या अधिकरण की डिक्री माना जाता है **तथा आगे और खर्च एवं विलंब को बचाने के लिए इसे विवाद के सभी पक्षों के लिए अंतिम तथा बाध्यकारी माना जाता है। लोक आदालत के अधिनिर्णय की किसी न्यायालय में अपील का कोई उपबंध नहीं किया गया है।**

सिविल प्रक्रिया संहिता के अंतर्गत लोक अदालत को विवादों का विचारण करते समय सिविल न्यायालय की शक्तियां प्रदान की गई हैं और लोक अदालत के समक्ष चलने वाली कार्रवाई को भारतीय दंड संहिता के उपबंध के अनुसार न्यायालय की कार्रवाई माना जाता है।

उच्चतम न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों ने समय-समय पर लोक अदालतें लगाई हैं और बराबर लगा रही हैं जिनमें इन न्यायलायों में लंबित मामले विवादी पक्षों की सहमति से अंतरित कर दिए जाते हैं। लोक अदालतों में बड़ी संख्या में मुकदमों का फैसला किया है। इनके निर्णयों को संबंधित न्यायालयों की डिक्री का रूप दिया गया है। इस तरह की लोक अदालतें अब बिजली बोर्डो, टेलीफोन विभाग आदि विभिन्न सरकारी विभागों द्वारा भी लगाई जा रही हैं।

यदि ठीक से उपयोग किया जाए तो लोक अदालतें उपयोगी संस्थाएं सिद्ध हो सकती हैं। ये न्यायालयों के स्थानापन्न के रूप में कार्य नहीं कर सकतीं, परंतु यदि इनका गठन और संचालन ध्यान से किया जाए तो ये वर्तमान न्यायतंत्र की एक स्वागत-योग्य अतिरिक्त अंग सिद्ध हो सकती हैं। अन्य न्यायालयों और अधिकरणों की तरह, पक्षकारों/वकीलों/प्राधिकारियों/राजनीतिज्ञों द्वारा इन अदालतों का भी दुरुपयोग किया जा सकता है।

GENIUS IAS

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

लोकहित वाद

हाल के वर्षों में, वाद का एक नया प्रकार विकसिस हुआ है जो इस रूप में पारंपरिक वादों से भिन्न है कि इसमें न कोई वादी या प्रतिवादी होते हैं और न राज्य/शिकायतकर्ता बनाम अभियुक्त। वाद का यह नया प्रकार कम खर्चीला और अधिक प्रभावोत्पादक है। जहां सरकार का कोई विभाग या कोई लोक प्राधिकरण विधि का अतिक्रमण या उत्पीड़न, अन्याय या शोषण करता पाया जाता है या जहां वह जल और पर्यावरण के प्रदूषण जैसे कृत्यों का दोषी, जिनके सामान्य सिविल या दांडिक विधि में कोई उपबंध नहीं है, वहां इनका शिकार अथवा इनसे आहत या आहत हो सकने वाला कोई भी व्यक्ति कार्रवाई का सूत्रपाठ कर सकता है जिसे लोकहित कार्रवाई या सामाजिक हित कार्रवाई कहा जाता है।

इसके अधीन लोग ऐसी बातों के विरूद्ध कार्रवाई कर सकते हैं जैसे कि ठेकेदारों द्वार मजदूरों का शोषण, बंधुआ मजदूरी के रूप में बच्चों का प्रयोग, विचारणधीन कैदियों का अवैध निरोध , अभिरक्षा के दौरान यंत्रणा, यहां तक कि ऐसे मुद्दे भी जैसे कि पर्यावरण प्रदूषण और इसके उपचार का अभाव।

अनुच्छेद 226 और 32 के अधीन उच्च न्यायालय और उच्चतम न्यायालय अपनी आरंभिक अधिकारिता के भीतर व्यथित पक्षों की शिकायतों को दूर करने के लिए राज्य के विरूद्ध रिटें/आदेश/व्यादेश आदि जारी कर सकते हैं। किन्तु यह केवल लोक प्राधिकारियों के विरूद्ध किया जाता है। अब उच्चतम न्यायालय ने गरीबों, दीनहीनों, विचारणाधीन बंदियों, बंदियों, स्त्रियों, बंधुआ और असंगठित मजदूरों, अनुसूचित जातियो/जनजातियों, दलितों आदि की समस्याओं को प्रकाश में लाने और उन्हें समर्थन प्रदान करने में सक्रिय भूमिका निभाने की पहल की है। अनेक मामलों में उच्चतम न्यायालय ने न्यायालय फीस और रिट प्रस्तुत करने की बारीकियों, याचिकादाता के अस्तित्व और यहां तक कि वकीलों की मदद के बिना भी याचिकाएं विचारार्थ स्वीकार की हैं। उसने किसी व्यक्ति, सामाजिक कार्यकर्ता या स्वैच्छिक संगठन द्वारा न्यायालय के समक्ष लोक अन्याय का मामला उठाने के लिए लिखे गए एक पत्र को ही आवेदन पत्र/शिकायत मानकर उस मुद्दे की सुनवाई शुरू की है। ऐसा करके उच्चतम न्यायालय ने 'सुने जाने के अधिकार' की संकल्पना को एक नई परिभाषा दी है।

लोकहित वाद ने उच्चतम न्यायालय की पारंपरिक भूमिका में एक परिवर्तन ला दिया है। इसने उच्चतम न्ययालय को उनके सामाजिक-आर्थिक अधिकारों का समर्थन करने के लिए सकारात्मक कार्रवाई करने का अवसर दिया है जो परंपरा से न्यायालय द्वारा अप्रवर्तनीय माने जाते रहे हैं और इस प्रकार, संविधान के अनुच्छेद 32 की व्याप्ति का विस्तार किया है। लोकहित वद के माध्यम से नागरिक ऐसे मामलों में न्यायिक हस्तक्षेप की मांग कर पाते हैं जिनके साथ आम जनता का हित बंधा है। इस विस्तारित अधिकारिता के आधार पर न्यायपालिका ने सरकार और उसके विभिन्न अभिकरणों की समीक्षा करने और उन्हें मॉनीटर करने तथा राजनीतिक, प्रशासनिक या न्यायिक क्षेत्र में वस्तुत: हस्तक्षेप किए बिना समाज के दलित वर्गों को सामाजिक-आर्थिक न्याय प्रदान करने की जिम्मेदारी ले ली हैं।

लोक वाद और सामाजिक कार्रवाई वाद में कोई विशेष अंतर नहीं है। सामाजिक कार्रवाई वाद में, आक्षेपाधीन कार्रवाई से मूलतया आहत होने वाले जनता के किसी दृढ़निश्चयी वर्ग या समूह के विशिष्ट अधिकारों के प्रवर्तन के लिए याचिकाएं दी जाती हैं। इस वर्ग के सदस्यों को प्रत्यक्ष क्षति पहुंचती है और उनकी ओर से शिकायत दूर कराने की याचिका इसलिए प्रस्तुत की जाती है कि वे अपनी दरिद्रता, अशिक्षा और सामाजिक तथा आर्थिक अयोग्यता के कारण न्यायालय तक पहुंच पाने में असमर्थ होते हैं।

उदाहरणार्थ इनमे विचारधीन कैदी, पत्थर की खदानों में काम करने वाले मजदूर या देखभाल केन्द्रों अथवा गृहों के आवासी, पटरियों पर रहने वाले लोग आदि सम्मिलित हैं। लोकहित वाद में लोगों के सामूहिक अधिकार प्रभावित होते हैं और इसप्रकार की क्षति से राहत मांगी जाती है। उदाहरण के लिए, किसी झील या नदी में छोड़ा गया दूषित जल जिससे उन सभी नुकसान पहुंचे जिन्हें शुद्ध जल से वंचित होना पड़ रहा है, हानिकर गैस जिसके निकलने से उसमें सांस लेने वाले को भारी संख्या में क्षति हो सकती है, रेडियों-दूरदर्शन पर सरकारी एकाधिकार को चुनौती देने वाली याचिका, टेलीफोन विभाग की अदक्षता, अनिवार्य नागरिक कर्तव्यों का अपालन आदि।

सामाजिक कार्रवाई वाद में न्यायालय ने याचिकादाता को याचिका को वापस लेने और कार्रवाइयों से स्वयं को अलग होने की अनुमति देने से इस आधार पर इन्कार कर दिया है कि लोकहित वाद लाने वाले व्यक्ति को वाद-स्वामी का दर्जा नहीं दिया जा सकता क्योंकि इससे लोकहित की कार्रवाइयां ''एक नए आयाम के प्रति असुरक्षित और उससे प्रभावित हो सकती हैं जिसके कुछ मामलों में, लोग अपने व्यक्तित्व स्वार्थों के लिए उपयोग कर सकते हैं और उससे लोकहित को हानि पहुंच सकती है।''

उच्चतम न्यायालय के न्यायमूर्ति पी.एन. भगवती के शब्दों में : लोकहित वाद विधिक सहायता आंदोलन की एक महत्वपूर्ण भुजा है और इसका उद्देश्य न्याय को निर्धन असुरक्षित लोगों और अन्याय के शिकार व्यक्तियों की पहुंच के भीतर लाना है।

लोकहित बाद का उद्देश्य समाज के उन दुर्बल, असंगठित और शोषित वर्गों के द्वार पर, जो मुकदमा लड़ने के ऊपर होने वाले अत्यधिक खर्च के कारण न्यायालयों के द्वार नहीं खटखटा सकते, न्याय को पहुंचाना है। लोकहित बाद

RSTA IAS

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

किसी एक व्यक्ति के विरूद्ध दूसरे व्यक्ति के अधिकार के प्रवर्तन के लिए न्यायालय के समक्ष नहीं लाया जाता बल्कि इसका उद्देश्य लोकहित का संवर्धन एवं समर्थन करना है जिसका तकाजा है कि लोगों की बहुत बड़ी संख्या के, जो निर्धन और अज्ञानी हैं तथा सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से अलाभकर स्थिति में हैं, संवैधानिक तथा कानूनी अधिकारों की अनदेखी न हो और उनके प्रवर्तन में कोई कमी हो तो उसे दूर किया जाए। इसका प्रकृति प्रतीपक्षीय वाद की नहीं है बल्कि यह सरकार और उसके अधिकारियों को आधारित मानवाधिकारों को सार्थक बनाने के लिए एक चुनौती तथा अवसर है।

न्यायालयों ने आंग्ल-सैक्सन विधिशास्त्र द्वार विकसित प्रास्थिति (लोकस) के नियम को अर्थात केवल अन्याय का शिकार व्यक्ति की न्यायिक राहत पाने के लिए न्यायालय में खड़ा हो सकता है, छोड़ दिया हैं। वर्तमान परिस्थितियों में यह पर्याप्त नहीं है। निचले स्तर के और उपेक्षित लोगों को न्याय सरलता से उपलब्ध होनी चाहिए। विधि केवल सीमित लोगों के लिए ही उपलब्ध नहीं रहनी चाहिए। पुरानी व्यवस्था में भी किसी अवयस्क या समर्थांग व्यक्ति या निरूद्ध अथवा अवरूद्ध व्यक्ति की ओर से वादमित्र को न्यायलय में अभ्यावेदन करने की अनुमति होती थी। लोकहित वाद ने 'सुने जाने का अधि कार' के नियम को और शिथिल कर दिया है।

प्रास्थिति का न्यायिक तंत्र के द्वार पर उदारतापूर्वक लोकहित न्याय में सहभागिता का एक अंश है सिथिलवाद में उस व्यक्ति की स्वागत किया जाना चाहिए। लोकहित वाद को विचारर्थ स्वीकार करने के लिए न्यायालय ने प्रक्रियात्मक नियमों को उदार बना दिया है। एक मामले में उच्चतम न्यायालय ने कहा है, 'लोक क्षति के निवारण, लोक कर्तव्य के प्रवर्तन, सामाजिक-सामूहिक विकीर्ण अधिकारों और हितों के संरक्षण अथवा लोकहित की रक्षा करने के लिए लाए गए वाद में, हर ऐसे नागरिक को जो सदाशयी है और जिसका पर्याप्त हित है, सुने जाने का अधिकार देना चाहिए।'' व्यक्ति का समुचित हित है या नहीं, यह हर मामले में अलग से देखना होगा और इस विषय में कोई निश्चित प्राचल नियत सनहीं किए जा सकते। एक मामले में जिसमें यह प्रश्न उठाया गया था कि क्या न्यायाधीशों के स्थानांतरण को लेकर संबंधित न्यायाध ीशों की ओर से वकीलों द्वार लोकहित में लाई गई रिट याचिकाओं में उन वकीलों के 'सुने जाने का अधिकार' है?, यह निर्णय सर्वसम्मति से लिया गया था कि वकीलों का हित उस मामले में बद्ध है और उन्हें याचिका दायर करने का अधिकार है तथा उन्हें न्यायालय के द्वार से वापस नहीं लौटाया जात सकता। न्यायमूर्ति पी. एन. भगवती ने यह भी कहा है कि :

अब इस बात को सुस्थापित माना जा सकता है कि जहां किसी व्यक्ति अथवा एक निश्चित व्यक्ति-समूह को उसके संवैध ानिक या कानूनी अधिकार के उल्लंघन के कारण किसी विधिक अन्याय अथवा विधिक क्षति का शिकार होना पड़ा है या किसी संवैधानिक अथवा कानूनी उपबंध के उल्लंघन से अथवा कानूनी प्राधिकार के बिना उस पर कोई आशंका है और ऐसा व्यक्ति या निश्चित व्यक्ति-समूह निर्धनता, असहायवस्था, निर्योग्यता या समाजिक अथवा आर्थिक दृष्टि से अपनी अलाभकारी स्थिति के कारण राहत के लिए न्यायालय तक पहुंचने में असमर्थत है तो जनता का कोई सदस्य अनुच्छेद 226 के अधीन उच्च न्यायालय में उचित निदेश, आदेश या रिट जारी करने के लिए आवेदन प्रस्तुत कर सकता है और यदि किसी व्यक्ति या निश्चित व्यक्ति समूह के किसी मूल अधिकार का भंग हुआ है तो उकसे साथ हुए विधिक अन्याय या विधिक क्षति का न्यायिक उपचार पाने के लिए संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन उच्चतम न्यायालय में आवेदन किया जा सकता है।

जहां तक समुदाय के दुर्बल वर्गों का सरोकार है, जैसे कि बिना विचारणा के जेलों में दिन काटने वाले विचारधीन कैदी, आगरा के संरक्षण गृह के अपवासी, या अजमेर जिले में सड़क निर्माण के काम में लगे हरिजन मजदूर जो दरिद्रता और दीनहीनता में जीवन व्यतीत कर हरे हैं, जो अपना खून-पसीना बहाने पर भी कठिनाई से जीवित हैं, जो शोषण प्रधान समाज के असहाय शिकार हैं और जिनके लिए न्यायालय तक पहुंच पाना सरल नहीं है, उनमे मामले में यदि कोई लोकसेवी नागरिक उनकी समस्याओं को उठाने और उन्हें राहत दिलाने के लिए आगे आता है तो यह न्यायालय नियमित रिट याचिका प्रस्तुत किए जाने पर बल नहीं देगा। ऐसे व्यक्ति द्वार लोकहित में लिखे गए एक पत्र पर ही न्यायालय तत्परतापूर्वक ध्यान देगा।

प्रत्येक नागरिक को ऐसे कानूनों पर आपत्ति उठाने का अधिकार है जिन्हें बनाकर कार्यपालिका विधायी कार्यों को ऐसे अनाधिकारपूर्वक अपने दायेरें में लेना चाहे रही है। यह कार्यपालिका द्वारा अपनी शकित का छद्म प्रयोग है और संविधान के साथ कपट है। यदि कोई व्यक्ति इस तरह के मामले को आगे बढ़ाने से पीछे हटता है तो प्रत्येक नागरिक की उसका विरोध करने का अधिकार है और यदि उसकी बात न सुनी जाए तो उच्च न्यायालय में पुनरीक्षण याचिका दायर करने और उच्च न्यायालय के निर्णय की उच्चतम न्यायालय में अपील करने का अधिकार है।

एक मामले में जिसमें लोकतांत्रिक अधिकारों के संरक्षण के लिए गठित किसी संगठन ने उच्चतम न्यायलय के एक न्यायाध ीश को पत्र लिखकर यह आरोप लगाया था कि विभिन्न एशियाड परियोजनाओं में कार्यरत मजूदरों के मामले में श्रमिक विधियों का उल्लंघन हो रहा है, न्यायालय ने उस पत्र को ही रिट याचिका मान लिया था और यह निर्णय दिया था कि उक्त संगठन को 'सुने जाने का अधिकार' है और संबंधित पक्षों की सुनवाई के उपरांत आवश्यक राहत प्रदान की थी।

मजदूरों से संबंधित एक अन्य मामले में, सार्वजनिक क्षेत्र के एक समापनाधीन उद्यम के कर्मियों के 'सुने जाने का अधिकार'

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

पर विचार करते समय उच्चतम न्यायालय ने निर्णय दिया कि इन कर्मियों का हित इस मामले में प्रत्यक्षत: बद्ध है और वे प्रभावित पक्ष हैं तथा उन्हें लोक कर्तव्यों और दायित्वों के व्यक्तिक्रमण की शिकायत करने का अधिकार है।

न्यायालयों ने न्याय के हित में एक लक्ष्यपरक दृष्टिकोण अपनाया हैं। उन्होंने प्रक्रियात्मक बारीकियों पर जोर नहीं दिया है और कई मामलों में तो न्यायालय द्वारा वकालतनामें और शपथपत्र दाखिल करने के लिए भी नहीं कहा गया है।

विचारधीन बंदियों के मामले में समाचार पत्र की रिपोर्ट और पत्रों के आधार पर ही मामले विचार्थ स्वीकार कर लिए गए हैं। जब न्यायालय की जानकारी में यह बात लाई गई कि बहुत बड़ी संख्या में स्त्री, पुरुष और बच्चे जेल में निरूद्ध हैं और उन्हें तुच्छ अपराधों के लिए विचारण की प्रतीक्षा करनी पड़ रही है, जो यदि सिद्ध भी हो जाएं तो अपराधियों को कुछ महीने या दो साल से ज्यादा की सजा नहीं सुनाई जा सकती, तो न्यायालय ने निदेश जारी किए कि ऐसे मामलों की तुरंत सुनवाई होनी चाहिए और उसने उन विचाराधीन बंदियों को रिहा कर दिया जिन्होंने वह अधिकतम अवधि जेल में काट ली थी जिसकी सजा उनका कथित अपराध सिद्ध हो जाने पर उन्हें दी जा सकती थी।

विभिन्न एशियाड परियोजनाओं में कार्यरत मजदूरों के मामले में, न्यायालय ने राहत भी प्रदान की और साथ ही, तीन लोकपाल नियुक्त करके उनसे निवेदन किया कि वे निर्माण के कार्यस्थलों का समय-समय पर निरीक्षण करके यह मालूम करें कि वहां श्रमिक विधियों के उपबंधों का पालन हो रहा है या नहीं और मजदूरों को दिए जाने वाले हितलाभ और सुविधाएं उन्हें सचमुच प्राप्त हो रही हैं या नहीं। लोकपालों से कहा गया कि वे इस संबंध में एक रिपोर्ट न्यायालय को प्रस्तुत करें।

इसी प्रकार, उन मामलों में जहां कार्यरत बंधुआ जीवन जी रहे थे या आमानवीय परिस्थितियों में कार कर रहे थे, वहां न्यायालय ने उनके जीवन की पारिस्थतियों को सुधारने और उन्हें सामाजिक न्याय सुनिश्चित करने के लिए निदेश जारी किए ताकि वे सामाजिक और आर्थिक स्वाधीनता का उपयोग कर सकें।

पत्रकारों और मुंबई के एक सामाजिक कार्रवाई समूह द्वारा दायर किए गए एक वाद में पटरी पर रहने वालों और खोमचे वालों की ओर से न्यायिक राहत पाने के लिए आवेदन किया गया था जिन्हें मुंबई नगर निगम द्वारा बलपूर्वक अपनी जगह से हटाए जाने और अपनी खोलियों के गिराए जाने वाले खतरा था। इस मामले में न्यायालय ने पहली बार याह निर्णय दिया कि संविधान के अनुच्छेद में प्रतिष्ठापित जीवन के अधिकार में आजीविका का अधिकार समाविष्ट है: 'व्यक्ति को उनकी आजीविका से वंचित करना, उसे उसके जीवन से वंचित करना है।' इस निर्णय ने जीवन के संवैधानिक अधिकार की पिरिधि बढ़ाकर उसमें आजीविका के अधिकार को समाहित कर दिया।

जब गंगा नदी के प्रदूषण को न्यायालय की जानकारी में लाया गया तो उसने कहा कि : यदि नदी क कतटपर निवास करने वलो किसी व्यक्ति को नगर निगम द्वारा अकुशलतापूर्वक संसाधित मल-जल को नदी में छोड़ने के कारण क्षति हुई है और वह न्यायालय में कार्रवाई लाता है तो व्यादेश के द्वारा नगर निगम को ऐसा करने से रोका जा सकता है। गंगा नदी के प्रदूषण से उत्पन्न न्यूसें एक लोक न्यूसेंस है जिसकी सीमा व्यापक है और प्रभाव असंख्य लोगों पर है। अत: समूचे समुदाय से भिन्न-भिन्न, किसी व्यक्ति विशेष उसे रोकने के लिए कार्रवाई करने की आशा करना उचित नहीं है।

लोकहित वाद में पक्षों की प्रास्थिति के बारे में न्यायालय ने कहा कि इस तरह के वाद की प्रकृति प्रतिपक्षीय नहीं है जिसका उद्देश्य राज्य सरकार या उसके अधिकारियों को प्रतिपूर्ति के लिए जिम्मेदार ठहराना हो। इसत तरह का वाद तो राज्य सरकार और उसके अधिकारियों, मामलें में पेश होने वाले वकीलों और न्यायपीठ द्वारा मिलकर सहयोग करते हुए समुदाय के कमजोर -वर्गों के लिए मानवधिकारों को सार्थक बनाने का प्रयास है। यह इस देश के मानव समुदाय के वंचित असुरक्षित वर्गों को समाजिक-आर्थिक न्याय प्रदान करने की दिशा में बढ़ाया गया एक कदम है।

कार्यपालिका की निष्क्रियता या मंद क्रिया काम मामलों में, अनुच्छेद 19 और 21 के साथ पठित अनुच्छेद 38 में प्रतिष्ठापित संवैधानिक आकांक्षाओं की पृष्ठभूमि में न्यायिक निदेशों के द्वारा, लोकहित में, कुछ सुधारात्मक उपाय के रूप में सकरात्मक कार्रवाई करना निश्चित सीमाओं के भीतर अनुमेय है।

लोकहित को आगे बढ़ाना और लोक अनिष्ट का निवारण करना सर्वाधिक विचारणीय विषय है। **न्यायालय का सरोकार हितों के संतुलन से है।** यद्यपि न्यायालय को उन छद्मवेशी लोकहितैषी नागरिकों के कहने पर कोई कार्रवाई करने से इंकार कर देना चाहिए जो ऊटपटांग और अनुत्तरदायित्वपूर्ण आरोप लगाकर दूसरों के चारित्र को कलंकित करना चाहते हैं पर साथ ही, न्यायालय को इस तरह प्रकाश में आने वाले सरासर शरारती कार्यपालक कार्यो का समर्थन नहीं करना चाहिए। जब मनमानापन और दुष्टता असंदिग्ध रूप से स्पष्ट हो जाए तो न्यायालय अपने कर्तव्य से मुंह नहीं मोड़ सकता और आदेश जारी करने से इंकार नहीं कर सकता।

अनुच्छेद 32 और 226 के अधीन न्यायालय कार्रवाइयों के विशिष्ट प्रयोजन अर्थात मूल अधिकारों के प्रवर्तन के लिए उपयुक्त प्रक्रिया के सृजन के लिए स्वतंत्र है। न्यायालय को किसी बाद विशेष में जो भी निदेश, आदेश या रिट जारी करना आवश्यक हो वह करने की शक्ति है। अनुच्छेद 32 और 226 उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों पर लोगों के मूल अधिकारों का

FREE IAS

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

संरक्षण प्रदान करने का संवैधानिक दायित्व डालते हैं और इस प्रयोजन के लिए न्यायालयों के पास मूल अधिकारों के प्रवर्तन के लिए, खासतौर से निर्धन और अलाभकार स्थितियों में जाने वाले के मामलों में जो बुनियादी मानवाधिकारों से वंचित हैं और जिनके लिए स्वतंत्रता का प्राय: कोई अर्थ ही नहीं है, नए उपचार और नई युक्तियां विकसित करने की सभी प्रासंगिक एवं आनुषंगिक शक्तियां विद्यमान हैं।

लोकहित बाद में न्यायालय को प्रदत्त शक्ति केवल मूल अधिकार के अतिलंघन को रोकने की ही नहीं है बल्कि मूल अधि कार को जो भंग हो चुके है उसके विरूद्ध राहत प्रदान करने की भी है। न्यायालय ने उपयुक्त मामलों में उपचारी राहत भी मंजूर की है जिसके अंतर्गत प्रतिकार दिलाना भी है।

लोकहित वाद के अधीन प्रस्तुत याचिका को सिविल न्यायालयों की सामान्य प्रक्रियाओं के द्वारा मूल अधिकारों के अतिलंघन से उत्पन्न क्षति की पूर्ति के दोष के अधिकार के प्रवर्तन के स्थानापन्न के रूप में प्रयोग नहीं किया जा सकता। किसी मूल अधिकार के अतिलंघन घोर और सुस्पष्ट होना चाहिए आर्थात अविवाद्य एवं सुस्पष्ट होना चाहिए और वह या तो बहुत बड़ी संख्या में लोगों के मूल अधिकारों का बड़े पैमाने पर अतिलंघन होना चाहिए या प्रभावित व्यक्तियों की निर्धनता या निर्योग्यता या सामाजिक अथवा आर्थिक दृष्टि से उनकी अलाभकारी स्थिति के कारण अन्यायपूर्ण या अत्यधिक कठोर अथवा दमानात्मक प्रतीत होना चाहिए। तभी सिविल न्यायालय में अनुयोग लाने वाले और उस पर बल देने के लिए प्रेरित होंगे।

लोकहित वाद के मामलों में, जब न्यायालय विशेषकर उच्चतम न्यायालय, सांविधिक निकायों को बड़े सार्वजनिक महत्व के मुद्दों को समाविष्ट करने वाली कार्रवाईयों में भाग लेने और न्यायालय की सहायता करने के लिए आमंत्रित करता है तो ये निकाय उसका जवाब देने और न्यायालय के समक्ष चलने वाली कार्रवाई में भाग लेने के लिए कर्तव्यबद्ध हैं। ये निकाय वादकारी नहीं है और इनके सामने यह विकल्प नहीं है कि वे साधारण वादों में निजी पक्षों की तरह न्यायालय में उपस्थित न होने का रास्ता चुन लें। जब न्यायालय, स्वप्रेरणा से, नामनिर्दिष्ट सांविधिक या अन्य प्राधिकारियों को अपनी बात करने का अवसर देता है और उन्हें आमंत्रित करता है तो निष्ठुर उदसीनता का परिचय देने वाले निकायों के रुख को सराहा नहीं जा सकता। लोकहित वाद कोई सामान्य वाद नहीं होता जिसमें प्रतिपक्षी एक-दूसरे के विरोधी होते हैं।

कुछ मामलों में प्रथम स्तर के न्यायालयों होने के कारण उच्च न्यायालयों को उच्चतम न्यायालय की अपेक्षा मामलों पर अधि क कारगर ढंग से कार्रवाई करने की अधिकारिता है। इसलिए ऐसे मामलों में यही वांछनीय है कि उच्च न्यायालय की अधिकारिता के भीतर आवश्यक कार्रवाई करने के लिए उक्त न्यायालय से आवेदन किया जाए। अनुच्छेद 32 के अधीन उच्चतम न्यायालय को प्राप्त शक्तियों की तुलना में अनुच्छेद 226 के अधीन उच्च न्यायालय को किसी शक्तियों की व्याप्ति अधिक है अत: वह संबंधित पक्षों को उचित राहत देने में सक्षम है।

किन्तु यहां एक पहलू के प्रति सावधान करने की आवश्यकता है जिसे उच्चतम न्यायालय को न्यायमूर्ति वी. खालिद ने सर्वाधिक उपयुक्त शब्दों में इस प्रकार व्यस्त किया था : अपनी ओर से इन थोड़ी-सी पंक्तिया को जोड़ने का मेरा प्रयोजन लोकहित वादियों द्वारा न्यायालय के द्वार खटखटाते समय संयम बरतने की आवश्यकता को रेखांकित करना है।

लोकहित वाद अब अपना स्थान बना चुका है। किन्तु ऐसा लगता है कि यह न्यायालय और जनता, दोनों के लिए परेशानी पैदा कर रहा है। वर्तमान में, ऐसे मामले अकारण ही दायर कर दिए जाते हैं। इसलिए स्पष्ट मार्गदर्शक नियम और सही किए जाने वाले ऐसे मामलों के अबाध प्रवाह को न रोका तो इससे पारंपरिक वाद पर दुष्प्रभाव पड़ेगा और न्यायालयों को, न्याय प्रदान करने के स्थान पर, प्रशासनिक और कार्यपालक काम अपने हाथों में लेने पड़ जाएंगे। केवल तभी जब किसी समूह या वर्ग की कार्रवाई द्वारा न्यायालय की जानकारी में मूल अधिकारों के घोर उल्लंघन को लाया जाता है या जब आधारभूत मानवाधिकारों का उल्लंघन होता है या जब ऐसे कृत्यों की शिकायतें आएं जिनसे न्यायिक अंत:करण को चोट पहुंचे, तब न्यायालयों, विशेषकर इस न्यायालय को प्राक्रियात्मक बंधनों को एक तरफ रखकर ऐसी याचिकाओं की सुनवाई करनी चाहिए और जरूरतमंद, दलित तथा उपेक्षित लोगों को कष्ट, दु:ख और दुर्गति का उपचार करने के लिए सभी उपलब्ध उपबंधों के अधीन अपनी अधिकारिता का विस्तार करना चाहिए। जब ऐसी सहायता की जरूरत हो तो मैं आगे बढ़कर सहायता करूंगा। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि इस न्यायालय के दरवाजे सबके लिए हर समय खुले हैं चाहे वह कोई भी हो। **लोकहित वादियों के लिए कुछ आत्मसंयम बरतना आवश्यक है।**

IFS IAS

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

न्यायिक सक्रियता

न्यायिक सक्रियता का अर्थ :

न्यायिक सक्रियता का अर्थ है न्यायपालिका द्वारा कार्यपालिका के कार्यों को ग्रहण करना। इसी को न्यायपालिका द्वारा शासन (Governing by Judiciary) की संज्ञा दी गई है। न्यायमूर्ति डी.पी. मदन के शब्दों में यदि न्यायिक सक्रियता को हटा लिया गया, तो खाली स्थान पर निरंकुशता अधिकार जमा लेगी। 'न्यायिक सक्रियता उस सांविधानिक व्यवस्था को पुनर्जीवित करने का एक प्रयास है जिसे कार्यपालिका ने तोड़-मरोड़ दिया है।''। न्यायपालिका ने इन शक्तियों को हस्तगत करने के लिए स्वारोपित पारंपरिक प्रतिबंधों को शिथिल कर दिया है, विशेषकर अधिकारिता (Standing) के नियम को शिथिल करके यह सिद्धांत विकसित किया है कि किसी व्यक्ति या समूह के साथ हो रहे अन्याय की जानकारी कोई अन्य व्यक्ति, सामाजिक संगठन अथवा पत्र या समाचार के द्वारा भी न्यायालय को दी जा सकती और इस प्रकार प्राप्त सूचना को न्यायालय एक याचिका की तरह स्वीकार करते हुए उस पर कार्रवाई करेगा।

न्यायपालिका द्वारा कार्यकारिणी शक्तियों का हस्तगत स्वेच्छाचारी ढंग से नहीं किया गया है। न्यायिक सक्रियता का आधार सांविधानिक है। सर्वोच्च न्यायलय ने संविधान की विस्तृत व्याख्या करके यह स्पष्ट किया है कि संविधान के विभिन्न भाग एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। उदाहरण के लिए संविधान की उद्देशिका में उल्लिखित सिद्धांतों अथवा आदर्शों के विस्तार मूल अधिकारों और नीति-निदेशक सिद्धांतो में पाया जाता है। मूल अधिकार और नीति-निदेशक सिद्धांत एक दूसरे के पूरक हैं। न्यायपालिका को कार्यकारिणी के क्षेत्राधिकार में प्रवेश करने का अवसर प्रदान किया। न्यायिक सक्रियता का आधार मुख्य रूप से पांच अनुच्छेद हैं। जिन्हें 'पवित्र पंचभुज' (Sacred Pentagon) कहा जाता है।

यह अनुच्छेद हैं 14, 19, 21, 32 तथा 39ए। न्यायपालिका ने **इस दृष्टिकोण का प्रतिपादन किया कि यदि कार्यकारिणी उपर्युक्त अनुच्छेदों द्वारा निश्चित किए गए अधिकारों और सिद्धांतों को कार्यान्वित नहीं करेगी, तो संविधान का संरक्षक होने के नाते यह न्यायपालिका का अधिकार और सांविधानिक दायित्व है कि वह कार्यकारिणी को आवश्यक आदेश और निर्देश दे।** उदाहरण के लिए नागरिकों के मूल अधिकारों में अनुच्छेद 21 में जीवन का अधिकार दिया गया है। अत: दीर्घायु और स्वस्थ्य जीवन के लिए जो भी बाते आवश्यक हों, कार्यकारिणी को उनकी व्यवस्था करनी चाहिए फलस्वरूप प्रत्येक प्रकार का प्रदूषण दूर करना सरकार की सांविधानिक जिम्मेदारी है जैसे स्वस्थ जीवन के लिए स्वच्छ पानी मिलना आवश्यक है। यदि सरकार अप्रदूषित पानी की व्यवस्था नहीं करती, तो न्यायपालिका को उसे आवश्यक आदेश और निर्देश देने का अधिकार है।

जनहित विवाद :

आमतौर से न्यायिक सक्रियता से जनहित विवादों का ही बोध होता है। भारत में जनहित विवादों के अग्रणी न्यायाधीशों में न्यायमूर्ति वी.आर. कृष्णा अय्यर और न्यायमूर्ति पी.एन. भगवती को प्रमुख माना जाता है। 1976 में मुंबई कामगार सभा बनाम अब्दुल भाई के मुकदमे में न्यायमूर्ति कृष्णा अय्यर ने अप्रत्यक्ष रूप से जनहित विवाद को मान्यता प्रदान की। 1981 में एस.पी. गुप्ता बनाम यूनियन ऑफ इंडिया के मुकदमें में सर्वोच्च न्यायालय ने अधिकारिता (Standing) के नियमों को शिथिलता प्रदान करते हुए जनहित विवादों के औचित्य को स्पष्ट किया है।

यद्यपि संविधान ने न्यायपालिका को नागरिकों के अधिकारों का संरक्षक बनाया था लेकिन लगभग 30 वर्षों तक न्यायपालिका ने अपनी शक्तियों का सीमित रूप में प्रयोग किया और स्वयं अपने ऊपर कुछ सीमाएं आरोपित की जिसके कारण आम जनता के लिए न्यायालय के दरवाजे तक पहुंचना मुश्किल था। न्यायालय का क्षेत्राधिकार केवल व्यक्तिगत हितों तक सीमित समझा जाता था अर्थात् न्यायालयों में सिर्फ ऐसे मुकदमों की ही सुनवाई की जाती थी जिसमें किसी व्यक्ति के विधिक अधिकारों का हनन हुआ है। 'प्रतिबंध यह भी थी कि इस प्रकार का मुकदमा केवल वही व्यक्ति कर सकता था जिसकी क्षति पहुंची है।

कोई व्यक्ति, किसी दूसरे व्यक्ति, वर्ग या समूह के साथ हो रहे अन्याय के खिलाफ न्यायालय नहीं जा सकता था कि अपने दावे के पक्ष में प्रमाण जुटाना और न्यायालय में यह सिद्ध करना कि उसके किसी अधिकार का वास्तव में हनन हुआ है स्वयं वादी या याची की जिम्मेदारी थी, न्यायालय का उस से कोई मतलब नहीं था। तीसरी शर्त यह था कि न्यायालय में कोई याचिका देने के लिए उसका निर्धारित प्रारूप और निश्चित औपचारिकताएं थी। किसी भी व्यक्तिगत हित संबंधी विवाद के लिए वादी और प्रतिवादी को न्यायालय के सक्षम उपस्थित हित संबंधी विवाद के लिए वादी और प्रतिवादी को न्यायालय के समक्ष उपस्थित होकर अपना पक्ष प्रस्तुत करना आवश्यक था। इन प्रतिबंधों का परिणाम यह था कि न्यायालय सामाजिक या सार्वजनिक न्याय के लिए अपनी तरफ से कोई पहल नहीं कर सकता था।

न्यायपालिका की भूमिका बहुत कुछ निषेधात्मक थी और उसका कार्य-क्षेत्र सरकार द्वारा बनाए गए कानूनों और नीतियों को कार्यान्वित करने में सहायता देने तक सीमित था। सर्वोच्च न्यायालय ने यह महसूस किया कि सार्वजनिक हित के अनेक समस्याएं जैसे बंधुवा मजदूरों की समस्या, जेल में बंद विचाराधीन बंदी, महिलाओं के लिए संरक्षण-गृहों की दुर्दशा, जेल में बंद बाल-अपराधी, श्रमिकों का शोषण, जेल में अमानवीय एवं पाश्विक आवासीय स्थिति आदि ऐसे समस्याएं थीं जिनके खिलाफ आवाज उठाने वाल कोई न था।

ETOS IAS

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

संक्षेप में समाज के शोषित, उपेक्षित, निर्धन, निरक्षर तथा असहाय लोगों के साथ हो रहे अत्याचार और अन्याय के निराकरण के लिए न्यायापालिका ने जनहित विवादों को मान्यता देकर सामाजिक न्याय स्थापित करने में सक्रिय भूमिका अदा की है। जिसे हम न्यायिक सक्रियता कहते हैं वह न्यायपालिका द्वारा न्याय व्यवस्था के पारम्परिक प्रतिबंधों को शिथिल करने का परिणाम है। न्यायपालिका ने समाज में व्याप्त अन्याय का अन्त करने के लिए स्वयं अपने ऊपर लगाए गए प्रतिबधों को शिथिल करके अपने दरवाजे जनसाधारण के लिए खोल दिए हैं। जनहित याचिकाओं के माध्यम से न्यायपालिका जनता की यातनाओं और दुखों को दूर करने का सतत प्रयास कर रही है। न्यायधीश वी.आर.कृष्णा अय्यर के शब्दों में जनहित विवाद सर्वसाधारण के कष्टों के निराकरण का एक न्यायिक उपकरण हैं।

व्यक्तिगत-हित विवाद और जन-हित विवादों में अंतर:

1. व्यक्तिगत मुकदमों में वादी कोई व्यक्ति होता है जो किसी अन्य व्यक्ति, संस्था अथवा राज्य द्वारा अपने वैधानिक अधिकारों के अतिक्रमण के कारण हुई क्षति के लिए न्यायालय से राहत की मांग करता है। जन-हित विवादों में समान्यतया किसी व्यक्तिगत मामले को नहीं उठाया जाता। इसके माध्यम से जो मामला उठाया जाता है वह किसी एक व्यक्ति से संबंधित न होकर व्यक्तियों के किसी वर्ग या समूह के सामान्य हित में संबंधित होता है।

2. जनहित विवादों में जो राहत मांगी जाती है या न्यायालय से मिलती है वह किसी एक व्यक्ति के लिए नहीं वरन् संपूर्ण जनता अथवा उसके किसी एक भाग या वर्ग के लिए दी जाती है जो एक ही प्रकार की पारिस्थितियों में रह रहे हैं।

3. परंपरागत न्याय व्यवस्था में न्यायालय में मुकदमा उस व्यक्ति की तरफ से ही किया जा सकता था जिसके वैधानिक अधिकारों का हनन हुआ है। इसके विपरीत जन-हित विवादों में यह मामला किसी व्यक्ति, संस्था, प्रेस, पत्र-पत्रिकाओं के द्वारा न्यायालय के संज्ञान में लाया जा सकता है।

4. व्यक्तिगत विवादों के न्यायालय में लाने के लिए निर्धारित औपचारिकताओं को पूरा करना पड़ता है और उस याचिका को स्वीकार करते समय न्यायपालिका सभी टेकनिकल अनिवार्यताओं को पूरा करने का आग्रह करती है। जन -हित विवादों में न्यायपालिका इन प्रतिबंधों को शिथिल करके याचिका प्रस्तुत करने के लिए निर्धारित औपचारिकता को पूरा करने पर आग्रह नहीं करती। मात्र एक पोस्ट कार्ड याचिका का रूप धारण कर लेता है और न्यायालय उसके आधार पर भी अपेक्षित राहत प्रदान कर सकता है।

5. व्यक्तिगत विवादों में वादी और प्रतिवादी अपने-अपने पक्ष में आवश्यक प्रमाण इकट्ठा करते हैं और साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं। अपने दावे की पुष्टि में आवश्यक प्रमाण देने का भार वादी पर होता है। जन-हित विवादों में किसी अन्याय की घटना का न्यायालय के संज्ञान में आना पर्याप्त है। कुछ मामलों में तो न्यायालय ने तथ्यों को एकत्र करने अथवा मामले की जांच करने हेतु अपने स्तर से आयोग या जांच समिति नियुक्त करके सत्य तक पहुंचने का प्रयास किया है।

6. व्यक्तिगत-हित विवादों में एक पक्ष हारता है और दूसरा जीतता है। जन-हित विवादों का निराकरण हार-जीत के आधार पर नहीं होता। इसका उद्देश्य तो उन बाधाओं को दूर करना है, जिनके कारण कोई समूह विशेष अपने विधिक अधिकारों से वंचित किया जा रहा है या जिससे उसको क्षति पहुंच रही है। **जन-हित विवादों में न्यायालय निषेधात्मक कार्रवाई ही नहीं करता वरन सकरात्मक भूमिका भी अदा करता है।**

7. व्यक्तिगत हित विवादों में न्यायापालिका वर्तमान कानूनों के आधार पर निर्णय करती है, क्या होना चाहिए के आध ार पर नहीं। जन-हित विवादों में न्यायालय का दृष्टिकोण उन परिस्थितियों का सृजन कराना होता है जो जन कल्याण के लिए आवश्यक है। अत: न्यायालय कार्यकारणी को सकरात्मक कार्य करने के लिए निर्देशित करता है। दूसरे शब्दों में न्यायपालिका नीति-निर्धारक और प्रशासन-सुधारक की भूमिका अदा करता है।

संक्षेप में, जन-हित विवादों का क्षेत्र, प्रक्रिया, लक्ष्य आदि व्यक्तिगत-हित विवादों से बिल्कुल भिन्न है। वास्तव में यह सामाजिक न्याय को स्थापित करने और कल्याणकारी राज्य की अवधारणा को साकार रूप देने का एक प्रभावी उपकरण हैं इन विवादों के माध्यम से न्यायपालिका ने कार्यपालिका को अपने दायित्वों के निर्वहन के लिए आकृष्ट किया है उसे प्रोत्साहित, निर्देशित, प्रतिबंधित और नियंत्रित किया है।

जन-हित विवादों का औचित्य:

जनहित विवादों की बुद्धिमता और औचित्य को सर्वोच्च न्यायालय ने एस.पी. गुप्ता तथा अन्य बनाम युनियन आफ इंडिया के मुकदमें में जिसे साधारणतया न्यायधीशों का मुकद्मा कहा जाता है, में विस्तार से स्पष्ट किया है। इस मुकदमें में न्यायधीशों की नियुक्ति, उनके स्थानांतरण, न्यायपालिका की स्वतंत्रता तथा जनहित विवाद आदि अनेक मुद्दे निहित थे जो विभिन्न याचिकाओं द्वारा विभिन्न उच्च न्यायालयों में उठाये गये थे और अनुच्छेद 39 ए के अधीन सर्वोच्च न्यायालय को निर्दिष्ट कर दिए गए थे।

उपरोक्त मुकदमों में विधि मंत्री के अधिवक्ता की ओर से अन्य आपत्तियों के अतिरिक्त एक आपत्ति यह भी की गई थी कि न्यायधीशों की नियुक्ति और स्थानांतरण से एक के अतिरिक्त किसी भी याची के विधिक अधिकारों को कोई क्षति नहीं पहुंची है। अत: वह इस मामले को न्यायालय में नहीं उठा सकते है। इसी आपत्ति और वाद-विवाद से जनहित विवाद का मुद्दा उत्पन्न हुआ।

First IAS

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

न्यायमूर्ति भगवती ने कहा कि न्यायापालिका का यह मौलिक दायित्व है कि वह विधिक व्यवस्था और विधि के शासन को बनाए रखे, उसे सुरक्षा प्रदान करे। विधि के शासन को बनाए रखने के लिए यह आवश्यक है कि राज्य का प्रत्येक अंग अपनी शक्तियों का प्रयोग अपनी सीमाओं में रहते हुए करे और उन दायित्वों या कर्तव्यों का निर्वाहन करे जो संविधान और कानून द्वारा उसे सौंपे गए हैं। इस प्रकार जजों के मुकदमें में न्यायपालिका ने जनहित विवादों को न्यायोचित ठहराते हुए उन्हें एक पृथक श्रेणी के रूप में स्वीकार किया।

1982 में 'पीपुल्स यूनियन फार डेमोक्रेटिव राइटस' बनाम भारत सरकार के मुकदमें में प्रत्यक्ष रूप से जनहित विवादों का मामला उठाया गया। इस मुकदमें को एसियाड वर्कर्स केस, के नाम से भी जाना जाता है। तथ्य इस प्रकार थे कि दिल्ली में आयोजित होने वाले एशियाई खेलो 'एशियाड प्रोजेक्ट' को पूरा करने के लिए दिल्ली प्रशासन और 'दिल्ली डेवेलपमेंट ऑथोरिटी ने ठेकेदारों के माध्यम से कार्य कराया। ठेकेदारों द्वारा नियुक्त किए गए जमादारों ने अपने कमीशन के रूप में मजदूरों को पूरी न्यूनतम मजदूरी 9.25 रुपये न देकर एक रूपया प्रति मजदूर कम मजदूरी दी और स्त्रियों को पुरुषों से 1 रुपया कम मजदूरी दी गई। इस शोषण के विरूद्ध अगस्त 1981 के 'मेनस्ट्रीट' पत्रिका में एक लेख प्रकाशित हुआ, जिसके आधार पर 'पीपुल्स यूनियन फार डेमोक्रेटिव राइट्स, के अध्यक्ष गोविन्द मुखोटे ने सर्वोच्च न्यायालय के न्यायमूर्ति भगवती को एक पत्र लिखा जिसमें मजदूरों के तथाकथित शोषण की ओर ध्यान आकृष्ट कराया। सर्वोच्च न्यायालय ने इसे एक याचिका की तरह स्वीकार किया।

प्रतिवादियों-भारत सरकार, दिल्ली प्रशासन और डीडीए की ओर से यह तर्क दिया गया कि याची को इस प्रकार की याचिका लाने का अधिकार नहीं है क्योंकि उसके किसी अधिकार का अतिक्रमण नहीं हुआ है। अधिकारों का हनन यदि हुआ तो श्रमिकों का। अत: याची की कोई अधिकारिता नहीं है।

न्यायमूर्ति भगवती ने व्यक्तिगत हित-विवाद और जनहित विवादों के बीच के अंतर को स्पष्ट करते हुए कहा कि 'जनहित विवाद' कानूनी सहायता आंदोलन का एक हिस्सा हैं, उसका रणनीति शस्त्र है। जनहित विवाद यह चाहते हैं कि गरीब, निरक्षर, दबे और कुचले हुए लोगों को भी उनके सांविधानिक अधिकारों का उपभोग करने का मौका लि सके। न्याय गरीबों तक पहुंचाना जनहित विवादों का अंतिम लक्ष्य है। विधि के शासन को सुरक्षित रखना जनहित विवादों का उद्देश्य है। ''गरीबों के भी कुछ नागरिक और राजनीतिक अधिकार होते हैं और विधि का शासन उनके लिए भी है; यद्यपि वर्तमान में यह केवल कागज पर है वास्तव में नहीं''।

जनहित विवादों के आयाम :

पिछले तीन दशकों में भारत की न्यायपालिका ने अपने अनुदारवादी दृष्टिकोण को परिवर्तित करके प्रगतिशील तथा उदारवादी न्यायपालिका का रूप धारण किया है। व्यक्तिगत न्याय के साथ ही न्यायपालिका ने एक मानवीय दृष्टिकोण अपनाते हुए समाज के विभिन्न वर्गों के सामूहिक हितों के लिए चिंता व्यक्त की है और सामाजिक न्याय की स्थापना के लिए स्वयं पहल की है। सामाजिक हितों के रक्षक की भूमिका निभाते हुए न्यायपालिका न हर उस क्षेत्र और समूह तक पहुंचने का प्रयास किया है जहां शोषण, अधिकारों का अतिक्रमण और अन्याय की जानकारी न्यायलय के संज्ञान में आयी है। जनहित विवादों के माध्यम से महिलाओं, बच्चों, मजदूरों गरीबों, शोषित तथा कमजोर वर्ग के लोगों, जेलों में सुनवाई की प्रतिक्षा में रखे गए बंदियों, पुलिस के अत्याचार के शिकार व्यक्तियों की समस्याओं को न्यायालय के समक्ष लाया गया है और न्यायपालिका ने उनके निराकरण हेतु आवश्यक निर्देश और आदेश दिए हैं। यही नहीं जेलों, महिला संरक्षण-गृहों, बाल अपराधियों के लिए बनाए गए संरक्षण-गृहों की आवासीय दशाओं को सुधारने तथा पर्यावरण सुधार के लिए न्यायपालिका ने समय-समय पर बहुमूल्य निद्रेश दिए हैं। उदाहरण स्वरूप ऐसे कुछ विवादों का उल्लेख नीचे किया जा सकता है।

श्रमिक-हितों से संबंधित मामले:

(अ) 'एसियाड' वर्कर्स का मामला :

1982 में एसियाड वर्कर्स के मामले में सर्वोच्च न्यायलय ने अपने निर्णय में जनहित विवादों के संबंध में महत्वपूर्ण सिद्धांतों का प्रतिपादन किया है। एसियाड प्रोजेक्ट में कार्यरत मजदूरों के शोषण एवं अनेक श्रम-विधियों के उल्लंघन की ओर एक पत्र के द्वारा न्यायपालिका का ध्यान आकृष्ट कराया गया था। न्यायमूर्ति भगवती ने इस पत्र को एक याचिका के रूप में स्वीकार करके कार्रवाई प्रारंभ कर दी।

न्यायालय मजदूरों को न्यूनतम मजदूरी न देना मूल अधिकारों में वर्णित जबरी मजदूरी (Forced labour) के समान मानते हुए उसे अवैध घोषित किया और संबंधित प्रशासकीय संस्थाओं को उचित कार्रवाई हेतु निर्देश दिए।

(ब) बंधुआ मुक्ति मोर्चा केस :

श्रमिकों के हितों से संबंधित एक अन्य मुकदमा 1982 में सर्वोच्च न्यायलय के समाने आया। इस मामले का प्रारंभ 'बंधुआ मुक्ति मोर्चा' नामक एक संगठन के अध्यक्ष स्वामी अग्निवेश द्वारा सर्वोच्च न्यायालय को लिखे गए एक पत्र से हुआ। बंधुआ मुक्ति मोर्चा द्वारा फरीदाबाद में पत्थर की खानों में कार्यरत मजदूरों का एक सर्वेक्षण करने पर यह पाया गया कि उन खानों में काम करने वाले मजदूर अत्यधिक अमानवीय एवं पाशविक दशाओं में काम कर रहे हैं और उन्हें बंधुआ बन कर रखा गया है।

न्यायालय ने हरियाणा सरकार को बंधुआ मजदूरों को रिहा कराने के आदेश देने के साथ यह भी सुनिश्चित करने के आदेश कि श्रमिकों के लिए कार्य की मानवीय दशाओं को उत्पन्न किया जाए।

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

बच्चों से संबंधित विवाद :

शीला बर्से तथा अन्य बनाम भारत सरकार 1986:

यह याचिका उन समस्त बच्चों की ओर से दायर की गई थी जो देश के विभिन्न जेलों में बंद थे। यह याचिका 16 वर्ष की आयु से कम के बच्चों को जेल से रिहा कराने तथा बच्चों के लिए बनाए गए संरक्षण-गृह रिमाण्ड होम्स, आब्जरेवेशन होम्स आदि की स्थिति और आवासीय दशाओं के बारे में सूचना प्राप्त करने और उनकी स्थिति में सुधार लाने के लिए निर्देश देने हेतु दायर की गई थी। इस पर न्यायालय ने देश भर के जिला एवं सेशन जजों को निर्देशित किया कि वे महीने में कम से कम एक बार जेलों का निरीक्षण करके बाल-अपराधियों की देखभाल करें। न्यायालय इस मामले में इतना संवेदनशील था कि उसने स्वयं याची के जेलों, रिमाण्ड गृहों, बाल गृहों को जाकर देखने और उनकी स्थिति के विषय में प्रतिवेदन देने की अनुमति प्रदान की।

इस मामले में न्यायालय ने बंदी बच्चों की तरफ से एक सामाजिक कार्यकर्ता को याची बनने की अनुमति दी, उसी को तथ्य एकत्र करने के लिए जेलों आदि का निरीक्षण करने का आदेश दिया और इस पर होने वाले व्यय के लिए सरकार से 10 हजार रुपये दिलवाए। इस मामले में न्यायालय ने नीति-निर्धारक की भी भूमिका अदा की। न्यायालय ने सरकार को निर्देश दिया कि वह बच्चों के लिए रिमाण्ड गृहों की संख्या बढ़ाए और बच्चों को जेल में न रखा जाए। न्यायालय ने बच्चों के मुकदमों की अतिशीघ्र सुनवाई के निर्देश दिए और यह भी कहा कि बाल अपराधियों के मामलों की सुनवाई बाल न्यायालयों में ही की जानी चाहिए और इनके मामले की जांच अधिक से अधिक तीन मास के अंदर पूरी हो जानी चाहिए।

इस मुकदमें का महत्व इस कारण है कि इसमें पूरे देश के बाल अपराधियों के हितों को सुरक्षित करने का मामला उठाया गया था।

महिलाओं के हितों से संबंधित मामले :

महिलाओं के हितों को सुरक्षा प्रदान करने के लिए बहुत से जनहित-विवाद सर्वोच्च न्यायालय के सामने लाए गए जिनमें से कुछ निम्नलिखित हैं:

1982 में श्रीमती चिन्नाम्मू शिवदास ने सर्वोच्च न्यायलय को एक पत्र लिखा जिसके द्वारा दिल्ली नारी निकेतन नामक एक महिला उद्धार गृह की अमानवीय दशा की ओर सर्वोच्च न्यायालय का ध्यान आकृष्ट कराया गया था। न्यायालय ने इस पत्र को एक याचिका के रूप में मान्यता देकर उसका निस्तारण किया। इस मामले में होम की पाश्विक स्थिति का वर्णन करते हुए यह भी कहा गया था कि इस होम में महिलाओं को उनकी विशेष अवधि से सेनेट्री नेपकिन्स तक उपलब्ध नहीं कराए जाते। न्यायमूर्ति भगवती ने होम के प्रशासन को सेनेट्री नैपकिन्स उपलब्ध का आदेश दिया। न्यायपालिका महिला-अधिकारों के प्रति कितनी जागरूक और चिंतित रही है यह इस मामले से स्पष्ट होता है।

एक अन्य मुकदमें उपेन्द्र बख्शी बनाम उत्तर प्रदेश द्वारा आगरा स्थित महिला प्रोटेक्टिव होम में व्याप्त आमनवीय दशाओं के प्रति न्यायालय का ध्यान आकृष्ट कराया गया था। याची की ओर से यह कहा गया था कि उक्त होम में रहने वाली लड़कियों के लिए स्नानगृह नहीं हैं और शौचालयों में दरवाजे तक नहीं है। न्यायालय ने इस स्थिति मुं सुधार लाने के लिए अनेक निर्देश दिए। कुछ ही दिनों बाद सरकार ने इस प्रोटेक्टिव होम को एक नयी बिल्डिंग में स्थानांतरित कर दिया। इस प्रकार पुराने होम में जो भी सुधार किए गए थे वह बेकार हो गए। इस मामले में विभिन्न अंतरिम निर्देशों के बाद जुलाई 1986 में सर्वोच्च न्यायालय ने रिट का निस्तारण किया। न्यायालय ने सरकार को 10 सूत्रीय निर्देश दिए। जैसे होम तक आने जाने के लिए तीन महीने के अंदर पक्की सड़क बनाई जाए, हवा के लिए पर्याप्त खिड़कियों लगाई जाएं, जिसकी संख्या का निर्धारण न्यायालय द्वारा नामित अतिरिक्त जिला न्यायाधीश करेगा; एक्जास्ट फैन की व्यवस्था की जाए; लड़कियों को मच्छरदानी उपलब्ध करायी जाएं; गैस चूल्हें की व्यवस्था की जाए; बिल्डिंग में टेलीफोन लगाया जाए तथा 24 घंटे पुलिस का प्रबंध किया जाए आदि।

समाज के कमजोर वर्गों के हित संबंधी विवाद :

जनहित विवादों का मूल उद्देश्य समाज के उन वर्गों को न्याय देना है जो सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से निर्बल हैं। इस वर्ग से संबंधित कुछ मामलों, जैसे श्रमिक-शोषण का उल्लेख पीछे किया जा चुका है। यहां एक ऐसे मामले का उल्लेख करना है जिसमें सर्वोच्च न्यायालय ने नीति-निर्माता की भूमिका अदा की। यह मामला 'आजाद रिक्शा पुलर्स यूनियन, अमृतसर बनाम पंजाब राज्य' का है, जिसके तथ्य इस प्रकार थे-

1976 में पंजाब सरकार ने रिक्शा चालकों की सहायता हेतु एक अधिनियम पारित किया जिसका उद्देश्य रिक्शा मालिकों के हाथों रिक्शा चालकों के हो रहे शोषण को रोकना था। इस ऐक्ट में यह प्रावधान था कि रिक्शा मालिक अपना रिक्शा किसी दूसरे को किराये पर न देंगे। रिक्शा वहीं चला सकेंगे जिनके पास उनका अपना रिक्शा हो। इस अधिनियम का तुरंत प्रभाव यह पड़ा कि बड़ी संख्या में रिक्शा चलाने वाले अपनी दैनिक आजीविका से वंचित हो गए। उपर्युक्त रिक्शा चालक यूनियन ने सर्वोच्च न्यायालय में इस अधिनियम को चुनौती दी। सर्वोच्च न्यायालय ने विवादित अधि नियम को अवैध घोषित करने के बजाए पंजाब नेशनल बैंक द्वारा रिक्शा खरीदने के लिए ऋण देने की एक योजना तैयार करने हेतु उस बैंक को आवश्यक निर्देश जारी कर दिए। इस प्रकार सर्वोच्च न्यायालय ने एक नयी रोजगार-नीति का प्रतिपादन किया और असंख्य रिक्शा चालाकों को बेरोजगार होने से बचा लिया।

निर्बल वर्गों से संबंधित अन्य बहुत से मामलों जैसे मुंबई के फुटपाथ अवासियों (ओलगा तेलिस बनाम बंबई म्युनिसिपल कारपोरेशन, 1985); बाबू बिगहा का मामला, 1983 जिसमें हरिजनों

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

के साथ हिंसात्मक व्यवहार किया गया था आदि से सर्वोच्च न्यायालय ने सकरात्मक कार्य किए।

पर्यावरण से संबंधित जन-हित विवाद:

प्रदूषण से बचाव से संबंधित अनेक मामले जनहित विवादों के माध्यम से सर्वोच्च न्यायालय के सामने लाए गए। इनमें वननाशन, नदियों में प्रदूषण, पर्यावरण संतुलन की विनाश से संबंधि त बहुत महत्वपूर्ण मामले उठाए गए। न्यायपालिका ने पर्यावरण तक जनहित विवादों का क्षेत्राधिकार विस्तृत करने में मूल अधिकारों (अनुच्छेद 21,22) तथा नीति-निदेशक सिद्धांतों को आधार बनाया। उदाहरण के लिए सुभाष कुमार बनाम बिहार राज्य में सर्वोच्च न्यायालय ने कहा कि 'अनुच्छेद 21 के अंतर्गत जीवन का अधिकार दिया गया है जिसमें जीवन अधिकार भी सम्मिलित करने के लिए प्रदूषण-मुक्त पानी तथा प्रदूषण मुक्त हवा वाले पानी अथवा हवा के प्रदूषण को समाप्त कराने के लिए अनुच्छेद 32 से सहायता ली जा सकती है।

एक अन्य मामले, एम.सी. मेहता बनाम भारत सरकार में सर्वोच्च न्यायालय ने कहा ''जीवन, स्वास्थ्य एवं पर्यावरण को बेरोजगारी तथा आर्थिक हानि जैसी समस्याओं पर प्राथमिकता प्राप्त है।''

सर्वोच्च न्यायालय के समक्ष विनाशक गैस, टेनरीज, विभिन्न प्रकार के कारखानों और फैक्टरियों से उत्पन्न होने वाले पानी, हवा और ध्वनि प्रदूषण से संबंधित बहुत से हमले जनहित विवाद के रूप में प्रस्तुत किए गए हैं।

जनहित विवादों के उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र और समस्या से संबंधित मामले सर्वोच्च न्यायालय के समक्ष उठाए गए हैं और न्यायालय ने आवश्यक राहत देने का प्रयास किया है।

न्यायिक सक्रियता की आलोचना :

भारत में न्यायपालिका ने कार्यकारिणी के क्षेत्राधिकार में जिस तरह प्रवेश किया है उसकी आलोचना स्वयं न्यायाधीशों के एक वर्ग द्वारा की गई है। उदाहरण के लिए न्यायाधीश **तुलजापूरकर ने 1982 में एक व्याख्यान देते हुए यह कहा था कि 'यदि एक स्वतंत्र न्यायपालिका को गणतंत्रीय शासन का हृदय कहा जाता है, तो वर्तमान में भारतीय गणतंत्र गम्भीर हृदय रोग से ग्रस्त है।''** न्यायाधीश तुलजापूरकर ने न्यायिक सक्रियता को हृदय रोग से तुलना करते हुए उसे गणतंत्रीय व्यवस्था के लिए घातक बताया है। न्यायिक सक्रियता तथा जनहित विवाद प्रणाली की निम्न आध ारों पर आलोचना की गई है-

1. न्यायिक सक्रियता के नाम पर न्यायपालिका कार्यपालिका की शक्तियों को हड़प रही है कार्यकारिणी के क्षेत्राधि कार में न्यायपालिका का इस प्रकार हस्तक्षेप शासन के तीनों अंगों के बीच के संतुलन को समाप्त कर देगा। उनमें पारस्परिक सहयोग के स्थान पर निरंतर टकराव और विरोध की स्थिति उत्पन्न हो जाएगी।

2. यह विश्वास करने का कोई कारण नहीं है कि विधान मण्डल, जो जनसाधारण का प्रतिनिधित्व करता हैं, की अपेक्षा न्यायपालिका के कुछ सदस्य जनहित को ज्यादा अच्छी तहर समझ सकते हैं। अत: न्यायपालिका को जनहित के नाम पर नीति विषयक तथा साधारण प्रकार के प्रशासकी मामलों में हस्तक्षेप करने का कोई औचित्य प्रतीत नहीं होता।

3. अधिकारिता के नियम को अत्यधिक शिथिलता प्रदान करने के फलस्वरूप न्यायपालिका पर मुकदमें का भार स्वभाविक रूप से बढ़ जाएगा और वह अपने दायित्वों का निर्वहन सुचारू रूप से नहीं कर सकेगी। एक पत्र को याचिका का दर्जा देने की प्रणाली आकर्षण आवश्य है किन्तु इसका दुरुपयोग किया जाना भी स्वाभाविक है। न्यायमूर्ति आर.एस. पाठक ने इस तथ्य की ओर संकेत करते हुए कहा कि 'एक ऐसे पत्र को जिसके लिखने वाले की हैसियत और पूर्वचरित के विषय में कोई जानकारी न हो, को एक याचिका के रूप में स्वीकार के पद्धति में गंभीर खतरा निहित दिखाई देता है।

4. विगत वर्षो में न्यायपालिका ने कार्यपालिका को समय-समय पर विभिन्न प्रकार के निर्देश जारी किए है, प्रशासन में सुधार लाने के लिए मागदर्शक-सिद्धांतों का प्रतिपादन किया तथ्यों की छानबीन करने तथा नीति-निर्माण का भी कार्य किया है। उदाहरण के लिए अमृतसर के रिक्शाचालकों के लिए रिक्शा खरीदने के लिए पंजाब नेशनल बैंक को से ऋण लेने की एक योजना सर्वोच्च न्यायालय ने बनाकर बैंक का उसे कार्यान्वित करने का निर्देश दिया। आलोचकों का कहना है कि नीति-निर्माण का कार्य करके न्यायपालिका ने प्रत्यक्ष रूप से विधान मण्डल और कार्यपालिका के सांविधानिक क्षेत्राधिकार का अतिक्रमण किया है।

5. यदि जनहित के माध्यम से न्यायपालिका छोटे-छोटे प्रशासकीय मामलों में हस्तक्षेप करती रही और कार्यपालिका को आदेश, निर्देश देती रही हतो शीघ्र ही इन न्यायिक निर्देशों का महत्व समाप्त हो जाएगा और कार्यपालिका उनकी परवाह भी न करेगी। प्रश्न यह है कि यदि कार्यपालिका जनहित विवादों में न्यायपालिका द्वारा दिए गए निर्णय अथवा आदेश को कार्यन्वित नहीं करती, तो न्यायपालिका क्या कर लेगी। क्या इससे न्यायपालिका और कार्यपालिका के बीच टकराव की स्थिति न उत्पन्न होगी क्या इससे न्यायपालिका का महत्व न कम होगा।

6. ऐसा कहा जाता है कि न्यायापालिका किसी समस्या से निहित पेची दागियों और उत्तरप्रभाव की पूर्व कल्पना नहीं कर सकती। न्यायालय तो उपलब्ध तथ्यों के आधार पर आदेश, निर्देश दे देता है। उस आदेश को कार्यान्वित करने में क्या व्यावहारिक कठिनाई हो सकती है, इसे न्यायपालिका नहीं समझ सकती। उदाहरण के लिए दिसम्बर 2000 में डाक विभाग के

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

कर्मचारियों द्वारा की गई हड़ताल के विषय में सर्वोच्च न्यायालय ने भारत सरकार को यह निर्देश दिया कि वह इस बात को सुनिश्चित करे कि डाक विभाग की हड़ताल तीन दिनों के अंदर समाप्त हो जाए। इसमें संदेह नहीं कि डाक की हड़ताल से जनसाधारण को अनके प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा था किन्तु किसी हड़ताल को तुरंत समाप्त करना उसी संभव हो सकता है, जब सरकार कर्मचारियों की समस्त उचित और अनुचित मांगों को स्वीकार कर ले। स्पष्ट है कि ऐसा करना सरकार के लिए संभव न होगा। इसी तरह जेलों तथा महिला संरक्षण गृहों में सुधार लाने के लिए समय-समय पर जो निर्देश न्यायपालिका द्वारा दिए गए उनको कार्यान्वित करने के लिए पर्याप्त धन की आवश्यकता भी होगी। इस पक्ष में न्यायपालिका विचार नहीं करती। आर्थिक संसाधनों के सीमित होने के कारण कार्यपालिका चाहते हुए भी न्यायपालिका के निर्देश के अनुरूप सुधार कार्य नहीं कर सकती।

7. दैनिक प्रशासन से संबंधित साधारण बातों को लेकर नित्य प्रतिदिन जनहित याचिकाएं सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालयों में दाखिल हो रही हैं। न्यायालय उनका निरस्तारण करते समय एकांगी दृष्टिकोण अपनाता है। छोटे-छोटे मामलों जैसे शिक्षा संस्थाओं में छात्रासंघों के चुनाव की प्रक्रिया, चुनाव अभियान के तरीके, अनुशासन बनाए रखने के लिए निर्देश आदि, जो मूलत: शिक्षा संस्थाओं के आंतरिक प्रशासन का मामला है, उसमें भी न्यायपालिका इस्तक्षेप करती है। **जूता कहां चुभ रहा है यह जूता पहनने वाला ही बता सकता है। इसी प्रकार किसी प्रशासकीय विभाग अथवा संस्था की क्या वास्तविक स्थिति और समस्याएं है वह बाहर के लोग नहीं समझ सकते।**

जनहित विवादों के नाम पर न्यायपालिका का हस्तक्षेप दैनिक प्रशासन में निरंतर बढ़ता जा रहा है और कुछ मामलों में तो ऐसा आभास होत है कि जैसे जनहित विवाद मखौल बन गए हैं। उदाहरण के लिए दिसम्बर 2000 में उत्तर प्रदेश के उच्च न्यायायल की लखनऊ पीठ ने शहर के हज़रतगंज बाजार में पार्किंग के विषय में यह निर्देश जारी किया कि अमुक स्थान से अमुक स्थान तक इस बाजार में कोई गाड़ी पार्क न की जाएगी। यह कार्य मूलत: ट्रॉफिक पुलिस का है न कि न्यायालय का। एक अन्य मामले में उच्च न्यायालय ने यह निर्देश दिया कि लखनऊ मेडिकल कालेज में भर्ती कैंसर-रोग से पीड़ित बच्चों का इलाज उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा नि:शुल्क कराया जाए। सरकार ने आर्थिक कारणों से इस निर्देश का पालन करने में अपनी असमर्थता व्यक्त की।

न्याय सक्रियता - कुछ निष्कर्ष :

इसमें संदेह नहीं कि न्यायिक सक्रियता के विरूद्ध उठाई गई आपत्तियों में एक हद तक सत्यता है किन्तु इस तथ्य से भी इंकार नहीं किया जा सकता कि जनहित विवाद प्रणाली ने सामाजिक न्याय स्थापित करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। समाज के वे लोग जो निर्धनता, अशिक्षा, अज्ञानता और पिछड़ेपन के कारण अन्याय का शिकार थे उन्हें जनहित विवादों के माध्यम से न्याय प्राप्त हो सका है। जनहित विवादों ने न्यायालय तक आम आदमी की पहुंच आसान बना दी है।

न्यायपालिका ने जनहित विवादों के माध्यम से संविधान की विस्तृत व्याख्या करके नागरिक अधिकारों के क्षेत्र को निरंतर विस्तृत किया है। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि नीति-निदेशक सिद्धांत जो न्याययोग्य नहीं है, उन्हें जनहित विवादों के माध्यम से न्यायपालिका ने लागू करने का प्रयास किया है। जनहित विवादों में दिए गए अधिकांश निर्णयों का केन्द्र बिन्दु नीति-निदेशक सिद्धांत रहे हैं।

बेन्थम ने ब्रिटिश न्याय-व्यवस्था की आलोचना करते हुए कहा था कि 'इस देश में न्याय बिकता है और वह भी बहुत महंगे दामों पर'। भारत की न्यायपालिका ने बिन मांगे न्याय देने का संकल्प लिया है और जनहित विवादों के माध्यम से न्यायालय को मात्र एक पोस्टकार्ड भेजकर न्याय प्राप्त किया जा सकता हैं। बगैर किसी खर्च के न्याय देना यह जनहित-विवाद प्रणाली का प्रमुख लक्ष्य है।

संसदीय शासन में कार्यपालिका विधानमंडल के प्रति उत्तरदायी होती है और सैद्धांतिक रूप से विधान मण्डल को कार्यपालिका को नियंत्रित करने का अधिकार होता है। व्यवहारिक रूप से यह उत्तरदायित्व एक मिथक बन गया है। कारण यह है कि यदि सत्तारूढ़ दल विधान मण्डल में पूर्ण बहुमत में होात है, तो दलीय अनुशासन के कारण तो विधानमंडल पर प्रभुत्व रहता है और यदि मिश्रित सरकार हाती है तो विधानमंडल भी कमजोर होता है और मंत्रिपरिषद् भी। जनहित विवादों के माध्यम से न्यायपालिका निरंतर कार्यपालिका की गतिविधियों पर दृष्टि रखती है, और उसे आवश्यक निर्देश देकर उसे अपने सांविधानिक दायित्वों का निर्वहन करने के लिए बाध्य करती है।

अन्याय की घटनाओं की वस्तुनिष्ठ जांच करने के लिए स्वयं न्यायाधीशों ने घटना-स्थल पर जाकर तथ्य एकत्र किए है। न्यायालयों ने स्थायी प्रशासकीय कर्मचारियों द्वारा इन घटनाओं की जांच कराने के बजाए ऐच्छिक संगठनों तथा संबंधित क्षेत्र के विशेषज्ञों को जांच करने के लिए नियुक्त किया है। इस प्रकार प्रशासनिक अनियमितताओं से संबंधित तथ्यों को सामने लाया गया है, इससे प्रशासन और स्थायी कर्मचारियों में कुछ सतर्कता अवश्य बढ़ी है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि न्यायपालिका की सक्रियता ने सामाजिक न्याय की स्थापित करने की दिशा में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है और इस दृष्टि से हमें न्यायिक सक्रियता की स्वागत करना चाहिए किन्तु अतिसक्रियता के भी खतरनाक परिणाम हो सकते हैं। अत: न्यायमूर्ति कृष्णा अय्यर के शब्दों में न्यायपालिका को संतुलित दृष्टिकोण अपनाना चाहिए।

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

न्यायपालिका की समस्याएं

हमें अपने न्यायालयों क वर्तमान तंत्र और उनकी प्रक्रिया अंग्रेजी से विरासत में मिली है और यह 150 से भी अधिक वर्षो तक आजमाई जा चुकी है। फिर भी, यह मानना होगा कि पुरानी चीज हमेशा ही सोने जैसी खरी नहीं होती। यह तंत्र जब लागू किया गया था तो पर्याप्त अनुकूल था। आज भी, एक बड़ी सीमा तक, यह सर्वोतम न्यायिक तंत्र है, लेकिन किसी भी अन्य तंत्र की तरह, यह पुराना और अक्षय हो गया है और समाज के बदलते स्वरूप की आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर पा रहा है। न्यायिक प्रक्रिया में नए प्राण फूंकने की आवश्यकता है और यह जितनी जल्दी किया जा सके, उतना अच्छा है। **भारत के प्रथम अटार्नी जनरल स्वर्गीय श्री एम.सी. सीतलवाड़ ने बार ऐसोसिएशन ऑफ इंडिया को संबोधित करते हुए कहा था:**

इसमें संदेह नहीं कि अंग्रेजों का प्रशासन तंत्र बहुत अच्छा था और उसके परिणाम बहुत ही अच्छे रहे, लेकिन उसके अपने दोष थे जिनकी दो प्रकार से वृद्धि की गई। अब न्याय देने की पद्धति में आमूल परिवर्तन करने की आवश्यकता है। हमें ऐसे न्यायालय चाहिए जहां लोग सहज रूप से जा सकें और उनका व्यय कम से कम हो। केवल यही जरूरी नहीं है कि न्याय अविलंब मिले बल्कि यह भी जरूरी है कि न्यायालय तक पहुंचना सरल हो और निर्णय शीघ्र हो। यह तभी संभव है जब वर्तमान तंत्र का कायापट किया जाए।

यह बात 40 साल पहले कही गई थी। क्या हमने इस दिशा में कोई सुधार किया है? न्यायमूर्ति रंगनाथ मिश्र ने एक आशावादी चित्र सामने रखा था। 1990 में विधि दिवस के अपने भाषण में उन्होंने कहा था:

इन चालीस वर्षो में विधि ने कई क्षेत्रों में काफी प्रगति की है। 'सुने जाने के अधिकार' की बाधा 1981 में ही शिथिल कर दी गई थी। तब से, विशेषकर वरिष्ठ न्यायालयों में, वाद की प्रकृति में काफी परिवर्तन आया है। लोकहित वाद लोकप्रिय हो गया है और इसने एक बड़ी हद तक समुदाय की सेवा की है। इसी कोटि के मामलों में न्यायालय ने सामाजिक हित संपरीक्षक के रूपममें अपनी क्षमता प्रदर्शित की है। सामाजिक जीवन में न्यायिक प्रक्रिया का प्रभाव स्पष्ट एवं ज्ञेय है; सामान्यजन संभवतया यह देख पाया है कि न्यायतंत्र क्या लाभ पहुंचा सकता है।

प्रशंसकों और आलोचकों, दोनों का प्राय: यह कहना है कि कई कारणों से न्यायतंत्र में दरारें और शांति के चिह्न दिखाई देने लगे हैं। अत: यह आवश्यक हो गया है कि स्थिति को सुधारने के लिए तत्परता और साथ ही, दक्षता के साथ, उपाय किया होगा। लेकिन जब तक व्यक्तिवाद को, जिस पर वर्तमान आदर्श आधारित है, वांछनीय समझा जाता रहेगा, तब तक दूरगामी परिवर्तन करना निश्चित रूप से असंभव है। जब तक सामान्य हितके ऊपर व्यक्तिगत हित को वरीयता प्राप्त होती रहेगी तब तक सिविल और दांडिक, दोनों प्रकार के न्याय एक बड़ी सीमा तक दक्ष और अपर्याप्त बने रहेंगे। जो लोग न्यायिक अदक्षता के बात करते हैं, वे सामान्यतया इस संकल्पना के अत्यंत कृत्रिम अर्थ से अवगत नहीं हैं। विधि सिविल वादों में दक्ष होती जब निर्णय और उसके कार्यान्वयन के आदेश शीघ्र हो जाते हैं। उसके पश्चात दक्षता उसका प्राथमिक ध्येय नहीं रह जाती। लोकोपकारवाद के फलस्वरूप, जो कि वर्तमान व्यक्तिवाद का आवश्यक उपसाध्य है, न्यायिक निर्णय को लागू करने के मार्ग में दुनिया भर की बाधाएं उठ खड़ी होती हैं। देनदार या तो प्रक्रियावाद विलंबों का लाभ उठाकर अपनी संपत्ति किसी को हस्तांतरित कर देता है या डिक्री के निष्पादन से औपचारिक छूट प्राप्त करना चाहता है और इस प्रकार उसकी संपत्ति लेनदार की पहुंच से परे हो जाती है। देनदार के शरीर को तो आप हाथ लगा ही नही सकते। इस संबंध में पिछली शताब्दियों की विधि जो अस्थायी गिरफ्तारी और कर्ज की वसूली के लिए कारावास को अपेक्षाकृत अधिक मान्यता देती थी, निश्चित रूप से अधिक 'दक्ष' थी। लेकिन पुराने कानून को पुनर्जीवित करने का तो अब कोई प्रश्न ही नहीं है। देनदार की आर्थिक विपन्नता विधि की दक्षता को पराजित करने के लिए विद्यमान रहेगी और यह बेहिचक कहा जा सकता है कि न्याय की प्रत्येक हत्या के लिए अनन्य रूप से दोषी ठहराया जाता रहेगा। जहां तक आपराधिक विधि का प्रश्न है, स्थिति कुछ उलटी है।

अपराधी के विरूद्ध एक बार निर्णय हो जाए तो फिर उसका निष्पादन कहीं अधिक निश्चित हो जाता है। किन्तु निर्णय लेने की प्रक्रिया में व्यक्ति के प्रति सरोकार बराबर दृष्टिगोचर होता है। सुसंगत उपबंध न केवल प्रक्रियात्मक रक्षोपाय माने जाते हैं बल्कि महत्वपूर्ण संवैधानिक अधिकार भी है। वे सचमुच संवैध ानिक अधिकार हैं जिन्हें शताब्दियों के रक्तपात के बाद प्राप्त किया गया है और किसी लोकतंत्र में उन्हें त्यागने की बात गंभीरतापूर्वक नहीं सोची जा सकती है। एक लगभग उपचारहीन दुविधा यह है कि इनका लाभ केवल उन साधारण नागरिकों को ही नहीं मिलता जो यदाकदा विधि के शिकंजे में फंस जाते हैं बल्कि उन पेशेवर अपराधियों को भी मिलता है जिन्होंने दीर्घ अनुभव से सभी प्रतिरक्षाओं का लाभ उठाने का गुर सीख लिया है।

मूलभूत सामाजिक संस्थाओं में आमूल परिवर्तन लाना कठिन होता है अत: न्यायिक प्रशासन के सुधार का सरोकार आमतौर पर न्यायिक तंत्र में समायोजन तक सीमित रहता है। अधि ष्ठायी विधि में परिर्वतन की अपेक्षा प्रक्रियात्मक सुधार कहीं अधि क होते हैं। संभवतया यही कारण है कि सुधारों के अपेक्षित परिणाम नहीं निकल पाते। यह सही है कि अधिष्ठायी विधि और प्रक्रिया के बीच जो अंतर है वह काफी हद तक कृत्रिम है। प्रक्रिया में किए जाने वाले सभी सुधार तात्विक अधिकारों को प्रभावित करते हैं किन्तु जहां तात्विक अधिकार संदिग्ध प्रकृति का हो वहां प्रक्रियागत सुधार निश्चित रूप से स्थिति में सुधार नहीं ला सकते। सामान्यतया, नए न्यायालयों का सृजन या वर्तमान न्यायालयों में

ETHER IAS

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

अतिरिक्त न्यायाधीशों की नियुक्ति बड़ा समयोचित एवं इष्टकर सुधार मानते हुए प्रायः होता ही रहता है।

राजनीतिज्ञों के बीच इसकी लोकप्रियता का कारण यह है कि भरने के लिए नए पद उपलब्ध होने से उनके प्रश्रय का दायरा बढ़ जाता है। प्रक्रिया के चरणों में परिवर्तन करने का एक विचित्र परिणाम यह होता है कि कुछ समय के लिए न्यायालयों में भीड़ में वृद्धि हो जाती हैं परिवर्तनों का प्रभाव बहुत से मामलों के निर्णय के पश्चात ही सुस्पष्ट हो पाता है। प्रक्रियागत सुधार की एक आधारभूत पहेली किसी युक्ति विशेष की अपरिहार्यता है। विधिक तकनीक ऐसी होती है कि समान ध्येय की प्राप्ति के लिए एक-दूसरे से पर्याप्त भिन्न तरीके अपनाए जा सकते हैं अतः विधि के मूलभूत प्रयोजनों की पूर्ति के लिए कोई भी युक्तिसंगत प्रक्रिया प्रभावी हो सकती है यदि उसे प्रभावी बनाने की संकल्प शक्ति हो।

दूसरी ओर, यह भी ध्यान रखना चाहिए कि लोग अपने नागरिक दायित्वों का निर्वाह और अपराधों से परिवर्तन केवल विधिक अनुशास्तियों के भय से ही नहीं करते बल्कि नैतिक और व्यावहारिक कारणों से भी करते हैं। आधुनिक प्रवृत्ति किसी तरह के सामाजिक नियंत्रणों को न मानने की है। अंत में, यह भी मानना हो कि, कम से कम सिविल मामलों में, न्याय-प्रशासन के दोषों का भी वादकारी को हतोत्साहित करने और लोगों को सुलह की संभावनाओं का यथाशक्य लाभ उठाने के लिए प्रेरित करने का कुछ सामाजिक महत्व है। अर्जनशील समाज में, यह शायद उचित ही है कि मुकदमेबाजों के रास्तों में यहां-वहां कांटे बिठोर दिए जाएं।

न्यायालयों में लंबित मामले:

यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि न्याय-प्रशासन के प्रति जन असंतोष गत शताब्दियों की अपेक्षा बीसवीं शताब्दी में कम से कम नहीं रहा है। विशेष त्वरित गति के इस काल में, विद्यमान अंसतोष को संस्थानिक संक्रमणों का परिणाम बताना सरल है। किन्तु यदि यह चीज निरंतर चली आ रही है तो इसे पूरी तरह बदलती परिस्थितियों का परिणाम नहीं कहा जा सकता।

केवल समाजशास्त्रीय भेदकों के आधार पर समाधान देना उसी स्थिति में पर्याप्त माना जा सकता है जबकि अपेक्षाकृत अधिक मूलभूत कारक उपस्थित न हों। उदाहरण के लिए, शपथ भंग के प्रचलन को, जिसने आधुनिक न्यायालयों में न्याय के प्रशासन को प्रायः क्षति पहुंचाई है, पूरी तरह से धार्मिक विचारों के ह्रास का परिणाम बताने का मन करता है। लेकिन शपथ भंग का अपराध थोड़ा-बहुत हमेशा से किया जाता रहा है। इस लोक के दंड का भय परलोक की यंत्रणाओं से कम नहीं होना चाहिए। धार्मिक संस्थाओं के अपकर्ष के होते हुए भी प्राधिकार ने किसी-न-किसी तरह अपनी सत्ता को बनाए रखा है। एक और सामान्य उदाहरण लें : संचार साधनों में अत्यधिक सुधार ने निस्संदेह अपराधी को भागने का प्रयास करने का सरल और सुसाध्य उपाय उपलब्ध किए हैं लेकिन लोक प्राधिकारियों द्वारा उसका पीछा करने में होने वाली सरलता अपराधी के लाभ की काट कर देती है।

इसके अलावा, आधुनिक नगर का हानिकर प्रभाव भी है। इसी के फलस्वरूप न्यायालयों में इतनी भीड़-भाड़ होती है जो न्याय के आधुनिक कुप्रशासन की जड़ है। किन्तु महानगरीय न्याय के दोषों का कारण नगरों का बृहदाकार ही नहीं है। सचाई तो यह है कि विधिक प्रणालियों के इतिहास में प्रक्रियागत सुधारों का प्रारंभ शहरों से ही हुआ है। अगर शहरों में मुकदमा लड़ने वालों की संख्या अधिक है तो उनके पास अतिरिक्त न्यायाधीशों और अच्छे वकीलों को जुटाने के लिए आवश्यक धन भी है।

एक आम राय यह है कि हमारा न्यायिक तंत्र ऊपर से नीचे तक अनेक व्याधियों से ग्रस्त है। न्यायिक तंत्र के बारे में बात करने वाला प्रत्येक व्यक्ति खेद-प्रकाशन और गिरते मानदंडों की स्वीकृति के साथ अपनी बात प्रारंभ करता है। **उच्चतम न्यायालय के न्यायमूर्ति वी.डी. तुलजापुरकर ने कहा है :**

यदि स्वतंत्र न्यायपालिका को गणतंत्र का हृदय माना जाता है तो कहना होगा कि भारतीय गणतंत्र इस समय गंभीर हृदय रोग से ग्रस्त है। सच पूछा जाय तो देश की वरिष्ठ न्यायपालिका इधर बाह्य और आंतरिक, दोनों प्रकार के आक्रमणों का निरंतर शिकार होती रही है जिसके फलस्वरूप हमारे राष्ट्र के स्वास्थ्य, कल्याण और प्रगति की हानि होना अवश्यंभावी है। बात यह है कि व्याधि ग्रस्त हृदय अपनी जनता के उत्तम स्वास्थ्य के लिए अपेक्षित स्वस्थ्य रक्त की आपूर्ति को सुनिश्चित नहीं कर सकता। **भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश पी.एन. भगवती ने अपने 1985 के विधि दिवस के भाषण में कहा था**

मुझे यह कहते हुए पीड़ा हो रही है कि देश का न्यायतंत्र धराशायी होने की स्थिति के बहुत निकट पहुंच चुका है..... हमारा न्यायतंत्र लंबित मामलों के भार तले दबा जा रहा है। **यह एक घिसी-पिटी कहावत है कि न्याय में विलंब करना न्याय से वंचित करना है।** हम मुकदमों के निपटारे में होने वाले विलंब पर अपना रोष प्रकट करने के लिए प्रायः इस घिसे-पिटे वाक्यांश को उद्धत करते हैं लेकिन हमारा रोष केवल बौद्धिक और सतही होता है। जो लोग हमारे न्यायलयों में न्याय की खोज में आते हैं, उन्हें न्याय पाने के लिए वर्षों प्रतीक्षा करनी पड़ती है। उन्हें एक न्यायालय से दूसरे न्यायालय की भूलभूलैया से गुजरना पड़ता है और अंत में वे थक जाते हैं तथा घोर निराशा के कारण हिम्मत हार बैठते हैं.. .. हमारे न्यायालयों में होने वाले विलंब से अगर किसी को फायदा होता है तो वे हैं बेईमान लोग जो बरसों तक बिना कोई दंड पाए अपने विधिक दायित्वों के पालन से बचते जाते हैं और प्रत्येक वह धनी व्यक्ति जो सरकार या लोक प्राधिकारियों के विरूद्ध आदेश, रोक आदेश या व्यादेश प्राप्त कर लेता है, वह बरसों तक प्रायः लोकहित की कीमत पर, ऐसे रोक आदेश अथवा व्यादेश का लाभ उठाता रहता है।

उच्चतम न्यायालय के विषय में, **मुख्य न्यायाधीश महोदय का कथन था :**

ETOOR IAS

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

नए मुकदमों की भारी आमद और अनिर्णीत पड़े मामलों की विशाल संख्या के फलस्वरूप आज उच्चतम न्यायालय धाराशायी होने की स्थिति के निकट पहुंच गया है। **मैं, व्यक्तिगत रूप से, यह नहीं मानता कि न्यायाधीशों की संख्या में बड़ी वृद्धि करना वांछनीय है। यदि न्यायाधीशों की संख्या में अपेक्षित से अधिक वृद्धि की गई तो उच्चतम न्यायालय खंडित पीठों की संरचना से युक्त एक महिमामंडित उच्च न्यायालय बन कर रह जाएगा। तब उच्चतम न्यायालय शिखर न्यायालय के रूप में अपनी पहचान खो देगा और उसमें कोई** एकरूपता नहीं रह जाएगी। साथ ही, मैं अनुच्छेद 136 के अधीन उच्चतम न्यायालय को प्राप्त असाधारण अधिकारिता में किसी भी प्रकार की कमी करने के पक्ष में नहीं हूं।

आगे मुख्य न्यायाधीश महोदय ने उच्च न्यायालयों के विषय में कहा, ''इसी प्रकार उच्च न्यायालयों की स्थिति भी काफी भवायह है।''

विधि में विलंब:

विधि बिलंब पुरातन और सार्वभौम है। यह सिविल वादों की लगभग स्मरणातीत स्थिति की अभिव्यंजना करती है। सिविल वादो की कार्यसूची सदैव बहुत लंबी होती है। और गुणावगुण के आधार पर विचारण के आरंभ होने में वर्षों लग सकते हैं। सिविल कार्रवाई प्रारंभ करने का खर्च और उसमें लगने वाले कानूनी खर्चे बहुत अधिक होते हैं और छोटे दावों के बारे में कार्रवाई करने का कोई फायदा नहीं होता। विधिक प्रक्रिया बड़ी विशद है और विधि की बारीकियां हर चरण में मुवक्किल के लिए बाधक बनती हैं। पहले निर्णय के बाद भी कई-कई अपीलें की जा सकती हैं जिनके कारण और विलंब होता है। अंतिम निर्णय हो जाने के बाद, उसका निष्पादन शायद ही कभी संतोषजनक ढंग से हो पाता है। ऐसी परिस्थितियों में, ईमानदार वादी अपेन विधिक अधिकारों के लिए दावा करने में अवरोध पाता है जबकि यह विरोधाभास जैसा ही है कि बेइमान मुकदमेंबाज अपने निराधार अथवा बढ़े-चढ़े दांवे पर जोर देने के लिए उत्साहित रहता है। लंबे समय तक चलने वाले मुकदमें में उलझने का खर्च ही विवादी पक्षकारों को कुछ कम रकम पर समझौता कर लेने को या राहत और न्याय पाने की बात मस्तिष्क में न लाने के लिए प्रेरित करने को काफी है।

विलंब और बारीकियों केवल सिविल कार्रवाइयों में ही निहित नहीं है। दांडिक न्याय के प्रशासन की स्थिति कोई बेहतर नहीं है। लोकतंत्र की स्थापना से पहले के काल में दांडिक न्याय के मनमाने पद के कारण उस पर अत्यधिक कठोर होने के आरोप लगते थे जबकि आज कुकर्मियों के प्रति अत्यधिक नरमी के खिलाफ आवाज उठाई जा रही है। बहुत से अपराधी तो कभी पकड़े ही नहीं जाते। जो पकड़ में आ जाते हैं, वे प्राय: कानून की कमियों का फायदा उठाकर बच निकलते हैं।

दांडिक मामलों की सुनवाई की प्रकृति ही ऐसी है कि वह हमें प्रतिरक्षा पक्ष को लाभ पहुंचाती है। वैवाहिक मामलों और अपमान-लेख के मामलों को छोड़कर, सिविल मामलों का विचारण आमतौर पर इसप्रकार के प्रभाव से मुक्त रहता है। दूसरी ओर, भ्रष्टाचार, पक्षपात और शपथभंग दांडिक मामलों में खूब चलते हैं। हर दौर का अपना कोई प्रख्यात प्रकरण होता है। यह अनुश्रुति है कि धनवान और शक्तिशाली अपराधी बच निकलते हैं जबकि निर्धन और मित्रहीन लोग जेल भेज दिए जाते हैं। निर्दोष लोगों को कभी-कभी पुलिस झुठे आरोपों में फंसा लेती है, और इसमें कोई खुश होने की बात नहीं कि उसी तकनीक का प्रयोग करके पेशेवर अपराधियों को झूठे आरोपों के आधार पर सींखचों में बद करा दिया जाता है। **उच्चतम न्यायालय के न्यायमूर्ति एच.आर. खन्ना ने कहा था :**

एक अन्य बात जो न्यायतंत्र में लोगों के विश्वास को डिगा रही है, वह है दोषमुक्ति के मामलों की भारी संख्या और बड़े अपराधियों को दंडित करने की न्यायतंत्र की बढ़ती असफलता। यह सही है कि न्यायाधीशों को अभिलेख पर उपलब्ध सामग्री के आधार पर ही अपने निर्णय देने होते हैं और कोई व्यक्ति यह आशा नहीं कर सकता और न करनी चाहिए कि किसी व्यक्ति के विरूद्ध लगाए गए आरोप को सिद्ध करने के लिए विश्वासनीय साक्ष्य न हो तो भी न्यायालय उसे दोषी ठहराएगा। दोषमुक्ति के मामलों के इतने उच्च प्रतिशत का एक मुख्य कारण पुलिस अन्वेषण की गुणवत्ता में गिरावट और उसके परिणामस्वरूप ऐसी विश्वसनीय साक्ष्य एकत्र करके पेश करने में उसकी असफलता है जिसके आधार पर अभियुक्त को दोषी ठहराया जा सके।

पुलिस अन्वेषण की गुणवत्ता में यह गिरावट राजनीतिज्ञों द्वारा मामलों के अन्वेषण में किया गया हस्तक्षेप है। यह सर्वविदित है कि जो व्यक्ति जितना बड़ा गुंडा या असामजिक व्यक्ति होता है, चुनावों के समय उसका मूल्य और उपयोग उतना ही अधिक होता है। निर्वाचन के समय जब राजनीतिज्ञ इन असामाजिक तत्वों की सहायता मांगते हैं तो वे इसी आशा में उनकी सहायता करते हैं कि यदि उन्हें विधि प्रवर्तन करने वाले किन्हीं अभिकरणों के हाथों परेशानी होगी तो राजनीतिज्ञ उनकी मदद करेंगे और उन्हें कठिनाई में पड़ने से बचा लेंगे। असामाजिक तत्वों को कठिनाई के समय दी गई सहायता उनके द्वारा चुनावों के दौरान की गई राजनीतिज्ञों की मदद का सीधा प्रतिकार है। यह सब स्वभावतया अपराधों के पुलिस द्वारा अन्वेषण को अत्यंत कठिन बना देता है। इसके अलावा, हम जानते हैं कि पुलिस का बहुत-सा समय अति विशिष्ट व्यक्तियों की सुरक्षा और अन्य प्रबंधों पर खर्च होता है। प्रदर्शन, बंद, हड़ताल और आंदोलन हमारे लोक जीवन के अधिकारिक अंग बनते जा रहे हैं जिन पर पुलिस बल का काफी समय खर्च होता है।

अपराधों के अन्वेषण की पुलिस के कामकाज में निम्नतर अग्रता है। परिणामतया अन्वेषण की गुणवत्ता में गिरावट आती है और पुलिस बल विचारण के समय विश्वसनीय साक्ष्य प्रस्तुत करने में अधिकाधिक असमर्थ होता जा रहा है। जो भी हो, दोषमुक्ति के मामलों की इतनी बड़ी संख्या का कारण कुछ भी हो, उसका

ETHICS IAS

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

अपरिहार्य प्रभाव यही होगा कि लोगों का विश्वास इस बात में कम होता जाएगा कि न्यायालय बड़े अपराधियों को दंड देने में समर्थ है। हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि अगर लोगों का विश्वास न्यायतंत्र से उठ गया और उनके मन में यह बात बैठ गई कि न्यायपालिका अपराधियों को दंड देने में असमर्थ है तो अपराधों के शिकार व्यक्ति और उनके संगे-संबंधी अपराधियों के साथ, जिन्हें वे प्राय: पहचानते हैं, निपटने के लिए गैरकानूनी तरीकों का इस्तेमाल करेंगे। यह स्पष्ट है कि ऐसी स्थिति अव्यवस्था और अराजकता को जन्म देगी।

विधि और उसकी प्रक्रिया की बारीकियां:

न्यायिक प्रशासन के अनके दोषों को समझाने के लिए अलग अलग प्रकार का दृष्टिकोण अपनाने के स्थान पर एक सार्वभौम दृष्टिकोण अपनाना अधिक उपयुक्त है। वादकारी मानव प्रकृति का एक प्रबल लक्षण है। सारी दुनिया में न्यायालयी प्रदर्शन जनसाधारण की प्रशंसा का पात्र होता है। यह विचित्र बात है कि एक और तो लागू कानूनी बारीकियों को हेय मानते हैं पर दूसरी और उसकी विदग्धता पर वाह-वाह भी करते हैं।

निराश मुकदमेंबाज हमेशा चुप नहीं हो जाते। हारने पर वे 'विधि' के स्थान पर 'न्याय' की दुहाई देने लगे हैं। एक वर्ग के रूप में वकीलों को अपनी कला की सूक्ष्मताओं को बनाए रखने में बड़ा लाभ है और विधिक प्रक्रिया को सरल कर दिया जाए तो वकीलों की सेवाओं की अधिकांशतया आवश्यकता ही नहीं रहेगी। अनेक कारणों से विधिक संस्थाएं अन्य संस्थाओं की तुलना में लोकमत में होने वाले परिवर्तनों के अनुरूप अपने को ढ़ालने में अधिक देर लगाती हैं। सिविल और दांडिक न्यायालयों में प्रक्रियाएं बहुत तकनीकी, कठिन, खर्चीली और मंद हो गई हैं। एक के बाद एक, अपीलों के अनेक स्तर हैं। जब इन्हें लागू किया गया था तो उस समय के सामाजिक और राजनीतिक परिवेश में ये सर्वोत्तम थीं पर अब ये साधारण वादकारी की पीठ पर वर्षा में भीगे कंबल के समान हो गई हैं। न्यायाधीशों, वकीलों और प्रतिवादियों का इस प्रक्रिया में अब निहित स्वार्थ हो गया है।

1986 के विधि दिवस के अपने भाषण में मुख्य न्यायाधीश श्री पी.एन. भगवती ने कहा था:

दुर्भाग्य से, **हमारे देश में आज भी कुछ वकील और विधिवेता ऐसे हैं जो शुतुरमुर्ग की तरह बालू में अपने सिर धंसाए रहना चाहते हैं और लोकहित वाद के परिणामस्वरूप न्यायिक प्रक्रिया में जो परिवर्तन आ रहा है उसे पहचानने से इंकार कर रहे हैं।**

उनकी दृष्टि से न्याय की प्रक्रिया केवल एक बौद्धिक व्यायाम है जिसमें न्यायाधीश और वकील अपनी विद्या और विद्वता का प्रदर्शन कर सकते हैं; उनकी दुनिया में सर्वहारा और असहायों, निचले वर्ग के और गुमनाम लोगों के लिए कोई स्थान नहीं है। वे चाहते हैं कि न्यायपालिका उसी जर्जर और पुरावशिष्ट आंग्ल-सेक्सन न्यायशास्त्र की प्रक्रियाओं का अनुसरण करते हुए न्याय प्रदान करती रहे।

किन्तु न्याय के ये तथाकथित पक्षधर यह नहीं समझते कि देश में लाखों लोग ऐसे हैं जिन्हें न्याय चाहिए और अगर उन्हें शीघ्र न मिला तो वे एक दिन राजमार्गों पर धावा बोल देंगे और उन्हें नष्ट कर देंगे जिनका दावा है कि उन पर चलने का अधिकार केवल हमारा ही है। सौभाग्य से, लोकहित वाद के फलस्वरूप, जनता के कमजोर वर्ग, समुदाय के अलाभग्रस्त तबके अब पहली बार अन्याय से संरक्षण प्रदान करने वाली संस्था के रूप में न्यायालयों पर आंख गड़ाए हैं। अब तक वे न्यायालयों के द्वार तक भी नहीं पहुंच पाते थे। किन्तु अब लोकहित वाद के माध्यम से उनकी समस्याएं न्यायालय के समक्ष लाई जा सकती हैं। उन मुट्ठी भर लोगों को निराधार आलोचना के होते हुए भी जो समाज से कट कर विशाल भवनों के वासी हैं और जिन्हें समाज के उस पददलित वर्ग के दु:ख, पीड़ा और शोषण की कोई चिंता नहीं है जो इस देश की जनसंख्या के 50 प्रतिशत से भी अधिक हैं। हमारी न्यायिक प्रक्रिया में एक क्रांति-सी आ रही है।

अधीनस्थ न्यायपालिका की दशा :

न्यायिक संरचना की रीढ़, अधीनस्थ न्यायपालिका, की दशा शोचनीय है। मुख्य न्यायाधीश श्री पी.एन. भगवती का इस संबंध में कदम था :

जिला न्यायाधीशों, सिविल न्यायाधीशों और मुंसिफों के अधीनस्थ न्यायालयों में बहुत बड़ी संख्या में मुकदमें विचारार्थ पड़े हैं। जब तक हम संरचनात्मक परिवर्तन नहीं करते तब तक अधीनस्थ न्यायालयों में मुकदमों की भारी आमद से निपटना संभव नहीं है। हां, यदि हम अधीनस्थ न्यायाधीशों के वेतन और सेवा शर्तों में सुधार कर सकें और उनकी कार्य-दशाओं को बेहतर बना सकें तो वर्तमान संरचना के अंतर्गत ही काफी कुछ किया जा सकता है। हम अधीनस्थ न्यायाधीशों का परिश्रमिक बहुत कम है और उनकी सेवा-शर्ते असंतोषजनक हैं। अनेक राज्यों में अधीनस्थ न्यायपालिका में न्यायाधीशों की संख्या अपर्याप्त और न्यायालय भी अपेक्षित संख्या में नहीं है। कई राज्यों में अधीनस्थ न्यायाधीशों को आवास की सुविधा उपलब्ध नहीं है और उन्हें आवास ढूंढ़ने के लिए वकीलों और कभी कभी तो, मुवक्किलों पर भी निर्भर करना पड़ता है। फिर भी आवास इतने भारी किरायों पर मिल पाते हैं जो उनकी आर्थिक सामर्थ्य के परे होते हैं। अनेक स्थानों पर तो न्यायालयों के लिए उपयुक्त भवन भी नहीं हैं। इसके अलावा, हम अपने अधीनस्थ न्यायाधीशों को कोई नियुक्ति-पूर्व प्रशिक्षण नहीं देते और उन्हें कोई सेवाकालीन प्रशिक्षण देते हैं। हम यह मान कर चलते हैं कि अधीनस्थ न्यायाधीश के रूप में नियुक्त होते ही उनमें किसी दैवी प्रज्ञा का उदय हो जाता है और उनमें न्याय प्रदान करने का कौशल एवं क्षमता विकसित हो जाती है। इन सभी बातों के पीछे कारण यह है कि एक स्तर पर न्यायिक प्रणाली को सुधारने के लिए धन की आवश्यकता होती है तो उसे उपलब्ध कराने में आनाकानी की जाती है।

संभवतया हम यह नहीं समझ पाते कि अधीनस्थ न्यायालय ही न्याय के पिरामिड का आधार है और जब तक आधार सुदृढ़ नहीं बनाया जाएगा तब तक पिरामिड का ढह जाना अवश्यंभावी है।

FREE IAS

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

हम प्राय: भूल जाते है कि न्याय तंत्र के साथ आम आदमी संपर्क अधीनस्थ न्यायालयों के स्तर पर ही होता है; उसे उच्च न्यायालय जाने की जरूरत शायद ही कभी पड़ती है। अत: यदि हम सामान्यजन के अंदर यह विश्वास उत्पन्न करना चाहते हैं कि उसे न्याय मिल सकता है तो उसके लिए यह परम आवश्यक है कि हम अधीनस्थ न्यायपालिका को मजबूत करें। बहुत से लोग यह नहीं समझ पाते कि यदि अधीनस्थ न्यायपालिका सुदृढ़ होगी तो उच्च न्यायालयों के समक्ष जाने वाली अपीलों की संख्या कम हो जाएगी और उच्च न्यायालयों के कार्यभार में पर्याप्त कमी आ जाएगी।

न्यायाधीशों की निष्पक्षता और उनकी ईमानदारी :

न्यायिक प्रशासन की उच्च कोटि की ईमानदारी पर सदा बल दिया जाता रहा है। न्याय का उदात्त होना भी आवश्यक है। न्याय प्रदान करना केवल राज्य का एक कार्य ही नही माना जाता अपितु कोई रहस्यपूर्ण कृत्य जैसे माना जाता है। यह बात अनेक सुपरिचित प्रथाओं एवं भावनाओं से प्रकट होती है। यह सर्वत्र आवश्यक समझा जाता है कि कम-से-कम उच्च न्यायालय वास्तु की दृष्टि से भव्य हो। विचारण, विशेष रूप से आपराधिक विचारण, जितना एक धार्मिक आयोजन है उतना ही एक संस्कार भी है। न्यायालय की कार्रवाईयां, न्याय-प्रशासन की गरिमा के साथ, इसप्रकार संचालित की जाती हैं कि वे उनमें भाग लेने वाले और दर्शकों, दोनों को प्रभावित करें। आज भी न केवल सामान्यजन अपितु प्रबुद्ध व्यक्ति तक इस रस्म के प्रति एक भय की ही भावना रखते हैं।

न्याय की निश्चिंतता पर जितना कुठाराघात निष्पक्षता की कमी कर सकती है, उतना कोई और बात नहीं कर सकती। इसके आलावा, प्रशासन की ईमानदारी को एक आदर्श के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। इसके अलावा, प्रशासन की अन्य शाखाओं की तुलना में न्यायतंत्र की ईमानदारी का स्तर बहुत ऊंचा होना चाहिए, इस पर बराबर बल दिया जाता है। न्यायिक प्रशासन के चारों ओर विशेष रक्षोपाय खड़े किये गए हैं। आधुनिक राज्य ने इस स्थिति की प्राप्ति के लिए विशेष प्रयास किया है कि विधिक न्याय उसके आर्थिक न्याय की तुलना में बहुत ऊंचे स्तर का हो। वह इसमें बड़ी हद तक सफल भी हुआ है। न्यायिक घोटाला विशेष निंदनीय समझा जाता है। न्यायालयों में अनियमितता या अनौचित्य का जरा-सा भी आभास विशेष चिंता का विषय और आतंकित करने वाली बात मानी जाती है। कोई विधायक अथवा प्रशासन भ्रष्टाचार को दोषी पाया जाए तो उससे राज्य की नींव के लिए प्रकटत: कोई खतरा पैदा नहीं होता लेकिन न्यायाधीशों को सदा अपने आपको संदेह से पूरी तरह ऊपर रखना आवश्यक होता है।

एक मामले में हमारे उच्चतम न्यायालय ने कहा है:

बुद्धिमान न्यायाधीश यह कभी नहीं भूलते कि अपने पद की गरिमा और प्रतिष्ठा को अक्षुण्ण रखने का सर्वोतम उपाय अपने निर्णयों की गुणवता, अपने दृष्टिकोण केवल, न्यायसंगति तथा वस्तुनिष्ठता और अपने न्यायिक आचरण में अपनाए गए संयम, गरिमा और शालीनता से सर्वसाधारण का आदर अर्जित करना है।

IAS

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

अधिकरण तथा आयोग न्यायालयों के अतिरिक्त अन्य न्यायिक तथा न्यायिक-कल्प अधिकरण

हमारे संविधान में शक्तियों के पृथ्ककरण का सिद्धांत गहराई से समाया हुआ है। अब से लगभग पांच दशक पहले, जब संविधान का निर्माण हुआ था, राज्य के कार्यकलाप अपेक्षाकृत कम तथा सीमित थे। तब से, राज्य के कार्यकलाप में बड़ी वृद्धि हुई है और केन्द्र तथा राज्य सरकारों ने वाणिज्यिक एवं अन्य क्षेत्रों में भी प्रवेश किया है। सरकारी कर्मचारियों की सेवा-शर्तों, स्थानांतरण, पदोन्नतियों, नियुक्तियों आदि से संबंधित विवाद भी बढ़ गए हैं।

संविधान निर्माताओं को इन सब घटनाओं का पूर्वाभास नहीं हो सकता था इसलिए उन्होंने स्वयं को देश के नागरिकों के लिए एक निश्चित न्यायिक मंच देने तक सीमित रखा। उस समय, संभवतया उन्होंने यह सोचा था कि वर्तमान न्यायालय लोगों की न्यायिक आकांक्षाओं को पूरा करने और सभी प्रकार के विवादों का निपटारा करने के लिए पर्याप्त सिद्ध होंगे। किन्तु आगे चलकर मालूम हुआ कि बदली हुई स्थिति की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए सामान्य न्यायालय, जिनकी कुछ पारंपरिक तथा प्रक्रियागत सीमाएं हैं, पर्याप्त नहीं हैं। अपनी इन्हीं सीमाओं के कारण ये न्यायालय नए सामाजिक-आर्थिक संदर्भ में उठने वाली सस्याओं को सुलझाने में पूरी तरह समर्थ नहीं थे। इसके परिणामस्वरूप, विभिन्न अधिकरण स्थापित किए गए/किए जाते हैं जिन्हें पारंपरिक अर्थ में पूरी तरह न्यायालय नहीं कहा जा सकता। फिर भी, ये उपयुक्त विधिक प्रक्रिया का अनुसरण करते हुए अनके विवादों को विचारार्थ स्वीकार करते हैं और उनका निर्णय करते हैं।

न्यायालयों की अपेक्षा अधिकरण क्यों :

1. उन सभी विवादों का निपटारा करने के लिए जिनका न्यायनिर्णयन अपेक्षित है, हमारी न्यायिक व्यवस्था अपर्याप्त है। यह पाया गया है कि यह मंद, खर्चीली, अदक्ष, जटिल तथा औपचारिकता से ग्रस्त है। इसके अलावा, इसके पास कार्य का बोझ बहुत अधिक है। अनेक महत्वपूर्ण मामले ऐसे हैं जैसे कि, मालिकों और कर्मचारियों के आपसी विवाद, तालेबंदियां, हड़तालें आदि जिनका शीघ्रतापूर्वक निपटारा करना होता है और जिनका निर्णय न्यायालयों द्वारा किया जा सकता है।

2. इस रूप में स्थापित अधिकरण सैद्धांतिक तथा विधिमूलक दृष्टिकोण के स्थान पर प्रयोजनमूलक दृष्टिकोण अपन कर प्रक्रियागत बाधाओं से बच सकते हैं। इनके लिए साक्ष्यों तथा प्रक्रिया के कठोर नियमों से बंधकर काम करना अनिवार्य नहीं है। अपने विशिष्ट ज्ञान का उपयोग करते हुए ये अधिकरण विशेषित तथा जटिल समस्याओं का भी व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाते हुए निर्णय कर सकते हैं।

3. अनके विवादग्रस्त प्रश्न तकनीकी प्रकृति के होते हैं। पारंपरिक न्यायिक व्यवस्था के भीतर इनसे निपटना कठिन तथा दुर्वह होता है और न्यायपालिका इस प्रकार के प्रश्नों से संबंधित सामग्री एकत्र करने और त्वरित निर्णय लेने में पूर्णतया सक्षम भी नहीं है। इसके विपरीत, अधिकरणों में प्राय: विशेषज्ञों की नियुक्ति की जाती है जो इस प्रकार की समस्याओं को हाथ में लेकर उनका समाधान कर सकते हैं; ऐसी समस्याओं के उदाहरण हैं पारिवारिक विवाद, गैस, बिजली, रेल-दरे, एकाधिकारी व्यवहार, उपभोक्ता विवाद आदि से संबंधित समस्याएं।

4. अपेक्षाकृत अधिक तकनीकी ज्ञान होने के फलस्वरूप ये अधिकरण सामान्य न्यायलयों की अपेक्षा अधिक गति से, कम खर्च में और दक्षतापूर्वक अपना कार्य करते हैं। इनका उद्देश्य ही यह है कि ये विवादों का निर्णय करते समय संबंधित विधि में छिपी सामाजिक न्याय की भावना तथा न्यायसंगत समाधान की नीति को बढ़ावा देने का सचेतन प्रयास करें और विवाद विशेष में निहित सामाजिक हित की ओर विशेष ध्यान दें।

अधिकरण :

अधिकरण अनेक दृष्टियों से पारंपरिक न्यायालयों के समान ही हैं। दोनों का गठन विधानमंडल द्वारा किया जाता है और दोनों को विशिष्ट न्यायिक शक्तियां प्रदान की जाती हैं। उनका अस्तित्व स्थायी होता है और वे न्याय-निर्णायक निकाय होते हैं। ये विभिन्न पक्षों द्वारा लाए गए विवादों पर विचार कर उनका निपटारा करते हैं जिनके विरूद्ध विधि के अनुसार अपील की जा सकती है। जैसा कि उच्चतम न्ययालय ने कहा है, (एसोशिएटेड सीमेंट कंपनी लिमिटेड बनाम पी.एन. शर्मा तथा अन्य के मामले में - ए. आई. 1965 एस. सी. 1595) न्यायालयों तथा अधिकरणों, दोनों का समान आधारभूत और मौलिक लक्षण यह है कि ये न्यायिक कार्य संपन्न करते हैं और एक प्रभुतासंपन्न राज्य में अंतर्निहित शक्तियों का प्रयोग करते हैं।

फिर भी, अधिकरणों को पूरी तरह न्यायालय की संज्ञा नहीं दी जा सकती। उकने स्वरूप में कुछ लक्षण न्यायालय के समान अवश्य होते हैं पर न्यायालयों के सभी लक्षण उनमें नहीं पाए जाते। इन दोनों के भेद को इस प्रकार स्पष्ट किया गया है:

1. न्यायालय पारंपरिक न्यायिक प्रणाली का अंग होता है। इसकी न्यायिक शक्तियां राज्य से व्युत्पन्न होती हैं और जो न्याय देने का काम करता है, उसे न्यायाल य कहते हैं। दूसरी ओर, अधिकरण किसी विशिष्ट विधि के द्वारा बना अभिकरण होता है और उसे विनिर्दिष्ट मामलों को निपटाने के लिए न्यायिक शक्तियां प्रदान की जाती है।

2. अपने कार्यकाल तथा सेवा की शर्तों आदि के मामले में न्यायधीश कार्यपालिका से स्वतंत्र होते हैं। दूसरी ओर, अधिकरण बहुत हद तक सरकार के हाथों में होते हैं।

Ethics IAS

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

3. न्यायालय की अध्यक्षता प्राय: विधि में प्रशिक्षित अधिकारी द्वारा की जाती है जबकि अधिकरण का अध्यक्ष अथवा सदस्य विधि में प्रशिक्षित हो, यह आवश्यक नहीं है।

4. न्यायालय में, न्यायाधीश के लिए एक निष्पक्ष मध्यस्थ होना अनिवार्य है और वह किसी ऐसे मामले का निर्णय नहीं कर सकता जिसके साथ वह हितबद्ध हो। दूसरी ओर, अध्किरण के मामले में हो सकता है कि वह स्वयं विवाद मामले का एक पक्ष हो, जैसे कि रेल-रेट अधिकरण, एकाधिकार आयोग आदि।

5. न्यायालय साक्ष्य एवं प्रक्रिया के सभी नियमों से बंधा होता है लेकिन अधिकरण तब तक पूरी तरह इन नियमों से बंधा नहीं होता जब तक कि संबंधित विधि के अधीन यह उनके लिए अनिवार्य न कर दिया गया हो।

6. न्यायालय के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने समक्ष प्रस्तुत साक्ष्य और सामग्री के आधार पर तटस्थ भाव से सभी प्रश्नों का निर्णय करे जबकि अधिकरण अपना निर्णयदेते समय सरकारी नीति, आदि को भी ध्यान में रख सकता है।

7. न्यायालय किसी विधान की 'शक्तिमत्ता' का निर्णय कर सकता है जबकि अधिकरण ऐसा नहीं कर सकता।

केन्द्रीय तथा राज्य प्रशासनिक अधिकरण एवं अन्य अधिकरण

42वें संविधान संशोधन अधिनियम 1976 के परिणामस्वरूप भारत के संविधान में अनुच्छेद 323क जोड़ा गया है। इसने लोक सेवाओं या संघ और राज्य के पदों पर नियुक्त व्यक्तियों की भर्ती और सेवाशर्तों से संबंधित विवादों के न्यायनिर्णयन को सिविल न्यायालयों और उच्च न्यायालयों के पास से निकालकर संघ के या राज्यों के प्रशासनिक अधिकरणों के हाथ में दे दिया है।

अनुच्छेद 323 (क) के इस उपबंध के अनुसरण में संसद ने प्रशासनिक अधिकरण अधिनियम 1985 पारित करके इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए एक केन्द्रीय प्रशासनिक अधिकरण की स्थापना कर दी है जिनकी शाखाएं निर्दिष्ट नगरों में खोली गई हैं। इस अधिनियम में यह उपबंध है कि प्रशासनिक अधिकरण संघ के मामलों से संबंधित लोक सेवाओं और पदों पर नियुक्त व्यक्तियों को किसी राज्य या भारत के राज्य क्षेत्र के भीतर स्थित किसी स्थानीय या अन्य ऐसे प्राधिकरण में कार्यरत कर्मचारियों की जो भारत सरकार के नियंत्रण में है या किसी ऐसे निकाय या समिति के नियंत्रण में है जिस पर सरकार का स्वामित्व और नियंत्रण है, भर्ती और सेवाशर्तों और उससे संबद्ध या उसके अनुषंगी विषयों में संबंधित विवादों और परिवादों का न्यायनिर्णयन या विचारण करेंगे।

प्रशासनिक अधिकरण अधिनियम को पारित करने का उद्देश्य था :

1. न्यायालयों के काम के बोझ को हल्का करना तथा

2. सेवा विषयक मामलों से संबंधित विवादों के न्यायालयों की तुलना में अधिक त्वरित गति से निपटारे की व्यवस्था करना।

किन्तु रक्षा सेवाओं में कार्यरत व्यक्तियों, उच्चतम न्यायालय के अधिकारियों तथा कर्मचारियों, और संसद के सचिवालयी कर्मचारिवृंद तथा किसी राज्या या संघ राज्य क्षेत्र के विधानमंडल के सचिवालयी कर्मचारिवृंद से संबंधित विवाद इन अधिकरणों की अधिकारिता में नहीं आते।

जो मामले अब उक्त अधिकरण की अधिकारिता में हैं, उनके विषय में प्रशासनिक अधिकरण अधिनियम 1985 ने सिविल न्यायालयों की वाद ग्रहण करने की और अनुच्छेद 226 (या अनुच्छेद 227) के अधीन ग्रहण करने की उच्च न्यायालय की अधिकारिता समाप्त कर दी है।

उच्च न्यायालय जिन मामलों को अनुच्छेद 226 और 227 के अधीन विचारार्थ स्वीकार कर उनका न्यायनिर्णयन कर सकता था, उन पर विचार एवं न्यायनिर्णय करने के लिए प्रशासनिक अधिकरण सक्षम है। इसमें संगत विधियों की संवैधानिकता का निर्णय करना भी सम्मिलित है। यह अधिकरण इस बात की घोषणा करने के लिए सक्षम है कि कोई सांविधिक सेवा नियम अनुच्छेद 14 और 16 का उल्लंघन करता है।

राज्य प्रशासनिक अधिकरणों को नियत दिन से शक्तियों तथा प्राधिकार सहित वह समस्त अधिकारिता प्रदान की गई है जो निम्नलिखित मामलों में, ठीक इससे पहले, सभी न्यायालय (उच्चतम न्यायालय को छोड़कर) प्रयोग में लाते थे :

1. राज्य की किसी सिविल सेवा या राज्य के अधीन किसी सिविल पद पर भर्ती और भर्ती से संबंधित मामले;

2. राज्य के सभी सेवाएं या राज्य के अधीन कोई सिविल पद या राज्य सरकार या राज्य रकार के नियंत्रण में कार्यरत किसी स्थानीय अथवा अन्य प्राधिकरण अथवा राज्य सरकार के स्वामित्व अथवा नियंत्रण में कार्यरत किसी निगम या समिति के कामकाज के संबंध में ऐसे किसी व्यक्ति की सेवा से संबंधित मामले;

3. राज्य के कामकाज के संबंध में ऊपर खंड (2) में उल्लिखित किसी सेवा अथवा पद पर नियुक्त ऐसे व्यक्ति की सेवा से संबंधित सभी मामले जिसको सेवाएं किसी स्थानीय अथवा अन्य प्राधिकरण या निगम या समिति या किसी ऐसे निकाय को दे दी गई हैं जो राज्य सरकार के नियंत्रण अथवा स्वामित्व में है।

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

राज्य प्रशासनिक अधिकरण राज्य की सेवाओं से संबंधित विवादों के निर्णयन के लिए हैं और वे किसी ऐसे मामले को विचारार्थ स्वीकार नहीं कर सकते जो केन्द्रीय प्रशासनिक अधिकरण की अधिकारिता में आता है।

इन अधिकरणों को किसी याचिका को विचारर्थ स्वीकार करने का अधिकार या शक्ति प्राप्त नहीं है जो:

1. अनुच्छेद 311(2) के द्वितीय परंतुक खंड (ग) के अधीन राष्ट्रपति या राज्यपाल के समाधान के आधारों को चुनौती देती हो; और/या

2. किसी ऐसे प्रशासनिक अवधारणा के गुणावगुण की परीक्षा करती हो जिसके पीछे किसी तरह की कदाशयता, मनमानापन, शक्ति का छद्म प्रयोग या अधिकारिता के बिना ही शक्ति का प्रयोग या बिना किसी साक्ष्य के निर्णय पर पहुंचने की बात न हो।

अधिकरण के सदस्य :

केन्द्रीय तथा राज्य, दोनों स्तर के प्रशासनिक अधिकरणों के अध्यक्ष, उपाध्यक्ष और न्यायिक एवं प्रशासनिक सदस्यों की नियुक्ति मुख्य न्यायमूर्ति के परामर्श से राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। यह आवश्यक है कि अधिकरण का अध्यक्ष उच्च न्यायालय का न्यायाधीश हो अथवा कम से कम दो वर्ष तक न्यायाधीश अथवा उपाध्यक्ष रहा हो। यह उपबंध इस बात को सुनिश्चित करने के लिए है कि इन पदों पर नियुक्त होने वाले व्यक्ति किसी भी रूप में उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों से हीन न हों, विशेषकर इसलिए भी कि वे वस्तुतया उन सभी शक्तियों का प्रयोग करते हैं जो उन न्यायाधीशों द्वारा अनुच्छेद 226 और 227 के अधीन विवादों का निर्णय करते समय प्रयोग में लाई जाती हैं।

विवाद उस पीठ के समक्ष प्रस्तुत किए जाने चाहिए जिसकी अधिकारिता में आवेदक उस समय पदस्थापित है।

यह अधिकरण यह पाता है कि कोई आवेदन विहित नियमों के अनुसार प्रस्तुत नहीं किया गया है या वह उसके द्वारा न्यायनिर्णयन अथवा विचारण के उपयुक्त नहीं है तो वह उसे संक्षिप्त विचारण में ही नामंजूर कर सकता है।

अधिकरण सिविल प्रक्रिया संहिता 1908 में अधिकथित प्रक्रिया से बंधा नहीं होता पर वह नैसर्गिक न्याय के सिद्धांतों से मार्गदर्शन लेता है। उसे शर्तों के विनियमन की शक्ति है जिसमें जांच के स्थान तथा समय को तय करना और यह तय करना सम्मिलित है कि उसकी कार्रवाई सार्वजनिक होगी या बंद कमरे में। अधिकरण से अपेक्षा की जाती है कि वह उसे प्रस्तुत आदेश का निर्णय यथासंभव शीघ्रतापूर्वक करेगा।

अधिकरण को निम्नलिखित के लिए अतिरिक्त शक्तियां दी गई हैं:

1. किसी भी व्यक्ति को समन करना और उसे हाजिर होने के लिए विवश करना तथा शपथपत्र पर उसकी परीक्षा करना;
2. दस्तावेजों का प्रकटीकरण और प्रस्तुत किए जाने की अपेक्षा करना;
3. शपथपत्र पर साक्ष्य को ग्रहण करना;
4. भारतीय साक्ष्य अधिनियम 1872 (1872 का 1) की धारा 123 और 124 के उपबंध के अधीन, किसी कार्यालय से कोई लोक अभिलेख या दस्तावेज या ऐसे अभिलेख अथवा दस्तावेज की प्रति मंगना;
5. साक्षियों या दस्तावेजों की परीक्षा के लिए कमीशन जारी करना;
6. अपनी निर्णयों का पुनर्विलोकन करना;
7. व्यतिक्रम के आधार पर अभ्यावेदन खारिज करना या उसका एकपक्षीय निर्णय करना;
8. व्यतिक्रम के कारण अभ्योदन की खारिजी को या अपने द्वारा किए गए किसी आदेश को आपरत्त करना;
9. केन्द्र सरकार द्वारा विहित अन्य मामले। अधिकरण को अपने निर्णयों के पुनर्विलोकन की शक्ति है जो 30 दिन के भीतर तथा विहित नियमों के अनुसार फाइल किया जाना चाहिए।

यह अभिलेख पर दृष्टि डालने से यह स्पष्ट दिखाई देता है कि अधिकरण से कोई गलती हो गई है तो उसे भूल ठीक करने की शक्ति भी है। यह न्यायालय अवमान अधिनियम 1971 के अधीन अवमानना के लिए दंड दे सकता है।

अपीलें :

उच्चतम न्यायालय के दिनांक 18 मार्च 1997 के निर्णय के परिणामस्वरूप प्रशासनिक अधिकरण के फैसले के विरूद्ध संबंधित उच्च न्यायालय के दण्डपीठ में अपील की जायेगी।

अनुच्छेद 323 ख के अधीन अन्य अधिकरण :

संविधान (42 वां संशोधन) अधिनियम ने अनुच्छेद 323 ख जोड़ा है जिसमें प्रशासनिक अधिकरणों के अतिरिक्त अन्य अधिकरणों की स्थापना का उपबंध है। यह किन्हीं मामलों से संबद्ध अधिकरण स्थापित किए जाने की बाबत है जैसे कि :

1. किसी कर का उद्ग्रहण, निर्धारण, संग्रहण तथा प्रवर्तन;
2. विदेशी मुद्रा, सीमाशुल्क सीमांतों के आर-पार आयात और निर्यात:
3. औद्योगिक और श्रम विवाद;
4. राज्य द्वारा अनुच्छेद 31 क में यथापरिभषित किसी संपदा या उसमें किन्हीं अधिकारों के

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

राज्य द्वारा अर्जन या ऐसे किन्हीं अधिकारों के निर्वाचन या उपंतरण या कृषि-भूमि की उच्चतम सीमा द्वारा या किसी अन्य प्रकार से भूमि सुधार;

5. नगर संपति की अधिकतम सीमा;

6. संसद के प्रत्येक सदन या राज्य विधानमंडल के सदन के लिए निर्वाचन, किन्तु इसमें

अनुच्छेद 329 और 329 क में निर्दिष्ट विषयों को छोड़कर;

7. खाद्य पदार्थों का (जिनके अंतर्गत खाद्य तिलहन और तेल हैं) और ऐसे अन्य माल का उत्पादन, उपापन, प्रदाय और वितरण, जिन्हें राष्ट्रपति, लोक सूचना द्वारा इस अनुच्छेद के लिए घोषित करे और ऐसे माल की कीमत का नियंत्रण;

8. उपर्युक्त (1) से (7) में विनिर्दिष्ट विषयों में से किस विषय से संबंधित विधियों के विरूद्ध अपराध और उन विधियों में से किसी की बाबत फीस।

जब तक कोई अधिनियम न बने और अनुच्छेद 323 ख के अधीन अधिकरण की स्थापना न हो तब तक अनुच्छेद 226 के अधीन सिविल न्यायालय या उच्च न्यायालय की विद्यमान अधिकारिता बनी रहेगी। एक बार अधिकरण की स्थापना हो जाए तो जिन मामलों के लिए वह स्थापित किया गया है उन पर अधिकरण अनन्य रूप से विचारण कर सकेगा।

समुचित विधानमंडल को यह शक्ति है कि वह उपर्युक्त (1) से (8) में उल्लिखित मामलों के संबंध में अधिकरणों का सोपान स्थापित कर सके। लेकिन संसद ने केवल एक ही विषय, सीमा शुल्क तथा उत्पाद शुल्क, को लेकर ही अधिनियम पारित किया है। यह है सीमा शुल्क और उत्पाद शुल्क राजस्व अपील अधिकरण अधिनियम 1986 जिसमें सीमा शुल्क अधिनियम 1962 तथा केन्द्रीय उत्पाद शुल्क और नमक अधिनियम 1944 के अधीन मूल्यांकन, वर्गीकरण तथा शुल्क दरों के विषय में विवादों का निपटारा करने और निर्णय करने का उपबंध किया गया है - ये विषय उच्च न्यायालयों की अधिकारिता से बाहर कर दिए गए हैं। यह अधिनियम अभी प्रवृत्त नहीं हुआ है इसलिए अधिकरण की स्थापना नहीं हुई।

IAS

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

उपभोक्ता के संरक्षण के लिए आयोग

1969 में, संसद ने एकाधिकार तथा अवरोधक व्यापार व्यवहार (MRTP) अधिनियम पारित किया जिससे एकाधिकार आयोग की स्थापना हुई। इस आयोग को एकाधिकार तथा अवरोध क व्यापारिक व्यवहार संबंधी परिवादों को विचारार्थ स्वीकार करने की शक्तियां प्रदान की गई और बाद में, 1984 में, संशोधन अधि नियम के द्वारा अनुचित व्यापार व्यवहार को भी इसकी अधिकारिता में जोड़ दिया गया। किन्तु यह अनुभव हुआ कि MRTP आयोग को प्रदत्त शक्तियां उपभोक्ताओं को प्रत्यक्ष रूप से संरक्षण प्रदान करने के लिए पर्याप्त नहीं है क्योंकि आयोग की स्थापना का मुख्य उद्देश्य इस आशा से प्रतियोगिता का विनियमन करना था कि इसके फलस्वरूप उचित आचरण को बढ़ावा मिलेगा, जिसके सुपरिणाम अंतत: उभोक्ता तक पहुंचेंगे। अत: उपभोक्ताओं के हितों के बेहतर संरक्षण के लिए उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम, 1986 लागू किया गया। इसे 24 दिसम्बर, 1986 को राष्ट्रपति की स्वीकृति प्राप्त हुई। इस अधिनियम के अंतर्गत व्यापार में धोखाधड़ी, प्रतिबंधित व्यापार, खराब समान की बिक्री तथा चिकित्सा एवं अन्य दोषपूर्ण सेवाओं से संबंधित उपभोक्तओं की शिकायतों का निपटारा करने के लिए तीन स्तरों की एक प्रणाली स्थापित की गई है:

1. जिल स्तर का न्यायालय : ये न्यायालय संबंधि त राज्य सरकारों द्वारा केन्द्र सरकार के अनुमोदन से राज्य के प्रत्येक जिले में स्थापित किए जाते हैं;
2. राज्य आयोग : राज्य सरकार द्वार केन्द्र सरकार के अनुमोदन से प्रत्येक राज्य में एक राज्य आयोग की स्थापना की जाती है;
3. राष्ट्रीय आयोग : केन्द्र सरकार ने समूचे देश के लिए एक राष्ट्रीय उपभोक्ता विवाद निवारण आयोग स्थापना किया है जो नई दिल्ली में अवस्थित है।

जिला स्तर के अयोग की अधिकारिता उपभोक्ताओं की उन सभी शिकायतों की सुनवाई करने तक सीमित है जिनमें माल तथा सेवाओं का मूल्य और प्रतिपूर्ण, यदि कोई मांगी गई हो, 20 लाख रुपये से कम है।

राज्य आयोग उन शिकायतों को विचारार्थ स्वीकार करता है जिनमें माल और सेवाओं का मूल्य और प्रतिपूर्ति, यदि कोई मांगी गई हो, 20 लाख से अधिक है किन्तु एक करोड़ से अधिक नहीं है। यह राज्य के भीतर कार्यरत जिला स्तर के न्यायालयों के विरूद्ध अपीलों की सुनवाई भी करता है। इसे पुनरीक्षण करने की भी शक्ति है। इसके अलावा, यह किसी ऐसे उपभोक्ता विवाद में अभिलेख मंगाकर उपयुक्त आदेश पारित कर सकता है जो इसके पास लंबित हो या जिसका फैसला राज्य के किसी जिला स्तर के उपभोक्ता संरक्षण न्यायालय द्वारा किया जा चुका हो और उसमें राज्य आयोग को यह लगता हो कि जिला स्तर के न्यायालय ने ऐसी अधिकारिता प्रयोग किया है जो विधि द्वारा उसे प्रदान नहीं की गई है; या वह विधि द्वारा प्रदत्त अधिकारिता का प्रयोग करने में असफल रहा है या उसने अपनी अधिकारिता का प्रयोग अवैध रीति से तात्विक अनियमितता के साथ किया है।

राष्ट्रीय आयोग को ऐसी शिकायतों को विचारार्थ स्वीकार करने की आरंभिक अधिकारिता भी प्राप्त है जिनमें वस्तुओं या सेवाओं का मूल्य अथवा प्रतिपूर्ति के दावे की रकम रु. एक करोड़ रुपये से अधिक हो। इसे राज्य आयोग के आदेश से व्यथित किसी व्यक्ति को अपील की सुनवाई करने का अधिकार है और पुनरीक्षण की शक्तियां भी है।

राष्ट्रीय आयोग के आदेश के विरूद्ध अपील अधिनियम की धारा 23 के अधीन सीधे उच्चतम न्यायालय में किए जाने का उपबंध है। ऐसी अपील आदेश पारित होने की तारीख के 30 दिन के भीतर की जानी चाहिए। उपभोक्ता न्यायालय उपभोक्ताओं की बहुमूल्य सेवा करते हैं। इनमें दोषपूर्ण सेवा के लिए परिवाद किया जा सकता है। साथ ही, सरकार, लोक उपक्रमों, बैंकों, विद्युत बोर्डों, आवास मंडलों, जीवन बीमा निगम, भवन निर्माताओं, विनिर्माताओं और निजी उपक्रमों आदि के विरूद्ध शिकायतें लाई जा सकती हैं। एकाधिकार आयोग और उपभोक्ता न्यायालयों की अधिकारिता कुछ हद तक अंशाच्छादी है पर उपभोक्ता न्यायालयों का मुख्य लाभ यह है कि भारत में सर्वत्र शिकायत का निवारण कराया जा सकता है जबकि एकाधिकार आयोग केवल दिल्ली में अवस्थित है। इसमें संदेह नहीं कि यदि ठीक से उपयोग किया जाए और प्रशासित किया जाए तो उपभोक्ता न्यायालय बड़े सशक्त और महत्वपूर्ण न्यायालय हैं। ये साक्ष्य और सिविल प्रक्रिया के भारी-भरकम नियमों से बंधे नहीं हैं। यह एक त्वरित और कमखर्च उपचार व्यवस्था है क्योंकि इसमें कोई न्यायालय शुल्क नहीं देना पड़ता। कोई व्यक्ति या कोई मान्यताप्राप्त उपभोक्ता संघ आम उपभोक्ताओं की ओर से इस न्यायालय की शरण में जा सकता है।

हाल के वर्षों में, आयोग ने कई बड़े महत्वपूर्ण एवं विविध मामलों पर निर्णय सुनाए हैं जो आम लोगों के लिए वरदान सिद्ध हुए हैं। उदाहरण के लिए, उत्पादों के उपभोक्ता, रेल और हवाई यात्री, टेलीफोन ग्राहक , बिजली उपभोक्ता, बीमादार, विभिन्न वस्तुओं के क्रेता, वाहनों का प्रयोग करने वाले और वे उपभोक्ता जो सेवाएं किराए पर लेते हैं, आदि।

सेना न्यायालय द्वारा विचारण

भारत के संविधान ने थलसेना अधिनियम 1950, वायुसेना अधिनियम 1950 और नौसेना अधिनियम 1957 के अधीन किए गए अपराधों को अनुच्छेद 136(2) के अधीन उच्चतम न्यायालय की अधिकारिता से और अनुच्छेद 227 के अधीन उच्च न्यायालयों की अधिकारिता से विशेष रूप से अपवर्जित कर दिया है। इसी

ETOOS IAS

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

प्रकार, भारतीय दंड संहिता/दंड प्रक्रिया संहिता उपर्युक्त अधिनियमों के अधीन रक्षा कार्मिकों द्वारा किए गए अपराधों के बारे में दांडिक न्यायालयों को अधिकारिता प्रदान नहीं करती। ऐसे व्यक्तियों तथा अपराधों का विचारण जिस न्यायालय द्वारा किया जाता है, उसे सेना न्यायालय कहते हैं। यदि सैनिक बलों का कोई कर्मी स्थानीय पुलिस द्वारा पकड़ कर अभिरक्षा में रख लिया जाए तो भी दंड प्रक्रिया संहिता में यह उपबंध किया गया है कि इसे सेना न्यायालय द्वारा विचारण के लिए सैनिक प्राधिकारियों को सौंप देना चाहिए। विधिक अधिकरण होते हुए भी सेना न्यायालय देश के न्यायिक तंत्र का अंग नहीं है। फिर भी, यह एकमात्र न्यायालय है जिसमें सैनिक अपराध का विचारण, अवधारण करके दंडित किया जा सकता है। इसमें उच्चतर सिविल न्यायालयों, अर्थात् उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों की कोई अपीली अधिकारिता नहीं है और सेना न्यायालय द्वारा दिए गए दंड के विरूद्ध किसी सिविल न्यायालय में अपील नहीं की जा सकती। बस, एक ही मार्ग है जिसके द्वारा किसी कोर्ट मार्शल के निर्णय या कार्रवाई को, सीमित विस्तार में, चुनौती दी जा सकती है और वह है संविधान के अनुच्छेद 32 और 226 के अधीन क्रमशः उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालय की रिट अधिकारिता का प्रयोग करते हुए।

सिविल प्रक्रिया के अर्थ में सेना न्यायालय एक न्यायालय है और उसके समक्ष कार्रवाई न्यायिक कार्रवाई है। साधारण न्यायालय के समान सेना न्यायालय भी नैसर्गिक न्याय के मूल सिद्धांतों से बंध ा है। इस विषय पर सैनिक संहिता में विशेष उपबंध के अभाव में यह अपेक्षा है कि सेना न्यायालय सिविल न्यायालयों के समान ही साक्ष्य के नियमों का पालन करेगा।

सैनिक विधि में चार भिन्न-भिन्न प्रकार के सेना न्यायालय हैं:

1. सामान्य सेना न्यायालय
2. जिला सेना न्यायालय
3. संक्षिप्त सामान्य सेना न्यायालय
4. संक्षिप्त सेना न्यायालय

सामान्य सेना न्यायालय सर्वोच्च न्यायालय है और इसे थलसेनाध्यक्ष के अधिपत्र द्वारा केन्द्र सरकार या थलसेनाध्यक्ष द्वारा बुलाया जा सकता है। सामान्य सेना न्यायालय में कम से कम 5 अधिकारी बैठने चाहिए। सामान्य सेना न्यायालय उपर्युक्त अधि नियमों के अधीन किन्हीं सेनाकर्मियों पर उनके अधीन दंडनीय अपराध के लिए विचारण कर सकता है और उन्हें दंड दे सकता है। इस प्रकार के सेना न्यायालय अपनी ही कमान के अधिकारियों और कर्मचारियों के विचारण के लिए बिठाए जाते हैं।

जिला सेना न्यायालय किसी ऐसे अधिकारी द्वारा जिसे सामान्य सेना न्यायालय संयोजित करने का अधिकार है या इसके लिए शक्तिप्राप्त किसी अन्य अधिकारी द्वारा संयोजित किया जा सकता है। यह अधिनियम में दंडनीय किसी अपराध के लिए किसी अधिकारी या जे.सी.ओ. का विचारण कर सकता है और मृत्युदंड, आजीवन करावास या दो वर्ष से अधिक के कारावास को छोड़कर अधिनियम द्वार प्राधिकृत कोई भी दंड दे सकता है।

संक्षिप्त समाान्य सेना न्यायालय केन्द्र सरकार के आदेश द्वारा शक्ति प्रदत्त अधिकारी या सेनाध्यक्ष या ऐसे ही अन्य अधि कारियों द्वारा संयोजित किया जा सकता है। संक्षिप्त सामान्य सेना न्यायालय में कम से कम तीन अधिकारी होते हैं। इसकी शक्तियां सामान्य सेना न्यायालय के समान ही हैं और यह भी अधिनियम के अधीन उसमें दंडनीय किसी अपराध के लिए किसी व्यक्ति का विचारण कर सकता है और अधिनियम में प्राधिकृत कोई दंड दे सकता है।

संक्षिप्त सेना न्यायालय किसी कोर विभाग या नियमित सेना की उस टुकड़ी के कमान अफसर की अध्यक्षता में लगाया जाता है जिससे अभियुक्त संबद्ध है। संक्षिप्त सेना न्यायालय की कार्रवाइयों में अद्योपांत कम से कम दो और व्यक्ति उपस्थित रहते हैं जो या तो अधिकारी स्तर के होते हैं या जे.सी.ओ. अथवा दोनो स्तरों के एक एक। संक्षिप्त सेना न्यायालय अधिनियम के दंडनीय किसी भी अपराध या विचारण कर सकता है। यदि कोई ऐसे गंभीर कारण हों जिन पर तत्काल कार्रवाई करना आवश्यक हो तो संक्षिप्त सेना न्यायालय किसी अधिकारी, जे.सी.ओ. या वारंट अफसर के अतिरिक्त सेना न्यायालय लगाने वाले किसी अन्य अफसर की कमान के अधीन किए गए अपराधों का विचारण भी कर सकता है। संक्षिप्त सेना न्यायालय मृत्युदंड, आजीवन कारावास या एक वर्ष से अधिक के कारावास को छोड़कर, ऐसा कोई भी दंड दे सकता है जो आरोपित अपराध के लिए अधिनियम के अधीन दिया जा सकता है। सेना न्यायालय को गठित करने वाले व्यक्तियों की अर्हताएं संबंधित अधिनियमों में निर्धारित हैं।

सशस्त्र बलों में एक पद है जिसे न्यायाधीश महाधिवक्ता कहा जाता है। अधिनियमों में यह व्यवस्था है कि प्रत्येक सामान्य सेना न्यायालय और प्रत्येक डिस्ट्रिक्ट या संक्षिप्त सेना न्यायालय में न्यायाधीश महाधिवक्ता के विभाग का न्यायाधीश अधिवक्ता उपस्थित रहेगा या यदि ऐसा अधिकारी उपलब्ध न हो तो न्यायाधीश महाधि वक्ता या उसके अधीनस्थ अधिकारियों द्वार अनुमोदित कोई अन्य अधिकारी उपस्थित रहेगा। उसकी भूमिका सलाहकार की है और अभियोजन तथा अभियुक्त दोनों को हर समय, न्यायालय के भीतर और बाहर विधि के प्रश्नों पर उसकी राय जानने का हक है।

न्यायाधीश अधिवक्ता के कार्य इस प्रकार हैं:

1. किसी सेना न्यायालय में कार्य करने के लिए नामित हो जाने के बाद, अभियोजन पक्ष तथा अभियुक्त, दोनों को, हर समय, आरोप अथवा विचारण से संबंधित विधि के किसीप्रश्न पर उसकी राय जानने का हक है, भले ही वह न्यायालय में उपस्थितत हो या न्यायालय के बाहर हो। यदि वह न्यायालय में है तो उसकी राय न्यायालय की अनुमति लेकर ही प्राप्त की जा सकती है;

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

2. यदि आरोप या कार्रवाइयों में कोई अनियमितता है तो यह उसका उत्तरदायित्व है कि न्यायालय को इसकी जानकारी दे। यदि आरोप अथवा न्यायालय के गठन में कोई त्रुटि या दोष हो तो उसे संयोजन अधिकारी और न्यायालय को इसकी जानकारी देनी चाहिए, चाहे उससे यह पूछा गया हो या नहीं। साथ ही, उसे न्यायालय के समक्ष किसी भी विषय पर अपनी सलाह देनी चाहिए;

3. विचारण के दौरान उठने वाले विधि, व्यवहार या प्रक्रिया के किसी प्रश्न पर यदि न्यायालय उससे पूछे तो उसे अपनी राय देनी चाहिए;

4. संबोधनों की समाप्ति के बाद, न्यायाधीश, अधिवक्ता साक्ष्य का समाहार करता है और न्यायालय अपने निष्कर्षों पर विचार के लिए उठे, इससे पहले, उस मामले से संबंधित विधि के बारे में न्यायालय को अपनी सलाह देता है;

5. न्यायालय की अध्यक्षता करने वाले अधिकारी के समान, न्यायधीश अधिवक्ता का भी यह उत्तरदायित्व है कि वह इस बात का ध्यान रखे कि अभियुक्त अपनी स्थिति, अज्ञान या साक्षियों के परीक्षण अथवा प्रतिरक्षा की अपनी असामर्थ्य या अन्य किसी कारण से नुकसान न उठाए और इस प्रयोजन के लिए, सच्चाई का पता लगाने के लिए आवश्यक अथवा वांछनीय समझे, न्यायालय की अनुमति लेकर, साक्षियों को बुलाए और उनसे प्रश्न करें;

6. वह जिस समय, तारीख और स्थान पर सेना न्यायालय बैठ रहा है, वहां अभियोजन पक्ष और अभियुक्त, दोनों के लिए साक्षियों को हाजिर होने के लिए समन करता है।अपने कर्तव्यों के निर्वाह में न्यायाधीश अधिवक्ता को पूरी निष्पक्षता बरतना जरूरी है। उसके लिए जरूरी है कि वह स्वयं को न्याय का अभिकर्ता समझे और उसी विस्तार तक हस्तक्षेप करे जिस विस्तार तक करने के लिए स्वयं न्यायालय बाध्य है। बंदी के प्रति अपने कर्तव्य के विषय में वह उससे अधिक कुछ करने के लिए बाध्य नहीं है जितना कि स्वयं न्यायालय द्वारा किया जा रहा है। न्यायालय न्याय देने के लिए होता है। इस बात का ध्यान रखना उसका उत्तरदायित्व है कि वादी अपने अज्ञान, अनुभवहीनता अथवा असामर्थ्य के कारण किसी नुकसान में न रहे।

न्यायिक समीक्षा और अपील पुनरीक्षण :

उपर्युक्त अधिनियमों के अधीन, किसी अधिनियम के अधीन कोई व्यक्ति जो किसी सेना न्यायालय द्वारा पारित किसी आदेश द्वारा शासित है, उस सेना न्यायालय के निष्कर्ष या उसके द्वारा दिए गए दंड की पुष्टि करने की शक्ति से संपन्न अधिकारी या प्राधिकारी को याचिका प्रस्तुत कर सकता है और पुष्टिकर्ता प्राधिकारी सेना न्यायालय द्वारा पारित आदेश की यथार्थता, वैधता अथवा उपयुक्तता या उस आदेश से संबंधित किसी कार्रवाई और दिए गए दंड की नियमितता के विषय में स्वयं को संतुष्ट करने के लिए जो भी कदम उठाना आवश्यक समझे, उठा सकता है। कोई व्यक्ति जो सेना न्यायालय के निष्कर्ष या उसके द्वारा दिए गए ऐसे दंड से जिसकी पुष्टि हो चुकी है, व्यथित है केन्द्र सरकार, थल सेनाध्यक्ष अथवा किसी ऐसे विहित अधिकारी को जो कमान में उस अधिकारी से वरिष्ठ हो जिसने इस प्रकार के निष्कर्ष अथवा दंड की पुष्टि की है, आगे और एक याचिका प्रस्तुत कर सकता है जिस पर याचिका ग्रहण करने वाला अधिकारी जो उचित समझे, आदेश दे सकता है।

सशस्त्र बलों से संबंधित किसी विधि के द्वारा अथवा उसके अधीन गठित किसी अधिकरण द्वारा किसी हेतुक या मामले पर दिए गए निर्णय, डिक्री या अवधारण, दंड अथवा आदेश के विरूद्ध अपील करने की अनुमति देने से भारत के संविधान ने उच्चतम न्यायालय को स्पष्ट तथा अपवर्जित कर दिया है। इसी प्रकार, उच्च न्यायालयों को सशस्त्र बलों से संबंधित किसी विधि के द्वारा अथवा उसके अधीन गठित किसी न्यायालय या अधिकरण का अधीक्षण करने की शक्तियों का प्रयोग करने से निवारित कर दिया गया है। सिविल न्यायलयों के अहस्तक्षेप के पीछे तर्क स्पष्टतया इस विचार पर आधारित है कि सैनिक अधिकरणों को विवाद की पूरी जानकारी है और वे अभियुक्त तथा अभियोजकों के प्रति उचित तथा निष्पक्ष न्याय करेंगे।

अपील का अधिकार न होने पर भी, सैनिक अधिकरण, एक सीमा तक, उच्च न्यायालय और उच्चतम न्यायालय के नियंत्रण और पर्यवेक्षण के अधीन हैं।

भारत के संविधान के अनुच्छेद 32 और 226 के अधीन भारत के उच्चतम न्यायायल और उच्च न्यायालयों को संविधान के भाग 3 द्वारा प्रदत्त मूल अधिकारों के प्रवर्तन के लिए अपनी अधिकारिता वाले पूरे राज्य क्षेत्र में किसी व्यक्ति या प्राधिकारी को कोई निदेश, आदेश या बंदी प्रत्यक्षीकरण, परमादेश, प्रतिषेध या अधिकार-पृच्छा और उत्प्रेषण जैसी रिट या इनमें कोई भी जारी करने की शक्ति है। संविधान के अनुच्छेद 136(2) और 227 की रोक का उल्लेख संविधान के अनुच्छेद 32 या 226 में नहीं है और इस प्रकार, सेना न्यायालय भारत के संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन उच्च न्यायालय की तथा अनुच्छेद 32 के अधीन उच्चतम न्यायालय की रिट अधिकारिता के अध्यधीन हैं। संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन उच्चतम न्यायलय की और अनुच्छेद 226 के अधीन उच्च न्ययालयों की रिट अधिकारिताओं के बीच एक महत्वपूर्ण अंतर है। वह यह कि जहां उच्च न्यायालय संविधान में प्रत्याभूत मूल अधिकारों के प्रवर्तन के लिए ही अपनी रिट अधिकारिता का प्रयोग कर सकता है वहां उच्च न्यायालय की अधिकारिता कही अधिक व्यापक है और वह केवल मूल अधिकारों के प्रवर्तन के लिए ही नहीं बल्कि किसी भी अन्य प्रयोजन से रिट प्रदान कर सकता है।

यदि सेना अधिनियम के अधीन दंडित कोई अधिकारी/व्यक्ति अनुच्छेद 226 के अधीन उच्च न्यायालय की शरण में

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

जाता है और उच्च न्यायालय उस मामले पर अपना निर्णय दे देता है तो संबंधित पक्षों में से कोई भी पक्ष संविधान के अनुच्छेद 136 के अधीन न्यायालय में जा सकता है। तब यह मामला सेना न्यायालय के अधिनिर्णय के विरूद्ध अपील नहीं माना जाएगा बल्कि उच्च न्यायालय के निर्णय के विरूद्ध अपील माना जाएगा।

विदेशी मुद्रा अपील बोर्ड

विदेशी मुद्रा अपील बोर्ड की स्थापना विदेशी मुद्रा विनियमन अधिनियम, 1973 की धारा 52 में उपबंधित रीति से की गई है। कोई व्यक्ति जो विदेशी मुद्रा विनियमन अधिनियम, 1973 के अधीन भंग या अपराध के लिए उक्त अधिनियम की धारा 50 और 51 के अधीन पारित किसी अधिनियम के आदेश से व्यथित है, उक्त आदेशों के 45 दिन के भीतर, तथ्य और विधि दोनों के प्रश्नों पर, विदेशी मुद्रा विनियमन अपील बोर्ड के समक्ष अपील कर सकता है। **बोर्ड का प्रमुख स्थान नई दिल्ली में है।**

बोर्ड का एक अध्यक्ष है। यह ऐसा व्यक्ति होता है जो कम से कम दस वर्ष तक सिविल न्यायिक पद पर रहा हो जो केन्द्रीय विधिक सेवा, वर्ग1, का कम से कम तीन वर्ष तक सदस्य रहा हो या जिसने कम से कम दस वर्ष तक अधिवक्ता के रूप में विधि व्यवसाय किया हो। अध्यक्ष के अतिरिक्त इसमें अन्य व्यक्ति होते हैं जिन्हें सदस्य कहते हैं, इनकी संख्या चार से अधिक नहीं होती।

बोर्ड की शक्तियों और कृत्यों का अध्यक्ष तथा एक अन्य सदस्य अथवा अध्यक्ष द्वारा गठित दो सदस्यों की पीठ निर्वहन करती है।

बोर्ड को पुनरीक्षण करने की शक्तियां भी हैं। यह स्वप्रेरणा से अथवा अन्यथा, न्यायनिर्णायक अधिकारी के किसी आदेश की बैधता, औचित्य अथवा शुद्धता की जाँज करने के लिए न्यायनिर्णायक अधिकारी के समक्ष हुई किन्हीं कार्रवाइयों का अभिलेख मंगा सकता है और ऐसा आदेश पारित कर सकता है जो वह ठीक समझे।

बोर्ड, संबंधित पक्षों को सुनने और जो अलिखित जांच उचित समझे वह कराने के बाद, अधिनिर्णय के आदेश की पुष्टि कर सकता है, उसमें उपांतर कर सकता है या उसे अपास्त कर सकता है।

CEGAT एकाधिकार आयोग, उपभोक्ता परिवाद निवारण आयोग से भिन्न, इस बोर्ड के आदेश के विरुद्ध उच्च न्यायालय में केवल विधि के प्रश्न पर ही अपील की जा सकती है, जो आदेश प्राप्त होने के तारीख के 60 दिन के भीतर कर दी जानी चाहिए।

बोर्ड के तथ्य संबंधी निष्कर्षों या जुर्माने अथवा दंड में वृद्धि अथवा कमी के आदेश को चुनौती देने वाली अपील का उपबंध नहीं है। विदेशी मुद्रा अपील बोर्ड का आदेश ही अंतिम होता है। इन मामलों में, बोर्ड के आदेश या अपील में किए गए उच्च न्यायालय के आदेश के विरूद्ध संविधान के अनुच्छेद 136 के अधीन उच्चतम न्यायालय की असाधारण अधिकारिता के अधीन उच्चतम न्यायालय में जाने पर रोक कोई नहीं है।

दृष्टि IAS

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

तस्करों की जब्त संपत्ति के लिए अपील अधिकरण

1976 में केन्द्र सरकार ने तस्कर तथा विदेशी मुद्रा छलसाधक (संपत्ति जब्ती) अधिनियम पारित किया जिसका उद्देश्य तस्करों और विदेशी मुद्रा के छलसाधकों द्वारा अवैध रूप से अर्जित की गई संपत्ति की जब्ती के लिए उपबंध करना था। इस प्रकार की जब्ती केन्द्र सरकार द्वारा उपर्युक्त अधिनियम के अधीन नियुक्त सक्षम प्राधिकारी के आदेश से की जा सकती है। इस प्राधिकारी को संपत्ति जब्त करने और कतिपय मामालों में उसके स्थान पन जुर्माना करने तथा किन्हीं न्यासों के विरूद्ध आरोप लगाए जाने की स्थिति में, इन न्यासों की संपत्तियों में निवेश के स्रोतों की जांच करने और ऐसी संपत्तियों को भी जब्त करने की शक्ति है।

अधिनियम के अनुसार व्यथित पक्ष उपर्युक्त किसी कार्रवाई के विरूद्ध एक अपील अधिकरण में अपील कर सकता है जिसका गठन केन्द्र सरकार ने इस अधिनियम के अधीन अपीलों की सुनवाई के लिए किया है। अधिकरण में एक अध्यक्ष और केन्द्र सरकार जितने आवश्यक समझे उतने सदस्य होते हैं। वर्तमान में, अधिकरण में एक अध्यक्ष और दो अन्य सदस्य हैं।

अधिनियम के अनुसार व्यथित पक्ष उपर्युक्त किसी कार्रवाई के विरूद्ध एक अपील अधिकरण में अपील कर सकता है जिसका गठन केन्द्र सरकार ने इस अधिनियम के अधीन अपीलों की सुनवाई के लिए किया है। अधिकरण में एक अध्यक्ष और केन्द्र सरकार जितने आवश्यक समझे उतने सदस्य होते हैं। वर्तमान में, अधिकरण में एक अध्यक्ष और दो अन्य सदस्य है।

अधिकरण का अध्यक्ष ऐसा व्यक्ति होना चाहिए जो उच्चतम न्यायालय अथवा उच्च न्यायालय का न्यायाधीश है या कभी था या नियुक्त होने के लिए अर्हताप्राप्त है। अधिकरण का मुख्यालय दिल्ली में है और सभी अपीलों की सुनवाई सामानयतया दिल्ली में ही होती है किन्तु अध्यक्ष चाहे तो लोकहित में सुनवाई मुंबई, कलकत्ता, मद्रास या किसी अन्य स्थान पर भी हो सकती है।

अपील सक्षम प्राधिकारी के आदेश में 45 दिन के भीतर की जानी चाहिए। कुछ दशाओं में अधिकरण इस अवधि के पश्चात भी अपील ग्रहण कर सकता है किन्तु पूर्वोक्त तारीख से 60 दिन के पश्चात नहीं कर सकता। अधिकरण में अपील करने के लिए कोई फीस नहीं देनी पड़ती।

अपील फाइल में हाने पर, अधिकरण अपीलधीन आदेश की पुष्टि कर सकता है अथवा उसे उपांतरित या अपास्त कर सकता है (किन्तु यदि अपलीकर्ता चाहे तो उसे सुनवाई का अवसर दने और आगे ऐसी जांच करने के पश्चात जैसी वह ठीक समझे)। अधिकरण के समक्ष होने वाली सुनवाई जनता के लिए खुली नहीं होती। सुनवाई के दौरान अपीलकर्ता का प्रतिनिधित्व उसका प्राधिकृत प्रतिनिधि कर सकता है जो कंपनी सचिव, चार्टरित लेखाकार या अधिवक्ता हो सकता है। सिविल प्रक्रिया संहिता 1908 के अधीन वाद का विचारण करत समय अधिकरण के पास सिविल न्यायालय की शक्तियां होती है।

अपीलों की निर्णय करने में अपने प्राधिकार का प्रयोग करने के लिए अधिकरण सीमा शुल्क तथा केन्द्रीय उत्पाद शुल्क विभाग, आयकर विभाग, विदेशी मुद्रा विनियमन अधिनियम, 1973 के अधीन नियुक्त प्रवर्तन निदेशालय तथा पुलिस विभाग की सहायता मांग सकता है।

अधिकरण द्वार पारित किसी आदेश के विरूद्ध कोई अपील नहीं की जा सकती और ऐसे किसी मामले के संबंध में जिसके अवधारण की सामर्थ्य अधिकरण को है सिविल न्यायालय को अधिकारिता नहीं है। इस प्रकार यदि अपीलकर्ता अधिकरण के किसी आदेश से संतुष्ट नहीं है तो वह या तो अनुच्छेद 226 अथवा अनुच्छेद 32 के अधीन क्रमशः उच्च न्यायालय अथवा उच्चतम न्यायालय में रिट याचिका कर सकता है या संविधान के अनुच्छेद 136 के अधीन उच्चतम न्यायालय जा सकता है।

आयकर अपील अधिकरण

आयकर अपील अधिकरण इस समय आयकर अधिनियम, 1961 के अधीन गठित है। इसमें उतने न्यायिक तथा लेखाकर सदस्य होते हैं जितने केन्द्र सरकार उचित समझे। इनकी नियुक्ति केन्द्र सरकार द्वारा की जाती है। इसका न्यायिक सदस्य वह व्यक्ति नियुक्त किया जा सकता है जो (क) भारत के राज्य क्षेत्र में कम से कम दस वर्ष तक किसी न्यायिक पद पर रहा है या (ख) जो कम से कम दस वर्ष से अधिवक्ता के रूप में कार्य कर रहा है। इसी प्रकार लेखाकार सदस्य के रूप में नियुक्ति के लिए आवश्यक है कि व्यक्ति या तो चार्टरित लेखाकार के रूप में 10 वर्ष से कार्य कर रहा हो या आयकर सेवा वर्ग 'क' का सदस्य है और तीन वर्ष तक आयकर आयुक्त के पद पर कार्यरत रहा है। अधिकरण का अध्यक्ष सामान्यतया न्यायिक सदस्यों में से नियुक्त किया जाता है। अधिकरण के पीठ अहमदाबाद, इलाहाबाद, मुंबई, कलकत्ता, दिल्ली, मद्रास आदि नगरों में है। **यह अधिकरण विधि मंत्रालय के अधीन कार्य करता है**, वित्त मंत्रालय के अधीन नहीं। अतः यह कोई आयकर प्राधिकरण नहीं है। इससे इसके सदस्यों की निर्णय लेने की स्वतंत्रता सुनिश्चित होती है और कर निर्धारितियों में अधिकरण के प्रति विश्वास उत्पन्न होता है।

उप-आयुक्त (अपील), आयुक्त (अपील), आयकर आयुक्त, मुख्य आयुक्त, महानिदेशक या किसी निदेशक के आदेश के विरूद्ध व्यथित पक्षकार 60 दिन के भीतर अधिकरण के समक्ष अपील कर सकता है। अधिकरण में अपील करने के लिए 1,00,000 रु. तक की आय वाले निर्धारितियों को मात्र 250 रु. फीस देनी होती है। 1,00,000 रु. से अधिक आय वालों को 1500 रु. फीस देनी पड़ती है।

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

अपील के दोनों पक्षकारों को सुनवाई का अवसर प्रदान करने के बाद ही अधिकरण मामले का निर्णय करता है। यदि पक्ष सुनवाई के समक्ष उपस्थित न हों तो या तो अपील स्थगित कर दी जाती है या उसकी एकपक्षीय सुनवाई की जाती है। निर्धारिती को स्वयं अथवा वकील आदि किसी प्राधिकृत अभिकर्ता के माध्यम से अधिकरण के समक्ष उपस्थित होने का हक है। अधिकरण न्यायालयों के मामलें में लागू होने वाले साक्ष्य के नियमों से बंधा नहीं है और वह अपनी प्रक्रिया स्वयं विनियमित कर सकता है। वह पक्षों को मौखिक सुनवाई देकर उचित आदेश पारित करता है। अधिकरण के आदेश लिखित रूप में होते हैं और उस पर पीठ के सदस्य हस्ताक्षर करते हैं। ये आदेश निर्धारिती तथा आयकर आयुक्त, दोनों को प्रेषित किए जाते हैं।

अधिकरण के समक्ष होने वाली कार्रवाई न्यायिक कार्रवाई मानी जाती है और अधिकरण को सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 के अधीन सिविल न्यायालय की शक्तियां हैं। वह मिथ्या साक्ष्य प्रस्तुत करने वाले अथवा ऐसी साक्ष्य कूट रचनाा करने वाले व्यक्तियों पर अभियोग चलाने का निदेश दे सकता है और उन्हें भारतीय दंड संहिता, 1860 के अधीन दंडित किया जा सकता है।

अधिकरण अपनी अवमानना के लिए उचित कार्रवाई भी कर सकता है। यह लेखाबहियों की परिबद्ध एवं प्रतिधारित कर सकता है। अधिकरण अपनी अपील अधिकारिता के प्रति प्रासंगिक अथवा अनुषांगिक मानते हुए किसी अपील का निर्णय होने तक वसूली की प्रक्रिया पर रोक भी लगा सकता है।

तथ्य के प्रश्नों पर अधिकरण के निर्णय अंतिम होते हैं। अधिनियम के अधीन विधि के प्रश्नों पर भी अधिकरण के निर्णय के विरूद्ध अपील करने का उपबंध नहीं है किन्तु किसी भी पक्षकार के अनुरोध पर उच्च न्यायालय को निर्देश किया जाता है और यदि अधिकरण की राय में किसी विधिक प्रश्न पर उच्च न्यायालयों का मत भिन्न-भिन्न है तो विधि के उस प्रश्न पर सीध उच्चतम न्यायालय को निर्देश किया जा सकता है। अधिकरण द्वारा प्रेषित निर्देश के ऊपर उच्च न्यायालय के निर्णय की अपील उस दशा में उच्चतम न्यायालय में की जा सकती है जब उच्च न्यायालय उसे उच्चतम न्यायालय में अपील के योग्य होने का प्रमाणपत्र दे। व्यथित पक्ष किसी आदेश के विरूद्ध संविधान के अनुच्छेद 136 के अधीन उच्चतम न्यायालय की अधिकारिता का अवलंब ले सकता है।

राष्ट्रीय हरित न्यायाधिकरण

पर्यावरण संबंधी मामलों की सुनवाई के लिए अलग से एक राष्ट्रीय हरित न्यायाधिकरण (National Green Tribunal - NGT) अक्टूबर, 2010 में अस्तित्व में आ गया है। इसके गठन की अधिसूचना 18 अक्टूबर 2010 को जारी की गई। सर्वोच्च न्यायालय के सेवा निवृत्त न्यायाधीश न्यायमूर्ति लोकेश्वर सिंह पांटा को न्यायाधिकरण का गठन राष्ट्रीय हरित न्यायाधिकरण अधिनियम 2010 के तहत किया गया है। इसके लिए राष्ट्रीय हरित न्यायाधि करण विधेयक संसद के दोनों सदनों में मई 2010 में पारित किया गया था तथा राष्ट्रपति ने इसका अनुमोदन 2 जून 2010 को किया था।

नवगठित न्यायाधिकरण को उच्च न्यायालय का दर्जा दिय गया है तथा इसका मुख्यालय दिल्ली में स्थापित किया गया है तथा इसकी चार पीठें विभिन्न शहरों में स्थापित की जाएंगी।

– राष्ट्रीय हरित न्यायाधिकरण में कुल 20 सदस्य होंगे जिसमें 10 सदस्य न्यायिक क्षेत्र से तथा 10 शेष सदस्य पर्यावरणीय मामलों में विशेषज्ञता रखने वाले होंगे। सभी न्यायिक सदस्य हाई कोर्ट के सेवानिवृत्त न्यायाधीश होंगे तथा न्यायाधिकरण के अध्यक्ष के रूप में सुप्रीम कोर्ट के पूर्व न्यायाधीश या हाईकोर्ट के पूर्व मुख्य न्यायाधीश नियुक्त किए जाएंगे। इस न्यायाधिकरण के अध्यक्ष तथा अन्य सदस्यों का कार्यकाल 5 वर्ष का होगा तथा वे दोबारा इस पद पर नहीं चुने जा सकेंगे।

पर्यावरण कानूनों का उल्लंघन करने वालों पर न्यायाधि करण को तीन वर्ष तक के कारावास व 10 करोड़ रुपये (कॉर्पोरेट मामलों में 25 करोड़ रुपए) तक की सजा का अधिकार इस न्यायाधिकरण को होगा। राष्ट्रीय हरित न्यायाधिकरण के अस्तित्व में आने से पूर्व में कार्यरत नेशनल एन्वायरन्मेंट एपीलेट अथॉरिटी को अब समाप्त कर दिया जाएगा तथा इसके अधीन विचाराधीन मामले अब स्वत: ही हरित न्यायाधिकरण में स्थानांतरित हो जाएंगे। विभिन्न उच्च न्यायालयों में भी लंबित पर्यावरण संबंधी मामले अब नवगठित न्यायधिकरण में स्थानांतरित हो जाएंगे। आस्ट्रेलिया व न्यूजीलैण्ड के बाद भारत विश्व में तीसरा ऐसा देश है, जहाँ पर्यावरण संबंधी मामलों की सुनवाई के लिए अलग से न्यायालय की स्थापाना की गई है। न्यायाधिकरण के फैसलों के विरूद्ध अपील सर्वोच्च न्यायालय में की जा सकेगी।

IAS

संघात्मक व्यवस्था

संघ और राज्यों के बीच विधायी संबंध :

संविधान के भाग 11 के अध्याय 1 में संघ और राज्यों के बीच विधायी शक्तियों के बंटवारे की व्यवस्था की गई है।

भारतीय संविधान में स्पष्ट रूप से संघीय सरकार और प्रत्येक इकाई-राज्य द्वारा बनाए गए कानूनों की क्षेत्राधिकार सीमा निर्धारित कर दी गई है। अनु. 245 के अनुसार, इस संविधान के अन्य उपबंधों के अधीन रहते हुए संसद (केन्द्रीय व्यवस्थापिका) सम्पूर्ण भारतीय राज्य-क्षेत्र या उसके किसी भाग के लिए तथा राज्य का विधानमंडल (इकाई राज्य की व्यवस्थापिका) उस राज्य क्षेत्र के संपूर्ण या उसके किसी भाग के लिए कानून बना सकता है।

इसका तात्पर्य यह है कि, भारतीय संसद द्वारा बनाए गए कानून सम्पूर्ण भारत भूमि पर निवास कर रहे व्यक्तियों, संस्थाओं तथा उनकी संपत्ति पर लागू होंगे। संसद विदेशों में रह रहे अनिवासी भारतीय (NRIs) तथा भारतीय मूल के लोगों (P.I.O.) दोनों के लिए कानून बना सकती है लेकिन राज्यों द्वारा बनाए गए कानून केवल उस राज्य की भौगोलिक सीमाओं में ही लागू होंगे, उसके प्रभाव का विस्तार कभी राज्य की भौगोलिक सीमा के बाहर तभी होगा जब संसद ऐसा विस्तार करने की अनुमति कानून बनाकर दे।

भारत सामाजिक विभिन्नताओं का देश है, इन विभिन्नताओं के कारण कुछ विशिष्ट राजनीतिक/संवैधानिक प्रावधानों का निर्माण करना पड़ा है। इन विशिष्ट संवैधानिक प्रावधानों के कारण संसद द्वारा बनाए गए कानूनों की भौगोलिक अधिकारिता संविधान के कुछ प्रावधानों द्वार मर्यादित है, जो इस प्रकार है :

1. अंडमान एवं निकोबार द्वीप, लक्षद्वीप, दादरा व नगर हवेली तथा दमन व दीव में राष्ट्रपति द्वारा बनाए गए विनियमों का वही प्रभाव होगा जो संसद द्वारा बनाए गए कानूनों का होता है। राष्ट्रपति अपने विनियम (आदेश) से संसद द्वारा बनाए गए किसी भी कानून को इन क्षेत्रों में लागू होने से रोक सकते हैं या उसे कुछ संशोधनों के साथ लागू कर सकते हैं। (अनु.) 240(2)।

2. ऐसा कोई इकाई राज्य, जहां कोई ' अनुसूचित क्षेत्र' है वहां का राज्यपाल संसद के किसी कानून को किसी भी अनुसूचित क्षेत्र में लागू होने से अधिसूचना द्वारा रोक सकता है या उस कानून में संशोधन कर सकता है (पांचवी अनुसूची का पैरा 5)।

3. असोम के राज्यपाल को यह अधिकार है कि वह लोक अधिसूचना द्वारा यह निर्देश दे कि संसद का कोई अधि नियम असोम राज्य के सभी स्वशासी जिले को या किसी स्वशासी क्षेत्र को लागू नहीं होगा अथवा ऐसे जिले या क्षेत्र या उसके किसी भाग को ऐसे परिवर्तनों के साथ लागू होगा, जिसका वह अधिसूचना में उल्लेख करे (छठी अनुसूची का पैरा 12(1))(ख)।

4. राष्ट्रपति को यह अधिकार है कि, वह संसद द्वारा बनाए गए कानूनों को मेघालय, त्रिपुरा तथा मिजोरम के स्वशासी जिलों या क्षेत्रों में लागू होने से रोक दे या उस कानून को संशोधनों के साथ लागू करे (छठी अनुसूची के पैरा 12 क, 12 क(क)) तथा 12 ख द्वारा यह अधिकार राष्ट्रपति को दिया गया है।)।

संसद द्वारा बनाए गए कानूनों के कतिपय क्षेत्रों में लागू होने से रोकने की उपरोक्त व्यवस्था इसलिए की गई है कि, ये क्षेत्र अत्यंत पिछड़े हैं, जिनसे सामान्य कानून लागू करने में यहां कठिनाई आएगी या उसके कुछ दुष्परिणाम भी निकल सकते हैं।

संसद द्वारा बनाई गई विधियां भारत के सभी इकाई राज्यों तथा केन्द्र शासित प्रदेशों में लागू होंगी। संसद और राज्य के विध ानमंडलों को किन विषयों पर कानून बनाना है, इसका स्पष्ट उल्लेख संविधान के अनु. 246 में है।

अनु. 246(1) के अनुसार, संसद को 'संघ सूची' के विषयों (जिसका विस्तार से वर्णन संविधान की 7वीं अनुसूची में सूची 1 के अंतर्गत किया गया है) पर कानून बनाने का अधिकार है। सम्प्रति, इसमें 97 विषय हैं। संघ सूची में उन विषयों को रखा गया है जो सम्प्रभुता से जुड़ी हैं और जिनके लिए पूरे देश में एकमात्र कानूनों की आवश्यकता है।

अनु. 246(2) के अनुसार संसद और प्रत्येक राज्य के विधानमंडल को (दोनों को) यह अधिकार है कि वह 'समवर्ती सूची' (सातवीं अनुसूची की सूची 3 में वर्णित) के किसी भी विषय पर कानून बना सकते हैं। लेकिन यदि कभी संसद और राज्य विधानमंडल समवर्ती सूची के किसी एक ही विषय पर दो अलग-अलग प्रकार के कानून बनाएं या राज्य विधानमंडल द्वार बनाया गया कानून, उसी विषय पर संसद द्वारा पूर्व में बनाए गए कानून के प्रावधानों के विरूद्ध या विपरीत या असंगत हो तो ऐसी दशा में संसद द्वारा उस विषय पर बनाया गया कानून मान्य होगा और राज्य विधानमंडल द्वारा पारित या निर्मित कानून उस सीमा तक अवैध या अमान्य होगा जिस सीमा तक वह संसद द्वारा बनाए गए कानून से असंगत हो। यदि किसी परिस्थिति में राज्य के लिए यह आवश्यक हो जाए कि, वह ऐसा कानून बनाए जो संसद द्वार समवर्ती सूची के किसी विषय पर पहले बनाए गए कानून से भिन्न प्रावधान रखता है तो राज्य के पास केवल एक उपाय है।

राज्य को ऐसी स्थिति में विधानमंडल में ऐसा विधेयक प्रस्तुत करने के पूर्व भारत के राष्ट्रपति से अनुमति लेनी होगी। राष्ट्रपति इस बात पर विचार करेगा कि, क्या उस राज्य में संसदीय

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

प्रावधान से भिन्न प्रावधान वाले कानून की आवश्यकता है? यदि राष्ट्रपति को ऐसी आवश्यकता प्रतीत होती है तो वह अनुमति दे सकता है ओर वह राज्य समवर्ती सूची के किसी विषय पर ऐसा कानून बना सकता है जो संसद द्वारा उसी विषय पर बनाए गए कानून से भिन्न प्रावधान रखता है। ऐसा कानून केवल उसी राज्य में मान्य होगा जिसने ऐसी अनुमति राष्ट्रपति से ली है। परन्तु बाद में संसद इस प्रकार राज्य विधानमंडल द्वार निर्मित विधि को अनुमति न दे तो राज्य विधानमंडल के पास कोई अन्य विकल्प नहीं है और वह ऐसा कोई कानून नहीं बना पाएगा जिसके प्रावधान संसदीय प्रावधानों से भिन्न हों। राष्ट्रपति की अनुमति विधेयक पारित होने के बाद भी ली जा सकती है, लेकिन तब राज्यपाल ऐसे विधेयक को राष्ट्रपति के विचारर्थ आरक्षित करेगा और उसकी अनुमति मिल जाने पर ही वह विधेयक विधि का रूप धारण करेगा (अनु. 254(2))। पूर्व अनुमति लेना बेहतर है क्योंकि यदि विधेयक पारित होने के बाद राष्ट्रपति ने अनुमति देने से इनकार कर दिया तो विध ानमंडल का पूरा प्रयास ही व्यर्थ हो जाएगा। समवर्ती सूची का प्रावधान हमने आस्ट्रेलिया से ग्रहण किया है। सम्प्रति, इसमें 52 विषय हैं।

अनु. 246(3) के अनुसार, प्रत्येक इकाई राज्य को 'राज्यसूची' (सातवी अनुसूची की सूची 2 में वर्णित) में वर्णित सभी विषयों पर कानून बनाने का अधिकार होगा। सम्प्रति, इसमें 61 विषय हैं।

संघ शासित प्रदेशों के लिए संघ, राज्य एवं समवर्ती सूची के विषयों पर कानून बनाने का अधिकार भारत की संसद को है (अनु. 246 (4))।

अवशिष्ट विधायी शक्तियां (अनु. 248):

ऐसा कोई विषय जिसका वर्णन संघ, राज्य समवर्ती सूची में न हो, उसे 'अवशिष्ट विषय' कहते हैं। ऐसा विषयों पर कानून बनाने का अधिकार केवल संसद को है। अवशिष्ट विषयों पर केन्द्रीय संसद को कानून बनाने का अधिकार हमने कनाडा के संविधान से ग्रहण किया है।

अमेरिका और आस्ट्रेलिया में अवशिष्ट विधायी शक्तियाँ राज्यों के अधिकार हैं। अवशिष्ट सूची के विषय वे होंगे जो भविष्य में परिस्थितिवश उत्पन्न होंगे जिनपर कानून बनाने की आवश्यकता होगी। ऐसा सभी विषय प्रारंभिक रूप से संघ के अधीन होंगे लेकिन संघ चाहे तो ऐसा विषयों को कानून बनाकर राज्य या समवर्ती सूची में शामिल कर दे। यदि यह विवाद उत्पन्न हो जाय कि कोई विषय अवशिष्ट शक्तियों में शामिल है या नहीं, तो इसका निर्णय सर्वोच्च न्यायालय करेगा।

राष्ट्रीय हित में राज्य सूची के विषयों पर कानून निर्माण की संसद की शक्ति (अनु. 249)

भारत में संघात्मक प्रणाली होने के बावजूद भी संविधान में ऐसे अनके प्रावधान हैं जो परिस्थति विशेष में शक्तियों के वितरण का उपर्युक्त प्रणाली को स्थगित कर सकते हैं अर्थात् ऐसी परिस्थितियों में संघीय संसद की कानून बनाने की शक्ति का विस्तार राज्यों की सीमाओं तक हो जाता है जैसे राष्ट्रीय हित में यह आवश्यक हो जाय कि, राज्य सूची में वर्णित किसी विषय पर संसद कानून बनाए तो वह ऐसा कर सकती हैं, लेकिन इसके लिए राज्य सभा को अपने उपस्थित एंव मत देने वाले सदस्यों में से कम-से-कम दो-तिहाई बहुमत द्वारा संकल्प पारित करना होगा। यह राज्यसभा का अनन्य अधिकार है, जिसमें लोकसभा शामिल नहीं है। राज्य सभा राज्यों के सदन होने कारण इस अधिकार का प्रयोग करती है। जब राज्य सभा इस प्रकार का संकल्प पारित कर देगी तो संसद के लिए उस विषय पर सम्पूर्ण भारत या उसके किसी भाग के लिए कानून बनाना संभव हो सकेगा। इस प्रकार, पारित संकल्प द्वारा राज्य सूची के विषय पर बनाए गए कानून की वैधता का समय 1 वर्ष होगा, लेकिन प्रतिवर्ष संकल्प पारित करके राज्यसभा इस अवधि का विस्तार कर सकती है।

आपातकाल में राज्यसूची के विषयों पर कानून बनाने की संसद की शक्ति (अनु. 250)

अनु. 250 (1) के अनुसार, संसद को राज्यसूची के विषयों पर भारत के सम्पूर्ण राज्यक्षेत्र या उसके क्षेत्र विशेष के लिए उस समय भी कानून बनाने का अधिकार मिल जाता है जब आपातकाल (अनु. 352) लागू हो।

संसद को अनु. 356 के अंतर्गत किसी राज्य में संवैध ानिक तंत्र की विफलता की दशा में भी राज्य विधानमंडल की संपूर्ण शक्तियां मिल जाने के कारण राज्य सूची के समस्त विषयों पर विधि निर्माण का अधिकार मिल जाता है।

अनु. 360 के अंतर्गत वित्तीय आपातकाल लागू होने पर संसद को राज्य सूची के विषयों पर कानून बनाने का अधिकार तो नहीं मिल पाता, लेकिन संसद को राज्यसूची के विषयों से संबंध वित्तीय प्रशासन और तत्सम्बंधी नियंत्रण के सम्बन्ध में राज्यों को आदेश-निर्देश जारी करने का अधिकार मिल जाता है।

आपातकाल में राज्यसूची के विषयों पर संसद द्वारा बनाई गयी विधियों का विस्तार या प्रभाव आपातकाल की उद्घोषणा समाप्त/वापस होने के 6 माह बाद तक रहेगा, यदि 6 माह से पूर्व इसे निष्प्रभावी न कर दिया या हो।

अनु. 249 तथा 250 द्वारा प्राप्त शक्ति के अनुपालन में जब संसद कानून बनाती है तो उस विषय पर राज्यों द्वारा पूर्व बनाए गए कानून उतनी अवधि तक निष्पप्रभावी हो जाते हैं (अनु. 251) तथा संघ या संसद द्वारा बनाया गया कानून मान्य रहता है।

अनु. 249 तथा 250 द्वार प्राप्त शक्ति के अनुपालन में जब संसद कानून बनाती है तो उस विषय पर राज्यों द्वारा पूर्व में

Drishti IAS

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

बनाए गए कानून उतनी अवधि तक निष्प्रभावी हो जाते हैं (अनु. 251) तथा संघ या संसद द्वार बनाया गया कानून मान्य रहता है।

अनु. 252 के अनुसार, यदि दो या अधिक राज्यों के विध ानमंडल (विधानसभा+विधानपरिषद, यदि विधानपरिषद हो तब) यह संकल्प पारित कर दें कि, राज्यसूची के किसी विषय या विषयों पर संसद को कानून बनाने की आवश्यकता है तो संसद उस विषय पर कानून बना सकती है। इस प्रकार बनाये गए कानून को कोई अन्य राज्य अपने विधानमंडल से संकल्प प्रस्ताव पारित करके स्वीकार/लागू कर सकता है। संसद द्वारा बनाए गए ऐसे कानूनों में केवल तभी संशोधन होगा जब संसद उसे संशोधित करे, राज्य विध ानमंडल को इस बारे में कोई अधिकार नहीं होगा। इस अनुच्छेद के अनुपालन में संसद ने दो बार कानून बनाया है 1953 तथा 1955 ई. में। 1953 ई. में उत्तर प्रदेश, बम्बई, पंजाब, उड़ीसा तथा मध्यप्रदेश, आदि राज्यों की सिफारिश पर संसद ने 'संपदा शुल्क अधिनियम' पारित किया था। 1955 ई. में सौराष्ट्र, पेप्सू, आन्ध प्रदेश, बम्बई, मद्रास आदि राज्यों की प्रार्थना पर संसद ने 'मूल्य प्रतिस्पर्द्धा अधिनियम' पारित किया था। इस प्रकार का प्रावधान आस्ट्रेलिया के संविधान में भी पाया जाता है। यह 'सहयोगी संघवाद' का एक उदाहरण है।

अंतर्राष्ट्रीय समझौता को लागू करने हेतु कानून बनाने की संसद की शक्ति '(अनु. 253)

संसद की किसी अन्य देश या देशों के साथ की गई किसी संधि या करार या अभिसमय अथवा किसी अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन, समझौता अथवा किसी अंतर्राष्ट्रीय संगठन में किए गए किसी निर्णय को लागू करने के लिए भारत के सम्पूर्ण राज्यक्षेत्र या उसके किसी भाग के लिए विधि बनाने की शक्ति होगी। इस संदर्भ में ससंद या केन्द्र सरकार राज्य सरकारों को आवश्यक दिशा-निर्देश जारी कर सकती है जिसका पालन राज्य सरकारों के लिए आवश्यक होगा, और पालन के अभाव में केन्द्र सरकार का यह मानना उचित होगा कि राज्य सरकार संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चल रही है और फिर ऐसी दशा में उस राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू किया जा सकता है (अनु. 365 तथा 356 देखें)। अंतर्राष्ट्रीय समझौता, कानूनों या संधियों को लागू करने की दशा में केन्द्र सरकार या संसद राज्य सूची के विषयों पर भी राज्यों को आवश्यक दिशा-निर्देश जारी कर सकती है जिसका अनुपालन अनविार्य होगा। कनाडा के संविधान में इस प्रकार का प्रावधान है।

सिफारिशों और पूर्व अनुमति/सहमति की अपेक्षाओं को केवल प्रक्रिया के विषय मानना (अनु. 255)

यदि संसद के और किसी राज्य के विधानमंडल के किसी अधिनियम को राष्ट्रपति या राज्यपाल ने अनुमति या स्वीकृति देकर कानून बना दिया तो ऐसा अधिनियम केवल इसलिए अवैध नहीं ठहराया जाएगा कि राष्ट्रपति या राज्यपाल की उस अधिनियम को बनाने के पूर्व अनुमति नहीं ली गयी थी, जबकि ऐसा करना आवश्यक था। अंतिम स्वीकृति को ही पूर्व स्वीकृति का आधार मान लिया जाएगा।

केन्द्र राज्य प्रशासनिक संबंध :

संविधान के भाग 11 के अध्याय 2 के अंतर्गत केन्द्र-राज्य प्रशासनिक संबंधों का वर्णन है। भारत में केन्द्र तथा राज्य दोनों को संघीय व्यवस्था के भीतर अपनी-अपनी सीमाओं के बीच ही काम करना है। दोनों एक-दूसरे से द्वीप समूहों की भांति पृथक-पृथक न रहें-वरन परस्पर सहयोग के साथ काम करते रहें, इसके लिए संविधान में व्यापक प्रावधान भी हैं। हमारा संविधान प्रतिस्पर्द्धात्मक संघवाद के स्थान पर सहयोगी संघवाद की स्थापना करता है।

प्रत्येक राज्य को अपनी कार्यपालिका शक्ति का इस प्रकार प्रयोग करना है कि उस राज्य में संसद द्वारा बनाई गयी विधि यों के लागू होने में कोई बाधा उपस्थित न हो (अनु. 256) तथा साथ ही संघ का भी अपनी कार्यपालिका शक्ति के क्रियान्वयन में कोई अवरोध उत्पन्न न हो (अनु. 257)। संघ अपने द्वारा बनाए गए कानूनों को लागू करने के संदर्भ में या अपनी कार्यपालिका शक्ति के प्रयोग के संदर्भ में राज्यों को काई भी आदेश-निर्देश जारी कर सकता हो। जिसका पालन अनिवार्य होगा।

यदि केन्द्र सरकार राष्ट्रीय या सैनिक महत्व के संचार साधनों के निर्माण के बारे में या रेलों के संरक्षण के संदर्भ में कोई निर्देश किसी राज्य सरकार को देती है तो राज्य सरकार उस निर्देश के अनुसार काम करेगी। लेकिन यदि केन्द्र सरकार द्वार दिए गए निर्देशों के अनुपालन में धन खर्च होता है तो वह राशि केन्द्र सरकार देगी। निर्देश जारी करते समय ही इस राशि का निर्धारण कर लिया जाएगा और यदि निर्देश का अनुपालन राज्य सरकार द्वारा किए जाने के बाद खर्च की गयी राशि को लेकर कोई विवाद उत्पन्न होता है तो उसका निर्धारण भारत के मुख्य न्यायाधीश द्वारा नियुक्त मध्यस्थ द्वारा किया जाएगा (अनु. 257 (4))।

संविधान के अनुसार, राष्ट्रपति, किसी राज्य सरकार की सहमति/स्वीकृति से उस सरकार को या उसके अधिकारियों को ऐसे किसी विषय से संबंधित कार्य, जिस पर संघ की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार है, सशर्त या बिना शर्त सौंप सकता है (अनु. 258 (1))। राज्यों की सहमति से राज्यों पर कुछ उत्तरदायित्व डालने का यह प्रावधान 'सहयोगी संघवाद' का एक उदाहरण है, लेकिन भारतीय संविधान में अनु. 258 (2) राज्यों की सहमति या स्वीकृति के बिना भी उनके ऊपर कुछ उत्तरदायित्व डालने का उपबंध करता है, जिसका निर्वहन/अनुपालन आवश्यक होगा। अनु. 258(2) के अनुसार, संसद द्वारा बनाए गए कानूनों के क्रियान्वयन का दायित्व राज्य पर या उसके अधिकारियों-प्राधिकारियों पर डाला जा सकता है, इसके लिए राज्यों की सहमति आवश्यक है।

सामान्यतया संविधान में ऐसे प्रावधान नहीं किए जाते हैं कि इकाई राज्य केन्द्र सरकार के पदाधिकारियों को राज्य से संबंधि त कोई कार्य करने को कह सके। भारतीय संविधान को लागू करते समय भी इस प्रकार का कोई प्रावधान नहीं था, लेकिन 1956 ई. में सातवें संविधान संशोधन द्वारा अनु. 258(क) जोड़कर इस प्रकार

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

का अनोखा प्रावधान कर दिया गया है, जिसके अनुसार, राज्य का राज्यपाल भारत सरकार की सहमति से उसे या उसके पदाधिकारियों को कुछ कार्य सौंप सकता है जो राज्य की कार्यपालिका शक्ति के अंतर्गत आते हैं।

इस प्रकार भारतीय संविधान के अनुसार, केवल संघ ही राज्यों के ऊपर दायित्व या कार्य आरोपित नहीं कर सकता, वरन् राज्य भी संघ के ऊपर कुछ कार्य आरोपित कर सकता है। इसमें केवल एक ही अंतर है। राज्य सरकारों को केन्द्र द्वार दिए गए दायित्वों का निर्वहन नहीं करने पर माना जाएगा कि, उस राज्य की सरकार संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चल रही है और फिर वहां राष्ट्रपति शासन लागू करने का विचार किया जा सकता है। (अनु. 365 तथा 356 के प्रावधान) लेकिन केन्द्र सरकार, राज्य सरकार द्वारा दिए गए दायित्वों को पूरा करने या मानने हेतु विवश नहीं है। राज्य सरकारें केन्द्र पर केवल कार्यपालिका संबंधी दायित्व ही नहीं डाल सकती, वरन् वे राज्य सूची के विषयों पर भी केन्द्र सरकार से स्वयं के लिए कानून बनाने का आग्रह कर सकती हैं; इसके लिए दो से अधिक राज्यों की संयुक्त प्रार्थना (केन्द्र से, कानून बनाने संबंधी) आवश्यक है (अनु. 252) जबकि केन्द्र राज्यों पर केवल कार्यपालिका संबंधी दयित्व भी डाला जा सकता है, उनसे अपने लिए, कानून बनाने को नहीं कह सकता।

भारत में केन्द्र व राज्यों के बीच सहयोग को और अधिक प्रगाढ़ बनाने हेतु और केन्द्र व सभी राज्य सरकारों के कार्यों को संपूर्ण भारत में मान्यता देने का प्रावधान अनु. 261 करता है, जिसके अनुसार, भारत के राज्यक्षेत्र में सर्वत्र संघ के और प्रत्येक राज्य के संवैधानिक कार्यों, अभिलेखों और न्यायिक कार्यवाहियों को पूरा विश्वास एवं पूरी मान्यता दी जाएगी।

अनु. 263 द्वार स्थापित अंतर्राज्य परिषद भी केन्द्र या राज्यों के बीच पारस्परिक सहयेाग का ही एक प्रयास है। अनु. 263 के अनुसार, यदि किसी समय राष्ट्रपति को यह प्रतीत हो कि अंतर्राज्य परिषद की स्थापना से लोकहित की सिद्धि होगी तो वह इसकी स्थापना कर सकता है।

अंतर्राज्य परिषद के निम्नलिखित कार्य है:

(क) राज्यों के बीच यदि कोई विवाद उत्पन्न हो गए हों तो उनकी जाँच करना और उनपर
सलाह देना,

(ख) कुछ या सभी राज्यों के अथवा संघ के और एक या अधिक राज्यों के सामान्य हित से संबंधित विषयों का अन्वेषण और उनपर विचार-विमर्श करना या

(ग) सामान्य हित से संबंधित किसी विषय पर सिफारिश करना और मुख्यतया उस विषयो के संबंध में नीति एवं कार्यवाही के अधिक अच्छे समन्वय के लिए सिफारिश करना।

अंतर्राज्य परिषद केन्द्र-राज्य संबंधों पर एक संवैधानिक सलाहकारी निकाय है, जो अपनी प्रक्रिया का निर्धारण स्वयं करती है। इस परिषद का अध्यक्ष प्रधानमंत्री होता है, सभी राज्यों के मुख्यमंत्री, विधान सभा वाले संघ शासित प्रदेशों के मुख्यमंत्री भी तथा संघ शासित प्रदेशों के प्रशासक और यदि किसी राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू है तो वहां का राज्यपाल इसकी बैठकों में सदस्य के रूप में शामिल होते हैं। केन्द्र सरकार के अधिकतम 6 मंत्री भी इसके सदस्य के रूप में शामिल हो सकते हैं वस्तुत: भारत शासन अधिनियम, 1935 की धारा 135 में इस प्रकार की परिषद् स्थापित थी, जिसमें दो या दो से अधिक प्रान्तों में चल रही योजनाओं के बारे में एक समान नीति बनाने तथा एक समान निर्णय लागू करने के लिए विशेष अधिकारी के रूप में परिषद की स्थापना की गयी थी। अनु. 263 उसी का प्रतिरूप है। संविधान निर्माताओं का विचार था कि, यह परिषद एक ऐसे प्लेटफार्म का कार्य करेगी जहां केन्द्र व राज्य मिल बैठकर अपने पारस्परिक विवादों का निपटारा करेंगे और पारस्परिक सौहार्द के साथ संघ को आगे बढ़ाएंगे।

1967 ई. तक केन्द्र व राज्यों में, दोनों ही जगह कांग्रेस का शासन था तब तक केन्द्र व राज्यों के बीच उत्पन्न होने वाले विवादों को सामान्यत: मुख्यमंत्रियों की बैठक बुलाकर या मुख्यमंत्री-प्रधानमंत्री वार्ता द्वारा या कांग्रेस हाईकमान के निर्देशानुसार हल कर लिया जाता था, परंतु 1967 ई. में चुनावों के बाद जब 9 राज्यों में गैर कांग्रेसी सरकारें बनी तो उन्होंने राज्यों के पारस्परिक विवादों तथा केन्द्र के साथ होने वाले टकरावों के समाधान हेतु अंतरराज्य परिषद स्थापित करने की मांग की। इस प्रकार की मांग सर्वप्रथम केरल के मुख्यमंत्री ई. एस.एस. नम्बूदरीपाद ने की। उसके बाद देश के अन्य भागों से भी परिषद् की स्थापना की मांग उठने लगी। 1987 ई. में सहकारिता आयोग ने प्रेषित अपनी रिपोर्ट में एक स्थायी अंतर्राज्य परिषद की स्थापना का सुझाव दिया, जिसे 1990 ई. में भूतपूर्व प्रधानमंत्री वी.पी. सिंह ने स्वीकार कर प्रथम अंतर्राज्य परिषद का गठन किया लेकिन आगे चलकर यह भी कोई सक्रिय भूमिका नहीं निभा सका।

केन्द्र-राज्य वित्तीय संबंध :

वित्तीय रूप से स्वतंत्र एवं आत्मनिर्भर प्रशासन के द्वारा ही किसी संघात्मक व्यवस्था में केन्द्र व राज्य अपने-अपने दायित्वों/कर्तव्यों को पूरा करने में सक्षम हो सकते हैं। संघ एवं राज्यों को अपने विधायी एवं कार्यपालिका शक्तियों के संपादन के लिए वित्तीय स्रोत की अत्यंत आवश्यकता होती है। संविधान का भाग 12 केन्द्र राज्य वित्तीय संबंधों का वर्णन करता है। भारतीय संविधान में केन्द्र व राज्य के बीच राजस्वों का वितरण भारत शासन अधिनियम, 1935 के आधार पर किया गया है। संविधान में वित्तीय व्यवस्था इतनी लचीली बनाई गयी है कि भविष्य की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर उसे अनुकूलित किया जा सके।

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

केन्द्र और राज्यों की संचित निधियां और लोक लेखे (अनु. 266):

आकस्मिकता निधि (अनु. 267) के प्रावधानों तथा कुछ करों एवं शुल्कों के शुद्ध आगम पूर्णत: या अंशत: राज्यों को दिए जाने के संबंध में बनाए गए प्रावधानों के अधीन रहते हुए, भारत सरकार को प्राप्त सभी राजस्व (जो या तो उधार द्वारा प्राप्त किए गए हों या उधार को चुकाने हेतु कहीं से एकत्र किए गए हों या किसी भी अन्य साधन से प्राप्त धन) की एक निधि या कोष बनेगा जो भारत की 'संचित निधि' के नाम से जाना जाएगा तथा इसपर केन्द्र का अधिकार होगा।

इसी प्रकार, किसी राज्य सरकार को प्राप्त सभी राजस्व (जो या तो उधार द्वार प्राप्त किए गए हों याउधार को चुकाने के लिए कहीं से एकत्र किए गए हों या किसी भी अन्य साधन से प्राप्त धन) की एक निधि बनेगी जिसे 'राज्य की संचित निधि' के नाम से जाना जाएगा।

भारत सरकार या किसी राज्य सरकार द्वारा या उसकी ओर से प्राप्त सभी अन्य लोक धनराशियां, यथास्थिति भारत के या राज्य के लोक लेखे में जमा की जाएगी (अनु. 266(2))।

भारत की संचित निधि या राज्य की संचित निधि में से कोई धनराशि संविधान द्वारा निर्धारित प्रक्रिया के अनुसार ही निकाली जाएगी। इसके लिए विनियोग विधेयक संसद और राज्य विधानमंडल में पारित किया जाता है, जो धन-विधेयक के रूप में होता है (अनु. 266(3))।

केन्द्र और राज्यों की आकस्मिकता निधि (अनु. 267):

संसद की स्वीकृति व सहमति के बाद ही सरकार कोई धन संचित निधि से व्यय कर सकती है लेकिन संसद की स्वीकृति की यह प्रक्रिया लम्बी होने के कारण एक 'आकस्मिकता निधि' बनाई गयी है जिस पर भारत के राष्ट्रपति का नियंत्रण है, जिसमें समय-समय पर राशियां (धन) जमा किया जाता है और अनु. 115 (अनुपूरक, अतिरिक्त अर्थात् अधिक अनुदान) तथा अनु. 116 (लेखानुदान, प्रत्ययानुदान और अपवादनुदान) के अधीन व्यय की स्वीकृति संसद में विचाराधीन/लंबित रहने तक, ऐसे व्यय हेतु आकस्मिकता निधि से अग्रिम धन देने के के लिए राष्ट्रपति को अधिकृत किया गया है।

इसी प्रकार राज्यों में भी आकस्मिकता निधि का प्रावध ान है जो राज्यपाल के नियंत्रणाधीन है और जब राज्य विधानमंडल में व्यय की स्वीकृत का विधेयक लंबित है तो अनु. 205 तथा 206 के अधीन निहित व्यय की पूर्ति हेतु राज्यपाल 'राज्य की आकस्मिकता निधि' से धन जारी कर सकता है।

कर लगाने से पूर्व संसद द्वारा पारित कानून की स्वीकृति आवश्यक :

अनु. 265 के अनुसार, कोई कर विधि के प्राधिकार से ही अधिरोपित या संग्रहित किया जा सकता है अन्यथा नहीं। विधि संसद बनाती है अत: संसद ही किसी कर को लगाने एवं वसूलने का अधिकार कार्यपालिका को दे सकती है। कार्यपालिका स्वयं किसी कर को मनमाने ढंग से लागू नहीं कर सकती है।

संघ (केन्द्र) और राज्यों के बीच राजस्व का वितरण :

संघात्मक व्यवस्था में कानून बनाने संबंधी विषयों के बंटवारें की व्यवस्था होने के साथ ही करों के विभाजन का भी व्यवस्था रहती है। राज्य सूची के विषयों पर कर लगाने का अधि कार राज्यों को है तथा संघ सूची के विषय पर करारोपण केन्द्र करता है। राज्य सूची के विषयों पर कर निर्धारण करने एवं उसे वसूलने का अधिकार राज्यों के पास है जबकि संघ सूची के विषयों पर लगे कुछ कर पूर्णत: या अंशत: राज्यों में वितरित कर देने का प्रावधान है। **संविधान में ऐसे चार प्रकार के करों का उल्लेख है जिनमें से राज्यों को पूर्णत: अंशत: हिस्सा मिलता है-**

1. संघ द्वारा लगाए जाने वाले किन्तु राज्यों द्वारा एकत्रित एवं उपयोग में लाए जाने वाले कर (अनु. 268):

संघ सूची में वर्णित स्टाम्प शुल्क तथा औषध ीय (दवाओं) और प्रसाधन सामग्री पर उत्पाद शुल्क भारत सरकार लगाएगी किन्तु इनका एकत्रीकरण (करो की वसूली) तथा प्रयोग राज्यों द्वारा किया जाएगा। इकाई राज्यों के भीतर एकत्र किए गए ऐसे शुल्क भारत की संचित निधि के भाग नहीं होंगे, ये राज्यों का सौंप दिए जाएंगे:

2. संघ द्वारा लगाए जाने वाले एवं वसूले जाने वाले तथा राज्यों को सौंपे जाने वाले कर (अनु. 269)

अनु. 269(1) के अनुसार, निम्नलिखित शुल्क एवं कर भारत सरकार द्वारा लगाए व एकत्र किए जाएंगे किन्तु उसे अनु. 269(2) के अनुसार राज्यों को सौंप दिया जाएगा:-

(क) कृषि भूमि से भिन्न संपत्ति के उत्तराधिकार के संबंध में शुल्क,
(ख) कृषि भूमि से भिन्न संपत्ति के संबंध में सम्पदा शुल्क,
(ग) रेल, समुद्र या वायु मार्ग द्वारा ले जाए जाने वाले माल या यात्रियों पर सीमा कर,
(घ) रेल भाड़ों तथा माल भाड़ों पर कर,
(ङ) स्टॉक एक्सचेंजों एवं वायदा बाजारों के कार्य पर लगने वाले स्टांप शुल्क से भिन्न कर,
(च) समाचार पत्रों के क्रय-विक्रय पर और उनमें प्रकाशित विज्ञापनों पर कर,
(छ) समाचार पत्रों से भिन्न माल के क्रय-विक्रय पर उस दशा में कर, जिसमें ऐसा क्रय-विक्रय अंतर्राष्ट्रीय-व्यापार या वाणिज्य के दौरान होता है,
(ज) अंतर्राज्यीय वाणिज्य या व्यापार के दौरान किसी माल के पारेषण पर कर।

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

संघ राज्य क्षेत्रों से प्राप्त उपरोक्त शुल्क या कर भारत की संचित निधि के भाग होंगे किन्तु इकाई राज्यों से प्राप्त उपरोक्त कर या शुल्क भारत की संचित निधि के भाग नहीं होंगे, वे राज्यों को सौंप दिए जाएगे। सौंपने के सिद्धांतों या वितरण के सिद्धांतों का निर्धारण संसद करेगी। उपरोक्त वर्णित (छ) एंव (ज) के संदर्भ में यह निर्धारित करने तथा तत्संबंधी सिद्धांत या नियम बनाने की शक्ति संसद में होगी कि माल का क्रय-विक्रय या पारेषण कर अंतर्राज्यी व्यापार या वाणिज्य के दौरान होता है।

3. संघ द्वारा लगाए जाने एवं एकत्र किए जाने वाले और संघ व राज्यों के बीच बांटे जाने वाले कर (अनु. 270):

कुछ कर संघ द्वारा लगाए व एकत्र किए जाते हैं किन्तु उन्हें एक निश्चित अनुपात में संघ व राज्यों के बीच बांट दिया जाता है जिससे कि राज्यों को वित्तीय मदद मिलती रहे। ये कर इस प्रकार हैं:

(अ) कृषि आय से भिन्न आय पर कर (अनु. 270),

(ब) संघ सूची में सम्मिलित उत्पाद-शुल्क, यदि संसद इस प्रकार का प्रावधान करे तो उत्पाद शुल्क भी वितरित होगा (अनु. 272)। औषधीय एवं प्रसाधन सामग्री पर उत्पाद शुल्क उसके अंतर्गत नहीं आएगा क्योंकि इसका प्रावधान अनु. 268 में वर्णित है।

करों के ऊपर अधिभार (सरचार्ज) लगाने का अधिकार (अनु. 271):

अनु. 269 तथा 270 में किसी प्रावधान के होते हुए भी, संसद को यह अधिकार है कि इन अनुच्छेद में वर्णित शुल्कों या करों में किसी भी समय संघ के हित में अधिभार लगाकर वृद्धि कर सकेगी, ऐसे अधिभार भारत के संचित निधि के भाग होंगे। सरचार्ज को एक उदाहरण द्वारा इस प्रकार समझा जा सकता है -जैसे, आय कर पर दो प्रतिशत सरचार्ज देने का कानून संसद बना देती है। आय कर 1 लाख रु. तक शून्य है। लेकिन 1 लाख से ऊपर कमाने वालों को आय कर देना पड़ेगा, इसमें भी विभिन्न आय स्तर के अनुसार कर निर्धारित है। मान लीजिए 1 लाख रुपये ऊपर आय वालों के लिए आय कर की दरें इस प्रकार हैं

1रु. से - 1लाख रु. तक : शून्य %

1 लाख रु. में से - 1 लाख पचास हजार रु. तक : 10%

150000 - 250000 रु. तक : 20%

यदि किसी व्यक्ति की आय 1 लाख पचास हजार रु. है तो उस पर आयकर लगेगा, जिसकी दर 10% : 5000रु. क्योंकि 1 लाख रु. तक की आय पर आयकर शून्य है। इस आयकर पर उसे 2% सरचार्ज देना है तो सरचार्च हुआ - 5000×2% =100रु.। ऐसी दशा में उस व्यक्ति का सरचार्ज सहित आयकर हुआ-

5000+100 = 5100रु.

यह 100रु. केन्द्र की संचित निधि में चला जाएगा, इस पर राज्यों का अधिकार नहीं होगा।

राज्यों को संघ से अनुदान:

केन्द्रीय करों में से पर्याप्त हिस्सा प्राप्त करने के बाद भी यह आवश्यक नहीं है कि राज्यों को अपने दायित्वों-कर्तव्यों के निष्पादन हेतु पर्याप्त धनराशि मिल ही जाय। इसलिए इकाई-राज्यों को वित्तीय रूप से सुदृढ़ बनाने के लिए संविधान ने राज्यों को संघ से आवश्यकतानुसार अनुदान करने का प्रावधान किया है। भारतीय संविधान द्वारा राज्यों को केन्द्र से तीन के अनुदान दिए जाने का प्रावधान है।

1. अनु. 273 के अनुसार, प्रत्येक वर्ष जूट (पटसन) और जूट उत्पादों पर लगने वाले निर्यात शुल्क के शुद्ध आगम का कोई भाग असोम, उड़ीसा, बिहार, और पश्चिम बंगाल राज्यों को सौंपा जाएगा, लेकिन सौंपे जाने वाले राशि का निर्धारण वित्त आयोग के परामर्श से राष्ट्रपति करेगा।

2. अनु. 275 के अनुसार, संसद ऐस राज्यों को, जिन्हें उसके अनुसार आर्थिक सहायता की आवश्यकता है, सहायक अनुदान-राशि प्रदान कर सकेगी। भिन्न-भिन्न राज्यों को दी जाने वाली यह राशि भी भिन्न-भिन्न होगी, जिस राज्य को जैसी आवश्यकता होगी, उतनी ही राशि उसे मिलेगी। उन राज्यों को विशेष अनुदान दिया जायेगा, जो अनुसूचित जनजातियों के कल्याण में लगे हुए हैं या जो भारत सरकार की अनुमति से ऐसी योजनाओं का संचालन कर रहे हैं, जो अनुसूचित क्षेत्रों में प्रशासन के स्तर की उन्नति से संबंधित हैं। इस संबंध में असीम को विशेष अनुदान किया जाता है।

3. अनु. 282 के अनुसार संघ या राज्य, दोनों को ही यह विशेष अधिकार है कि वे किसी सार्वजनिक या लोक प्रयोजन के लिए कोइ भी अनुदान दे दें, भले ही वह उस प्रयोजन के लिए विधि बनाने की शक्ति यथास्थिति संसद या राज्य विध नमंडल के पास न हो। राज्य क्षेत्र के सरकारी चिकित्सालयों, शिक्षण संस्थाओं एवं सड़कों के निर्माण, रखरखाव आदि के संदर्भ में इस प्रकार के अनुदान की व्यवस्था है।

'शुद्ध आगम' की गणना (अनु. 279):

केन्द्र राज्य वित्तीय संबंधों से युक्त संविधान के भाग 12 में अनेक जगह 'शुद्ध आगम' शब्द आया है जिसका तात्पर्य है कि, किसी कर को एकत्र करनें में जितना धन खर्च करना पड़ता है, उस खर्च धन को एकत्रित कर की राशि में से घटाने के बाद जितना बचता है, वह 'शुद्ध आगम' है। **किसी कर या शुल्क के किसी भाग का शुद्ध आगम भारत के नियंत्रण एवं महालेखापरीक्षक द्वारा निश्चित व प्रमाणित किया जाएगा और उसका प्रमाण पत्र अंतिम होगा।**

वित्त आयोग (अनु. 280):

राष्ट्रपति इस संविधान के प्रारंभ में 2 वर्ष के भीतर और तत्पश्चात् प्रत्येक 5 वर्ष की समाप्ति पर आदेश द्वारा वित्त आयोग

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

का गठन करेगा जो राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त एक अध्यक्ष और 4 अन्य सदस्यों से मिलकर बनेगा। संसद इन सदस्यों की योग्यताओं का निर्धारण कर सकती है।

वित्त आयोग अधिनियम, 1951 के अनुसार इन सदस्यों की अलग-अलग निम्नलिखित योग्याताएं होंगी:

(अ) एक सदस्य, उच्च न्यायालय का न्यायाधीश रहा हो या इस प्रकार की नियुक्ति के लिए अर्हित हो,

(ब) एक व्यक्ति, जिसे सरकार के वित्त एवं लेखाओं का विशेष ज्ञान हो,

(स) एक व्यक्ति, जिसे वित्तीय विषयों तथा प्रशासन के बारे में व्यापक अनुभव हो और

(द) एक ऐसा व्यक्ति जिसे अर्थशास्त्र का विशिष्ट ज्ञान हो।

वित्त आयोग का निम्नलिखित कार्य होगा:

(अ) संघ और राज्यों के बीच करों के शुद्ध आगम के वितरण के लिए नियम बनाना तथा राज्यों के बीच इस शुद्ध आगम के आवंटन के बारे में नियम निर्धारित करना,

(ब) भारत की संचित निधि में से राज्यों को दी जाने वाली सहायता अनुदान की राशि को निश्चित करने वाले सिद्धांतों का निर्धारण (इसका वर्णन अनु. 275 में है),

(स) राज्यों के वित्त अयोग द्वारा की गई सिफारिशों के आधार पर राज्य में पंचायतों तथा नगरपालिकाओं की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किसी राज्य की संचित निधि को दिए जाने वाले अनुदान की राशि का निर्धारण (यह अनुदान की अनु. 275 के अंतर्गत ही आता है),

(द) वित्तीय स्थिति को सदृढ़ बनाने के लिए राष्ट्रपति द्वारा आयोग को सौंपे गए किसी अन्य विषय के बारे में अपनी राय देना।

आयोग उपर्युक्त कार्यों को करने में अपनी प्रक्रिया का निर्धारण स्वयं करेगा, उसे ऐसी अन्य शक्तियां होंगी, जो संसद विधि द्वारा निर्धारित करें।

वित्त आयोग अपनी सिफारिश राष्ट्रपति को देगा। अनु. 281 के अनुसार, राष्ट्रपति इस संविधान के उपबंधों के अधीन वित्त आयोग द्वारा की गई प्रत्येक सिफारिश को तथा इन सिफारिशों के आधार पर की गई कार्रवाई को स्पष्टीकरण ज्ञापन सहित संसद के प्रत्येक सदन में रखवाएगा।

प्रथम वित्त आयोग का गठन 1951 ई. में किया गया था। इसके अध्यक्ष श्री. के.सी. नियोगी थे। अब तक कुल 13 वित्त अयोग गठित किए गए जा चुके हैं। 13वां वित्त आयोग नवम्बर 2007 ई. में डॉ. विजय एल. केलकर की अध्यक्षता में गठित हुआ है, जिसकी रिपोर्ट आ जाने के बाद उसे 2010-2015 की समयावधि में लागू कर दिया गया है।

संघ की संपत्ति को राज्य के करों से छूट (अनु. 285):

अनु. 285(1) के अनुसार, संघ की संपत्ति को किसी राज्य द्वारा या राज्य के भीतर किसी प्राधिकारी द्वारा अधिरोपित सभी करों से तब तक छूट होगी जब तक कि संसद विधि द्वारा राज्य को कर लगाने का अधिकार न दे दे।

अनु. 285(2) के अनुसार, यदि कोई कर संविधान के प्रारंभ या लागू होने के पूर्व संघ सरकार पर किसी राज्य सरकार द्वारा लगाया जाता रहा है तो वह कर तब तक लगता रहेगा जब तक कि संसद विधि बनाकर इस कर को समाप्त न कर दें अर्थात् जब तक वह कर रहेगा, संघ उस कर को देने हेतु बाध्य है।

राज्यों की संपत्ति और आय को संघ के कराधान से छूट (अनु. 289):

राज्यों की संपत्ति एवं आय को संघ के करों से छूट प्राप्त है (अनु. 289(1), लेकिन संसद राज्य सरकार द्वारा उसकी ओर से किए जाने वाले किसी प्रकार के व्यापार या कारोबार के बारे में कोई कर लगा सकती है (अनु. 289 (2))।

राज्यों की संपत्ति एवं आय को संघ के प्रत्यक्ष करों से ही छूट प्राप्त है। संघ द्वारा लिए जाने वाले अप्रत्यक्ष करो से राज्य की संपत्ति या आया को छूट प्राप्त नहीं है, जैसे कस्टम एवं उत्पाद शुल्क। राज्य के व्यापारिक हितों, कार्यों एवं उनसे होने वाली आय व संपत्ति संघ के कर से मुक्त नहीं है जैसे यदि कोई राज्य परिवहन बसें चलाता है, या कोई इसी प्रकार का व्यापारिक कृत्य करता है तो संघ को कर (आय कर आदि) देना होगा।

महत्वपूर्ण एवं ध्यान देने योग्य बात यह है कि, केन्द्र सरकार की संपत्ति को राज्यों द्वारा लिए जाने वाले सभी करों से छूट या उन्मुक्ति प्राप्त है, चाहे वह व्यावसायिक उपयोग की हो या राजकीय उपयोग की (अनु. 285), लेकिन राज्यों की संपत्ति तथा आय को संघ के करों से पूर्ण छूट या उन्मुक्ति प्राप्त नहीं है। संघ सरकार राज्यों की सभी प्रकार की संपत्ति व आय पर कर लगा सकती है (अनु. 289)। वस्तुतः करारोपण के मामले में भी संविधान के प्रावधान केन्द्र की ओर झुके हुए हैं या उसके पक्ष में हैं, राज्यों के नहीं।

भारत सरकार द्वारा और राज्यों द्वारा उधार लेना (अनु. 292):

अनु. 292 के अनुसार, भारत की संचित निधि की गारंटी पर केन्द्र सरकार, संसद द्वारा निर्धारित सीमाओं के भीतर कोई भी उधार ले सकती है या ऋण की गारंटी ले सकती है। अनु. 293 के अनुसार, कोई भी इकाई राज्य अपने विधानमंडल द्वार निर्धारित सीमाओं के भीतर राज्य की संचित निधि की गारंटी पर कोई भी उधार ले सकती है या ऋण की गारंटी ले सकती है।

केन्द्र सरकार के उधार लेने की परिधि व्यापक है लेकिन राज्यों की ऋण अधिकारिता पर कतिपय प्रतिबंध है, जो इस प्रकार हैं:

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

(1) कोई भी राज्य सरकार भारत के बाहर या किसी संस्था या राज्य से ऋण नहीं ले सकती,

(2) राज्य द्वारा लिए गए पुराने उधार को चुकाने के बाद ही केन्द्र सरकार राज्यों को कोई नया ऋण देगी। यदि पुराने उधार को चुकाए बिना ही कोई राज्य उधार मांग रहा हो तो केन्द्र सरकार उन शर्तों के साथ उधार देगी जो वह लगाना उचित समझे।

कुछ देवस्वम निधियों का वार्षिक संदाय (अनु. 290 (क)):

अनु. 290(क) के अनुसार, प्रति वर्ष 46 लाख 50 हजार रु. की राशि केरल राज्य की संचित पर भारित की जाएगी और उस निधि में से तिरुवंकुर देवस्वम् निधि कोस प्रदान की जाएगी और प्रत्येक वर्ष 13 लाख 50 हजार की राशि तमिलनाडु राज्य की निधि पर भारित होगी और उस निधि से 1 नवम्बर 1956 ई. को उस राज्य को तिरुवांकुर कोचीन राज्य से अंतरित राज्यक्षेत्रों के हिन्दू मंदिरों व पवित्र स्थानों के अनुरक्षण के लिए उस राज्य में स्थापित देवस्वम निधि को दी जाएगी।

संपत्ति का अधिकार (अनु. 300(क):

किसी व्यक्ति को उसकी संपत्ति से विधि के प्राधिकार से ही वंचित किया जाएगा, अन्यथा नहीं। 44वें संविधान संशोधन द्वारा अनु. 31 में मूलाधिकार के रूप में प्रदत्त संपत्ति के अधिकार को हटाकर अनु. 300 क में प्रतिस्थापित किया गया है। ऐसा इसलिए किया गया है कि केवल विधायिका की सहमति से ही किसी व्यक्ति की संपत्ति का अधिग्रहण किया जा सके और कानूनी विवादों व न्यायिक जटिलताओं से बचा जा सके।

भारत के भीतर व्यापार, वाणिज्य और समागम की स्वतंत्रता :

भारतीय संविधान भारतीय राज्यक्षेत्र में सर्वत्र व्यापार, वाणिज्य तथा समागम की अबाध स्वतंत्रता देता है (अनु. 301), ऐसी किसी स्वतंत्रता पर सीमाएं आरोपित करने या उसे प्रतिबंधित करने का अधिकार संसद को है न कि किसी राज्य सरकार को (अनु. 302)। व्यापार व वाणिज्य की दृष्टि से न तो संसद और न ही राज्य विधानमंडल को यह अधिकार होगा कि वह कोई ऐसी विधि बनाए जिससे एक राज्य को दूसरे राज्य से वरीयता मिले या राज्यों में परस्पर भेदभाव पैदा हो अर्थात् कोई भी राज्य या संघ किसी अन्य इकाई राज्य को 'मोस्ट फेवर्ड स्टेट' का दर्जा नहीं दे सकता। संसद भारत के किसी राज्यक्षेत्र में माल की कमी से उत्पन्न समस्याओं से निबटने के लिए उस क्षेत्र को 'प्राथमिकता' प्रदान करने हेतु कानून बना सकती है। ऐसा कदम उस क्षेत्र की आवश्यकताओं को देखते हुए ही उठाया जा सकेगा (अनु. 303)। भारत राज्य क्षेत्र के बाहर अन्य देशों से संबंध सुधारने एवं संबंधों को प्रगाढ़ बनाने हेतु भारत सरकार किसी भी देश को 'मोस्ट फेवर्ड नेशन' का दर्जा दे सकती है, कोई इकाई राज्य ऐसा नहीं कर सकता क्योंकि यह विदेश नीति से जुड़ा मुद्दा है और विदेश नीति संघ सूची का विषय है।

संविधान किसी राज्य के विधानमंडल को यह अधिकार देता है कि वह किसी अन्य इकाई राज्य से या किसी संघ शासित से आए किसी पर वैसा ही कर लगाए जैसा कि उसी माल के उत्पादन एवं विनिर्माण पर उस राज्य में लागू है जिससे उस प्रदेश में उत्पादित उसी माल तथा किसी बाहरी राज्य में आए वैसे ही माल के बीच कोई भेदभाव न हो। लेकिन करारोपण में कोई भेदभाव किए बिना भी कोई राज्य लोकहित की दृष्टि से व्यापार वाणिज्य या समागम की स्वतंत्रता पर उचित प्रतिबंध लगा सकता है। लेकिन इस प्रकार के प्रतिबंधों वाला विधेयक राज्य विधानमंडल से पारित करना होगा और इस प्रकार के विधेयक राष्ट्रपति की पूर्व अनुमति से ही राज्य विधानमंडल में प्रस्तुत किए जा सकेंगे (अनु. 304)। संसद को यह अधिकार है कि, वह विधि द्वारा ऐसे प्राधिकारी को नियुक्त करे जो अनु. 301, 302, 303 और 304 के लक्ष्यों के क्रियान्वयन का निरीक्षण कर सके। ऐसे प्राधिकारी का दायित्व, शक्तियां एवं अधिकार संसद निर्धारित करेगी।

IAS

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

केन्द्र तथा राज्यों के बीच टकराव

संविधान के लागू होने से चतुर्थ आम चुनाव तक भारत में केन्द्र तथा राज्य सरकारों के संबंध सामान्यतया सहयोग और सद्भावना पर आधारित रहे और उनके बीच कोई विशेष टकराव की स्थिति उत्पन्न नहीं हुई जिसका मूल कारण केन्द्र तथा लगभग सभी राज्यों में कांग्रेस दल के प्रभुत्व का होना था। 1967 से पूर्व केन्द्र और राज्यों के बीच कुछ मामलों में अवश्व विरोध की स्थिति उत्पन्न हुई, लेकिन यह विरोध अंतर्दलीय विरोध था और उन्हें पारिवारिक झगड़ों से ज्यादा महत्व नहीं दिया जा सकता। ऐसे अवसरों पर दल के हाईकमान या प्रधानमंत्री के हस्तक्षेप द्वारा इन झगड़ों का निपटारा होता रहा। एक लेखक श्री.सी.एस. पंडित के शब्दों में – 'गत चौबीस वर्षों में जब व्यावहारिक रूप से लगभग सभी राज्यों में कांग्रेस दल के हाथों में सत्ता रही, केन्द्र सरकार ने एक पितृसत्ता के रूप में विकसित होकर अधीनस्थ इकाइयों को अपने दल के मुख्यमंत्रियों के माध्यम से नियंत्रित किया। इस बीच जो टकराव उत्पन्न हुई उनको दल के अंदर ही तय कर दिया गया।

1967 के आम चुनाव के पश्चात् भारत में कांग्रेस दल के प्रभुत्व का अन्त हुआ और आठ राज्यों में गैर कांग्रेसी सरकारों की स्थापना हुई। इस राजनीतिक परिवर्तन के फलस्वरूप राज्यों की गैर कांग्रेसी सरकारों तथा केन्द्रीय सरकार के बीच प्रत्येक कदम पर टकराव आरंभ हुआ जिसका एक कारण कांग्रेस दल के विरूद्ध विपक्षी दलों में पाई जाने वाली द्वेष भावना थी। इसलिए लगभग सभी गैर कांग्रेसी सरकारों वाले राज्यों की ओर से केन्द्र के बढ़ते हुए नियंत्रण के खिलाफ आवाज उठाई गयी और यह मांग की गयी कि राज्यों को अधिक से अधिक स्वायत्तता मिलनी चाहिए और इस दृष्टिकोण से केन्द्र तथा राज्यों के संबंधों को नए सिरे से निश्चित किया जाना चाहिए। केन्द्र के विरूद्ध अधिकतम स्वायत्तता की मांग एक ओर बंगाल की संयुक्त मोर्चा सरकार की ओर से उठाई गई और दूसरी ओर तमिलनाडु में डी.एम.डी के सरकार ने इसे एक आंदोलन का रूप दे दिया। अप्रैल 1970 में तमिलनाडु के मुख्यमंत्री करूणानिधि ने यह भी नारा दिया कि 'सेल्फ रूप इन द स्टेट्स एण्ड कंपोजिट रूल एट दि सेंटर' और इस नारे को डीएमडी के दल के संविधान में भी सम्मिलित किया गया। मुख्यमंत्री करूणानिधि ने यह भी नारा दिया कि 'भारत' भारत वालों के लिए और तमिलनाडु तमिल लोगों के लिए है।''

इसी प्रकार उड़ीसा में प्रगतिदल के नेता बीजू पटनायक ने अपने प्रदेश के आर्थिक साधनों पर पूर्ण नियंत्रण प्राप्त करने और विदेशों से प्रत्यक्ष रूप से सहायता लेने की मांग की। पंजाब में अकाली दल की ओर से राज्यों के लिए अधिक से अधिक स्वायत्तता देने की मांग की गई और यह कहा गया कि रक्षा, विदेश संबंध तथा मुद्रा निर्माण के अतिरिक्त सारे अधिकार राज्यों के पास होने चाहिए, यहां तक कि न्यायालयों के न्यायाधीशों और राज्यपालों की नियुक्ति का अधिकार भी राज्य सरकारों को मिलना चाहिए।

केन्द्र तथा राज्यों के बीच 1967 के बाद जो टकराव उत्पन्न हुए, उन्हें प्रो. इकबाल नारायण के अनुसार तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है:

1. संस्थागत विवाद :

ऐसा कहा जाता है कि भारतीय संविधान का वास्तविक स्वरूप 1967 के पश्चात् ही सामने आया; जब देश के कुछ राज्यों में गैर कांग्रेसी सरकारों की स्थापना हुई और इन सरकारों ने संविधान के विभिन्न उपबंधों के आधार पर केन्द्र सरकार से अधिक से अधिक अधिकारों की मांग की।

विभिन्न राजनीतिक संस्थाओं और राजनीतिक पदों के पारस्परिक संबंधों तथा शक्तियों के विषय में अनेक प्रश्न उठाए गए जो इससे पहले कभी सामने नहीं आए थे। ऐसे संविधानिक प्रश्नों में सबसे गंभीर विवाद राज्यपाल की शक्तियां तथा स्थितियों के संबंध से उठा और विरोधी दलो की ओर से यह आरोप लगाया गया कि केन्द्र सरकार राज्यपाल से गैर कांग्रेसी सरकारों को अपदस्थ कराने का कार्य लेती रही है। अनेक राज्यों में राज्यपाल और विधानसभा के संबंध तथा राज्यपाल और मंत्रिमंडल के पारस्परिक संबंध तथा राज्यपाल की वैधानिक और पराम्परागत स्थति को लेकर विभिन्न प्रकार के गंभीर सांविधानिक प्रश्न उठाए गए। राज्यपाल के संबंध में सबसे पहले राजस्थान में विवाद उत्पन्न हुआ। कारण यह था कि 1967 के आम चुनाव में राजस्थान विधानसभा में में किसी एक राजनीतिक दल को पूर्ण बहुमत न मिल सका और विभिन्न विरोधी दलों ने एक संयुक्त मोर्चे के रूप में संगठित होकर राज्यपाल से उन्हें सरकार बनाने का अवसर देने की मांग की जिसे राजस्थान के तत्कालीक राज्यपाल डाक्टर संपूर्णानंद ने अस्वीकार कर दिया।

उन्होंने कांग्रेस दल के नेता श्री सुखाड़िया को सरकार बनाने के लिए आमंत्रित किया। राज्यपाल की ओर से यह तर्क दिया गया कि विधानसभा में कांग्रेस सबसे बड़ा राजनीतिक दल था, इसलिए सरकार बनाने का अवसर पहले उसे दिया जाना चाहिए। राज्यपाल का यह निर्णय निस्संदेह अन्यायपूर्ण था। विपक्षी दलों के सदस्यों ने राष्ट्रपति के समक्ष उपस्थिति होकर यह सिद्ध किया कि उनका यह संयुक्त संगठन वास्तव में बहुमत में था और राज्यपाल ने उसे सरकार बनाने का अवसर न देकर राजनीतिक पक्षपात का परिचय दिया है।

राज्यपाल पर पक्षपात और दलीय हितों को बढ़ावा देने का आरोप उन सभी राज्यों में लगया गया, जहां गैर कांग्रेसी मंत्रिमंडलों की स्थापना हुई थी, विशेषकर पश्चिमी बंगाल, उत्तर प्रदेश, पंजाब तथा हरियाणा में राज्यपाल के पक्षपातपूर्ण रवैये के विरूद्ध घोर असंतोष प्रकट किया गया और यह कहा गया कि केन्द्र सरकार का प्रतिनिधि होने के नाते राज्यपाल गैर कांग्रेसी सरकारों को असफल बनाने तथा उन्हें गिराने के अभियान से सक्रिय भाग ले रहे हैं। कुछ राज्यों में राज्यपाल को हटाने की भी मांग की गई।

TRUST IAS

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

राज्यपाल के संबंध में सबसे बड़ा विवाद 1967 में पश्चिम बंगाल में उत्पन्न हुआ, जहां राज्यपाल धर्मवीर ने अपनी सांविधानिक शक्तियों का प्रयोग करके अजय मुखर्जी के मंत्रिमंडल को विघटित कर दिया। राज्यपाल के इस कार्य के विरूद्ध यह तर्क दिया गया कि एक सांविधानिक प्रधान हाने के नाते राज्यपाल को किसी भी मंत्रिमंडल को सदन में पराजित हुए बिना विघटित करने के अधिकार नहीं है। 1969 में हुए मध्यावधि चुनाव के पश्चात् पुनः अजय मुखर्जी ने मंत्रिमंडल का निर्माा किया। इस मंत्रिमंडल ने राज्यपाल को जो भाषण तैयार किया उसमें एक आलोचनात्मक पैराग्राफ अजय मुकर्जी मंत्रिमंडल के विघटन के संबंध में भी था जिसे राज्यपाल ने पढ़ने से इन्कार किया। इस बात पर फिर यह आपत्ति उठाई गई कि एक संसदीय शासन का प्रधान होने के नाते राज्यपाल को मंत्रिमंडल के परामर्शनुसार कार्य करना चाहिए।

उत्तर प्रदेश तथा पंजाब में भी विधान सभा में बहुमत निर्धारण के संबंध में राज्यपाल द्वारा अपनाए जाने वलो तरीकों के खिलाफ आवाज उठाई गई और जिन राज्यों में विधानसभा का विघटन किया गया, लगभग उन सब में विरोधी दलों ने राज्यपाल के विरूद्ध यह आरोप लगाया कि उन्होंने गैर-कांग्रेसी दलों को सरकार बनाने के लिए आमंत्रित किए बिना विधानसभा को भंग कराने की संस्तुति केन्द्र सरकार को भेजी है। विभिन्न राज्यों के राज्यपालों ने एक ही प्रकार की पारिस्थितियों में भिन्न-भिन्न तरीकों को अपनाया और अनुच्छेद 356 का प्रयोग बड़ी उदारता के साथ किया गया।

राज्यपाल और विधानसभा के पारस्परिक संबंधों को लेकर कुछ ऐसी सांविधानिक समस्याएं उत्पन्न हुई कि पूरे देश में संविधान को परिवर्तित करने और केन्द्र तथा राज्य सरकारों के पारस्परिक संबंधों को ज्यादा स्पष्ट बनाने की मांग की गई। 19 अगस्त 1969 को तमिलनाडु के तत्कालीक मुख्यमंत्री करूणानिधि ने विधानसभा में तीन सदस्यों की एक समिति के गठन की घोषणा की। इस समिति के सभापति डॉ.पी.वी. राजमन्नार तथा सदस्यों में डॉ. ए.एल. मुदालियर तथा टी.पी. चन्द्रा रेड्डी थे। इस समिति के निर्माण का उद्देश्य केन्द्र और राज्यों के पारस्परिक संबंधों के सांविध ानिक तथा व्यवहारिक पक्षों को दृष्टि में रखते हुए संविधान में ऐसे संशोधन करने का सुझाव देना था, जो राज्यों को समुचित स्वयत्तता देने के लिए आवश्यक हों। इस समिति ने कुछ महत्वपूर्ण सुझाव दिए जिन पर केन्द्र सरकार ने कोई ध्यान नहीं दिया।

2. कार्यात्मक विवाद :

केन्द्र तथा राज्यों के बीच विरोध का दूसरा विषय शान्ति तथा व्यवस्था का प्रश्न रहा है। 19 सितम्बर 1968 को पूरे देश में केन्द्रीय सरकार के कर्मचारियों ने हड़ताल कर दी और कुछ स्थानों पर स्थिति अत्यधिक गंभीर हो गई। हड़ताल के दौरान राष्ट्रपति ने एक अध्यादेश 'एसेंशियल सर्विस मेंटेनेंस आर्डिनेंस' जारी किया। इस मध्यादेश का उद्देश्य सरकारी, कर्मचारियों की हड़ताल को अवैधानिक घोषित करना था। केरल सरकार ने यह कहा कि उसका उत्तरदायित्व केवल इतना है कि वह केन्द्रीय कार्यालयों तथा संस्थाओं की रक्ष करे और यह देखे कि इन कार्यालयों में प्रवेश करने में कोई बाधा न उत्पन्न हो पाए। केरल सरकार ने उपर्युक्त अध्यादेश के उन उपबंधों को कर्यान्वित करने से इंकार कर किया जिनके द्वारा हड़ताल के लिए उकसाने वाल`व्यक्तियों को दंडित करने की व्यवस्था की गई थी और तर्क यह दिया कि केन्द्रीय कर्मचारियों के सेवा संबंधी मामलों में प्रबंध करना राज्य सरकार के क्षेत्राधिकार से बाहर है।

इस पर केन्द्र सरकार ने यह कहा कि केन्द्रीय विधियों की व्याख्या करने का अधिकार राज्य सरकारों को नहीं है और अनुच्छेद 256 तथा 257 के अनुसार वह अपनी सीमाओं में केन्द्र द्वारा बनाई गई विधियों को लागू करने और संघ सरकार के निर्देशों का पालन करने के लिए बाध्य है। मुख्यमंत्री नंबूदरीपाद ने यह आरोप लगाया कि केन्द्र सरकार ने हड़तालियों की गिरफ्तारी के मामले में भेदभाव किया है।

तत्कालीक गृहमंत्री वाई.बी. चाह्वाण ने केरल सरकार की पूर्व अनुमति के बिना सी.आर.पी. की एक बटालियन केरल में स्थित केन्द्र सरकार के कार्यालयों की रक्षा करने के लिए भिजवा दी। मुख्यमंत्री नंबूदरीपाद ने केन्द्र सरकार के इस कार्य के विरूद्ध रोष प्रकट किया और 18 दिसम्बर को वहां के मंत्रिमंडल ने न्यायालय की अनुमति से केन्द्रीय कर्मचारियों के विरूद्ध सारे मुकदमों को वापस ले लिया। केन्द्र सरकार ने इस निर्णय पर रोष प्रकट करते हुए राज्य सरकार को यह चेतावनी दी कि उसका यह कार्य अवैधानिक था।

केन्द्र सरकार ने यह तर्क दिया कि संविधान में ऐसा कोई प्रतिबंध नहीं है कि किसी राज्य में सशस्त्र पुलिस भेजने के लिए संबंधित राज्य की अनुमति ली जाय। परिस्थितियों के अनुसार यह केन्द्र सरकार के स्वविवेक पर निर्भर करता है कि वह कब किस स्थान पर सी.आ.पी. भेजें। इसी प्रकार बंगाल में जब दुर्गापुर तथा काशीपुर में फैली हुई अशांति तथा अव्यवस्था पर नियंत्रण करने के लिए केन्द्र सरकार ने सी.आर.पी. भेजी तो पश्चिम बंगाल ने कड़ा विरोध किया और यह मांग की कि केन्द्र सरकार सी.आर.पी. को तुरंत वापस बुला ले और जब काशीपुर गन तथा शेल फैक्ट्री में हुए गोलीकाण्ड की जांच करने का आश्वासन केन्द्र सरकार की ओर से दिया गया तो पश्चिम बंगाल के उपमुख्यमंत्री ज्योतिबसु ने इसका विरोध किया और इस कांड की केन्द्रीय सरकार द्वारा जांज किए जाने के कार्य में सहयोग देने से इंकार किया।

इसी प्रकार बिहार के भूतपूर्व मुख्यमंत्री महामाया प्रसाद सिन्हा ने केन्द्र की लापरवाही से तंग आकर एक बार रूस सरकार से यह अपील की कि उस राज्य में अकाल की स्थिति का सामना करने के लिए रूस सरकार उनकी मदद करें। उत्तर प्रदेश के भूतपूर्व मुख्यमंत्री श्री चन्द्रभानु गुप्ता और श्रीमती सुचेता कृपलानी ने भी यह शिकायत की थी कि केन्द्र सरकार उनके प्रदेश में बढ़ती हुई निध

ETES IAS

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

नता और भुखमरी की ओर से बिल्कुल लापरवाह रही है और कुछ राज्यों को राजनीतिक कारणों से केन्द्र सरकार असीमित रूप से ध न दे रही है।

3. आर्थिक विवाद :

केन्द्र तथा राज्यों के बीच टकराव का एक अन्य कारण राज्यों की आर्थिक दशा खराब होना, राज्यों को केन्द्र द्वारा समुचित सहायता न दिया जाना और केन्द्र का असहयोगपूर्ण रवैया रहा है। उदाहरण के लिए 1967 में केरल सरकार ने यह शिकायत की कि केन्द्र सरकार उसे समुचित मात्रा में गल्ला नहीं दे रही है और कहा कि यदि केन्द्र सरकार ने अपने वादे को पूरा न किया तो वह चीन से गल्ले की प्रबंध कर लेगी।

कर्नाटक के भूतपूर्व मुख्यमंत्री वीरेन्द्र पाटिल ने एक बार यह शिकायत की थी कि केन्द्र सरकार, गैर कांग्रेसी सरकारों के सभी मुख्यमंत्रियों के साथ असमानता का व्यवहार करती है और अपनी नीतियों आदि से उन्हें पूर्णरूप से अवगत नहीं कराती। उन्होंने यह भी आरोप लगाया कि केन्द्रीय सरकार के मंत्री जब उस राज्य में आते हैं तो विधानसभा के सदस्यों को दल कर कांग्रेस में शामिल हो जाने का प्रोत्साहन देते हैं।

जैसा कि लिखा जा चुका है, राज्य सरकारों के आर्थिक साधन इतने सीमित है कि वे अपनी जिम्मेदारियों को पूरा करने के लिए केन्द्र सरकार से बराबर आर्थिक अनुदान तथा ऋण मांगती रहती है। यह अनुदान बहुत कुछ केन्द्र सरकार के स्वविवेक पर निर्भर करता है। नियोजन आयोग के निर्माण के पश्चात संपूर्ण देश के लिए योजनाएं बनाने का कार्य इस केन्द्रीय संस्था के हाथों में पहुंच गया है। नियोजन आयोग स्थानीय तथा क्षेत्रीय विभिन्नताओं, समस्याओं तथा आवश्यकताओं पर पूरी तरह ध्यान दिए बिना योजनाएं बनाता है तथा उनको कार्यान्वयन करने के लिए दबाव डालता है राज्य सराकरें उन योजनाओं तथा नीतियों से सहमत न होते हुए भी नियोजन आयोग का विरोध नहीं कर सकती, क्योंकि उसके समर्थन के बिना उन्हें उपर्युक्त आर्थिक सहायता नहीं मिल सकती।

राज्य सरकारों की आर्थिक निर्बलता का मूल कारण यह है कि एक ओर तो राज्य सरकारों के कार्यक्षेत्र में वृद्धि हुई है और दूसरी ओर उनकी आय में अपेक्षाकृत कमी हुई है। इसका प्रमुख कारण यह है कि कुछ राज्यों में राजनीतिक कारणों से सत्तारूढ़ दल ने एक निश्चित सीमा तक लगान माफ कर दिया है। कुछ राज्यों में मदिरा निषेध का कानून पारित किए जाने के फलस्वरूप सरकार को दोहरा नुकसान पहुंचा है, एक और तो शराब की दुकान बंद हो जाने से कर के रूप में होने वाली आमदनी बंद हो गई और दूसरी ओर कानून को कार्यान्वित करने के लिए प्रशासकीय संगठन का विस्तार करना पड़ा जिससे स्वभावत: सरकार के खर्च में वृद्धि हुई जहाँ तक बिक्री कर का संबंध है, सरकार उपभोज्य वस्तुओं पर एक निश्चित सीमा तक ही कर लगा सकती है। इस साधन का असीमित रूप से प्रयोग नहीं किया जा सकता। इसका परिणाम यह है कि राज्य सरकारें आर्थिक दृष्टि से केन्द्र पर आश्रित होती जा रही है और आर्थिक मामलों को लेकर उन राज्यों में केन्द्र के विरोध होना स्वभाविक है जिनमें गैर कांग्रेसी सरकारें स्थापित होंगी।

राज्य सरकारों के विरूद्ध केन्द्र सरकार को यह शिकायत रही है कि राज्य सरकारें अपने दायित्व को पूरा करने में उदासीन रही है और वे केन्द्र द्वारा बनाई गई योजनाओं को कार्यान्वित करने में शिथिलता बरतती है। 'यह एक सर्ववदित तथ्य है कि गत बीस वर्षों में केन्द्र सरकार द्वारा निर्मित अथवा सहायता पाने वाली अधि कांश योजनाओं के संबंध में निर्धारित किए गए लक्ष्यों की प्राप्ति नहीं हो सकी है जिससे यह स्वभाविक रूप से स्पष्ट हो जाता है कि राज्य प्रशासन में कोई त्रुटि, कोई कमी अथवा कोई दोष हैं अत: इन क्षेत्रों में सुधार लाने के लिए आवश्यक कदम उठाना होगा।'' कृषि परिवार नियोजन, स्वास्थ्य, शिक्षा आदि कुछ ऐसे विषय हैं जो मुख्य रूप से राज्य सरकारों के क्षेत्राधिकार में आते हैं। लेकिन इन क्षेत्रों में केन्द्र द्वारा बनाई गई योजनाओं में राज्यों ने पूरी दिलचस्पी नहीं ली है। यह भी कहा गया है कि कृषि विकास नियोजन के क्षेत्र में राज्य सरकारों ने कोई विशेष रूचित का प्रदर्शन नहीं किया है और उन्होंने नए विचारों को ग्रहण करने तथा नए आविष्कारों से लाभान्वित होने के प्रति उदासीनता दिखाई है।

यह देखा गया है कि साधारणतया सरकार ऐसी योजनाओं को कार्यान्वित करने में केन्द्र के साथ पूरा सहयोग नहीं करती जो उनके क्षेत्रीय हितों में ज्यादा मेल नहीं खातीं। क्षेत्रवाद की भावना राष्ट्रीय विकास में किसी सीमा तक बाधक हुई है। केन्द्र सरकार की ओर से प्राय: राज्यों पर संकीर्णतया का आरोप लगाया जाता है। राज्यों की ओर से बराबर यह कहा जाता है कि उनके आय के साध न अत्यधिक सीमि हैं और उन्हें अपने दायित्वों को पूरा करने के लिए केन्द्र सरकार का मुंह देखना पड़ता है। यह बात किसी सीमा तक ठीक है, लेकिन इसमें भी संदेह नहीं है कि राजस्व के जो स्रोत राज्य सरकारों के क्षेत्राधिकार में हैं, उनसे वह पूरी तरह लाभ नहीं उठातीं। राज्य में सत्तारूढ़ दल जनमत को अपने पक्ष में बनाए रखने के लिए और अलोकप्रिय होने के डर से विभिन्न प्रकार के करों से छूट देने की बराबर घोषणाएं करता रहता है। यहां तक कि कुछ राज्यों में सवा छ: एकड़ भूमि पर लगान माफ कर देने का निर्णय लिया गया, इससे स्वभाविक रूप से राज्य सरकारों की आर्थिक स्थिति पर खराब प्रभाव पड़ा। राजनीतिक कारणों से ही राज्य सरकारों ने कृषि से होने वाली आय पर कर लगाने में भी संकोच किया।

राज्यों के संबंध में यह शिकायत भी की जाती है कि वे स्वयं केन्द्र सरकार पर आर्थिक दृष्टि से आश्रित रहने के अभ्यस्त हो गए हैं और उनमें यह भावना विकसित होती रही है कि यदि कोई घाटा होता है तो केन्द्र सरकार स्वयं ही उसका पूरा करेगी। यही कारण है कि वे अपने आर्थिक साधनों का ठीक ढंग से प्रयोग नहीं करते और लगभग प्रत्येक राज्य में करों का काफी बकाया पड़ा हुआ है जिन्हें राज्य सरकारें वसूल करने में असमर्थ रही है। संघीय

IFS IAS

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

शासन प्रणाली के सुचारू रूप से चलने के लिए यह अति आवश्यक है कि केन्द्र और राज्यों के बीच समुचित सामंजस्य हो और उनके बीच परस्पर सहयोग की भावना उत्पन्न हो।

नियोजन और भारतीय संघः

मद्रास के मुख्यमंत्री अन्नादुराई ने एक बार कहा था कि 'वर्तमान सांविधानिक व्यवस्था उत्तरदायित्वों में भाग लेने की दृष्टि से संघात्मक है, किन्तु संसाधनों की प्राप्ति की दृष्टि से एकात्मक हैं उनके इस कथन का अर्थ यह है कि भारतीय संघ में राज्य सरकारों के आर्थिक साधन इतने सीमित हैं कि वे अपने निर्धारित कार्यों का संपादन करने के लिए केन्द्र सरकार का मुंह देखती हैं और यदि केन्द्र सरकार उन्हें आर्थिक सहायता न दे तो राज्य सरकारों का चलना ही कठिन हो जायेगा। आर्थिक दृष्टि से अत्यधिक शक्तिशाली होने के कारण केन्द्र सरकार का राज्य सरकारों से प्रभुत्व और नियंत्रण बराबर बढ़ता जा रहा है और केन्द्र पर राज्यों की इस आर्थिक निर्भरता के कारण भारतीय संघ का स्वरूप काफी प्रभावित हुआ है। 1950 में भारत ने एक नियोजन आयोग का निर्माण करके उसे संपूर्ण देश के आर्थिक विकास के लिए योजनाएं बनाने और उसके लिए धन की व्यवस्था करने का कार्य सौंप दिया। नियोजन आयोग की स्थापना और केन्द्र द्वारा पूरे देश के लिए नियोजन कार्य करने के फलस्वरूप देश की पूरी अर्थव्यवस्था पर केन्द्र सरकार का प्रभुत्व स्थापित हो गया।

यह बात उल्लेखनीय है कि नियोजन आयोग का प्रावधान संविधान में नहीं है और इसकी स्थापना एक कार्यकारणी आदेश द्वारा की गई थी। मूलरूप से नियोजन आयोग एक परामर्शदात्री संस्था है लेकिन विगत दशकों में नियोजन आयोग ने देश की अर्थव्यवस्था पर इतना अधिक नियंत्रण प्राप्त कर लिया है कि कुछ विचारकों ने उसे 'सर्वोपरी मंत्रिमंडल' (सुपर कैबिनेट) कहा है। यह कहना गलत न होगा कि नियोजन आयोग की स्थापना के बाद से राज्यों की आर्थिक प्रगति बहुत कुछ आयोग की दया पर निर्भर करती है। नियोजन आयोग संपूर्ण देश के लिए योजनओं का निर्माण करता है, उनकी प्राथमिकताओं को सुनिश्चित करता है तथा उसके लिए आवश्यक धन की व्यवस्था करता है।

यद्यपि यह सारे निर्णय परामर्श के रूप में होते हैं, लेकिन केन्द्र सरकार नियोजन आयोग की संस्तुतियों को मूल रूप से स्वीकार कर लेता है। इसी कारण अशोक चन्दा का कहना है कि 'भारत में नियोजन आयोग ने समानांतर सरकार का रूप धारण कर लिया है।'' वास्तविकता यह है कि समस्त आर्थिक समस्याओं का निराकरण नियोजन आयोग द्वारा किया जाता है और संपूर्ण देश के आर्थिक विकास की दिशा निर्धारण भी नियोजन आयोग ही करता है। विभिन्न योजनाओं को बनाने में व्यवहारिक रूप से राज्य सरकार का कोई कार्य भाग नहीं होता। 1952 में 'एक राष्ट्रीय विकास परिषद्' का निर्माण किया गया था जिसके सदस्य सभी राज्यों के मुख्य मंत्री होते हैं। इस परिषद के समक्ष विभिन्न योजनाओं को रखा जाता है लेकिन व्यवहारिक रूप से इस परिषद् में व्यक्त किये, गये विचारों का कोई प्रभाव नहीं होता, क्योंकि गैर कांग्रेसी सरकारी वाले राज्यों के अतिरिक्त अधिकांश राज्यों के मुख्यमंत्री अपने ही दल की सरकार के द्वारा अपनाई गई नीतियों का विरोध करने का साहसनहीं करते।

नियोजन आयोग का क्षेत्र इतना व्यापक है कि इसमें कला, साहित्य और क्रिड़ा जैसे विषय भी सम्मिलित किए गए हैं जिन्हें देखकर ऐसा लगता है कि केन्द्र और राज्यों के बीच किया जाने वाला शक्तियों का वितरण नियोजन आयोजन पर लागू नहीं होता। सामाजिक सेवाओं के नाम पर नियोजन आयोग शिक्षा, स्वास्थ्य, कृषि, सामाजिक कल्याण आदि विषयों पर पूरी तरह हस्तक्षेप करता है जो संघीय व्यवस्था के विपरीत है। प्रथम पंचवर्षीय योजना में कुल आय का 70 प्रतिशत तथा द्वितीय पंचवर्षीय योजना का65 प्रतिशत व्यय ऐसे विषयों के लिए था, जो मूलतः राज्य सूची के अंतर्गत आते हैं। उदाहरण के लिए कृषि स्वास्थ्य तथा विद्युत आदि।

योजनाओं का निर्माण करते समय नियोजन आयोग स्थानीय समस्याओं और आवश्यकताओं पर ध्यान न देते हुए संपूर्ण देश के लिए एक सी योजनाएं बनाने का प्रयास करता है और राज्यों को बड़े से बड़ा आर्थिक अनुदान देने की लालच देकर उन योजनाओं को अपनाने के लिए प्रेरित करता है। इसीलिए कुछ राज्यों की ओर से यह शिकायत की गई कि नियोजन आयोग क्षेत्रीय समस्याओं और आवश्यकताओं पर ध्यान दिये बिना अपनी योजनाओं को राज्यों पर लादने का कार्य कर रहा है। एक संघात्मक सरकार की स्थापना और सत्ता के विकेन्द्रीकरण के पीछे मूल भावना यह होती है कि देश के विभिन्न भागों का विकास और उनकी क्षेत्रीय समस्याओं का समाधान समुचित ढंग से किया जा सके, लेकिन केन्द्रीय नियोजन के कारण इस उद्देश्य की पूर्ति में अनके बाधाएं उत्पन्न हुई है, क्योंकि नियोजन आयोग ने क्षेत्रीय विभिन्नताओं पर प्रायः ध्यान दिये बिन किसी योजना को समस्त राज्यों में उनके विरोध के बावजूद लागू किया है।

उदाहरण के लिए 1953 में नियोजन आयोग ने पूरे देश के लिए फाइलेरिया उन्मूलन योजना तैयार के लिए जिसे सभी राज्यों से कार्यान्वित करने को कहा गया और इसके लिए केन्द्र सरकार बड़े से बड़ा अनुदान देने के लिए तैयार थी। पश्चिम बंगाल में फाइलेरिया का कोई विशेष जोर नहीं था, अतः पश्चिम बंगाल सरकार ने उस राज्य के लिए एक कुष्ठ निवारण स्कीम बनाने पर बल दिया, क्योंकि यह रोग उस राज्य में तेजी से फैल रहा था, लेकिन नियोजन आयोग पश्चिम बंगाल सरकारर के इस प्रस्ताव को स्वीकार करने के लिए तैयार न हुआ। इस उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि अगर योजना एक ओर देश के आर्थिक विकास में एकरूपता लाने में सहायक रहा है तो दूसरी ओर क्षेत्रीय समस्याओं का समाधान करने में बाधक भी सिद्ध हुआ और और इसकी वजह से राज्यों की स्वायत्तता को एक सीमा तक धक्का पहुंचा है।

IRS IAS

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

राज्यों पर केन्द्र के आर्थिक नियंत्रण का सबसे महत्वपूर्ण साधन केन्द्र सरकार द्वारा राज्यों को दो जाने वाली आर्थिक सहायता है। भारत में दो प्रकार के अनुदान देने की व्यवस्था है – एक सांविधानिक अनुदान और दूसरा विवेकाधीन अनुदान। प्रथम प्रकार का अनुदान अनुच्छेद 275 के अधीन वित्त आयोग की सिफारिश पर और दूसरा अनुदान नियोजन आयोग की संस्तुति पर दिया जाता है। केन्द्र की ओर से राज्यों को मिलने वाली आर्थिक सहायता का एक बड़ा भाग विवेकाधीन अनुदान होता है। आर्थिक अनुदानों के माध्यम से से केन्द्र सरकार राज्यों की योजनाओं और उनकी प्राथमिकताओं को बड़ी सीमा तक प्रभावित करती है नियोजन आयोग की इस शक्ति के कारण वित्त आयोग का महत्व कम हुआ है।

राज्यों पर केन्द्र सरकार के नियंत्रण के बढ़ने का एक और कारण केन्द्र द्वारा राज्य सरकारों को दिया जाने वाला ऋण है। जैसा कि लिखा जा चुका है, राज्य सरकारों की आर्थिक स्थिति इतनी खराब है कि केन्द्र सरकार की आर्थिक सहायता के बिना राज्य सरकारें कार्य नहीं कर सकती। यह आर्थिक सहायता कभी आर्थिक अनुदानों के रूप में और कभी ऋण के रूप में केन्द्र सरकार से प्राप्त होती है। आर्थिक अनुदानों व ऋण देने की यह व्यवस्था राज्य सरकारों को एक असहाय पूर्ण स्थिति में पहुंचा देती है और राज्य सरकारें केन्द्र द्वारा बनाई जाने वाली योजनाओं और दिये गये निर्देशों का पालन करने के लिए इस कारण बाध्य हैं, क्योंकि उन्हें केन्द्र को संतुष्ट करके अधिक से अधिक अनुदान प्राप्त करना होता है।

केन्द्र सरकार के बढ़ते हुए आर्थिक प्रभुत्व और नियोजन आयोग के बढ़ते हुए कार्यभाग को दृष्टि में रखते हुए कुछ विचारकों ने यह मत व्यक्त किया है कि आर्थिक नियोजन के कारण देश की संघीय व्यवस्था का स्वरूप एकात्मक सरकार में परिवर्तित हो गया है। एक लेकख, के. संथानम ने लिखा है कि 'नियोजन नं संघ को उल्लंघित कर दिया है और हमारा देश अनके मामलों में एकात्मक शासन प्रणाली के रूप में कार्य कर रहा है – नियोजन आयोग के अधीन एक ऊर्ध्वाधर प्रकार का संघ स्थापित हो गया है, जबकि संविधान ने एक क्षेत्रीय संघ को स्थापित किया है अर्थात् संविधान निर्मात्री सभा ने एक क्षैतिज प्रकार के संघ की स्थापना की है।''

राज्यों पर नियोजन आयोग के बढ़ते हुए नियंत्रण को शंका की दृष्टि से देखा गया है और इस बात की जोरों से मांग की जा रही है कि नियोजन आयोग को एक अराजनीतिक संस्था का रूप दिया जाना चाहिए ताकि आर्थिक क्षेत्र में केन्द्र सरकार के प्रभुत्व को कम किया जा सके और राज्यों की स्वायत्तता को सुरक्षिति रखा जा सके। इसमें संदेह नहीं है कि आर्थिक नियोजन के कारण राज्यों पर केन्द्र सरकार का नियंत्रण बहुत ज्यादा बढ़ा है, लेकिन दूसरी ओर कुछ ऐसे भी विचारक हैं जिनका कहना है कि नियोजन की सफलता में संघीय व्यवस्था बाधक रही है। प्रसिद्ध अर्थ शास्त्री गैडगिल का कहना भारत में नियोजन की सफलता में यहा की संघीय व्यवस्था सबसे बड़ी रूकावट है। यद्यपि यह बात एक सीमा तक ठीक है क्योंकि आर्थिक नियोजन में राज्य सरकारों की इच्छाओं की पूरी तरह उपेक्षा नहीं की जा सकती तथा नियोजनाओं के कार्यान्वयन के लिए केन्द्र सरकार को बहुत कुछ राज्यों पर निर्भर रहना पड़ता है।

केन्द्र सरकार की ओर से यह बराबर शिकायत की जाती रही हे कि राज्य सरकारें योजनाओं के कार्यान्वयन में पूर्ण सहयोग नहीं देती और उनकी उदासीनता के कारण योजनाओं को अपेक्षित सफलता नहीं मिल पाती। लेकिन इस बात में भी कोई संदेह नहीं कि आर्थिक नियोजन ने राज्यों को केन्द्र सरकार पर इतना अधिक आश्रित बना दिया है कि वह स्वतंत्रता पूर्वक कार्य नहीं कर सकते और परिणामस्वरूप नियोजन आयोग के कारण भारतीय संघ में एकात्मक प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन मिला है।

दल प्रणाली और केन्द्र-राज्य संबंध :

विगत पांच दशकों में केन्द्र और राज्यों के बीच संबंधों का स्वरूप बदलता रहा जबकि संविधान द्वारा स्थापित की गई संघीय योजना अपरिवर्तित रही। राज्यों की ओर से स्वायत्तता की मांग और संघीय योजना मं परिवर्तन के विभिन्न सुझावों के बाद भी सांविधानिक प्रावधानों में कोई परिवर्तन नहीं किया गया। किन्तु दल-प्रणाली ने संघीय व्यवस्था के कार्यान्वयन को बहुत ज्यादा प्रभावित किया। केन्द्र और राज्यों में सत्ता-परिवर्तन के साथ ही केन्द्र- राज्य संबंधों में भी बदलाव आता रहा।

1950 से 1967 तक पूरे देश में (कुछ राज्यों को छोड़कर) कांग्रेस का एकछत्र शासन रहा। नेहरू के प्रभावशाली नेतृत्व ने केन्द्र और राज्यों को मजबूती से एकता के सूत्र में बांध रखा और उनके बीच जो भी मतभेद उत्पन्न हुए उन्हें पार्टी-संगठन के स्तर पर हल कर लिया गया। योजना आयोग तथा राष्ट्रीय विकास परिषद ने केन्द्र के प्रभुत्व को बढ़ा दिया। व्यावहारिक रूप से अधिकांश राज्य-सरकार केन्द्र के इशारों पर काम करती रहीं। परिणामस्वरूप राज्य अपनी सांविधानिक शक्तियों के प्रयोग करने में भी स्वतंत्रता से कार्य न कर सके। एक-दलीय आधिपत्य ने शक्ति-केन्द्रीकरण को और ज्यादा बढ़ा दिया। इसीलिए इसे केन्द्रीकृत संघवाद का काल कहा जाता है।

1967 के आम चुनाव में दलीय दृष्टि से राजनीति का नक्शा बदल गया। कांग्रेस का एकछत्र शासन समाप्त हुआ और आठ राज्यों में गैर-कांग्रेसी मिश्रित सरकारों का निर्माण हुआ। बंगाल, पंजाब, तमिलनाडु आदि राज्यों में स्वायत्तता की मांग तो उठी किन्तु केन्द्र पर उसका कोई विशेष असर न हुआ। साझा सरकारें आपसी मतभेद के कारण जल्द ही बिखर गई। नेहरू के बाद केन्द्र में नेतृत्व का गंभीर संकट उत्पन्न हुआ, कांग्रेस दो टुकड़ों में विभाजित हो गई। कांग्रेस-शासित राज्यों के मुख्यमंत्रियों ने केन्द्रीय नेतृत्व के खिलाफ सर उठाना शुरू किया।

IFS IAS

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

इन परिस्थितियों में स्वयं केन्द्र की कांग्रेस-सरकार के लिए कांग्रेस-शासित राज्यों और गैर-कांग्रेस-शासित राज्यों दोनों ही एक सहयोग की आवश्यकता बढ़ गई। एक और केन्द्र में सत्तारूढ़ कांग्रेस दल ने आंतरिक टकराव और नेतृत्व का संकट था। दूसरी ओर राज्यों में साझा-सरकारें अपने-अपने अस्तित्व के लिए संघर्षरत थीं। इसलिए केन्द्र और राज्यों के बीच वैचारिक विरोध के अतिरिक्त कोई ऐसा टकराव नहीं हुआ जिसके कारण कोई बड़ा सांविधानिक संकट उत्पन्न हुआ हो वास्तविकताा यह थी कि 1967 से 1971 का का काल कमजोर केन्द्र और कमजोर राज्यों वाले संघ का चित्र प्रस्तुत करता है। केन्द्र में गुटों में बँटी कांग्रेस, सशक्त नेतृत्व की तलाश में थी और राज्यों में साझा सरकारें जीवित रहने के लिए प्रयासरत थीं। 1967-71 का काल केन्द्र और राज्यों के बीच गंभीर टकराव का काल होता यदि राज्यों में स्थिर सरकारें होती या केन्द्र में कांग्रेस पार्टी आंतरिक संकट का शिकार न होती। रजनी कोठारी का कहना है कि, 'वास्तव में गैर-कांग्रेसी मुख्यमंत्रियों से निभाव केन्द्रीय कांग्रेस सरकार के लिए ज्यादा आसान सिद्ध हुआ बाजाए कांग्रेस मुख्यमंत्रियों के जो कांग्रेस दल और केन्द्रीय सरकार के मामलों में दखल देने की कोशिश करते थे, क्यों कि वे अपने केवल मुख्यमंत्री नहीं, कांग्रेस का अखिल भारतीय नेता भी मानते थे। केन्द्र और राज्यों के बीच विभिन्न विवादों के बावजूद दोनों ही अपनी-अपनी कमजोरियों और मजबूरियों के कारण एक दूसरे से टक्कर लेने की स्थिति में न थे अत: इस काल (1967-71) को कुछ लोगों ने सहयोगी संघवाद कहा है।

1971-77 तक काल एकात्मक संघवाद का युग कहा जाता है। 1971 के चुनाव में श्रीमती गांधी के नेतृत्व में फिर पूरे देश में कांग्रेसी पार्टी का राजनैतिक एकाधिकार स्थापित हो गया। श्रीमती गांधी ने चुनाव में न केवल विपक्षी दलों का पराजित किया वरन् कांग्रेस के अंदर से उभरी नई पार्टी (कांग्रेस संगठन) को भी बुरी तरह हराया। श्रीमती गांधी एक सशक्त नेता के रूप में उभरी जिनका पार्टी संगठन और सरकार दोनों पर वर्चस्व स्थापित हो गया। उन्होंने देश की राजनैतिक और आर्थिक व्यवस्था में आमूल परिवर्तन करना चाहा जिसके लिए 42वें संशोधन के रूप में एक लघु-संविध ान बनाया गया; न्यायपालिका की शक्तियों में कटौती की गई, राज्य सरकारों का इच्छानुसार गठन और पुनर्गठन किया गया; और पूरी संसदीय व्यवस्था व्यवहार में 'प्रधानमंत्रीय व्यवस्था' में परिवर्तन हो गई। अपने विरोधियों को दबाने के लिए श्रीमती गांधी ने देश में आपात उद्घोषणा करा दी। इस राजनैतिक वातावरण में डरे और सहमे हुए राज्य केन्द्र में परिवर्तित हो गई।

1977 के चुनाव के बाद केन्द्र में पहली गैर-कांग्रेसी सरकार की स्थापना हुई इस गठबंधन सरकार में लगभग वे सभी गैर-कांग्रेस दल शामिल थे जो सत्ता में अपने से पहले राज्य स्वायत्तता के पक्षधर थे लेकिन सत्ता में आने के बाद वही नेता अपनी-अपनी कुर्सी बचाने के चक्कर में पड़ गए। मात्र दो साल की अवधि में तीन प्राधनमंत्री बदले और अंत में जनता सरकार का अंत हो गया। इस काल में अलग-अलग राज्यों में भिन्न-भिन्न दलों की सरकारें बनी जिन्होंने सामूहिक हितों के बजाए अपने-अपने हितों में केन्द्र से सौदेबाजी शुरू कर दी। फलस्वरूप केन्द्र और राज्यों के संबंध में कोई एक प्रतिमान विकसित न हो सका।

1980 से 1989 तक के काल में कांग्रेस के राजनैतिक एकाधिकार की पुनर्स्थापना हुई। 1979 में जनता पार्टी की सरकार के खत्म हो जाने और केवल दो वर्ष के अंतराल के बाद 1980 के चुनाव में श्रीमती गांधी की भारी जीत से लगभग सभी गैर कांग्रेसी राजनैतिक दलों का मनोबल खत्म हो गया। देश के अधिकांश राज्यों में पुन: कांग्रेस सरकारें अस्तित्व में आई। श्रीमती गांधी के चमत्कारी नेतृत्व और राजीव गांधी के युवा नेतृत्व में राज्यों के केन्द्र के नियंत्रण में रखा। केन्द्र और राज्यों के बीच सहयोग रहा हो या न रहा किन्तु केन्द्र की दृढ़ राजनैतिक स्थिति के कारण राज्य सरकारें किसी सौदेबाजी की स्थिति में न थी।

1989 के बाद से केन्द्र राजनैतिक दृष्टि से कमजोर होना शुरू हुआ। जनता दल की साझा सरकार परस्पर विरोधी विचारध ाराओं के बीच समन्वय करने का एक असफल प्रयास था। 1991 में गठित नरसिंहाराव की कांग्रेस सरकार अल्पमत की सरकार थी जिसने समझौते की नीति के सहारे पांच वर्ष की अवधि पूरी की।

1996 के चुनउाव के बाद से वास्तव में सौदेबाजी वाली संघ व्यवस्था तथा साझा सरकार का युग प्रारंभ हो गया। केन्द्र में गैर कांग्रेसी दलों की साझा सरकारें अस्तित्व में आयीं। इन गठबंध नों में क्षेत्रीय राजनैतिक दलों की निर्णायक भूमिका रही। 1996 से 2004 के बीच गठित गैर-कांग्रेसी मिश्रित सरकारों में एक दर्जन से ज्यादा राजनैतिक दल शामिल रहे। संघ सरकार इन्हीं दलों के प्रसादपर्यन्त बनती और टूटती रही। इस राजनैतिक परिदृश्य में संघीय व्यवस्था की दिशा में बदल गई। आंतरिक अंतर्विरोध के कारण केन्द्र सरकार कमजोर होती गई और राज्य सरकारें शक्तिशाली हो गई। इन परिस्थितियों में 'समझौते की राजनीतिक' का प्रारंभ हुआ। सामयिक राजनैतिक स्वार्थ के लिए राजनैतिक दलों ने अपनी राजनैतिक वैचारिकी का परित्याग कर दिया। रूठने और मनाने की राजनीति का प्रारंभ हुआ। तृणमूल कांग्रेस जैसे 2-3 सदस्यों वाले दल ने भी सरकार से समर्थन वापस लेने की धमकी दी। तमिलनाडु की मुख्यमंत्री जयललिता को मनाने के लिए प्रधामंत्री को अपना प्रतिनिधि भेजना पड़ा। छोटे-छोटे क्षेत्रीय राजनैतिक दलों ने केन्द्र से सौदेबाजी शुरु कर दी।

2004 के चुनाव के बाद कांग्रेस पार्टी ने पहले बार राष्ट्रीय स्तर पर साझा सरकार का निर्माण किया है। इस सरकार में एक ओर वामपंथी दल हैं जो हर मामले में अपना दबाव बनाते हैं और दूसरी ओर छोटे-छोटे दल हैं जो अपने हितों के लिए निरंतर सौदेबाजी में लगे हुए हैं। हाल में बिहार में राष्ट्रीय जनता दल के नेता लालू प्रसाद यादव के दबाव के कारण ही केन्द्र ने वहां राष्ट्रपति शासन की उद्घोषणा की जबकि यूपीए सरकार के एक अन्य घटक दल के नेता राम विलास पासवान इसका घोर विरोध

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

कर रहे थे।

वर्तमान परिस्थितियों में जो संघीय व्यवस्था विकसित हो रही है उसमें केन्द्र भी कमजोर है और राज्य भी कमजोर है। केन्द्रीय सरकार इस कारण कमजोर है कि उस का अस्तित्व ही छोट-छोटे राजनैतिक दलों की दया पर निर्भर करता है; राज्य इसलिए शक्तिशाली नहीं हो पाए कि उनमें एकता और मतैक्य नहीं है। वे अपने-अपने स्वार्थ के लिए खुद आपस में लड़ रहे हैं। इस प्रकार सौदेबाजी दो तरह की हो रही है; एक ओर स्वयं राज्यों में आपस में और दूसरी ओर केन्द्र और राज्यों के बीच। रुचिकर बात यह है कि इस सौदेबाजी में मांगने और देने वाले एक ही लोग हैं, अर्थात्, राज्यों में सत्तारूढ़ दल जो केन्द्र सरकार से अधिक शक्तियों की मांग कर रहे हैं वहीं केन्द्र सरकार के घटक दल भी हैं।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि भारत की संघीय व्यवस्था संविधान और संविधान बनाने वालों के मन्तव्य के विपरीत दिशा में विकसित हो रही है। यदि निकट भविष्य में सुसंगठित राष्ट्रीय दलों का विकास न हुआ तो भारतीय संघ एक ढीले संघ में परिवर्तित हो सकता है।

भारतीय संघात्मक व्यवस्था का मूल्यांकन :

कोई भी राजनीतिक नेतृत्व राष्ट्रीयता के तत्वों के आधार पर अथवा उभरते हुए मतैक्य या सामूहिक राजनीतिक इच्छा के सहारे ही संघवाद का निर्माण करता है। के. सन्थानम ने लिखा है कि, ''भारतीय संविधान एक विरोधाभास से शुरू होता है क्योंकि संविधान शासन की संघात्मक व्यवस्था स्थापित करता है जबकि तत्कालीन संविधान सभा में जनता का प्रतिनिधित्व कर रहे सभी राजनीतिक दल एकात्मक और अत्यधिक केन्द्रीकृत थे। यह बात कांग्रेस के साथ और भी कठोर रूप से लागू होती है।'' उद्देश्य प्रस्तावों में प्रयुक्त 'संघ' शब्द को हटाकर 'ऐक्य' (युनियन) शब्द का प्रयोग किया गया। यह बाताया भी गया कि ऐसा जानबुझकर किया जा रहा है क्योंकि भारत का संघ स्वतंत्र राज्यों को समझौते द्वारा मिलाकर उनकी स्वीकृति प्राप्त करने के पश्चात नहीं बनाया गया है और न ही उसका कोई इकाई राज्य उससे पृथक होने का अधिकार रखता है। इस प्रकार यह एक अविभाज्य एवं अटूट 'ऐक्य' (युनियन) बन गया। तत्कालीन संविधान सभा में अनेक सदस्य 'युनियन' का अर्थ ही नहीं समझते थे, वे संविधान पिताओं के भाषण स्कूली बच्चों की तरह सुनते थे। स्वयं संविधान निर्माता अपने आपको किसी विशिष्ट सिद्धांत या संघवाद विषयक विचारधारा से बंधे हुए नहीं मानते थे। भारत उस समय विश्व के अन्य संघों के लिए अनजान अनेक समस्याओं से जूझ रहा था। उन समस्याओं को किसी विशेष विचारधारा से बंधकर सुलझाना भी कठिन कार्य था। संविधान सभा के अध्यक्ष डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने कहा कि, ''व्यक्तिशः मैं किसी लेबल को महत्व नहीं देता चाहे आप उसे संघात्मक संविधान या एकात्मक संविधान या किसी अन्य नाम से क्यों न पुकारें। जब तक वह हमारे उद्देश्य की पूर्ति करता है उसके नाम से कोई अन्तर नहीं पड़ता।'' लेकिन जब एक-एक करके भयानक दुर्घटनाएं घटने लगीं जैसे साम्प्रदायिक दंगे, लाखों शरणार्थियों का आना, अनाज संकट, जम्मू कश्मीर, हैदराबाद तथा जूनागढ़ की समस्याएं आदि, तो संविधान निर्मात्री सभा के सभी सदस्य इस बात के लिए सहमत हो गए कि भारतीय संविधान को एकात्मकता प्रधान बनाया जाए। इन सभी घटनाओं/पारिस्थितियों का सामूहिक प्रभाव यह पड़ा कि, प्रांतीय चेतना ठण्डी पडने लगी और ''राष्ट्र संकट में'' के पीछे निहित राष्ट्रीय एकता की भावना को पुरजोर समर्थन मिलने लगा। स्वयं भारत का विभाजन ही एक बड़ा भारी पाठ था जिसने एकात्मक संघ अपनाने को विवश कर दिया।

राज्य के अधिकारों के प्रति चिंता जाती रही। भारतीय संविधान में कही भी 'संघ' शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है लेकिन संघात्मक व्यवस्था के संपूर्ण लक्षण भारतीय संविधान में देखे जा सकते हैं। इन प्रावधानों को केवल भारतीय राजनीतिक परिस्थितियों के लिए अनुकूलित करने का कार्य संविधान निर्माताओं ने किया है। भारत में संविधान को सर्वोच्चता स्थापित तथ्य है और केन्द्र या कोई भी इकाई-राज्य संविधान में कोई भी संशोधन करने का अधिकार केन्द्र के पास है न कि इकाई राज्यों में, और एक ऐसे समय में जब केन्द्र दो-तिहाई या तीन-चौथाई बहुमत प्राप्त दल सत्ता में है और यदि उसका आधे इकाई राज्यों में शासन है तो उसे

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

व्यापक संवैधानिक परिवर्तन करने का अधिकार मिल जाता है।

इतिहास साक्षी है कि ऐसी दशाओं में भारतीय संघ का प्रतिरूप 'एकात्मक संघवाद' का हो जाता है। इकाई राज्य भी संविध ान से बंधे हैं लेकिन वह स्वयं किसी संविधान संशोधन की पहल कर ही नही सकते। संसद की इस निर्बाध संविधान- तो न्यायिक निर्णयों के विकास का सुखद व शुभ परिणाम निकला कि, सर्वोच्च न्यायालय ने निर्णय दे दिया है कि, संसद संविधान में कोई भी संशोधन कर सकती है लेकिन वह संविधान की 'मूल संरचना' में कोई परिवर्तन नहीं कर सकती। जिस संसदीय शासन को हमने ब्रिटेन से ग्रहण किया था, वह अपनी संवैधानिक विकास-यात्रा में सर्वोच्च न्यायालय के निर्णयों व दिशा-निर्देशों के अधीन हो गया। अब संसदीय सर्वोच्चता तो दूर की बात रही, संविधान की भावी दशा-दिशा का निर्धारण भी सर्वोच्च न्यायालय ही कर रहा है। ऐसी स्थिति में न्यायिक सर्वोच्चता और संसदीय सर्वोच्चता के बीच का द्वन्द हमारी संघात्मक व्यवस्था का भविष्य एवं अस्तित्व निर्धारित करने में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करेगा।

संसद के कार्य करने की अवधि का निरंतर कम होते जाना, सांसदों में आधुनिक तकनीकी ज्ञान का अभाव तथा इन सबके कारण होने वाले प्रदत्त व्यवस्थापन ने आज मंत्रिमंडल की शक्तियां बढ़ा दी हैं। मंत्रिमंडल में प्रधानमंत्री की स्थिति सर्वमहत्वपूर्ण है। उसके पास प्रदत्त व्यवस्थापन के कारण तथा अन्य कारणों से आज ऐसी अनेक शक्तियां आ गयी हैं जो सामान्यत: उसके पास नहीं होती, ऐसी दशाओं में संघ में केन्द्रीकरण तथा एकात्मक प्रवृतियों का आना स्वाभाविक है। मंत्रिमंडल, प्रधानमंत्री के व्यक्तिगत नेतृत्व में निम्न सदन या लोकसभा के प्रति उत्तरदायी होता है, न कि इकाई राज्यों का प्रतिनिधित्व कर रहे राज्यसभा के प्रति। राज्यसभा की शक्तियों का संविधान में जिस प्रकार वर्णन है, उसे देखते हुए ही लगता है कि संविधान निर्माताओं ने केवल उसे द्वितीय सदन बनाया है, वरन् गौंण सदन (महत्वहीन) भी बना दिया है। एक तरफ राज्यसभा के प्रति कोई उत्तरदायित्व नहीं है और दूसरी तरफ लोकसभा में बहुमत होने के कारण उत्तरदयित्व 'प्रभावी' नहीं है। परिणाम यह हो रहा है कि, संसद की विश्वसनीयता का संकट उठ खड़ा हुआ है। आज व्यवस्थापिका के प्रति कार्यपालिका का उत्तरदायित्व सुनिश्चित रूप से एक विधिक तथ्य भले हो, लेकिन वह कोई व्यावहारिक तथ्य नहीं रह गया है। संघ की कार्यपालिका शक्तियों में हुई इस वृद्धि ने संघ में इकाई राज्यों की भूमिका व महत्ता को कम किया है।

एस.एल. वर्मा का विचार है कि, भारत के संदर्भ में बहुत कम राजनेता यह स्पष्ट कर पाए हैं कि प्रभुत्वपूर्ण संसदीय शासन प्रणाली ने केन्द्र में कार्य करते हुए भारतीय संघ को शीर्षविहीन कर दिय है। उसने समस्त इकाई राज्य की सरकारों को संघ की वास्तविक कार्यपालिका के रूप में का कर रहे प्रधानमंत्री की संविधानेत्तर शक्तियों के समक्ष झुका दिया है। प्रधानमंत्री की बढ़ती हुई शक्तियां संसदीय एकात्मवाद की प्रतीक हैं जो अन्ततोगत्वा निरंकुशता एवं एकाधिकारवाद की ओर ले जाती है। एस.एल. वर्मा का तो यहां तक विचार है कि, चाहे जितनी भी समितियां, आयोजन आदि केन्द्र-राज्य संबंधों को सुधारने के लिए क्यों न गठित किए जाएं, उनसे कुछ बनता-बिगड़ता नहीं।

भारतीय संविधान में कहीं भी 'संसदीय प्रजातंत्र' शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है लेकिन भरतीय संविधान निर्विवाद रूप से एक संसदीय लोकतंत्र की स्थापना करता है। इस व्यवस्था में राष्ट्रपति की भूमिका केवल संवैधानिक अध्यक्ष की होती है तथा संघीय व्यवस्था से जुड़े मामलों में वह बहुत कम स्वविवेक की शक्तियां रखता है। राष्ट्रपति के लिए आवश्यक है कि वह मंत्रिमंडल (वास्तव में प्रधानमंत्री) की सहायता व परामर्श को माने। उसके द्वारा विभिन्न संघीय अभिकरणों के अध्यक्ष व सदस्यों की नियुक्ति की जाती है लेकिन इन सदस्यों के नामों का सुझाव केन्द्रीय मंत्रिमंडल (प्रधानमंत्री) देता है। संघ लोक सेवा आयोग, वित्त आयोग, निर्वाचन आयोग, राजभाषा आयोग आदि संवैधानिक निकाय तथा योजना आयोग जैसे संविधानेत्तर निकायों को कार्यक्षेत्र केन्द्र व राज्य दोनों ही है लेकिन इनके सदस्यों व अध्यक्षों की नियुक्ति व अधिकारों का निर्धारण करने में राज्यों की कोई भूमिका नहीं है। इसलिए इन अभिकरणों के कार्यों से राज्यों का असंतोष प्राय: व्यक्त होता रहा है।

राष्ट्रपति हमारी संघात्मक व्यवस्था का शीर्षस्थ अधिकारी होने के कारण राज्यों की भावनाओं/आकांक्षाओं को व्यक्त करने का सशक्त माध्यम बन सकता है क्योंकि उसका निर्वाचन इकाई राज्यों की विधानसभाओं के निर्वाचित सदस्यों द्वारा भी होता है अत: उसका अनौपचारिक दायित्व इकाई राज्यों के अधिकारों की रक्षा करना भी है लेकिन वह सम्पूर्ण कार्य केन्द्रीय मंत्रिमंडल से परामर्श के पश्चात ही करता है। एक प्रकार से देखा जाय तो उसे केन्द्रीय मंत्रिमंडल की अधीनता में काम करना पड़ता है। ऐसी स्थिति में भारत के राष्ट्रपति से संघीय व्यवस्था में इकाई-राज्यों के अधिकारों की रक्षा करते हुए संविधान के संरक्षक की भूमिका निभाने की आशा करना ही व्यर्थ है। ऐसे अनेक उदाहरण हैं जब राष्ट्रपति को न चाहते हुए भी राज्यों में राष्ट्रपति शासन लगाना पड़ा है। राष्ट्रपति की संवैधानिक स्थिति चाहे जो हो, लेकिन अब यह माना जाने लगा है कि 'राष्ट्रपति' प्रधानमंत्री का प्रिय व्यक्ति ही हो सकता है। इंदिरा गांधी ने जिस प्रकार कांग्रेस के अधिकृत प्रत्याशी को हराकर अपने 'प्रिय व्यक्ति' को 'अन्तरात्मा की आवाज' पर चुनवाया था और जिस प्रकार मनमोहन सिंह एवं सोनिया गांधी की मुहिम ने प्रतिभा पाटिल को राष्ट्रपति के पद तक पहुंचाया था, उसे देखते हुए अब यही कहा जाने लगा है कि राष्ट्रपति चुने जाने के लिए प्रध ानमंत्री की सहमति एक अनिवार्य सत्य है। यह दशाएं देश के शीर्षस्थ पद को गरिमा को प्रतिकूल रूप से प्रभावित कर रही हैं।

कार्ल जे. फ्रेडरिक ने एक महत्वपूर्ण तथ्य की ओर संकेत किया है। संसदीय प्रणाली और संघीय व्यवस्था दोनों प्रकार की संरचनाओं के पीछे दो भिन्न प्रकार के दर्शन होते हैं। संसदीय

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

प्रणाली केन्द्रीकरण तथा एकात्मक प्रवृत्तियों की द्योतक है तथा संघवाद विकेन्द्रीकरण की बात करता है। संघवाद सांस्कृतिक, भाषायी, क्षेत्रीय तथा उद्‌भवजन्य ऐतिहासिक भिन्नताओं से सम्बद्ध है जबकि संसदीय प्रणाली समरस समाज एवं संस्कृति से जुड़े लोगों के लिए आदर्श है। फ्रेडरिक ने दोनों प्रकार की संरचनाओं/सरकारों के मिश्रण से बचने का सुझाव दिया है किन्तु वह विश्लेषण करने एवं सुझाव देने से आगे नहीं बढ़ पाया है।

भारत की बहुसंस्कृतिक सामाजिक संरचना में अनेकता के तत्वों की आसानी से उपेक्षा नहीं की जा सकती है। बिना उसको उचित महत्व दिए हम एकता भी स्थापित नहीं कर सकते क्योंकि एक गौरवशाली ऐतिहासिक संस्कृति के बावजूद और स्वतंत्रता के 65 वर्ष बीतने के बाद भी आज क्षेत्रीय एवं स्थानीय निष्ठाओं का ज्वार तीव्र उभार पर है। तमिलनाडु, कश्मीर, पंजाब, असम, त्रिपुरा, मिजोरम, सिक्किम, नागालैण्ड आदि राज्यों में आज भी स्थानीय निष्ठा राष्ट्रीय निष्ठा में विलीन नहीं हो पायी है। एस.एल. वर्मा का विचार है कि, तथाकथित एकता की धारणा अधिक अमूर्त, अस्पष्ट, विवादस्पद तथा आदर्शात्मक है जबकि अनेकता या भिन्नताएं अधिक स्पष्ट, दबावयुक्त, प्रभावी एवं मुखर हैं, अत: आवश्यक है कि उन्हें सहीं अभिव्यक्ति, समायोजन तथा राजनीतिक मूर्तिकरण प्रदान किया जाए, अन्यथा ये कभी भी ज्वालामुखी की भांति फट सकते हैं। संघीय व्यवस्था में राज्यों की ओर से उठने वाली अधिकांश समस्याओं की समाधान 'और अधिक संघात्मक' बनकर किया जा सकता है।

विविधताओं वाले देश के लिए संघीय व्यवस्था से बढ़कर और कोई शासन प्रणाली नहीं हो सकती है। संविधान निर्माता इस तथ्य से भली-भांति परिचित थे, तभी तो उन्होंने संविधान निर्माण के प्रारंभिक दिनों में एक 'वास्तविक संघ' का प्रतिरूप तैयार किया था, वह तो तत्कालीन परिस्थितियों का दबाव का प्रभाव था कि हमारा संघ केन्द्र की ओर झुक गया। तभी तो **के.सी. व्हीयर जैसे विद्वानों को संविधान 'क्वासी फेडरल' (अभासी संघ,** वास्तविक संघ नहीं, आभासी संघ का तात्पर्य यह है कि ऐसा संघ जो मूलत: एकात्मक हो, लेकिन उसमें कुछ संघात्मक प्रावधान भी किए गए हों) प्रतीत होता है। के.सी. व्हीयर ने अपनी पुस्तक 'फेडरल गवर्नमेन्ट' में कनाडा के संविधान को भी 'क्वासी-फेडरल' की ही श्रेणी में रखा है। वे अमेरिका के संविधान को 'आदर्श संघ' (टू फेडरल गवर्नमेन्ट) के रूप में देखते हैं। लेकिन संविधान के पन्नों पर वर्णित तथ्य प्राय: व्यवहार में अक्षरश: सत्य नहीं होते। यदि अमेरिका के संविधान को 'वास्तविक संघ' या आदर्श की कसौटी पर कसते हुए परीक्षण किया जाय तो यह ज्ञात होगा कि अमेरिका में समवर्ती सूची का अभाव (जो **केन्द्र और राज्यों के बीच कुछ विषयों के विधायन परस्पर सहयोग का मंच तैयार करती है**), राज्यों के बीच होने वाले व्यापार को विनियमित करने की कांग्रेस की शक्ति तथा निहित शक्तियों के सिद्धांत के कारण केन्द्र की शक्तियों में उतनी वृद्धि हो गई है जितना कि अमेरिकी संविधान-निर्माताओं ने सोचा भी नहीं था। अमेरिका संघ में निहित शक्तियों के सिद्धांत पर यदि ध्यान दिया जाय तो ज्ञात होगा कि यह शक्तियां भारत और कनाडा के संविधान में केन्द्र को अवशिष्ट सूची के विषयों पर कानून बनाने की शक्ति के समान है। अवशिष्ट शक्तियों के कारण ही भारत में निहित शक्तियों के सिद्धांत का विकास नहीं हो सका। भारत में अपातकालीन स्थितियों में केन्द्र को राज्य सूची के विषयों पर कानून बनाने की शक्ति है, लेकिन **अमेरिक में इस प्रकार का कोई प्रावधान** नहीं है।

किन्तु अमेरिकी सर्वोच्च न्यायालय ने इस आवश्यकता को समझा है। यदि कोई राज्य युद्ध जैसी संकटकालीन परिस्थितियों में अमेरिका संघीय सरकार द्वारा कानूनों का खुलेआम विरोध करता है तो आपातकालीन कानूनों के अनुपालन हेतु और संघ को टूटने से बचाने के लिए संघ (केन्द्र) 'सैन्य कार्रवाई' कर सकता है। इस प्रकार भारत एवं अमेरिका दोनों ही जगह संकट से देश को बचाने के लिए केन्द्र को इकाई राज्यों में हस्तक्षेप करने का समान अधिकार है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भारतीय संविधान में कुछ ऐसे संवैधानिक प्रावधान हैं जिनका अमेरिका में विकास न्यायपालिका के हस्तक्षेप से हुआ है। अत: के.सी. व्हीयर द्वार भारतीय संविधान को 'आभासी संघ' तथा अमेरिका को 'आदर्श संघ' कहना एक प्रकार से अन्तर्विरोधी कथन है। भारतीय संविधान भी उतना ही संघात्मक है जितना अमेरिका। सी.एफ. स्ट्रांग ने अमेरिकी संघ को 'अत्यधिक संघीकृत' माना है तथा कनाडा को उसकी तुलना में 'कम संघीकृत' माना है लेकिन वे कनाडा के संविधान या भारत के संविधान को 'आभासी संघ' नहीं मानते।' और कहना भी नहीं चाहिए क्योंकि कोई भी संघीय व्यवस्था अपने देश-काल, परिस्थितियों, ऐतिहासिक आवश्यकताओं तथा भविष्य के प्रति अपनी दृष्टि से आकार-प्रकार ग्रहण करती है और यह सभी प्रवृत्तियों अलग-अलग देशों में भिन्न-भिन्न प्रकार की होंगी, अत: किसी एक देश के संघ के प्रतिरूप को सबके लिए 'आदर्श व उपयुक्त' घोषित नहीं किया जाना चाहिए।

भारत ने केन्द्र व राज्यों के लिए एक ही प्रकार के संविधान बनाए, एक नागरिकता निर्धारित की, एक ही प्रकार की राष्ट्रीय सेवाओं का प्रतिरूप बनाया, इन सबके पीछे 150 वर्षों के ब्रिटिश शासन में विकसित हुआ प्रशासनिक ढ़ाँचा जिम्मेदार है। संविधान निर्माताओं को लगता था, कि कोई भी नया प्रयोग हमारे राष्ट्र को दुर्बल करेगा और वे परिस्थितियों को देखते हुए एक शक्तिशाली राष्ट्र बनाना चाहते थे। अनु. 201 (राज्य के विधेयकों को राष्ट्रपति के विचारार्थ आरक्षित करने का प्रावधान) तथा अनु. 356 (राज्यों में संवैधानिक तंत्र की विफलता की दशा में राष्ट्रपति शासन लगाने का प्रावधान) का विचार भी इसलिए आया क्योंकि राष्ट्र की कोई भी इकाई राज्य कमजोर न कर सके। भारत ने संघ को दुर्बलता से बचाने के लिए संघीय व्यवस्था को यदि थोड़ा सा केन्द्र की ओर झुका दिया है तो इसे परिस्थितिजन्य निर्णय समझना चाहिए, न कि 'आभासी संघवाद।'

20वीं सदी में हुए तकनीकी प्रगति, प्रौद्योगिक क्रांति तथा

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

जटिल होती सामाजिक संरचनाओं ने 'संघ' के प्रति परम्परागत सोच को परिवर्तित कर दिया है। वह 'राज्य' जो कभी 'लैसेजफेयर पॉलिसी' (अहस्तक्षेप की नीति) को अपनाया था, उसने अपना दायित्व बदलकर स्वयं को 'वेलफयेर पॉलिसी (लोककल्याणकारी नीति) से जोड़ दिया है। इससे अमेरिका तथा आस्ट्रेलिया (जो संघ के आदर्श प्रतिरूप माने जाते रहे हैं) में भी 'संघ' की संरचना प्रभावित हुई है। अमेरिका में 1930 ई. में आयी आर्थिक मंदी तथा द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद यह सामान्य विचार बनना शुरू हुआ कि, लोक कल्याण के मुद्दों से राज्य अपने को जोड़े, वह जनता के और करीब आए, इसलिए परम्परागत संघ की अवधारणा में परिवर्तन हो गया। इस नवीन आवधारणा ने अमेरिका में इकाई-राज्यों के अधि कारों के प्रति चेतना प्रसारित की। लास्की ने परम्परागत संघ के युग के समाप्त होने की बात की। लेकिन नवीन अवधारणा ने संघवाद के जिस नवीन युग की चर्चा करना शुरू किया था, वह था सहयोगी संघवाद का युग।

1938 ई. में मिस जाने पेरी क्लार्क ने अपनी पुस्तक 'द राइज आफ न्यू फेडरलिज्म' में 'सहयोगात्मक संघ' की चर्चा की। इस अवधारणा में यह विचार समाहित था कि संघ के भीतर इकाई राज्य स्वायत्तशासी संस्थाओं की भांति काम करें और राष्ट्रीय एकता के आदर्श को सामने रखें। 1955 ई. में ए.एन. बिर्च ने भी इस ध ारणा व संज्ञा को स्वीकार किया। 1950 ई. में भारत का संविधान जब बनकर तैयार हुआ तो उसमें बहुत सारे ऐसे प्रावधानों को समावेश था जो केन्द्र व राज्यों के बीच सहयोगी के बेहतर माध्यम बन सकते हैं।

इनके उदाहरण इस प्रकार हैं:

1. समवर्ती सूची के विषयों पर केन्द्र व राज्य दोनों को कानून बनाने का अधिकार,
2. **केन्द्र और राज्यों के बीच उठने वाले विवादों के निपटारे के लिए केवल एक संस्था सर्वोच्च न्यायालय का होना,**
3. केन्द्र व राज्यों की बीच वित्तीय संसाधनों के बँटवारे के लिए अनु. 280 के अंतर्गत वित्त आयोग के गठन का प्रावधान,
4. राज्यों के बीच उठने वाले पानी के विवादों का निपटारा संसद द्वारा किए जाने तथा इस संबंध में संसद द्वार विधि -निर्माण की शक्ति (अनु. 262)
5. केन्द्र व राज्यों के बीच बेहतर संबंध स्थापित करने तथा समन्वय के नए आधारों का पता लगाने हेतु गठित की जाने वाली अंतर्राज्यीय परिषद (अनु. 263),
6. दो या दो से अधिक राज्यों के लिए संयुक्त लोक सेवा आयोग के प्रावधान का होना तथा किसी इकाई राज्य द्वारा ली जाने वाली परीक्षाओं का संघ लोक सेवा आयोग द्वारा संचालन व आयोजन,
7. केन्द्र व राज्यों के बीच उठने वाले, विधि-निर्माण की अधिकारिता से जुड़े मामलों में केन्द्र की शक्ति का प्रभावी होना,
8. आपातकाल में राज्यों की शक्ति व अधिकारिता का केन्द्र द्वारा प्रयोग,
9. राज्यों को वित्तीय सहायता एवं कुछ करों का केन्द्र एवं राज्यों के बीच विभाजन संबंधी प्रावधान,
10. अन्तर्राज्यीय व्यापार एवं वाणिज्य का विनियमन।

इसके अतिरिक्त भारत के संविधान के बाहर भी केन्द्र व राज्यों के बीच सहयोग के अनेक मंच अब तैयार किए जा चुके हैं जैसे-

1. मुख्यमंत्रियों की बैठकें,
2. राज्य के विभिन्न विभागों के मंत्रियों की केन्द्र के साथ होने वाली बैठकें,
3. राज्यों के बीच पारस्परिक सहयोग के मंच के रूप में क्षेत्रीय परिषदों का गठन,
4. योजना आयोग,
5. राष्ट्रीय विकास परिषद्
6. केन्द्र द्वारा राज्यों को दी जाने वाली विवेकाधीन आर्थिक सहायता आदि।

भारत में जब संविधान बनकर तैयार हुआ, तभी यह आरोप लगाया गया कि संविधान केन्द्रीकृत है, राज्यों के अधिकार व भूमिका में अपेक्षा से अधिक कमी कर दी गयी है, लेकिन इस प्रकार के आरोप पूर्णत: सुविचारित नहीं है। भारतीय संविधान निर्माण के समय की राजनीतिक परिस्थितियों ने भले ही हमारे संविधान को केन्द्र की ओर झुका दिया है तथापि राज्यों के अधिकारों को लेकर संविधान निर्माता चिंतित थे, तथा उन्होंने इस संबंध में अनके प्रावधान भी किए हैं। केन्द्र की प्रत्यक्ष अधिकारिता केन्द्र शासित प्रदेशों तक ही सीमित है, इकाई राज्यों में उसका प्रशासन नहीं है, अत: केन्द्र अपनी अनेक योजनाओं के क्रियान्वयन हेतु (जैसे स्वास्थ्य, शिक्षा, पर्यावरण, रेल, सड़क आदि) राज्यों के ऊपर निर्भर है। अनेक ऐसे उदाहरण हैं जब इकाई राज्यों ने केन्द्रीय अभिकरणों की बातें नहीं मानी। जैसे, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने कुछ मानक निर्धारित किए हैं जिनका पालन विश्वविद्यालय की स्थापना करते समय किसी भी राज्य द्वारा किया जाना चाहिए।

इस प्रकार की शिकायतें आयोग ने कई बार की है कि, राज्य, विश्वविद्यालय स्थापित करते समय तो आयोग द्वारा निर्धारित मानकों की अवहेलना करते हैं लेकिन विश्वविद्यालय हेतु आर्थिक मदद मांगने के लिए दौड़े चले आते हैं, जब मानकों के पूरा न होने के कारण वित्तीय/आर्थिक मदद नहीं दी जाती है तो वे इस बात का शोर करते हैं कि उनके राज्य के विश्वविद्यालय के साथ केन्द्रीय अभिकरण का व्यवहार खराब है। इसी प्रकार वित्त आयोग तथा योजना आयोग द्वारा दिए गए निर्देशों का पालन इकाई राज्य नहीं करते हैं लेकिन इन आयोगों से अधिक से अधिक वित्तीय मदद मांगते रहते हैं। पॉल एच. एपेलबी द्वारा 1953 में भारतीय प्रशासन संबंधी अपनी रिपोर्ट में कहा गया था कि, ''भारत में केन्द्र की निर्भरता इकाई राज्यों पर इतना अधिक है जितना की किसी अन्य

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

संघ में नहीं।'' राज्यों में अनेक बार इस प्रकार की शिकायतें भी की हैं कि केन्द्र द्वारा योजनाओं के निर्माण के समय तो हमसे कोई विचार-विमर्श नहीं किया जाता, वस्तुत: योजनाओं के निर्माण से लेकर योजनाओं के क्रियान्वयन तक केन्द्र द्वारा राज्यों को साथ लेकर चलना चाहिए तभी योजनाएं सफल हो सकती हैं।

केन्द्र व राज्यों के बीच सहयोग के जितने अधिक सोपान या स्तर होंगे, उतना ही अच्छा भविष्य 'संघ' का होगा। सहयोग के ये सोपान न केवल केन्द्र व राज्यों को एक-दूसरे के निकट लाते हैं, वरन् इकाई राज्यों के बीच उठने वाले विवादों (विशेषत: सीमा विवाद तथा व्यापारिक प्रतिबंध संबंधी विवाद) के समाधान का अवसर भी देते हैं। राज्यों को कभी भी ऐसा नहीं लगना चाहिए कि केन्द्र उनके साथ सौतेला व्यवहार कर रहा है और न ही केन्द्र को यह अनुभव होना चाहिए कि इकाई-राज्य उसके साथ सहयोग नहीं कर रहे हैं। दोनों को अपने अधिकारों, शक्तियों, सीमाओं तथा पारस्परिक निर्भरता को समझते हुए काम करना चाहिए। राज्य स्वायत्तशासी निकाय की भांति रहते हुए भी राष्ट्रीय एकता, अखण्डता, तथा सम्प्रभुता के सरकारों से स्वयं को जोड़ रहें, तभी संघ गतिशील बना रह सकता है। इकाई राज्यों के अधिकारों के संदर्भ में केन्द्र 'संरक्षक' की भूमिका निभाए तथा इकाई राज्य भी स्वयं को महत्वपूर्ण विषयों पर केन्द्र द्वारा दिए गए उचित आदेशों से बद्धमूल मानें, तभी संघ शास्वत रहेगा। यह सर्वदा ध्यान रखना चाहिए कि केन्द्र व राज्यों के बीच उठने वाले विवाद पारिवारिक वातावरण में ही सुलझा लिए जाएं, किसी भी 'बाहरी ताकत' का हस्तक्षेप संघ की संप्रभुता दोनों के लिए घातक/खतरनाक हो सकता है। वस्तुत: संघ तभी बना रह सकता है जब भिन्न-भिन्न विचारों के लोग एक साथ मिलजुलकर काम करें। संघ की स्थापना, गतिशीलता तथा शास्वतता के लिए राज्य प्रत्येक व्यक्ति की मन:स्थिति का बहुलवादी तथा संघीय होना आवश्यक है। आज अंतर्राष्ट्रीय परिदृश्य पर अपनी सशक्त आर्थिक उपस्थिति प्रदर्शित करने के लिए विभिन्न देशों द्वार आर्थिक/वित्तीय संगठन बनाए जा रहे हैं, जैसे नाफ्टा, यूरोपीय यूनियन, एशियान, मर्कोसुर, ओपेक, साफ्टा आदि। ये संगठन आर्थिक-संघवाद के द्योतक हैं इस संबंध में भारत के प्रधानमंत्री डॉ. मनमोहन सिंह के विचार दृष्टव्य हैं जो उन्होंने संघवाद के बारे में होने वाले चतुर्थ अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन में कहे थे ''....वास्तव में, आज हम जिस तरह विश्व को निरंतर वैश्वीकृत होता देख रहे हैं; उससे लगता है कि वह दिन दूर नहीं जब पूर्ण सार्वभौमिकता का प्रश्न उठाया जाय। नियम आधारित अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्थाएं विभिन्न प्रकार के मानव व्यवहार में व्याप्त हो चुकी हैं, इसलिए यह संभावना दिखने लगी है कि, मानव मात्र के व्यापक हित में राष्ट्र अपने सार्वभौमिक अधिकारों का परित्याग प्रारंभ करने लगें और 'एक वैश्विक संघ' का निर्माण हो।''

वैश्वीकरण का भारतीय संघीय व्यवस्था पर प्रभाव

वैश्वीकरण या भूमंडलीकरण राष्ट्रों की भौगोलिक सीमाओं से परे आर्थिक सहयोग की प्रक्रियाओं एवं उनके प्रबंधन का मुक्त प्रवाह है। वैश्वीकरण एक परिवर्तन-बिन्दु है और कोई भी परिवर्तन जो राज्य द्वारा प्रायोजित और समर्थित हो, राजनीति पर प्रभाव डाले बिना नहीं रह सकता। वैश्वीकरण की प्रक्रिया से जुड़ने को लेकर भारत में राज्यों और राजनीतिक दलों की एक राय नहीं थी। कृषि एवं व्यापार संबंधी मुद्दों पर राज्यों की आशंकाओं का समाधान किए बिना ही भारत सरकार ने 14 अप्रैल, 1994 ई. को गैट (GATT-जनरल एग्रीमेंट ऑन टैरिफ एण्ड ट्रेड आर्थात् 'व्यापार एवं प्रशुल्कों पर सामान्य सहमति') पर हस्ताक्षर कर दिया और इस प्रकार 1 जनवरी, 1995 ई. को अस्तित्व में आए WTO (वर्ल्ड ट्रेड आर्गनाइजेशन- विश्व व्यापार संगठन) का संस्थापक सदस्य भारत बन गया। पंजाब और तमिलनाडु राज्यों ने भारत सरकार की WTO में शामिल होने की एकतरफा नीति (क्योंकि इकाई राज्यों की पूरी तरह विश्वास में नहीं लिया गया था) को 'संघ' की भावना की विपरीत बताकर सर्वोच्च न्यायालय का दरवाजा खटखटाया था लेकिन अभी भी इस पर कोई न्यायिक निर्णय नहीं आया है।

वैश्वीकरण (उदारीकरण, निजीकरण और बजारीकरण, वैश्वीकरण के उप अंग हैं और प्राय: ये सभी शब्द सामान्य बोलचाल में पर्यायवाची के रूप में प्रयुक्त होते हैं) प्रारंभ होने के कुछ वर्ष बाद ही भारतीय संघ के राज्यों में इसको लेकर एक अनौपचारिक आम सहमति कायम हो गयी तथा सभी राज्यों ने इससे जुड़े लाभों तथा अवसरों का दोहन करने के लिए अपनी नीतियों तथा योजनाओं में व्यापक परिवर्तन करना प्रारंभ कर दिया। इन अभिनव परिवर्तनों ने भारतीय संघ के स्वरूप एवं प्रकृति में एक बदलाव की प्रक्रिया आरंभ कर दी है।

वैश्वीकरण का एक प्रारंभिक सूत्र है कि संपूर्ण विश्व में पूंजी का उन्मुक्त प्रवाह हो अर्थात् पूंजी निवेश के मार्ग में कोई बाधा न खड़ी की जाय। भारत में वैश्वीकरण के कारण विदेशी पूंजी तो आयी किन्तु उसका निवेश केवल उन्हीं राज्यों में हुआ जो पहले से ही एक विकसित आधारभूत ढ़ाँचा रखते थे, अविकसित या आधारभूत ढ़ाँचे की दृष्टि से पिछड़े राज्यों में विदेशी पूंजी का निवेश कम हुआ। इस संबंध में यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि 1991-2000 ई. के बीच जितना भी पूंजी निवेश भारत में हुआ उसका 25 प्रतिशत अकेले महाराष्ट्र तथा गुजरात में हुआ और बिहार जैसे पिछड़े राज्यों में 0.9 प्रतिशत (अर्थात् 1 प्रतिशत से भी कम) निवेश हुआ। रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया के क्षेत्रीय कार्यालयों से प्राप्त सूचनाओं पर यदि ध्यान केन्द्रित किया जाय तो ज्ञात होगा कि अप्रैल 2000 से लेकर नवम्बर 2009 के बीच भारत में हुए संपूर्ण प्रत्यक्ष विदेशी निवेश का लगभग 55.0% अकेले महाराष्ट्र और राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र में हुआ है।

इसी अवधि में बिहार, झारखण्ड, उ.प्र., उत्तराखण्ड, मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़ और राजस्थान ने भारत में हुए संपूर्ण प्रत्यक्ष विदेशी निवेश का 1% हिस्सा भी कठिनाई से प्राप्त किया है। पूंजी निवेश के कारण विकसित राज्यों में जो औद्योगिक वातावरण बना एवं राज्य को जो विकास हुआ, उसने विकसित एवं पिछड़े राज्यों के बीच पहले से ही चले आ रहे असमानता की खाई को और

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

चौड़ा कर दिया। भारत में एक ओर तो गुजरात, महाराष्ट्र, कर्नाटक, आन्ध्रप्रदेश, केरल, तमिलनाडु, दिल्ली, गोवा, पंजाब और हरियाणा जैसे विकसित राज्य हैं तो वही बिहार, छत्तीसगढ़, उ.प्र., म.प्र., उड़ीसा, झारखण्ड आदि जैसे पिछड़े राज्य भी हैं। पूर्वोत्तर भारत के सातों राज्य भी इसी पिछड़े वर्ग वाले राज्यों की श्रेणी में हैं। इन राज्यों के विकास की व्यवस्था आदि शीघ्र नहीं की गई तो भारतीय संघीय व्यवस्था एक ऐसे मोड़ पर पहुंच जाएगी, जहां एक ओर उद्योग प्रधान राज्य होंगे तो दूसरी ओर श्रम या श्रमिक प्रधान राज्य, फलत: दोनों ही वर्ग के राज्यों के हित भी पृथक-पृथक होंगे। कुछ वर्ष पूर्व चन्द्रबाबू नायडू (आन्ध्रप्रदेश के तात्कालीन मुख्यमंत्री) ने चेतावनी भरे स्वर में कहा था कि विकसित या पिछड़े राज्यों (BIMARU) का विकास करने की केन्द्र की प्रवृत्ति चिन्ताजनक है। आने वाले दिनों में संभव है कि, 'भारत के विकसित राज्यों में यह सोच पैदा हो कि भारत के अविकसित राज्य उनके ऊपर बोझ हैं, इस प्रकार की प्रवृत्तियां 'संघ' के लिए घातक होंगी। देश के भीतर इकाई राज्यों के बीच निरंतर बढ़ती आर्थिक खाई एवं हितों की पारस्परिक असमानता हमारी संघीय व्यवस्था के लिए खतरनाक है।

ध्यान रहे कि अमेरिका में गृहयुद्ध का कारण उत्तरी अमेरिका के राज्यों तथा दक्षिणी अमेरिका में गृहयुद्ध का कारण उत्तरी अमेरिका के राज्यों तथा दक्षिणी अमेरिका के राज्यों के बीच आर्थिक हितों की टकराहट ही थी, जहां एक वर्ग कृषि एवं बागानी अर्थव्यवस्था (जो कि श्रम आधारित, श्रमिक प्रधान अर्थव्यवस्था थी) का समर्थक था तो दूसरा वर्ग औद्योगीकरण का समर्थन करता था।

आर्थिक असमानता केवल विभिन्न राज्यों के बीच ही नहीं बढ़ रही है, वरन इकाई राज्य के भीतर, एक क्षेत्र तथा दूसरे क्षेत्र के बीच भी बढ़ रही है। प्रदेश के विभिन्न क्षेत्रों के बीच बढ़ रही असमानता विकसित एवं विकासशील राज्यों दोनों में पाया जा रहा है। यदि उत्तर प्रदेश के दो क्षेत्रों को ले तो पाएंगे कि पूर्वी उत्तरप्रदेश (मऊ, बलिया, आजमगढ़, देवरिया, चन्दौली, बस्ती आदि जिले) में उद्योग-धंधे शून्य हैं तो वहीं पश्चिमी उ.प्र. (मेरठ, गाजियाबाद, नोएडा, आगरा आदि जिले) उद्योग-धंधों एवं प्रगति की दृष्टि से अधिक संपन्न हैं वैश्वीकरण का भी कोई लाभ पूर्वी उत्तर प्रदेश के लोगों को अब तक नहीं मिल सक है।

राज्यों के भीतर इस प्रकार की विषमता आगे चलकर राज्यों के विभाजन के रूप में या छोटे-छोटे राज्यों को बनाने की मांग के रूप में सामने आती है। उत्तर-प्रदेश में पूर्वी उत्तर प्रदेश को पृथक करके पूर्वांचल राज्य बनाने की मांग तथा दक्षिण भारत में विदर्भ या तेलंगाना राज्य बनाने की मांग इसी असंतुलित विकास से पैदा हो रही है। इस प्रकार की मांगों से भारतीय संघ के अनके छोटे-छोटे राज्यों में बंट जाने का खतरा बढ़ रहा है। विषमताओं की कोख से जन्म लेने वाले छोटे राज्य संघ व्यवस्था पर एक नए प्रकार का दबाव डाल रहे हैं।

वैश्वीकरण की एक बात के लिए प्राय: आलोचना की जाती है कि उसने पूंजी का प्रवाह तो सुनिश्चित कर दिया है लेकिन श्रम का नहीं, यद्यपि यह आलोचना अंतर्राष्ट्रीय स्तरपर की जाती है, लेकिन भारत के संदर्भ में यह बात भारत के भीतर राज्यों के पारंपरिक राजनीति पर भी लागू होती है। भारत में विकसित राज्यों (कर्नाटक, महाराष्ट्र आदि) में पिछड़े राज्यों (बिहार, उ.प्र. आदि) से मजदूर एवं युवा वर्ग जाकर रोजगार प्राप्त करना चाहता है किन्तु विकसित राज्यों के निवासियों को लगता है कि उनके राज्य में वैश्वीकरण के कारण उत्पन्न हुए नए अवसरों को अन्य राज्यों के लोग आकर हथिया रहे हैं। इस प्रकार की सोच से तनाव बढ़ता है और क्षेत्रवाद की भावनाएं पनपने लगती हैं। महाराष्ट्र से उत्तर भारतीयों को निकालने की घटना तथा असम के चाय बागानों में काम के लिए जाने वाले बिहार के लोगों को निकालने या भगाने की घटना इसी सोच से जन्म ले रही है।

फ्रांस, जर्मनी, ब्रिटेन जैसे देशों में कुछ दलों का मुख्य चुनावी एजेण्डा ही विदेशी लोगों को काम के अवसरों से वंचित करते हुए काम के अवसरों को केवल अपने ही देश के निवासियों के लिए सुरक्षित व आरक्षि करना है। भारत में भी शिवसेना सदृश स्थानीय क्षेत्रीय दलों की यह सोच व प्रवृत्ति है। वे भी काम के अवसरों को केवल मराठी लोगों तक ही सीमित रखना चाहते हैं। इस प्रकार की संकीर्ण भावनाएं क्षेत्रवाद को बढ़ाकर देश की 'एकता और अखण्डता'` लिए खतरा पैदा कर देगी। 'एकता और अखण्डता' - यह शब्द संविधान की प्रस्तावना में वर्णित है और यह शब्द भारतीय शासन, संघवाद तथा संविधान के अस्तित्व एवं भविष्य का आधार है तथा सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय के अनुसार संविधान का मौलिक या आधारभूत ढ़ाँचा भी है। अत: इस पर प्रहार करने वाली कोई भी घटना या प्रवृत्ति संविधान के लिए चुनौती/खतरा बन सकती है।

वैश्वीकरण ने भारतीय संघात्मक व्यवस्था में केन्द्र-राज्य संबंधों को भी प्रभावित किया है। आज केन्द्र और इकाई राज्यों के स्तर पर 'अर्थ और व्यापार' सभी नीतियों एवं निर्णयों के केन्द्र बिन्दु में है। परिणामत: आज सरकारों की प्राथमिकता में आर्थिक पक्ष अत्यंत महत्वपूर्ण हो गया है जबकि सर्वाधिक संवेदनशील सामाजिक आधारभूत ढ़ाँचा सरकार के एजेण्डा में दूसरे नंबर पर चला/फिसल गया है। वैश्वीकरण के कारण उत्पन्न आर्थिक वातावरण को राज्य के विकास के लिए आवश्यक बताकर अनेक इकाई राज्यों के मुख्यमंत्री अब पूंजी निवेशकों को आकृष्ट करने के लिए स्वयं विदेश यात्राएं करने लगे हैं।

इकाई राज्यों के बीच पारस्परिक प्रतिस्पर्द्धा सी मची हुई कि वे आर्थिक गतिविधियों तथा औद्योगिक विकास का वातावरण बेहतर बनाकर/प्रदर्शित करके अन्य राज्यों की तुलना में अधिकाधिक मात्रा में विदेशी पूंजी निवेश प्राप्त कर सकें। पारस्परिक प्रतिस्पर्द्धा के कारण ही अनेक बार गुजरात प्रशासन ने पूंजीनिवेश के लिए भारत के अन्य राज्यों में तथा विदेशों में बसे गुजराती

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

समुदाय से आग्रह किया है। इसी प्रकार अपने-अपने राज्यों द्वारा भी किया गया है। इन पूंजी निवेशकों को यह समझाया जाता है कि उनका मूल निवास इस राज्य में है तथा उनके पूर्वज इसी राज्य के थे अतः राज्य का विकास करना या पूंजीनिवेश करते समय अन्य राज्यों के तुलना में अपने मूल राज्य को वरीयता देना उनकी नैतिक जिम्मेदारी है। इस प्रकार एक भावनात्मक सूत्र जोड़ने का प्रयास भी राज्यों द्वारा किया जा रहा है।

भारत में आज इकाई राज्य विदेशी पूंजी निवेशकों, विदेशी संस्थागत निवेशकों, विश्व बैंक, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष तथा विश्व व्यापार संगठन के प्रतिनिधियों तथा इसी प्रकार के अन्य अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं से सीधे बातचीत कर हरे हैं। इस प्रकार की सीधी बातचीत से राज्य सरकारों तथा निवेशकों दोनों को ही लाभ हुआ है। राज्य सरकार ऐसी बातचीत में पूंजीनिवेशकों को राज्य के सामाजिक-आर्थिक सरकारों से अवगत कराकर उससे जोड़ने को प्रयास करती है तथा निवेश की राशि को अधिकाधिक बढ़ाने का भी प्रयास करती है। जबकि निवेशक टैक्स, जमीन, बिजली आदि के मुद्दों पर राज्य सरकार से सौदेबाजी करके अनुकूलतम स्थिति प्राप्त करने का प्रयास करते हैं।

कभी-कभी एक ही निवेशक एक साथ एक से अनेक राज्यों में निवेश करता है तो ऐसेमें उन सभी राज्यों को एकही मंच पर, एक साथ बैठकर उस विदेशी संस्था/निवेशक से बातचीत करके अपने सामूहिक हितों को प्राप्त करने तथा इस प्रकार राज्यों के बीच एकजुटता स्थापित करने का अवसर मिल जाता है, इससे राज्यों के बीच सहयोग बढ़ता है। अनके बार विश्व बैंक जैसी संस्थाएं ऋण देते समय (प्रायः प्राथमिक शिक्षा व्यवस्था के उन्नयन तथा बिजली बोर्डों की दशा सुधारने संबंधी अनुदान देते समय) सीधे उन राज्यों से बात करती है जहां योजनाओं का कार्योन्वयन होना है। इससे केन्द्र की महत्ता कम हो रही है। यह एक नया परिवर्तन है। जिसमें राज्यों की भूमिका बढ़ गई है और इससे भारतीय संघ को एक नया स्वरूप प्राप्त हो रहा है।

आज इकाई राज्य यह मांग करने लगे हैं कि उन्हें विदेशी पूंजी निवेश सीधे स्वीकार करने (बिना केन्द्र सरकार के हस्तक्षेप के) तथा विदेशी मुद्रा का प्रबंध करने का अधिकार मिले, लेकिन इस प्रकार की कोई भी मांग करते समय इस तथ्य पर ध्यान देने की आवश्यकता है कि विदेशी पूंजी निवेश, विदेश नीति का ही एक भाग है और विदेश नीति केन्द्र के पास होना संघवाद की प्रमुख शर्त है। आज विदेश नीति संबंधी निर्णय करने का एकमात्र अधिकार केन्द्र के पास तो है, लेकिन इस अधिकार के क्रियान्वयन के प्रश्न पर भी केन्द्र राज्यों के दबाव में आता प्रतीत हो रहा है। संभव है कि आने वाले दिनों में यह 'दबाव' बढ़े तब संघवाद को नयी चुनौती मिलेगी जो वैश्वीकरण से ही उद्‌भूत है। आज राज्य आर्थिक स्वायत्तता के प्रश्न को लेकर केन्द्र पर दबाव डाल रहा है चूंकि केन्द्र में किसी एक दल के शासन का अभाव है तथा राज्यों में क्षेत्रीय दलों का प्रभाव बढ़ रहा है और ये क्षेत्रीय दल केन्द्रीय सरकार को सौदेबाजी के साथ समर्थन दिए हुए हैं, ऐसी दशा में आज केन्द्रीय सरकार की संघवाद के संबंध में परम्परागत सोच बदल रही है, इससे भी केन्द्र-राज्य संबंध एक नयी दिशा में बढ़ रहा है।

क्षेत्रीय दलों का अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में प्रवेश-संघात्मक व्यवस्था के विशेष संदर्भ में :

1990 ई. के बाद भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में कभी 'गैर कांग्रसवाद' के नाम पर तो कभी 'तीसरे मोर्चे' के नाम पर केन्द्र एवं राज्यों में विभिन्नता क्षेत्रीय दलों (उसमें कुछ राष्ट्रीय दल भी थे) ने गठबंधन सरकारों का निर्माण किया है। आज जनता अपने क्षेत्रीय हितों के प्रति अधिक चैतन्य हो गयी है, उसमें निहित जातीयता का पुट राजनीतिक रूप से स्वयं को अभिव्यक्त करने लगा है, इसी कारण छोटे-छोटे तथा बड़े क्षेत्रीय राजनीतिक दल उभर कर सामने आ रहे हैं।

वस्तुतः राजनीतिक दलों का प्रवेश समाज में कितनी गहराई तक हुआ है और उसे कहां तक या किस सीमा तक जनता को स्वीकृति मिल सकी है, इस पर ही किसी संसदीय लोकतंत्र का भविष्य एवं अस्तित्व निर्भर करता है, लेकिन यदि जनता की क्षेत्रीय भावनाएं राष्ट्रीय भावनाओं के साथ सामंजस्य नहीं बना पा रही है हो तो क्षेत्रीय राजनीकि दलों की स्थानीय रुचियां या क्षुद्र हित/स्वार्थ, संघात्मक ढ़ाँचे के हितों या भारत के अंतर्राष्ट्रीय प्राथमिकताओं से अधिक महत्वपूर्ण मानी जाने लगे तो इसके बड़े खतरनाक परिणाम सामने आ सकते हैं। गठबंधन सरकारों के इस युग में एक नयी प्रवृत्ति यह उभरकर सामने आती है कि भारत में क्षेत्रीय दल भी विभिन्न अंतर्राष्ट्रीय मुद्दों पर खुलकर अपने विचार प्रकट करने लगे हैं। यह एक अच्छी प्रवृति है कि क्षेत्रीय दल अपने क्षेत्रीय हितों के साथ-साथ अंतर्राष्ट्रीय परिवेश के प्रति भी जागरूक हैं। यह हमारी विदेश नीति या अंतर्राष्ट्रीय प्राथमिकताओं के और भी अधिक लोकतांत्रिक बनने के प्रवृत्ति का परिचायक है लेकिन अनेक ऐसे मुद्दे हैं जिनपर क्षेत्रीय दलों की राय राष्ट्रीय हितों से पृथक है, जैसे- भारत के सभी राष्ट्रीय राजनीतिक दल आतंकवाद के मुद्दे पर (आतंकवाद भारत में हो या विश्व के किसी अन्य देश में) एकमत हैं कि इसका उन्मूलन परम आवश्यक है।

आतंकवाद के उन्मूलन हेतु ही भारत ने श्रीलंका में शांति सेना भेजी थी, लेकिन यह बात तमिलनाडु के एक क्षेत्रीय दल द्रविड़ मुनेत्र कड़गम (द्रमुक) की स्थानीय रुचियों एवं प्राथमिकताओं के विपरीत है। द्रमुक सदैव से ही श्रीलंका में बसे तमिलों के हितों को लेकर खतरनाक स्तर तक संवदेनशील एवं सक्रिय रहा है। तमिलनाडु की राजनीति में श्रीलंका में बसे तमिलों के प्रति वैचारिक-व्यावहारिक दृष्टिकोण किसी भी दल के अस्तित्व एवं भविष्य का निर्धारक बना जाता है। वहां प्रायः सभी राजनीतिक दल तमिलनाडु में सत्ता पाने के लिए श्रीलंका के तमिल आंदोलन, जिसका स्वरूप पृथकतावादी है, का समर्थन करते रहे हैं। तमिलनाडु के एक क्षेत्रीय दल (पट्टालि मक्कल काँची) ने अपने क्षेत्रीय राजनीति को जारी रखते हुए भारत की केन्द्रीय मनमोहन सिंह

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

सरकार से यह मांग की कि, श्रीलंका में पृथक तमिल राष्ट्र को मान्यता दे दी जाय और भारतीय मूल के लोगों के अधिकारी की रक्षा की जाय। कुछ वर्ष पूर्व तमिलनाडु विधानसभा ने एक प्रस्ताव पारित करके भारत सरकार से यह मांग की कि उसे श्रीलंका में बसे तमिलों के हितों को देखते हुए वहां सशस्त्र हस्तक्षेप करना चाहिए।

इस तरह की मांग करते समय क्षेत्रीय दल अपने क्षेत्र-विशेष की राजनीतिक विवशताओं से प्रेरित होते हैं न कि राष्ट्रीय हितों से। जब क्षेत्रीय दल केन्द्रीय मंत्रिमंडल में शामिल हों या उसे बाहर से समर्थन दे रहे होते हैं तो ऐसी दशा में क्षेत्रीय दल अपने क्षेत्रीय हितों को लेकर सौदेबाजी करने की स्थिति में आ जाते हैं। इन दलों के दबाव के आगे केन्द्रीय गठबंधन सरकार (जो इन क्षेत्रीय दलों के समर्थन पर टिकी हुई है) ने कुछेक बार घुटने भी टेक दिए हैं। द्रमुक नेता करुणानिधि श्रीलंका में जारी गृहयुद्ध में तमिल गुटों के बड़े पक्षधर हैं उन्होंने मनमोहन सिंह सरकार (2008 ई.; यह सरकार द्रमुक के समर्थन पर टिकी थी) से श्रीलंका में हस्तक्षेप करने की मांग की, यह उनके दबाव का ही परिणाम था कि, नवम्बर 2008 में दिल्ली आने वाले, श्रीलंका के राष्ट्रपति महिन्द्रा राजपक्षे से भारत गठबंधन सरकार के प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह ने जाफना में सदियों से बसे तमिल भाषियों के बचाव एवं सुरक्षा का आग्रह किया। यह संघात्मक व्यवस्था में, विदेश नीति के सदंर्भ में उभरने वाले एक नए आंतरिक दबाव का सूचक है। तमिलनाडु के इन नेताओं के प्रायः लिट्टे समर्थन वक्तव्य स्थानीय हितों के अनुकूल भले ही हों, वे राष्ट्रीय हितों के अनुकूल कदापि नहीं कहे जा सकते। दिसंबर 2008 ई. में एक प्रेस-इन्टरव्यू के दौरान श्रीलंका के सेना प्रमुख जनरल शरत फोसेंका ने तमिलनाडु के राजनीतिज्ञों को उनके लिट्टे प्रेम के कारण 'राजनीतिक मसखरा' कह दिया। उन्होंने कहा कि भारत सरकार लिट्टे के साथ संघर्षविराम करने के लिए श्रीलंका को कभी विवश नहीं करेगी और न ही तमिलनाडु के राजनीतक मसखरों की ही बात मानेगी। उन्होंने आगे भी कहा कि यदि लिट्टे को श्रीलंका से मिटा दिया जाय तो तमिलनाडु में अनेक नेताओं की कमाई बंद हो जायेगी।

इन वक्तव्य के साथ तमिलनाडु के एक राजनीतिक दल से संबद्ध नेता वाइको ने प्रधानमंत्री को पत्र लिखकर श्रीलंका के राष्ट्रपति से इस वक्तव्य पर स्पष्टीकरण लेने की मांग की तथा सेनाध्यक्ष फोर्सेका को बिना शर्त माफी मांगने को कहा। यह क्षेत्रीय दलों का ही दबाव था कि भारत ने इस पूरे प्रकरण पर श्रीलंका के रक्षा सचिव से औपचारिक विरोध दर्ज कराया और उन्होंने इस प्रकरण पर खेद भी व्यक्त किया।

भारत में कुछ ऐसे राजनीतिक दल भी हैं जो अरब-इजरायल संघर्ष के प्रश्न पर अरब जगत का खुला समर्थन करते हैं और इजरायल की आलोचना करते हैं। ऐसा वे किसी अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की विशिष्ट समझ या भारत के राष्ट्रीय हितों के आधार पर नहीं करते, वरन् भारतीय मुसलमानों की अरब जगत के साथ मनासिक तादात्म्य/सामंजस्य के कारण करते हैं। इस प्रकार के राजनीतिक दल मुसलमानों का 'वोट बैंक' के रूप में देखते हैं तथा उनकी 'इस्लामवाद' (या थोड़ा सकरात्मक अर्थ में कहें तो इस्लामी-भाईचारा की भावना) के हितों के अनुकूल अपने दल की नीति का या कार्यक्रम तैयार करते हैं। कई बार इसमें भारत के राष्ट्रीय हित भी प्रभावित हो जाते हैं। अंतर्राष्ट्रीय परमाणु ऊर्जा एजेंसी (IAEA) में भारत ने जब ईरान के विरूद्ध मतदान किया या अमेरिका के साथ परमाणु समझौता (2008 ई.) किया तो भारत के अनके राजनीतिक दलों ने बिना अंतर्राष्ट्रीय यथार्थ को समझे भारत सरकार की आलोचना कर डाली।

कुछ क्षेत्रीय दलों ने (जो गठबंधन सरकार में शामिल रहे हैं) अपनी राजनीतिक विवशताओं के कारण अमेरिका के राष्ट्रपति जार्ज बुश की भारत यात्रा का विरोध भी किया। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में निहित राष्ट्रीय हित को कुछ क्षेत्रीय दल स्थानीय या साम्प्रदायिक चश्में से देख रहे हैं यह संघात्मक व्यवस्था के लिए कोई शुभ लक्षण नहीं है। वस्तुतः विदेश नीति के संदर्भ में कोई भी निर्णय करते समय संपूर्ण राष्ट्रीय हितों के परिप्रेक्ष्य में विचार करना चाहिए। यदि राजनीतिक दबाव समाज के प्रत्येक वर्ग के हितों को अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के माध्यम से साधने का प्रयास किया जाएगा तो हमारी विदेश नीति विखराव को शिकार हो जाएगी। क्षेत्रीय दलों की संघात्मक व्यवस्था में एक सार्थक, सकरात्मक एवं समन्वित राष्ट्रीय भूमिा होनी चाहिए न कि स्वार्थ पर आधारित विघटनकारी भूमिका। गठबंधन उत्शृंखलता का शिकार न होने पाए, कोई भी क्षेत्रीय दल सरकार को गिराने का भय दिखाकर अपने क्षेत्रीय हितों के आगे राष्ट्रीय हितों को गौण बनाने की कोशिश न कर सके - इसके लिए क्षेत्रीय राजनीतिक दलों की क्षुद्र महत्वाकांक्षाओं को नियंत्रित करके 'एक गठबंधन धर्म' बनाने की आवश्यकता है।

Sriram IAS

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

भारत का महान्यायवादी (अनु. 76)

भारत में महान्यायवादी का पद ब्रिटेन की नकल होते हुए भी उससे काफी भिन्न है। ब्रिटेन में विधिमंत्री ही महान्यायवादी होता है और वह विधिमंत्री होने के कारण मंत्रिमण्डल का सदस्य भी होता है जब मंत्रिमंडल के विरूद्ध अविश्वास-प्रस्ताव (कॉमन सभा में) पारित होता है या किसी कारण से कॉमन सभा विघटित हो जाती है तो महान्यायवादी (जो पदेन विधिमंत्री होता है लेकिन साथ-साथ महान्यायवादी का भी कार्य करता है) को भी पदत्याग करना पड़ता है। नया मंत्रिमंडल आने पर पुनः नए विधिमंत्री की नियुक्ति की जाती है जो महान्यायवादी का भी कार्य भार ग्रहण करत है। लेकिन भारत में इससे भिन्न प्रावधान है। भारत में महान्यायवादी एक स्वतंत्र-संवैधानिक व्यक्तित्व है। महान्यायवादी की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है और वह राष्ट्रपति के प्रसादपर्यन्त पद पर बना रहता है। उसे ऐसा पारिश्रमिक मिलता है जिसका निर्धारण राष्ट्रपति करे। महान्यायवादी के पद पर नियुक्त होने वाले व्यक्ति के लिए वहीं योग्यता अपेक्षित है जो उच्चतम न्यायालय का न्यायाधीश नियुक्त होने के लिए चाहिए। महान्यायवादी का यह कर्त्तव्य है कि वह भारत सरकार को कानून एवं संविधान संबंधी ऐसे विषयों पर परामर्श दे और कानूनी स्वरूप वाले ऐसे अन्य कार्यों/कर्त्तव्यों का पालन करे जो राष्ट्रपति उसको समय-समय पर निर्देशित करे या सौंपे। उसे साथ ही साथ ऐसे दायित्वों का भी निर्वहन करना पड़ेगा जो उसको इस संविधान द्वारा अथवा तत्समय किसी कानून द्वारा सौंपे जायं। महान्यायवादी भारत सरकार का मुख्य विधिक सलाहकार होता है। उसे अपने कर्त्तव्यों के अनुपालन में भारत राज्यक्षेत्र के सभी न्यायालयों में (अधीनस्थ, उच्च तथा उच्चतम) भारत सरकार का पक्ष प्रस्तुत करने का अधिकार होगा। वह संसद के किसी भी सदन में भारत सरकार का पक्ष प्रस्तुत कर सकता है लेकिन वह किसी भी मतदान में भाग नहीं लेता है (अनु. 88) क्योंकि संसद में मतदान केवल वे व्यक्ति ही करते हैं जो संसद के किसी-न-किसी सदन के सदस्य हों। जब महान्यायवादी संसद में सरकार का पक्ष प्रस्तुत कर रहा होता है तो उसे विशेषाधिकार प्राप्त होंगे जो एक सांसद के पास होते हैं।

राज्य का महाधिवक्ता (अनु. 165)

जिस प्रकार केन्द्र सरकार अपने विधिक सलाहकार के रूप में महान्यायवादी की नियुक्ति करती है, उसी प्रकार राज्य की सरकार विधि संबंधी विषयों पर सलाह देने तथा विधिक स्वरूप के अन्य कर्त्तव्यों का पालन करने के लिए महाधिवक्ता की नियुक्ति करती है। प्रत्येक राज्य का राज्यपाल उच्च न्यायालय का न्यायाधीश नियुक्त होने के लिए अर्हित किसी व्यक्ति को राज्य का महाधिवक्ता नियुक्त करेगा (अनु. 165(1))। इसका पद राज्यपाल के प्रसादपर्यन्त बना रहेगा और पारिश्रमिक का निर्धारण भी राज्यपाल करेगा, (अनु. 165(3))। महाधिवक्ता को यह अधिकार होगा कि वह राज्य विधानमण्डल के किसी भी सदन में या उसकी किसी भी समिति में, जहाँ उसका नाम सदस्य के रूप में नामित हो, अपनी ओर से सरकार का पक्ष प्रस्तुत करे तथा उसकी कार्यवाहियों में भाग ले, लेकिन वह विधानमंडल में होने वाली किसी भी मतदान की प्रक्रिया में भाग नहीं ले सकता (अनु. 177)।

केन्द्र और राज्यों की ओर से नियुक्त महाधिवक्ता की नियुक्ति, पद-अधिकार तथा पदावधि और समान है, केवल एक बात में अंतर है। केन्द्र सरकार के महान्यायवादी को अपने कर्त्तव्यों के पालन में भारत राज्यक्षेत्र के सभी न्यायालयों में सुनवाई का अधिकार होगा (अनु. 76(3)) लेकिन राज्य के महाधिवक्ता को उच्च न्यायालयों या राज्य के अधीनस्थ न्यायालयों में किसी भी प्रकार की सुनवाई का अधिकार नहीं होता। इस प्रकार का उपबंध राज्यों में केन्द्र के समान नहीं है।

IAS

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

महालेखा परीक्षक

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 148 के तहत एक स्वतंत्र महालेखा परीक्षक की प्रावधान है जो भारत के लेखा-बही का प्रमुख होता है और समय-समय पर केंद्र और राज्य सरकारों के आर्थिक क्रियाकलापों की देख-रेख करता है।

नियुक्ति की शर्तें:-

(1) महालेखा परीक्षक की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा होती है।

(2) उसका कार्यकाल नियुक्ति से 6 वर्ष तक होता है या वह 65 वर्ष की आयु पूरा कर लिया हो।

(3) वह भारत का नागरिक हो तथा बहीं-खातों की निगरानी का लंबा अनुभव हो।

स्वतंत्रता:- महालेखा परीक्षक को स्वतंत्र कार्य करने के लिए कई प्रावधान किए गए हैं:-

(1) इसकी नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है और इसको हटाने का कार्य भी राष्ट्रपति करता है।

(2) इसके कार्यकाल के दौरान इसकी सेवा एवं शर्तों में किसी भी प्रकार का बदलाव नहीं किया जा सकता।

(3) वह इस पद को धारण करने के बाद किसी अन्य केंद्रीय एवं राज्य स्तरीय पद को धारण नहीं कर सकता।

(4) इसका वेतन, भत्ता एवं पेंशन भारत की संचित निधि पर भारित होती है। इसका वेतन एवं सुविधाएं उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों के समतुल्य होती है।

(5) अपने तमाम लेखों के निरक्षण का विवरण वह समय-समय पर राष्ट्रपति को सौंपता है। जिसपर विचार करने के लिए राष्ट्रपति संसद सदस्यों के सामने संसद के पटल पर रखवाता है।

(6) इसको पद से विमुक्त करने के लिए लगभग वहीं प्रावधान है जो उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों के हटाने का प्रावधान है।

शक्तियां एवं कार्य:- संविधान के अनुच्छेद 149 के तहत संसद समय-समय पर महालेखा परीक्षक के कर्तव्यों नियम एवं शर्तों का निर्धारण करती है।

(1) उन सभी बहीं-खातों का निरक्षण करना जिनमें केंद्र एवं राज्य सरकारों के खर्चे शामिल होते हैं। उन सभी संस्थाओं व्यापारी घरानों आदि के खातों का निरक्षण करना जिन्हें केंद्र और राज्य सरकार का वित्तीय सहायता प्राप्त है।

(2) महालेखा परीक्षक समय-समय पर केंद्र एवं राज्य सरकारों के खातों को बेहतर बनाने के लिए राष्ट्रपति को सलाह देता है।

(3) महालेखा परीक्षक समय-समय पर अपनी रिपोर्ट राष्ट्रपति को सौंपता है और राष्ट्रपति इस पर विचार करने के लिए इस रिपोर्ट को संसद के सदस्यों के समक्ष रखवाता है।

(4) महालेखा परीक्षक राज्य स्तरीय खातों से संबंधित रिपोर्ट राज्यपाल को सौंपता है और राज्यपाल इस पर विचार के लिए विधानसभा में रखवाता है।

(5) यह नये टेक्स के निर्धारण एवं धन उपयोगिता संबंधित सलाह भी देता है।

(6) यह संसद के लोक-लेखा समिति के लिए एक मार्गदर्शक मित्र एवं एक दार्शनिक की तरह कार्य करता है।

(7) वह राज्य सरकारों के खातों को संकलित एवं नियंत्रित करता है।

(8) इसकी सतर्कता का परिणाम बहुत व्यापक होता है और सरकारों को पथ से विमुख होने की संभावना कम होती है। जिसका वर्तमान उदाहरण 2-जी घोटालों में देखा जा सकता है।

IAS

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

निर्वाचन आयोग

पारदर्शी, निष्पक्ष एवं निर्धारित समय पर निर्वाचन-प्रजातंत्र का एक अनिवार्य पहलू है। निर्वाचन के माध्यम से सरकार का जनता के प्रति उत्तरदायित्व सुनिश्चित किया जाता है। लोकतंत्र की सफलता के लिए यह अनिवार्य शर्त है कि विधि के शासन पर आधारित संवैधानिक संस्थाओं के प्रति जनता में आस्था निरंतर बनी रहे। निर्वाचन जितना अधिक पवित्रता एवं पारदर्शितापूर्ण होगा, जनता की निष्ठा लोकतंत्र में उतनी ही गहरी होती चली जाएगी। लोकतंत्र रूपी अग्नि को अनवरत प्रज्ज्वलनशील बनाए रखने में निर्वाचन घी का काम करता है। संविधान निर्माताओं को इस बात का भली-भांति ज्ञान था कि भारत जैसे विविधतापूर्ण एवं विशाल देश में निर्वाचन एक सतत् चलने वाली प्रक्रिया बन जाएगी, अत: उन्होंने संविधान के भाग 15 में एक निर्वाचन आयोग का प्रावधान किया है।

संविधान के अनु. 324 के अनुसार, निर्वाचन आयोग मुख्य निर्वाचन आयुक्त और उतने अन्य निर्वाचन आयुक्तों से मिलकर बनेगा जितनें राष्ट्रपति समय-समय पर नियत करें। निर्वाचन आयोग में नियुक्त होने वाले किसी भी आयुक्त की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा, संसद द्वारा बनाए गए कानून के अनुसार ही की जाएगी (अनु. 324(2))। वस्तुत: भारत का निर्वाचन आयोग संविधान निर्माताओं द्वारा एक सदस्यी ही बनाया गया था, लेकिन साथ ही उन्होंने भावी निर्वाचन संबंधी जटिलताओं का अनुभव कर उसे बहुसदस्यीय बनाने की संभावना एवं आवश्यकता को राष्ट्रपति के ऊपर छोड़ दिया था। सम्प्रति, भारत का निर्वाचन आयोग बहुसदस्यी कुल 3 सदस्य है और इसमें एक मुख्य निर्वाचन आयुक्त तथा शेष दो निर्वाचन आयुक्त हैं। अनु. 324(3) के अनुसार जब निर्वाचन आयोग बहुसदस्यीय होगा तो मुख्य निर्वाचन आयुक्त, आयोग के अध्यक्ष तथा शेष व्यक्ति सदस्य के रूप में काम करेंगे। निर्वाचन आयोग के कार्यों में सहायता देने के लिए उसे राष्ट्रपति और राज्यपाल यथा संभव कर्मचारीवृन्द उपलब्ध कराएंगे (अनु. 324(6))।

भारत के प्रथम निर्वाचन आयुक्त सुकुमार सेन थे। उन्होंने 21 मार्च,1950 को पदभार ग्रहण किया और 19 दिसम्बर 1958 तक अपने पद पर बने रहे।

प्रादेशिक निर्वाचन आयुक्त:-

संविधान में राज्यों के लिए भी समयानुसार प्रादेशिक निर्वाचन आयुक्त नियुक्त करने का प्रावधान है। अनु. 324(4) के अनुसार, लोकसभा के और प्रत्येक राज्य की विधानसभा के साधारण निर्वाचन से पूर्व तथा विधानपरिषद वाले प्रत्येक राज्य की विधान परिषद के लिए प्रथम साधारण निर्वाचन से पूर्व और उसके पश्चात् प्रत्येक द्वि-वार्षिक निर्वाचन से पूर्व भारत का राष्ट्रपति भारत के निर्वाचन आयोग से परामर्श करने के बाद संविधान में निर्वाचन आयोग को सौंपे गए कार्यो के पालन में आयोग को सहायता पहुंचाने के लिए उतने प्रादेशिक आयुक्तों की भी नियुक्ति कर सकेगा, जितने वह आवश्यक समझे।

संसद द्वारा बनाए गए कानूनों के अधीन रहते हुए निर्वाचन आयुक्तों एवं प्रादेशिक निर्वाचन आयुक्तों की सेवा की शर्तें एवं पदावधि ऐसी होगी, जो राष्ट्रपति नियमों द्वारा निर्धारित करे (अनु. 324(5))। उत्तर प्रदेश सरकार ने राज्य निर्वाचन आयुक्त का कार्यकाल 7 वर्ष तथा इस पद पर बने रहने की अधिकतम आयु सीमा 67 वर्ष कर दी है। इस संदर्भ में अलग-अलग राज्यों में पृथक-पृथक नियम हैं।

आयोग के सदस्यों की पदावधि तथा पद से हटाया जाना:-

संसद द्वारा बना गए कानून के अनुसार, मुख्य निर्वाचन आयुक्त 5 वर्ष या 65 वर्ष की आयु पूरी होने तक इसमें से जो भी पहले पूरी हो पद धारण करेगा।

संविधान अनु. 324(5) के अनुसार, मुख्य निर्वाचन आयुक्त को उसके पद से उसी रीति से और उन्हीं आधार पर हटाया जाएगा, जिस रीति से और जिन आधारों पर सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश को हटाया जाता है, अन्यथा नहीं। तात्पर्य यह है कि, मुख्य निर्वाचन आयुक्त को उसके पद से तब तक नहीं हटाया जागा, जब तक कि सिद्ध कदाचार या असमर्थता (शारीरिक या मानसिक) के आधार पर ऐसे हटाए जाने के लिए संसद के प्रत्येक सदन द्वारा अपनी कुल सदस्य संख्या के बहुमत तथा उपस्थित व मत देने वाले सदस्यों के कम-से-कम दो-तिहाई बहुमत द्वारा, समर्थित समावेदन राष्ट्रपति के समक्ष उसी सत्र में रखे जाने पर राष्ट्रपति ने आदेश अर्थात् सहमति नहीं दे दिया हो, अर्थात् न्यायाधीश के समान ही, मुख्य निर्वाचन आयुक्त को पद से हटाने की प्रक्रिया एक ही सत्र में पूरी हो जानी चाहिए, क्योंकि सत्रावसान के कारण यह व्यपगत या रद्द या समाप्त हो जाएगा।

राष्ट्रपति द्वारा किसी अन्य निर्वाचन आयुक्त या किसी प्रादेशिक निर्वाचन आयुक्त को मुख्य निर्वाचन आयुक्त की सिफारिश पर ही पद से हटाया जाएगा, अन्यथा नहीं।

मुख्य निर्वाचन आयुक्त की सेवा-शर्तों में उसकी नियुक्ति के पश्चात् कोई अलाभकारी परिवर्तन नहीं किया जाएगा।

बहुसदस्यी निर्वाचन आयोग में मुख्य निर्वाचन आयुक्त की स्थिति:-

निर्वाचन प्रणाली की जटिलता और देश के विशाल भू-भाग को देखते हुए संविधान निर्माताओं ने निर्वाचन आयोग को बहुसदस्यी बनाने की संभावना को भावी सरकारों पर छोड़ दिया था। पूर्व प्रधानमंत्री स्व. राजीव गांधी ने अक्टूबर 1989 ई. में निर्वाचन आयोग को बहुसदस्यी बनाने की घोषणा की तथा दो व्यक्तियों को निर्वाचन आयुक्त नियुक्त कर आयोग को त्रिसदस्यी

FIRST IAS

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

बना दिया; लेकिन बाद में वी.पी. सिंह के प्रधानमंत्री काल में उन नियुक्तियों को रदद् करते हुए पुनः निर्वाचन आयोग को एक सदस्यी बना दिया गया। बाद में जब पुनः कांग्रेस की पी.वी. नरसिंहराव सरकार केन्द्र में बनी तो निर्वाचन आयोग के कुछ निर्णयों से उसे परेशानी हुई और उसे ऐसा लगा कि मुख्य निर्वाचन आयुक्त के रूप में टी.एन. शेषन जैसे व्यक्ति के आचरण को मर्यादित करने की आवश्यकता है, अतः उसने 2 अक्टूबर 1993 ई. को राष्ट्रपति से एक अध्यादेश जारी कराके तत्कालीन एक सदस्यी निर्वाचन आयोग को पुनः बहुसदस्यीय बनाते हुए इसमें दो अन्य आयुक्तों की भी नियुक्तियाँ कर दी। उच्चतम न्यायालय ने भी अपने कई पूर्ववर्ती निर्णयों में निर्वाचन आयोग जैसी व्यापक शक्तियों एवं उत्तरदायित्वों से युक्त संस्था को बहुसदस्यी बनाने के पक्ष में विचार व्यक्ति किया था, बाद में राष्ट्रपति द्वारा निर्वाचन आयोग को बहुसदस्यीय बनाने संबंधी अध्यादेश को संसद ने स्वीकृति देकर अधिनियम का स्थायी रूप दे दिया।

इस अधिनियम (निर्वाचन आयोग अधिनियम - 1993) में निर्वाचन आयोग को बहुसदस्यी बनाया गया तथा आयोग के सभी सदस्यों को एक समान व बराबर अधिकार दे दिए गए तथा यह प्रावधान भी किया गयास कि आयोग सभी निर्णय सर्वसम्मति से लेगा, लेकिन यदि किसी विषय पर सभी सदस्य एक समान मत नहीं रखते हैं तो निर्णय बहुमत से किया जाएगा। निर्वाचन आयोग को बहुसदस्यीय बनाने के बाद तत्कालीन निर्वाचन आयुक्त टी.एन. शेषन को यह लगा कि उनकी स्थिति मुख्य निर्वाचन आयुक्त होने के नाते अन्य दो निर्वाचन आयुक्तों की अपेक्षा ऊँची एवं निर्णायक है। इसलिए उन्होंने इस अधिनियम के प्रावधानों को सर्वोच्च न्यायालय में चुनौती दे दी। उनकी इस याचिका पर निर्णय देते हुए सर्वोच्च न्यायालय के तत्कालीन मुख्य न्यायाधीश अहमदी ने कहा कि, आयोग एक बहुसदस्यीय निकाय है अतः सभी सदस्यों को एक समान अधिकार है, उन्हें एक दूसरे के साथ सौजन्यपूर्ण वातावरण में काम करना चाहिए। अपने निर्णय में मुख्य न्यायाधीश ने टी.एन. शेषन के उन कार्यों की ओर संकेत भी किया जो पद की गरिमा के अनुकूल नहीं थे या जिन्हें शेषन ने 'अति सक्रियता' का परिचय देते हुए किया था। अपने एक पश्चातवर्ती निर्णय में भी सर्वोच्च न्यायालय ने कहा कि यह आवश्यक नहीं कि आयोग के द्वारा निर्णय लेते समय आयोग के सभी सदस्य उस बैठक में उपस्थित ही हों। बहुसदस्यी आयोग एक न्यायिक पीठ की भांति भी बैठक कर सकता है जिसमें यदि सभी निर्णय सर्वसम्मति से लिए जायं तो बेहतर होगा अन्यथा फिर बहुमत का सहारा लेना चाहिए। इस प्रकार मुख्य निर्वाचन आयुक्त को निर्णय लेने की प्रक्रिया में कोई विशेषाधिकार प्राप्त नहीं है लेकिन अन्य निर्वाचन आयुक्त तथा प्रोदेशिक निर्वाचन आयुक्त को पद से हटाने में उसे महत्वपूर्ण शक्ति प्राप्त है, बिना उसकी स्वीकृति के राष्ट्रपति उन्हें पद से नहीं हटा सकता।

निर्वाचन आयोग का कार्यः-

अनु. 324(1) के अनुसार, इस संविधान के अधीन संसद और प्रत्येक राज्य के विधानमंडल के लिए कराए जाने वाले सभी निर्वाचनों के लिए तथा राष्ट्रपति एवं उपराष्ट्रपति के पदों के लिए कराए जाने वाले निर्वाचनों के लिए निर्वाचक-नामावली (मतादाता-सूची को बनाना तथा जनता के अवलोकनार्थ प्रकाशित करना) तैयार कराने का और उन सभी निर्वाचनों के संचालन का अधीक्षण, नियंत्रण एवं निर्देशन का कार्य निर्वाचन आयोग करेगा। निर्वाचन आयोग चुनाव को सकुशल सम्पन्न कराने हेतु कोई भी आदेश-निर्देश जारी कर सकता है। यदि उसे प्रतीत हो कि, चुनाव निष्पक्ष या पारदर्शी नहीं हुए हों या चुनाव में धांधली की गई हो, तो वह प्रेक्षकों की रिपोर्ट पर (वे प्रेक्षक जिनकी चुनाव में ड्यूटी लगाई जाती है) चुनाव को रद्द कर नए चुनाव का आदेश दे सकता है। उप चुनावों को सम्पन्न कराने का दायित्व भी निर्वाचन आयोग का ही है। राजनीतिक दलों को चुनाव चिन्ह देना तथा विभिन्न क्षेत्रीय एवं राष्ट्रीय दलों को मान्यता देना भी उसका कार्य है, चुनाव की तिथियों की घोषणा हो जाने के बाद राजनीतिज्ञों तथा राजनीतिक दलों के लिए आचार संहिता बनाना, राजनीतिक दलों को दूरदर्शन तथा रेडियों द्वारा मतदाताओं के सामने अपनी आवाज पहुंचाने की व्यवस्था करना, राजनीतिक दलों द्वारा निर्वाचन के समय व्यय होने वाली राशि का निर्धारण करना, किसी सांसद या विधायक के कतिपय अयोग्यताओं से पीड़ित होने के कारण उसकी सदस्यता समाप्त होने के संबंध में भारत के राष्ट्रपति या राज्यपाल को परामर्श देना तथा चुनाव संबंधी विवादों में सरकार को परामर्श देना आदि निर्वाचन आयोग के कार्य हैं।

वयस्क मताधिकार का सिद्धांत (अनु. 326):-

लोकसभा और विधानसभा के लिए निर्वाचन वयस्क मताधिकार के आधार पर होगा अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति, जो भारत का नागरिक है और जिसकी आयु 18 वर्ष (61वें संविधान संशोधन द्वारा लागू) हो चुकी है वह निर्वाचक नामावली में शामिल हो सकेगा तथा इन चुनावों में मतदान कर सकेगा बशर्ते इस संविधान या समुचित विधानमंडल द्वारा बनायी गयी किसी विधि के अधीन अनिवास, पागल, अपराध या भ्रष्ट या कानून विरोधी आचरण के आधार पर उसे अयोग्य न ठहरा दिया गया हो (अनु. 326)। वयस्क मताधिकार प्रदान करके संविधान निर्माताओं ने सामान्य भारतीय जन की निर्णयक्षमता पर जो 'विश्वास' व्यक्त किया है वह अद्भुत है। इससे हमारी लोकतांत्रिक प्रतिबद्धता झलकती है। के. एम. पणिक्कर के अनुसार, ''वयस्क मताधिकार के राजनीतिक महत्व से अधिक आवश्यक है इससे सामाजिक प्रभाव को समझना। स्वतंत्रता के समय जब सबको मताधिकार प्राप्त हुआ तो अनेक सामाजिक समूहों को उनकी निर्णय क्षमता एंव तत्संबंधी अधिकार का ज्ञान हो गया और वे राजनीतिक रूप से अधिक चैतन्य हो गए, इससे समाज में एक नयी स्फुर्ति आ गई। लोगों को यह प्रतीत होने लगा कि अब कानून बनाकर वे समाज को एक नयी संरचनात्मक दिशा दे सकते हैं - यह अत्यंत महत्वपूर्ण तथ्य है।''

अनु. 325 के अनुसार, संसद में प्रत्येक सदन यसा किसी राज्य विधानमंडल के किसी भी सदन के लिए होने वाले निर्वाचन हेतु, प्रत्येक प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्र के लिए, एक साधारण

IFS IAS

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

निर्वाचक-नामावली होगी और केवल धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग या इसमें से किसी के आधार पर कोई व्यक्ति ऐसी किसी नामावली में शामिल किए जाने के लिए अपात्र नहीं होगा और इन आधारों के कारण कोई व्यक्ति किसी विशेष निर्वाचक-नामावली में अपने को शामिल किए जाने की मांग नहीं करेगा। इस प्रकार भारतीय संविध ान निर्माताओं के साम्प्रदायिक और जातीय आधार पर निर्वाचन की पृथक प्रणाली अपनाने से इनकार कर समाज के सभी वर्गों को समान अधिकार प्रदान कर दिया।

विधानमंडलों के निर्वाचन के संबंध में उपबंध करने की संसद की शक्ति (अनु. 327) और किसी राज्य विधानमंडल की शक्ति (अनु. 328)-

अनु. 327 के अनुसार, संसद समय-समय पर, संसद व राज्य विधानमंडल के किसी भी सदन के निर्वाचन से जुड़े विषयों पर (जिसके अंतर्गत निर्वाचक-नामावली तैयार कराना, निर्वाचन क्षेत्रों का परिसीमतन आयोग-और ऐसे सदनों या सदन का सम्यक गठन सुनिश्चित करने हेतु अन्य सभी आवश्यक विषय हैं) कानून बना सकती है।

किसी राज्य के विधानमंडल को भी अपने विधानमंडल से संबंधित निर्वाचन के किसी विषय पर कानून बनाने का अधिकार है, (अनु. 328) लेकिन उसके द्वारा बनाया गया यह कानून अनु. 327 के अधीन बनाए गए संसद के किसी कानून के प्रतिकूल नहीं होगा चाहिए। यदि कोई प्रतिकूलता हुई तो अन्ततः संसद द्वारा बनाया गया कानून ही मान्य होगा, अर्थात् अनु. 327 तथा 328 में कोई विसंगति होने पनर 327 अर्थात् संसद द्वारा बनाया गया कानून ही प्रभावी होगा।

निर्वाचन संबंधी मामलों में न्यायालयों के हस्तक्षेप का वर्जन (मनाही) (अनु. 329):-

अनु. 327 तथा अनु. 328 निर्वाचन व्यवस्था से जुड़े हुए अत्यंत महत्वपूर्ण संवैधानिक प्रावधान हैं, इसका ज्ञान अनु. 329 करा देता है। अनु. 329 के अनुसार, अनु. 327 तथा अनु. 328 के अधीन बनाए गए कानूनों की संवैधानिक विधिमान्यता को (जो निर्वाचन क्षेत्रों के परिसीमन या स्थानों के आवंटन से सम्बंधित है) किसी भी न्यायालय में चुनौती नहीं दी जाएगी (अनु. 329(क))। परिसीमन आयोग का अध्यक्ष मुख्य निर्वाचन आयुक्त होता है तथा इस आयोग में उच्च या सर्वोच्च न्यायालय के दो अवकाश प्राप्त न्यायाधीश होते हैं। आयोग में कुछ सांसदों या विधायकों को भी शामिल किया जाता है। परिसीमन आयोग निर्वाचन क्षेत्रों की सीमाओं का निर्धारण करते समय जनता एवं राजनीतिक दलों से मिलने वाले सुझावों और आपत्तियों का भी ध्यान रखता है।

संसद के प्रत्येक सदन या किसी राज्य के विधानमंडली के किसी भी सदन के लिए होने वाले किसी भी निर्वाचन को, ऐसी निर्वाचन अर्जी पर ही प्रश्नगत किया जाएगा, जो ऐसे प्राधिकारी को और ऐसी रीति से प्रस्तुत की गई हो जो रीति विधानमंडल द्वारा निध ारित हो (अनु. 329(ख))।

चुनाव सुधार-समस्याएं और समाधान की संभावनाएं:-

अपने विवेक एवं पसंद के अनुसार मत देने तथा इसे गोपनीय बनाए रखने का अधिकार ही लोकतंत्र को उत्तरदायी एवं सजग बनाए रखता है। चुनाव प्रक्रिया लोकतंत्र रूपी यज्ञ से घृत रूपी आहुति का काम करती है। वस्तुतः कोई भी लोकतंत्र चुनावों के माध्यम से ही अपनी जीवंतता एवं निरंतर गति को प्राप्त करता है। निष्पक्ष एवं नियमित अवधि के बाद निर्वाचन लोकतंत्र का प्राण है। यदि निर्वाचन के किसी भी पहलू (यथा, चुनाव, प्रचार, चुनाव परिणाम आदि) के संबंध में आशंकाएं एवं प्रश्न उठ रहे हों तो उनका त्वरित एवं न्यायसंगत निराकरण शासन सत्ता का गंभीर दायित्व बन जाता है क्योंकि निर्वाचन की वैधता पर ही 'शासन की आज्ञारिता का सिद्धांत' टिका हुआ है। गरीबों एवं निरक्षरों की भारी संख्या होने के बावजूद भी भारत विश्व का सबसे बड़ा (जनसंख्या की दृष्टि से) तथा काफी सीमा तक सफल लोकतंत्रों की श्रेणी में गिना जाता है।

चुनावों की प्रक्रिया एवं स्वयं चुनाव आयोग के संगठनात्मक ढ़ाँचे तथा कार्यप्रणाली को लेकर चौथे आम चुनावों के बाद एक बहस प्रारंभ हुई। उस समय निर्वाचन से जुड़ी हुई जो समस्याएं थीं उनके समाधान के लिए सर्वप्रथम, 1972 ई. में तत्कालीन मुख्य चुनाव आयुक्त एच.पी. सेन वर्मा ने एक कार्यसूची भारत सरकार को प्रस्तुत की, लेकिन संसद ने इसे स्वीकार नहीं किया। लेकिन इस अस्वीकार के बाद भी चुनाव सुधारों की आवश्यकता के अनुभव किया जाता रहा, फलतः अगस्त, 1974 ई. में 'सिटीजन फॉर डेमोक्रेसी' (एक गैर-सरकारी संगठन) की ओर से जय प्रकाश नारायण ने बम्बई उच्च न्यायालय के पूर्व मुख्य न्यायाधीश वी.एम. तारकुंडे की अध्यक्षता में एक 6 सदस्यी समिति का गठन किया जिसका कार्य निर्वाचन संबंधी तत्कालीन समस्याओं का तर्कसंगत समाधान प्रस्तुत करना था। स्वतंत्र एवं निष्पक्ष चुनाव कराने तथा चुनावों में सरकारी मशीनरी के दुरुपयोग को रोकने के लिए तारकुंडे समिति ने 1975 ई. में निम्नलिखित महत्वपूर्ण सुझाव दिए थे-

(1) निर्वाचन आयोग को बहुसदस्यी बनाया जाय, इनकी नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा प्रधानमंत्री, लोकसभा में विपक्ष के नेता और सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश से परामर्श करने के बाद की जाय,

(2) मतदान करने की आयु घटाकर 18 वर्ष कर दिया जाय,

(3) चुनाव लड़ने वाले सभी प्रत्याशियों द्वारा अपने आय-व्यय का लेखा-जोखा प्रस्तुत किया जाय तथा इसकी जाँच कराई जाय,

(4) राजनीतिक दलों द्वारा पिछले चुनावों में पाए गए मतों के आधार पर उन्हें रेडियों तथा टी.वी. में प्रचार का समय दिया जाय,

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

(5) राजनीतिक दलों द्वारा पिछले चुनावी खर्च को प्रत्याशियों द्वारा किए गए चुनावी खर्च में शामिल करते हुए चुनाव खर्च की अधिकतम सीमा को निर्धारित किया जाय। चुनावों में किए नए खर्च की ऑडिट करायी जाय तथा खर्च की निश्चित सीमा के उल्लंघन पर दंडित किया जाय,

(6) 'मतदाता परिषदें' बनाई जाय जो नागरिकों की ओर से चुनवों की निष्पक्ष निगरानी करे, लेकिन उपरोक्त सिफारिशों को क्रियान्वित नहीं किया जा सका। 1990 ई. में वी.पी. सिंह के नेतृत्व वाली सिफारिशों को क्रियान्वित नहीं किया जा सका। 1900 ई. में वी.पी. सिंह के नेतृत्व वाली राष्ट्रीय मोर्चा सरकार ने चुनाव सुधारों पर विधि मंत्री दिनेश गोस्वामी की अध्यक्षता में एक समिति की नियुक्ति की, जिसकी कुछ प्रमुख संस्तुतियाँ इस प्रकार थीं:-

(1) बूथ कब्जे की घटनाएं रोकने हेतु व्यापक सुरक्षा की व्यवस्था की जाय तथा यदि ऐसी कोई घटना होती है वहाँ पुनर्मतदान कराया जाय,

(2) अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के लिए आरक्षित सीटों को रोटेशन (भ्रमणशील) प्रणाली के अंतर्गत लाया जाय तथा 1981 की जनगणना के आधार पर लोकसभा की सीटों का परिसीमन किया जा,

(3) निर्वाचन से जुड़े सभी विवादों तथा मुकद्मों को तुरंत निपटाया जाय,

(4) इलेक्ट्रॉनिक वोटिंग मशीन (EVMs) का प्रयोग शुरू किया जाय,

(5) मतदाताओं को फोटोयुक्त मतदाता पहचान पत्र दिया जाय।

1991 ई. जब टी.एन शेषन ने चुनाव आयोग की कमान संभाली तो उनकी कार्यप्रणाली एवं चुनाव-सुधार की उत्कृष्ट अभिलाषा ने चुनाव आयोग को एक वास्तविक संवैधानिक आयोग के रूप में परिवर्तित कर दिया। उनके प्रयासों ने जनता के सामने यह पहली बार सिद्ध कर दिया कि, चुनाव बिना किसी भारी शोरगुल के निष्पक्ष एवं शांतिपूर्ण हो सकते हैं। शेषन ने सरकार को भी 'दबाव' में ले लिया था और सम्पूर्ण प्रशासनिक तंत्र 'शेषन के आदेशों' के क्रियान्वयन में लगा रहता था। उन्होंने चुनावों में एक 'आदर्श आचार संहिता' लागू की तथ्ज्ञा उसके अंतर्गत दीवारों आदि पर लिखना बंद करा दिया तथा ध्वनि विस्तारक यंत्रों एवं अधिक संख्या में गाड़ी आदि के चलने पर काफी सीमा तक नियंत्रण स्थापित कर दिया। उनके इन प्रयासों तथा दबावों के कारण ही जनप्रतिनिधित्व (संशोधन) अधिनियम, 1998 द्वारा कुछ निम्नलिखित महत्वपूर्ण परिवर्तन किए गए:-

(1) दो से अधिक निर्वाचन क्षेत्रों से चुनाव लड़ने पर रोक लगा दी गई,

(2) विधानसभा तथा लोकसभा के चुनवों में प्रत्याशियों का नामांकन उस विधानसभा तथा लोकसभा के 10 मतदाताओं के समर्थन के आधार पर किया जाने लगा,

(3) जो व्यक्ति अपने नाम का प्रचार करने या बैलेट पेपर (मतपत्र) पर स्वयं को अंकित कराने हेतु चुनाव में भाग लेते हैं, ऐसे गंभीर तथा डमी प्रत्याशियों को हतोत्साहित करने हेतु लोकसभा तथा विधानसभा का चुनाव लड़ने के लिए जमानत राशि में वृद्धि कर दी गई। लोकसभा के लिए जमानत राशि, सामान्य वर्ग के लिए 500रु. से बढ़ाकर 10,000 रु. तथा अनुसूचित जाति एवं जनजाति के लिए 250रु. से बढ़ाकर 5,000 रु. कर दी गई। सामान्य वर्ग के लिए इसी प्रकार राज्यों की विधानसभा के लिए जमानत राशि बढ़ाकर 5000रु. (पहले 250रु. थी) तथा अनुसूचित जाति एवं जनजाति के लिए 2500रु. (पहले 125रु. थी) कर दी गई,

(4) चुनावों में बूथ-कैप्चरिंग तथा हिंसक घटनाएं रोकने के लिए चुनाव के पूर्व ही सभी लाइसेंसी हथियार निकटवर्ती थानों में जमा कराए जायं,

(5) किसी भी उपचुनाव को 6 माह के भीतर सम्पन्न करा लिया जाय।

वस्तुत: उपरोक्त परिवर्तन यह दर्शाते हैं कि राजनीतिक और संवैधानिक तंत्र चुनाव सुधारों के लिए गंभीर प्रयास करने की दिशा में कदम बढ़ा चुका था। 1990 ई. के बाद राजनीति में अपराधी तत्वों के प्रवेश की बात स्वीकार की जाने लगी थी। 1995 ई. में बोहरा समिति ने राजनीतिज्ञों तथा अपराधी समूहों के बीच निरंतर मजबूत होते संबंधों का एक कच्च चिट्ठी अपनी रिपोर्ट में प्रस्तुत कर पूरे देश को झकझोर दिया। रिपोर्ट में कहा गया कि, 'बिहार, हरियाणा और उत्तर प्रदेश जैसे कुछ राज्यों में इन गिरोहों को राजनीतिक संरक्षण प्राप्त है। उन्हें किसी एक ही दल के पदाधिकारियों से सुरक्षा नहीं मिलती, उन्हें अनेक दलों का संरक्षण प्राप्त है, परिणामत: चाहे किसी भी दल की सरकार हो, अपराधियों का हित एवं जीवन पूरी तरह सुरक्षित और संरक्षित रहता है। अनेक राजनीतिक नेता इन अपराधी गिरोहों तथा निजी सशस्त्र सेनाओं के मुखिया बन बैठे हैं और इन नेताओं की देख रेख में अनेक अपराधी स्थानीय निकायों, राज्य विधानमंडलों तथा संसद तक के लिए चुने जा रहे हैं। अपराधियों तथा नेताओं के पारस्परिक गठजोड़ ने प्रशासन के सुचारू संचालन को कठिन बना दिया है, इससे जनता भयभीत है क्योंकि उसके जानमाल की सुरक्षा संकटापन्न है। फलत: जनता में निराशा की भावना बढ़ रही है और वह स्वयं को तंत्र (राज्य) से कटा हुआ महसूस कर रही है।'' तत्कालीन उपचुनाव आयुक्त कृष्णमूर्ति ने बोहरा समिति के तथ्यों को स्वीकार करते हुए कहा कि, 1997 ई. में लोकसभा के 40 सदस्यों तथा पूरे देश के 700 विधायकों पर गंभीर अपराध के आरोप निर्धारित हो चुके हैं।

आगे चलकर विधि आयोग के विभिन्न प्रतिवेदनों में यह बात कही गयी कि ऐसे अपराधियों को राजनीति में आने से रोकने के लिए कठोर कानून बनाए जायं। चुनावों में धन के असीमित व्यय को लेकर चिंताएँ बढ़ने लगी थीं। सर्वोच्च न्यायालय ने भी अपने

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

निर्णयों में चुनावों में धन तथा बल का दुरुपयोग रोकने का कहा। 02 मई 2002 ई. को सर्वोच्च न्यायालय ने एक निर्णय में कहा कि प्रत्येक मतदाता को अनु. 19 के अंतर्गत यह 'जानने का अधिकार' हे कि उसके सामने जो प्रत्याशी खड़ा है एवं उसका वोट माँग रहा है, उस प्रत्याशी की शैक्षिक योग्यता क्या है? उसके पास कितनी चल-अचल संपत्ति है तथा उसका अपराधिक रिकार्ड (यदि कोई हो तो) कैसा है? वह जिस पद के लिए चुनाव लड़ रहा है, क्या उस पद के अनुकूल योग्यता रखता है? न्यायालय ने निर्वाचन आयोग को यह दिशा-निर्देश दिया कि वह चुनाव लड़ने वाले प्रत्याशियों से उपरोक्त बातों पर शपथपत्र द्वारा लिखित विवरण मांगे तथा मतदाताओं के सामने प्रस्तुत करे। 28 जून 2002 ई. को सर्वोच्च न्यायालय के इस निर्णय के अनुरूप निर्वाचन आयोग ने एक आदेश जारी करके इस प्रकार का शपथपत्र अनिवार्य कर दिया।

सर्वोच्च न्यायालय के इस निर्णय तथा निर्वाचन आयोग के इस आदेश का विरोध करने के लिए सभी राजनीतिक दल एक मंच पर आ गए और उन्होंने एक विधेयक संसद में प्रस्तुत कर इसे रद्द करने का प्रयास किया। जनप्रतिनिधित्व (संशोधन) अधि नियम, 2002 ई. पारित करके माननीय सांसदों ने एक कानून बनाया, जिसमें कहा गया कि, केवल वे ही व्यक्ति जिन्हें किसी अपराध में 2 वर्ष की सजा सुनायी जा चुकी है चुनाव लड़ने के अयोग्य हैं यदि ऊपरी न्यायालय इस सजा को समाप्त करने या कम करने की अपील स्वीकार न करे। कोई भी प्रत्याशी अपने नामांकन के समय अपने बारे में कोई भी सूचनास निर्वाचन आयोग को नहीं देगा, वरन् चुनाव जीतने के बाद अपने सदन के पीठासीन अधिकारी को देगा। इस प्रकार, सर्वोच्च न्यायालय तथा निर्वाचन आयोग के जनता एवं लोकतंत्र के हित में दिए गए निर्णय को व्यवस्थापिका ने बदलकर राजनेताओं का हित सुरक्षित करने का काम किया।

13 मार्च 2003 ई. को एक अन्य वाद में निर्णय देते समय सर्वोच्च न्यायालय ने पुनः कहा कि, मतदाताओं को उपरोक्त वर्णित प्रश्नों पर प्रत्याशियों की स्थिति जानने का पूरा अधिकार है और यह अधिकार उन्हें मिलना ही चाहिए। न्यायालय ने कहा कि इस अधिकार के द्वारा ही हम जनता को इस बात के लिए सशक्त बना सकते हैं कि वह अपने मतदान के प्रयोग के द्वारा अपराधियों या अपराधी चरित्र वाले लोगों को राजनीति से दूर रकरे और एक पूर्ण सहभागी तथा प्रगतिशील लोकतंत्र की आधारशिलाा रखे।

वास्तव में, यह केवल तंत्र (व्यवस्थापिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका) का ही दायित्व नहीं है कि अपराधियों को राजनीतिक से दूर रखे, वरन् यह तो जनता की राजनीतिक चेतना तथा राष्ट्रीय सोच पर निर्भर है तथा स्वयं जनता पर यह गंभीर दायित्व है कि वह इस प्रकार मतदान करे या ऐसे व्यक्तियों को चुनकर भेजे जो वास्तव में योग्य हों, उनमें देश सेवा का भाव हो, जो दूरदर्शी तथा मौलिक सोच वाले हों। प्लेटो ने आज से लगभग ढ़ाई हजार वर्ष पूर्व राजनीति में योग्यतम लोगों को प्रतिष्ठित करने हेतु ही एक सर्वव्यापक शिक्षा प्रणाली तथा समाज का गुण आध ारित ढ़ाँचा प्रस्तुत किया था, आज भी योग्य एवं चरित्रवान लोगों को ही राजनीति में आने की आवश्यकता है।

इसके लिए जनता की भूमिका राजनीतिक तंत्र की तुलना में अधिक महत्वपूर्ण है। जब तक जनता दलीय प्रतिबद्धताओं तथा जातीय निष्ठा से बाहर आकर योग्यतम प्रत्याशी को वोट नहीं देगी, तब तक राजनीति में अपराधियों का प्रवेश रोकना अकेले तंत्र के वश की बात नहीं होगी। वस्तुतः लोकतंत्र का आधार तभी मजबूत होगा जब इसकी बागडोर विवेकशील लोगों के हाथ में होगी और विवेकशील एवं राष्ट्रीय सोच से परिपूर्ण व्यक्तियों का निर्माण शिक्षा-व्यवस्था द्वारा ही संभव है। यदि सभी राजनीतिक दल अपराधी चरित्र के लोगों को अपना प्रत्याशी बनाते हैं तो प्रबुद्ध जनता के पास ऐसे लोगों को राजनीतिक व्यवस्था से बाहर करने का एक हथियार हो सकता है- 'अस्वीकार मत' अर्थात् जनता मतपत्र पर अंकित किसी भी प्रत्याशी को मत न दे, इस मतदान का स्वरूप निषेधात्मक है। ऐसा मतदान राजनीतिक तंत्र की सफाई करने का पक्षपातरहित, सकरात्मक और अहिंसक पहल बन जाता है। इस अस्वीकार मत का प्रयोग हमारी राजनीतिक व्यवस्था में गुणात्मक परिवर्तन लाएगा। पूर्व उपराष्ट्रपति कृष्णकांत जी ने लिखा है कि, ''अस्वीकार मत किसी व्यक्ति विशेष के विरूद्ध नहीं होगा। जब कोई मतदाता सभी उम्मीदवारों को अस्वीकार करेगा तो वह वास्तव में उस व्यवस्था की कार्यप्रणाली से असहमति जताएगा, जो उसे समान रूप से अस्वीकार्य विकल्पों में से किसी एक को चुनने का आदेश देती है।

यह व्यवस्था के प्रति मूक विरोध है, लेकिन यह एक ऐसा विरोध है जो व्यवस्था को बदलकर रख देगा। चूंकि जनता की सम्पूर्ण शक्तियों का स्रोत है तथा उसके अधिकार 'अस्वीकार मत' को प्राप्त करके और भी बढ़ जाएंगे। अस्वीकार मत के प्रयोग में निहित संताप में राजनीतिक व्यवस्था को भी सहभागी बनना पड़ेगा, राजनीतिक दलों तथा व्यवस्था को अपनी पसंद को जन आकांक्षाओं के साँचे में ढ़ालना होगा। ऐसे होने पर जनता में मौजूद सर्वश्रेष्ठ लोगों को राजनीतिक दल अपने उम्मीदवार के रूप में प्रस्तुत करेंगे और जनता समान रूप से स्वीकार्य उम्मीदवारों में से किसी एक को चुनने का अवसर प्राप्त कर प्रसन्न होगी। सत्ता प्रक्रिया में इस मौलिक रूपांतरण से लोकतंत्र के कार्य-व्यापार में महसूस की जाने वाली कमियों को पूरा किया जा सकेगा एवं कानून के शासन में आए भटकावों को दूर किया जा सकेगा।''

चुनाव सुधारों के संबंध में एक पहल निर्वाचित जन प्रतिनिधियों को लोकसभा या विधानसभा का कार्यकाल पूरा होने के पहले ही वापस बुला लेने के संबंध में है। इस सिद्धांत के अनुसार, यदि किसी निर्वाचन क्षेत्र की जनता को यह प्रतीत हो कि उसके द्वारा चुना गया प्रतिनिधि अनुत्तरदायित्व का परिचय दे रहा है या जनता ने जिन आशाओं के साथ उसे निर्वाचित किया था, उन आशाओं को वह पूरा करने में रुचि नहीं दिखा रहा है या अक्षम

FIRST IAS

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

सिद्ध हो रहा है तो जनता ऐसे जनप्रतिनिधियों को वापस बुला सकती है। देखने में तो यह सिद्धांत जनता के प्रति उत्तरदायी लोकतांत्रिक शासन का प्रतिनिधि बनकर सामने आता है, लेकिन वास्तव में इस प्रकार का अधिकार यदि जनता को मिल जाय तो इससे एक प्रकार की अराजकता फैलने की संभावना पैदा हो जाएगी। इस व्यवस्था से एक तो निर्वाचित प्रतिनिधि स्वयं एक प्रकार के 'मानसिक दबाव' में आ जाएंगे, वे अपना सारा ध्यान विधायी कार्यों में न लगाकर अपने निर्वाचन क्षेत्र की जनता को प्रसन्न करने में ही लगाने लगेंगे। जनता भी हर छोटी-बड़ी बातों पर जनप्रतिनिधियों को ब्लैकमेल कर सकने की स्थिति में होगी तथा वे राजनीतिक दल जो किसी क्षेत्र से पराजित हो गए थे, वे अपना सम्पूर्ण प्रयास चुने गए सांसद को 'वापस बुलाने' तथा इस संबंध में षड्यंत्र करने में लगाएंगे। ओ.वी. अलगेशन ने लिखा है कि, संसद एवं विधानसभाओं के सदस्यों को वापस बुलाने के संबंध में कोई कानूनी उपबंध होना चाहिए।

इस संबंध में कई सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक बातें उत्पन्न होती हैं। लोकसभा तथा विधानसभाओं का चुनाव एकल सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र द्वारा होता है। प्रश्न यह है कि चुनाव जीत जाने के बाद वह निर्वाचित सदस्य केवल उस क्षेत्र विशेष का प्रतिनिधि होता है या वह देश के सभी लोगों का या राज्य के सभी लोगों का प्रतिनिधि बन जाता है। (जब कोई निर्वाचित सदस्य संसद या राज्यों के विधानसभा में विधायी कार्य में भाग लेता है तो उसके सामने केवल अपने निर्वाचन क्षेत्र का हित नहीं होता, वरन् उसके सामने सम्पूर्ण राष्ट्र का हित होता है) तो क्या ऐसी दशा में उसे वापस बुलाने का अधिकार केवल उसके निर्वाचन क्षेत्र के लोगों को देना उचित होगा?

इस बारे में अलग-अलग विचार हैं। एक मत के अनुसार प्रत्याशी को अपने निर्वाचन क्षेत्र के स्थानीय हितों को आगे बढ़ाने या पूरा करने की दृष्टि से चुना जाता है, यह दृष्टिकोण उस समय प्रचलित था जिस समय एक राष्ट्र और एक लोग (अर्थात् राष्ट्रीय एकता) तथा प्रतिनिधिक लोकतंत्र में संगठित राजनीतिक दलों की बातें जड़े नहीं जमा सकी थीं। एक अन्य नवीन विचार के अनुसार, चुने जाने के बाद कोई व्यक्ति सारे प्रान्त एवं सम्पूर्ण राष्ट्र का प्रतिनिधि है और अपने राजनीतिक दल के सिद्धांत, नीतियों एवं कार्यक्रमों के अनुसार सम्पूर्ण राष्ट्र व राज्य के कल्याण या सामान्य हितों को बढ़ानास उसका प्रमुख दायित्व है।

आज जिस प्रकार क्षेत्रवाद की भावनाएं जनता से बढ़ रही हैं, संभव है कि, 'वापस बुलाने के अधिकार' का प्रयोग/दुरुपयोग उस स्थिति में किया जाय, जब कोई सांसद या विधायक राष्ट्रहित को क्षेत्रीय हितों की तुलना में बड़ा मानते हुए विधायी कार्य करे। एक संभावना यह भी बनती है कि, मान लीजिए कोई सांसद विदेश मंत्री जैसे एक महत्वपूर्ण पद पर कार्य कर रहा है, उसकी दूरदृष्टि एवं कूटनीतिक सोच से भारतीय विदेश नीति महत्वपूर्ण उपलब्धियां प्राप्त कर रही है, लेकिन वह सांसद अपनी अति व्यस्तता के कारण अपने निर्वाचन क्षेत्र का विकास कार्यों पर उतना ध्यान नहीं दे पा रहा है, जितना जनता चाहती है। ऐसी दशा में यदि जनता उससे असंतुष्ट होकर 'वापस बुलाने' के अधिकार का प्रयोग करती है तो देश ने केवल एक तेज-तर्रार विदेश मंत्री को खो देगा, बल्कि इसका कुप्रभाव अन्य मंत्रियों के मनोबल पर भी पड़ेगा। संभव है जनता (ध्यान रहे भारत की अधिकांश जनता अशिक्षित है और राष्ट्रीय हितों की तुलना में स्थानीय या क्षेत्रीय हितों को महत्वपूर्ण मानती है)

इस अधिकार का प्रयोग कर राष्ट्रीय हितों को ही क्षति पहुंचा दे। यदि प्रतिनिधियों को वापस बुलाने का अधिकार जनता को दिया जाता है तो यह प्रश्न भी उठेगा कि क्या वापस बुलाए गए प्रतिनिधि को दुबारा चुनाव लड़ने का अधिकार होगा या नहीं होगा? एक संभावना यह भी है कि, किसी चुने गए सांसद को कुछ ही समय के बाद वापस बुला लिया जाय और फिर से जो चुनाव हो, उसमें जीते हुए सांसद को भी जनता कुछ समय बाद कतिपय आधारों पर वापस बुला ले और एक बार पुनः चुनाव कराना पड़े। यह प्रक्रिया लोकसभा के एक कार्यकाल (5 वर्ष) में कई बार दुहरायी जाय, और यदि वास्तव में ऐसा होता है तो समूची लोकसभा के पंगु हो जाने तथा किसी भी प्रकार के विकास कार्य के ठप्प हो जाने का 'नया खतरा' उठ खड़ा होगा।

एक प्रश्न और है कि, भारत में जो लोग पहली बार किसी सांसद के चुनावों में मत नहीं दिए हैं, क्या वे लोग उस सांसद के अधिकारी होंगे? या केवल वे लोग ही वापस बुलाने के मतदान में भाग लेंगे जिन्होंने मत देकर उस सांसद का निर्वाचन किया था। इन सारे प्रश्नों पर एक व्यापक बहस एवं कानून की आवश्यकता होगी। चुनाव आयोग भी हमेशा किसी न किसी लोकसभा के चुनाव (प्रतिनिधियों के वापस बुलाने के लिए होने वाले चुनावों) में ही व्यस्त रहेगा। इसलिए भारत में वापस बुलाने के अधिकार की सार्थकता कम और विवादास्पद भूमिका अधिक होगी।

चुनाव सुधारों से संबंधित एक परम्परागत मांग यह रही है कि राजनीतिक दलों को राज्य वित्तीय सहायता उपलब्ध कराए। लेकिन इस सहायता का स्वरूप क्या हो इस पर विवाद है। कुछ लोग राजनीतिक दलों को सीधे धन उपलब्ध कराना चाहते हैं तो कुछ का मत है कि, सरकारन प्रचार सामग्री उपलब्ध कराए क्योंकि धन का दुरुपयोग हो सकता है तथा उसकी ऑडिट भी राजनीति का शिकार हो सकती है। राजनीतिक दलों को कितनी धन उपलब्ध कराया जाय, इस पर भी अलग-अलग विचार हैं।

एक सुझाव यदि दिय गया है कि, पिछले आम चुनावों में जिस किसी भी राजनीतिक दल ने जितने प्रतिशत मत प्राप्त किया है, उसके हिसाब से उसे राजकीय धन, निर्वाचन सहायता के रूप में दे दिया जाय, लेकिन इससे तो केवल राष्ट्रीय एवं क्षेत्रीय राजनीतिक दलों के उम्मीदवारों को ही लाभ मिलेगा, निर्दलीय उम्मीदवार राजकीय दलों के उम्मीदवारों को ही लाभ मिलेगा,

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

निर्दलीय उम्मीदवार राजकीय सहायता की परिधि से ही बाहर हो जाएंगे और लोकतंत्र में इस प्रकार की असमानता (राजनीतिक दलों के उम्मीदवार तथा निर्दलीय उम्मीदवारों के बीच) स्वीकार नहीं की जा सकती, इससे तो निर्दलीय प्रत्याशियों के मनोबल तथा उनके प्रति सामाजिक दृष्टिकोण भी बुरी तरह प्रभावित होगा। यदि राज्य, राजनीतिक दलों को आर्थिक सहायता देगा तो क्या इसका प्रभाव उस दल के 'स्वतंत्र चिंतन', गरिमा तथा नैतिकता पर नहीं पड़ेगा? यह भी संभावना है कि, प्रत्येक राजनीतिक दल अधिकाधिक राजकीय सहायता पाने की लालसा में सरकार की आलोचना बंद कर दे या उसकी नीतियों (भले ही वह जन विरोधी नीतियां हों) की ओर से आँखे मूँद ले या तटस्थ हो जाय। सभी राजनीतिक दलों को न्याससंगत एवं उचित राजकीय सहायता मिली या नहीं, उसकी निगरानी कौन करेगा? वे राजनीतिक दल जो सत्ता में शामिल नहीं हैं, वे सरकार की इस बात के लिए बराबर आलोचना कर सकते हैं कि विपक्ष में होने के कारण सरकार उन्हें धन देने में आनाकानी कर रही है या उन्हें पर्याप्त राजकीय सहायता नहीं मिल पा रही है।

इस बात की संभावना से भी इनकार नहीं किया जा सकता कि, राजनीतिक दलों को राजकीय धन मिलने से उनकी लोकतांत्रिक भूमिका के समाप्त होने का खतरा पैदा हो सकता है, वे उसी प्रकार सरकारी तंत्र के वैचारिक-मानसिक गुलाम बन जाएंगे जैसे सरकारों द्वारा पोषित प्रेस सरकार की नीतियों की चाहकर भी आलोचना नहीं कर पाता। इससे हमारे लोकतंत्र में भटकाव आ जाएगा।

आज छोटे-छोटे दलों के गठबंधन बन रहे हैं और राष्ट्रीय दल भी उनके साथ जुड़कर सरकार बना रहे हैं। गठबंधन सरकारों को स्थिर करने के उद्देश्य से गठबंधनों को दो वर्गों में बांट देना चाहिए - चुनावपूर्ण गठबंधन तथा चुनाव बाद गठबंधन। चुनाव के पूर्व यदि दो या अधिक राजनीतिक दलों में गठबंधन हो जाता है तो उन्हें एक राजनीतिक दल के रूप में चुनाव आयोग स्वीकार करे और भविष्य में उस गठबंधन के टूटने की दशा में उस गठबंधन पर वे सारे नियम लागू किए जाएं जो किसी एक राजनीतिक दल के विभाजन पर लागू होते हैं, इससे बार-बार टूटने वाले तथा राजनीतिक तंत्र को अस्थिर करने वाले गठबंधनों पर रोक लगेगी। चुनाव के बाद होने वाले गठबंधन में प्रायः राजनीतिक दल या तो सरकार में शामिल हो जाते हैं या सरकार को बाहर से समर्थन देते हैं। गठबंधन सरकार को स्थिर करने की दृष्टि से एक परिवर्तन यह करने की आवश्यकता है कि, सरकार को बाहर से समर्थन दिया जाना बंद करा दिया जाय, क्योंकि प्रायः यह देखा गया है कि, जो भी राजनीतिक दल सरकार को बाहर से समर्थन देते हैं वह एक तरफ तो सिद्धांतों की दुहाई देता है और कहता है कि वह जनता के ऊपर चुनावों का बोझ दुबारा नहीं डालना चाहता है और दूसरी तरफ वह सरकार को बराबर अस्थिर करने का प्रयास भी करता है, जैसे सरकार की आलोचना करना, संसद में सरकार के किसी प्रस्ताव या विधेयक का अनावश्यक विरोध करते हुए मतदान करना या वाक आउट कर जाना आदि। इससे जनता यह समझ नहीं पाती कि, सरकार को बाहर से समर्थन देने वाला राजनीतिक दल वास्तव में सरकार के साथ है या विपक्ष की भूमिका में है।

चुनाव सुधारों से संबंधित उपरोक्त विश्लेषण के उपरांत इस निष्कर्ष पर पहुंचा जा सकता है कि, चुनाव सुधारों की पहल राजनीतिक-संवैधानिक तंत्र के साथ-साथ नागरिकों के स्तर पर भी की जानी चाहिए। इसके लिए सर्वाधिक आवश्यक है कि, जनता चाहे वह किसी भी दल के साथ हो, अपने प्रिय राजनीतिक दल के भीतर लोकतंत्र को लागू करे, इसके लिए जनता तथा चुनाव आयोग दोनों को पहल करनी होगी।

चुनावों में हिंसा न होने पाए, इसके लिए व्यापक सुरक्षा के प्रबंध करने होंगे, चुनाव बूथों पर क्लोज टी.वी. सर्किट कैमरे लगाए जाएं और जो भी व्यक्ति चुनावी हिंसा में लिप्त पाए जाएं, उनके ऊपर एक निश्चित समय का राजनीतिक प्रतिबंध (यह समय सीमा हिंसा तथा अपराध की गंभीरता के आधार पर न्यायालय तय करे) लगा दिया जाय, जिससे न तो वे चुनाव लड़ सकें और न ही चुनाव में मतदान कर सकें। वस्तुतः जो व्यक्ति चुनाव में हिंसा फैलाता है उसके बारे में यह मान लेना चाहिए कि उसके मन में लोकतंत्र के प्रति सम्मान नहीं है, रुचि नहीं है, क्योंकि वह पअने विरोधी को सहन नहीं कर सकता और उसे पराजित करने की तुलना में उसके दमन में विश्वास रखता है। अपराधियों के चुनाव लड़ने पर तत्काल प्रभाव से रोक लगा देना चाहिए, जिस व्यक्ति को भी दो वर्ष तक के कारावास की सजा हो जाय, उसे निश्चित रूप से चुनाव लड़ने से रोक दिया जाय। जो भी व्यक्ति चुनाव लड़ना चाहता हो, उसकी आर्थिक स्थिति, शैक्षिण योग्यता तथा जीवन परिचय सभी मतदाताओं के सामने अवश्य रखा जाय। साथ ही राजनीतिक चरित्र वाले लोगों के संपत्ति की ऑडिट भी वार्षिक रूप से नियमित करायी जाय, जिससे कि राजनीति धन कमाने का साध न न होकर एक जनसेवा का व्यवसाय बन जाय। प्रत्येक सांसद तथा विधायक को प्रतिवर्ष अपनी संपत्ति का लेखा-जोखा सार्वजनिक रूप से प्रस्तुत करने के लिए कहा जाय। फोटोयुक्त मतदाता पहचान-पत्र अनिवार्य बना दिया जाय तथा फर्जी मतदान करने वालों को दण्ड दिया जाय। चुनाव से जुड़ी हुई याचिकाओं का त्वरित निपटारा किया जाय, संभव हो तो इसके लिए अलग से न्यायालय बनाया जाय। मतदान का प्रतिशत बढ़ाने का प्रयास किया जाय। सबसे आवश्यक यह है कि, जनता में राजनीतिक चेतना का स्तर उन्नत किया जाय, जिससे वह जाति, भाषा, धर्म, प्रान्त आदि के आधार पर मतदान न करके योग्यतम प्रत्याशी के पक्ष में मतदान करे, इसके लिए शिक्षा तथा राष्ट्रीय हित के प्रति चिंता व चिंतन के प्रसार की आवश्यकता होगी। प्रेस, इलेक्ट्रानिक मीडिया और गैर सरकारी संगठन इसमें महत्वपूर्ण शिक्षक व मार्गदर्शक की भूमिका निभा सकते हैं। जब तक जनता स्वयं को क्षुद्र स्वार्थों एवं प्रवृत्तियों से ऊपर नहीं उठाती, तब तक कोई भी चुनाव सुधार परिपूर्ण नहीं हो सकता, क्योंकि जनता की सोच तथा चरित्र ही राजनीतिज्ञों तथा राज्य का चरित्र निर्धारित करता है। जनता को अपना भविष्य एवं अस्तित्व स्वयं निर्धारित करने का अधिकार और कर्तव्य दोनों ही है।

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

लोक सेवा आयोग

किसी भी देश की सफलता और भविष्य बहुत कुछ उसके प्रशासनिक तंत्र की योग्यता एवं कार्यकुशलता पर निर्भर करता है। डॉनहम ने ठीक ही लिखा है कि, यदि हमारी सभ्यता असफल होती है तो उसके लिए प्रशासनिक ढाँचे को दोषी ठहराया जाएगा। तात्पर्य यह भी है कि, सभ्यता को सुरक्षित, संरक्षित एवं दीर्घजीवी बनाने के लिए प्रशासनिक तंत्र का स्वस्थ्य एवं कार्यकुशल होना आवश्यक है। अत: भारतीय संविधान निर्माताओं ने प्रशासन को, योग्यता सुनिश्चित करने वाले सिद्धांतों के आधार पर संगठित करने का निर्णय लिया, फलत: उन्होंने केन्द्रीय व राज्य स्तरों पर लोक सेवा आयोग की जाल बिछा दिया। भारतीय लोक सेवा ब्रिटिश प्रतिमान पर आधारित एक एकीकृत लोक सेवा है और इस कारण केन्द्रीय सेवाओं में नियुक्त व्यक्ति राज्य स्तरीय प्रशासन का भी अंग हो सकता है; जैसे- भारतीय प्रशासनिक सेवा (आईएएस) में नियुक्त कोई व्यक्ति किसी राज्य सरकार द्वारा जिलाधीश (डीएम) जैसे मुख्य पद पर तैनात किया जा सकता है और प्राय: यही होता है। इस प्रकार हमारी लोक सेवाओं का स्वरूप एकीकृत होने के कारण, लोकसेवकों की भर्ती करने वाला संस्थान, केन्द्रीय लोक सेवा आयोग भारतीय संघीय व्यवस्था में एक महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करता है।

संविधान निर्माताओं ने संविधान में ही लोक सेवाओं के संबंध में व्यापक प्रावधान सुनिश्चित कर दिये हैं जबकि अन्य देशों में प्राय: ऐसे प्रावधान संविधान के भाग नहीं होते। किसी भी लोकतांत्रिक देश में प्रशासन की नीतियों का निर्धारण मंत्रियों का कार्य होता है और वे मंत्री संसद या विधानमंडल के लोकप्रिय सदन के प्रति उत्तरदायी होते हैं, लेकिन व्यवहार में नीतियों का क्रियान्वयन और उनका प्रशासन लोकसेवा वर्ग के अधिकारियों-कर्मचारियों द्वारा ही होता है। मंत्रीगण स्थायी रूप से पदारुढ़ नहीं होते, क्योंकि यदि वे चुनाव में परास्त हो जायं या उनके दल की सरकार न बने, तो उनका मंत्री बनना कठिन हो जाता है लेकिन प्रशासनिक अधिकारियों का पद सुरक्षित रहता है और मंत्रियों के आने-जाने का नीतियों के क्रियान्वयन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इस प्रकार मंत्रीगण अस्थायी कार्यपालिका बनाते हैं तथा प्रशासनिक अधिकारियों का वर्ग स्थायी कार्यपालिका बनाता है। मंत्रियों एवं लोकसेवा अधिकारियों की पारस्परिक निर्भरता के संबंध में संवैधानिक सुधारों पर बनी संयुक्त प्रवर समिति ने कहा था कि - ''व्यवहार में सफल होने के लिए उत्तरदायी प्रणाली में एक सक्षम एवं स्वतंत्र लोक सेवा का होना आवश्यक है, जिसमें ऐसे व्यक्ति हों जो एक के बाद एक मंत्रिमण्डलों को अपने दीर्घकालीन प्रशासनिक ज्ञान व अनुभव के आधार पर परामर्श दे सकें। लोक सेवा के इन सदस्यों को सदाचरण करते रहने के दौरान सेवा सुरक्षा मिलती रहेगी। उनसे यह अपेक्षा की जाएगी कि वे सरकार और विधानमण्डल द्वारा निर्धारित की गयी नीतियों को दृढ़ता के साथ क्रियान्वित करें।''

1919 ई. में बने भारत शासन अधिनियम के अंतर्गत जब स्वशासन संबंधी संवैधानिक सुधार आरंभ हुए, उस समय भारत में प्रथम बार लोक सेवा आयोग की स्थापना की गई। इसकी स्थापना प्रशासनिक सुधारों की उसी भावना के साथ प्रारंभ हुई, जैसा कि, ब्रिटेन व अमेरिका में लोक सेवा आयो की स्थापना के समय देखी गई थी। वस्तुत: लोक सेवा आयोग की स्थापना को प्रशासनिक सुधारों की क्रियान्विति के लिए एक आवश्यक उपाय माना गया था। लेकिन जहाँ पूर्वोक्त दोनों पश्चिमी लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं में लोकसेवा आयोग की स्थापना का प्रमुख उद्देश्य लोक सेवा को राजनीतिज्ञों की कार्यवाहियों से 'मुक्ति' दिलान था, वहाँ भारत में इसका मुख्य उद्देश्य प्रशासनतंत्र को राजनीतिज्ञों के 'सन्निकट नियंत्रण' से स्वतंत्र रखना था। भारतीय संवैधानिक सुधारों से संबंधित 15 मार्च, 1919 की प्रथम भारत सरकार विज्ञप्ति के अनु. 55 में यह स्पष्ट किया गया था कि, 'उन अधिकांश राष्ट्रमंडल के देशों में जहाँ उत्तरदायी सरकार की स्थापना हो गयी है, वहाँ इस बात की आवश्यकता अनुभव की जा रही है कि एक स्थायी संस्था के निर्माण द्वारा लोक सेवाओं को राजनीतिक प्रभाव से बचाया जाय। इस संस्था का कार्य सेवा संबंधी विषयों का नियमन करना होना चाहिए.... लोक सेवाओं को मंत्रियों के नियंत्रण में जाने से बचाने हेतु एक स्थायी संस्था का गठन अनिवार्य है। जेम्स वॉटसन का मत है कि लोक सेवा आयोग को राजनीतिज्ञों के हस्तक्षेप से दूर रखकर ही उसे स्वतंत्र व निष्पक्ष ढंग से काम करने के लायक बनाया जा सकता है। अमेरिका में लूट प्रणाली के दोषों से मुक्ति हेतु पेण्डलटन अधिनियम बनाया गया एवं पदों के वितरण की प्रणाली को राजनीतिज्ञों के विशेषाधिकारों से हटा दिया गया, और इस प्रकार राजनीतिक हस्तक्षेप से मुक्त करके सरकारी सेवाओं में योग्यता के पुट का समावेश किया गया। भारतीय संविधान निर्माताओं के सामने यह अनुभव भी प्रेरणा-स्रोत के रूप में कार्य कर रहा था।

उपरोक्त लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु संविधान के भाग 14 में संघ तथा राज्यों/प्रांतों के अधीन लोक सेवाओं का प्रावधान किया गया है। अनु. 309 के अनुसार, इस संविधान के उपबंधों के अधीन रहते हुए संघ या किसी राज्य के कार्यकलाप से संबंधित लोक सेवाओं व पदों के लिए भर्ती का और नियुक्त व्यक्तियों की सेवा शर्तों का विनियमन संघ एवं राज्य के विधानमंडलों द्वारा किया जाएगा, जैसे ब्रिटेन में सभी सेवाएं सम्राट के प्रसापर्यन्त होती हैं, वैसे भारत में भी कोई व्यक्ति जो सिविल या सैन्य पद संघ या राज्य के अधीन धारण करता है, वह क्रमश: राष्ट्रपति या राज्यपाल के प्रसादपर्यन्त ही पद पर रहेगा अन्यथा नहीं (अनु. 310)। अनु. 311 के अनुसार, किसी व्यक्ति को जो संघ की सिविल सेवा का सदस्य है और संघ या राज्य में कोई सिविल पद धारण करता है, उसे उसके पद से उसकी नियुक्ति करने वाले प्राधिकारी के अधीनस्थ किसी प्राधिकारी द्वारा नहीं हटाया जा सकेगा। संघ या राज्य के अधीन सिविल पद धारण करने वाले किसी व्यक्ति को पद से तभी हटाया जा सकेगा, या पद से अवनत तभी किया जाएगा, जब उसके विरूद्ध लगाए गए आरोपों की उसे जानकारी दे दी गयी, उसे अपने

SHREE IAS

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

बचाव का पूरा अवसर दिया गया हो तथा आरोपों की जाँच में उसे दोषी पाया गया हो। अनु. 312 में राज्यसभा को अपने दो-तिहाई बहुमत (उपस्थित व मतदान में भाग लेने वाले सदस्यों के) से नयी अखिल भारतीय सेवा सृजित करने का अधिकार दिया गया है।

लोक सेवा आयोग :-

सिविल पदों पर भर्ती के लिए हमारा संविधान संघ और राज्यों के लिए पृथक-पृथक लोक सेवा आयोग का प्रावधान करता है (अनु. 315(1)), लेकिन यदि दो राज्य आपस में करार करके अपने लिए एक ही लोक सेवा आयोग की स्थापना को मंजूरी दे दें (इस प्रकार की मंजूरी दोनों राज्यों के विधानमंडलों द्वारा प्रस्ताव पारित करके ही दी जाएगी) तो संसद उन राज्यों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कानून द्वारा 'संयुक्तत राज्य लोक सेवा आयोग' की स्थापना कर सकेगी (अनु. 315(2))। संयुक्त राज्य लोक सेवा आयोग का प्रावधान इकाई राज्यों को परस्पर सन्निकट बनाए रखने हेतु मददगार तो है ही, साथ ही इससे केन्द्र व इकाइयों के बीच प्रगाढ़ संबंध भी बनाए रखने में मदद मिलेगी। यदि किसी राज्य का राज्यपाल, राष्ट्रपति का पूर्व अनुमोदन लेकर, राज्य की सभी या किन्हीं आवश्यकताओं की पूर्ति का अनुरोध करे, तो संघ लोक सेवा आयोग ऐसी आवश्यकताओं को पूरा करेगा (अनु. 315(4))।

आयोग के सदस्यों की नियुक्ति और पदावधि:-

अनु. 316(1) के अनुसार, संघ लोक सेवा आयोग तथा संयुक्त लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष तथा सदस्यों की नियुक्ति राष्ट्रपति करता है तथा इकाई राज्यों के लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष तथा सदस्यों की नियुक्ति राज्यपाल द्वारा की जाती है, लेकिन उपरोक्त वर्णित आयोग (संघ, संयुक्त तथा राज्य लोक सेवा आयोग) में यथासंभव आधे सदस्य (आयोग की कुल सदस्य संख्या का आधा) ऐसे व्यक्ति होंगे जो अपनी नियुक्ति की तिथि पर भारत सरकार या किसी राज्य सरकार के अधीन कम से कम 10 वर्ष तक पद धारण कर चुके हों। संविधान सभा में इस प्रावधान की आवश्यकता पर बल देते हुए डॉ. अम्बेडकर ने कहा था कि, 'लोक सेवाओं में उम्मीदवारों की उपयुक्तता के संदर्भ में उस व्यक्ति से अधिक श्रेष्ठ कोई अन्य व्यक्ति नहीं हो सकता जो स्वयं लोक सेवाओं से सम्बद्ध रहा हो। 10 वर्ष की सरकारी सेवाओं में रहे इन 'आधे सदस्यों' के संबंध में किसी विशेष का उल्लेख संविधान में नहीं किया गया है। मोटे तौर पर कार्यपालिका इस संबंध में 1924 ई. में वरिष्ठ जन सेवाओं संबंधी राजकीय आयोग (ली आयोग) के इस सलाह से निर्देशित हाती है कि, सदस्यों का चयन ऐसे व्यक्तियों में से हो जिन्हें अत्यधिक सार्वजनिक सम्मान प्राप्त हो तथा यथासंभव व्यावहारिक राजनीतिक क्षेत्र से दूर हों। संविधान निर्माताओं का विश्वास था कि, आने वाली सरकारें इन पदों पर ऐसे व्यक्तियों को प्रतिष्ठित नहीं करेंगी, जिससे लगे कि ये नियुक्तियां 'राजनीतिक नियुक्तियां' हैं।

संविधान में लोक सेवा आयोग के सदस्यों की न्यूनतम या अधिकतम कोई सुनिश्चित संख्या नहीं है। केन्द्र व राज्य समय-समय पर अपनी आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर सदस्यों की संख्यास निश्चित करते रहे हैं। 26 जनवरी, 1950 को जब संविधान कार्यरूप से परिणत हुआ और संघीय लोक सेवा आयोग का नया स्वरूप संघ लोक सेवा आयोग के रूप में सामने आया तो उस समय आयोग में 4 सदस्य (एक अध्यक्ष, तीन सदस्य) थे और सम्प्रति, इसमें एक अध्यक्ष और 7 सदस्य, कुल 8 सदस्य हैं।

संघ लोक सेवा आयोग के सदस्य अपने पद ग्रहण की तिथि से 6 वर्ष की अवधिक तक या 65 वर्ष आयु तक (जो भी पहले हो) पद धारण कर सकेंगे। राज्य लोक सेवा आयोग एवं संयुक्त लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष व सदस्य पद ग्रहण की तिथि से 6 वर्ष की अवधि तक या 62 वर्ष की आयु होने तक (जो भी पहले हो) पद धारण कर सकेंगे (अनु. 316(2))।

अनु. 316(2) क, के अनुसार संघ लोक सेवा आयोग तथा संयुक्त लोक सेवा आयोग के सदस्य अपना त्यागपत्र राष्ट्रपति को तथा राज्य लोक सेवा आयोग के सदस्य अपना त्यागपत्र राज्यपाल को देंगे।

राष्ट्रपति लोक सेवा आयोग (संघ, संयुक्त तथा राज्य-तीनों के) के किसी भी सदस्य या अध्यक्ष को निम्नलिखित परिस्थितियों में भी पद से हटा सकता है, जब वह -

(क) किसी सक्षम न्यायालय द्वारा दिवालिया घोषित कर दिया गया हो, या

(ख) अपनी पदावधि के दौरान अपने पद के कर्त्तव्यों के बाहर किसी सवेतन नियोजन में लग गया हो, या

(ग) राष्ट्रपति की राय में मानसिक या शारीरिक दुर्बलता के कारण अपना पद ग्रहण करने योग्य नहीं रह गया हो (अनु. 317(3))।

राष्ट्रपति किसी भी लोक सेवा आयोग (संघ या संयुक्त या राज्य) में काम कर रहे सदस्य को उस स्थिति में भी पद से हटा सकता है जब उच्चतम न्यायालय ने अनु. 145 में विहित प्रक्रिया द्वारा जाँच करके राष्ट्रपति को यह रिपोर्ट दिया हो कि किसी आयोग का कोई सदस्य कदाचार में लिप्त है या कदाचार का दोषी है (अनु. 317(1))। कदाचार का अर्थ अनु. 317(4) में स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि, कोई भी कदाचार को दोषी समझा जाएगा, यदि वह,

(1) भारत सरकार या राज्य सरकार की ओर से की गई किसी संविदा में शामिल है, या उससे जुड़ा हुआ है,या

(2) ऐसी संविदा या करार के किसी लाभमें या उससे होने वाले किसी फायदे या उपलब्धि यों में भाग लेता है।

राज्य लोक सेवा आयोग के किसी भी सदस्य पर कदाचार के आरोप लग जाने के बाद उसे पद से निलंबित करने की शक्ति राज्यपाल के पास भी है, लेकिन आरोप प्रमाणित हो जाने के बाद

FREE IAS

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

(आरोप की सत्यता का प्रमाणपत्र उच्चतम न्यायालय देगा) उसे पद से हटाने का आदेश देने की शक्ति केवल भारत के राष्ट्रपति के ही पास है। राष्ट्रपति राज्य लोक सेवा आयोग के किसी सदस्य पर लगे आरोप की जाँच करवाता है तथा आरोप प्रमाणित होने के बाद राज्यपाल को उस सदस्य को पद से हटाने के लिए कहता है और फिर राज्यपाल राष्ट्रपति के इस आदेश के अनुपालन में उसे पद से हटा देता है।

आयोग के सदस्यों की सेवा-शर्तों का निर्धारण:-

संघ लोक सेवा आयोग तथा संयुक्त लोक सेवा आयोग की दशा में राष्ट्रपति और राज्य लोक सेवा आयोग की दशा में राज्यपाल नियम बनाकर

(क) आयोग के सदस्यों की संख्या व सेवा-शर्तों का निर्धारण कर सकेगा और

(ख) आयोग के कर्मचारियों की संख्या व उनकी सेवा-शर्तों का निर्धारण कर सकेगा।

परंतु संघ या संयुक्त राज्य लोक सेवा आयोग के सदस्यों की सेवा-शर्तों में उनकी नियुक्ति के बाद कोई अलाभकारी परिवर्तन नहीं किया जाएग (अनु. 318)।

आयोग के सदस्यों द्वारा ऐसे सदस्य न रहने पर पद धारण करने के संबंध में प्रतिबंध (अनु. 319):-

अनु. 319 के अनुसार, पद पर न रह जाने की दशा में,

(क) संघ लोक सेवा आयोग का अध्यक्ष भारत सरकार या किसी राज्य की सरकार के अधीन किसी भी और नियोजन का पात्र नहीं होगा,

(ख) किसी राज्य लोक सेवा आयोग का अध्यक्ष संघ लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष या सदस्य के रूप में अथवा किसी अन्य राज्य लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष के रूप में नियुक्त हो सकेगा, किन्तु भारत सरकार या किसी राज्य की सरकार के अधीन किसी अन्य नियोजन का पात्र नहीं होगा,

(ग) संघ लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष से भिन्न कोई अन्य सदस्य संघ लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष के रूप में अथवा किसी अन्य राज्य लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष के रूप में नियुक्त होने का पात्र होगा, किन्तु भारत सरकार या किसी राज्य सरकार के अधीन किसी अन्य नियोजन का पात्र नहीं होगा,

(घ) किसी राज्य लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष से भिन्न कोई अन्य सदस्य संघ लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष या किसी अन्य सदस्य के रूप में, अथवा उसी या किसी अन्य राज्य के लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष के रूप में नियुक्त हो सकता है, लेकिन भारत सरकार या किसी राज्य सरकार के अधीन किसी अन्य नियोजन का पात्र नहीं होगा।

उपरोक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि, पदावधि पूरी होने के बाद राज्य लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष तथा सदस्यों की लोक सेवा आयोग के भीतर उच्चतर पदों पर तो नियुक्तियां की जा सकती हैं, लेकिन निम्नतर पदों पर नहीं, उन्हें आयोग के बाहर भी नियुक्त नहीं किया जा सकता है। लेकिन संघ लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष को न तो आयोग के भीतर ही नियुक्त किया जा सकता है और न ही बाहर। आयोग के भीतर उसे इसलिए नहीं नियुक्त किया जाएगा, क्योंकि वह उच्चतम पद पर प्रतिष्ठित हो चुका है और आयोग के बाहर उसे नियुक्त ही नहीं किया जा सकता क्योंकि अन्य आयोग के पद उससे निम्नतर हैं।

आयोग के सदस्यों द्वारा ऐसे न रहने पर पद धारण करने के संबंध में ऊपर वर्णित प्रतिबंधों (अनु. 319) का जनता पर गंभीर मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ा है। आयोग के सदस्यों के प्रति जनता के मन में इसलिए अत्यधिक सम्मान का भाव पैदा हो गया है कि वे जनहित के लिए भावी पदों का त्याग करते हैं। एम. मुतालिब का मानना है कि, इस प्रावधान के कुछ निश्चित परिणामों का पूर्वानुमान नहीं लगाया जा सका है, उदाहरण के लिए, कोई व्यक्ति जो अध्यक्ष पद स्वीकार करता है, अनिवार्यत: या तो सेवाकाल की समाप्ति के निकट होता है, या उस समय ऐसे पद पर होता है कि उसके लिए भावी सरकारी पद रूचि का विषय नहीं रह जाता। अपने सेवा काल के मध्य में कोई व्यक्ति आयोग के सदस्य का पद बड़ी मुश्किल से स्वीकार करना चाहता है क्योंकि केन्द्रीय व राज्य सरकार के अधीन कोई अन्य कार्य प्राप्त करने की उसकी संभावनाओं पर वहाँ प्रतिबंध व सीमाएं लगी होती हैं। इसके अतिरिक्त आयोग के सदस्य के रूप में कार्यरत किसी गैर-सरकारी सदस्य का अपेक्षाकृत अधिक हानि होती है क्योंकि आयोग के सदस्य को वहाँ से अवकाश प्राप्त करने के बाद किसी प्रकार का पेंशन प्राप्त नहीं होती। वस्तुत: आयोग की कार्यपालिका के हस्तक्षेप से मुक्त करने के प्रयास में सेवा के पश्चात् आजीविका-सुरक्षा की ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया जा सका है।

लोक सेवा आयोग के कार्य (अनु. 320):-

लोक सेवा आयोग (संघ और राज्य) के निम्नलिखित कार्यों का संविधान में वर्णन है:-

(1) संघ और राज्य लोक सेवा आयोग का यह कर्त्तव्य होगा कि, वे क्रमश: संघ की सेवाओं एवं राज्य की सेवाओं में नियुक्तियों के लिए परीक्षाओं का आयोजन व संचालन करे,

(2) यदि दो या दो से अधिक राज्य अपने राज्य की ऐसी सेवाओं के लिए जिनके लिए विशेष अर्हता वाले अभ्यर्थी अपेक्षित हैं, नियम बनाने या परीक्षा प्रणाली तैयार करने तथा उसे क्रियान्वित करने का अनुरोध करें तो संघ लोक सेवा आयोग का कर्त्तव्य होगा कि वे इस मामले में उन राज्यों की सहायता करे,

(3) संघ लोक सेवा आयोग से सरकार निम्नलिखित विषयों पर परामर्श करती है:-

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

(क) सिविल सेवाओं तथा सिविल पदों पर भर्ती की पद्धतियों से जुड़े हुए सभी विषयों पर,

(ख) सिविल सेवाओं व पदों पर नियुक्ति करने में, एक सेवा से दूसरी सेवा में पदोन्नति या स्थानांतरण करने वाले सिद्धांतों तथा अभ्यर्थियों की उपयुक्तता पर,

(ग) भारत सरकार या किसी राज्य सरकार की सिविल सेवा कर रहे व्यक्ति पर प्रभाव डालने वाले सभी अनुशासनिक विषयों से संबंधित आवेदन या याचिकाओं के बारे में,

(घ) भारत सरकार या राज्य सरकार की सिविल सेवा में कार्य कर रहे या कार्य कर चुके व्यक्तियों के पद पर रहते हुए, किए गए कार्यों के विरूद्ध दायर विधिक कार्यवाहियों से उस व्यक्ति की प्रतिरक्षा तथा तत्सम्बंधी खर्च का भारत या राज्य की संचित निधि से संदाय किया जाना,

(ङ) भारत सरकार या किसी राज्य सरकार के अधीन सिविल सेवा में कार्यरत किसी व्यक्ति को हुई क्षतियों के बारे में पेंशन अधिनिर्णित किए जाने के संबंध में किए गए किसी दावे या पेंशन की राशि विषयक प्रश्न पर,

इन उपरोक्त वर्णित विषयों के अतिरिक्त राष्ट्रपति या राज्यपाल आयोग से किसी भी अन्य लोक सेवा विषयक प्रश्न पर परामर्श मांग सकते हैं परंतु अखिल भारतीय सेवाओं के संबंध में तथा संघ के कार्यकलाप से संबंधित अन्य सेवाओं एवं पदों के संबंध में राष्ट्रपति तथा राज्य के कार्यकलाप से संबंधित अन्य सेवाओं व पदों के संबंध में राज्यपाल उन विषयों से संबंधित नियम बना सकेगा, जिनमें विशिष्ट परिस्थितियों या विशेष वर्ग के मामलों में लोक सेवा आयोग से परामर्श करना आवश्यक नहीं होगा, अर्थात् राष्ट्रपति और राज्यपाल चाहे तो आयोग के कार्य क्षेत्र की परिधि से ही कुछ सेवाओं को बाहर कर सकता है, लेकिन इस प्रकार आयोग की परिधि से बाहर रखने हेतु बनाए गए सभी नियम यथाशीघ्र, संसद के प्रत्येक सदन में (संघ के संदर्भ में राष्ट्रपति द्वारा) या राज्य के विधानमंडल के (राज्य के संदर्भ में, राज्यपाल द्वारा) प्रत्येक भवन में, उसी सत्र में कम से कम उन नियमों में कोई भी संशोधन करने के लिए स्वतंत्र व सक्षम होंगे, (अनु. 320 (5))। कार्यपालिका की शक्ति का दुरुपयोग रोकने हेतु विधानमंडलों का यह नियंत्रण कार्यपालिका को मर्यादित व अनुशासित रखता है, और इससे आयोग को भी दृढ़ता प्राप्त होती है।

राज्य को यह अधिकार है कि वह पिछड़े वर्ग (अनु. 16(4)) तथा अनुसूचित जातियों-जनजातियों के व्यक्तियों की नियुक्तियां करने में तथा राजकीय सेवाओं में उनकी भर्ती आदि के संबंध में नीतियां बनाते समय लोक सेवा आयोग से परामर्श न करे, लेकिन यदि वह चाहे तो परामर्श कर भी सकता है (अनु. 320(4)), अर्थात् इस वर्ग की नियुक्तियां करने में सरकार आयोग के परामर्श से बंधी हुई नहीं है।

लोक सेवा आयोग (संघ एवं राज्य दोनों) का यह कर्त्तव्य होगा कि वे संघ की या राज्य की सेवाओं के संबंध में या किसी स्थानीय प्राधिकारी या विधि द्वार गठित अन्य निगमित निकाय या किसी लोक संस्था की सेवाओं के संबंध में ऐसे कार्य संपादित करे जो संसद या राज्य विधानमंडल के अधिनियम द्वारा उसे प्रदान किए जाएं (अनु. 321)।

लोक सेवा आयोग के व्यय (अनु. 322):-

संघ या राज्य लोक सेवा आयोग के व्यय-जिनके अंतर्गत आयोग के सदस्यों या कर्मचारीवृन्द को या उनके संबंध में संदेय, भत्ते और पेंशन है- यथास्थिति भारत की संचित निधि या राज्य की संचित निधि पर भारित होंगे।

लोक सेवा आयोग के प्रतिवेदन (अनु. 323):-

अनु. 323(1) के अनुसार, संघ लोक सेवा आयोग का यह कर्त्तव्य होगा कि वह प्रतिवर्ष आयोग द्वारा किए जाने वाले कार्यों के बारे में राष्ट्रपति को प्रतिवेदन दे और राष्ट्रपति ऐसा प्रतिवेदन प्राप्त होने पर - उन मामालों के संबंध में, जिनमें आयोग की सलाह स्वीकार नहीं की गई थी, उस सलाह की अस्वीकृति के कारणों को स्पष्ट करने वाले ज्ञापन सहित उस प्रतिवेदन की प्रति संसद के प्रत्येक सदन के समक्ष रखवाएगा।

राज्य आयोग और संयुक्त आयोग के संबंध में यह प्रावधान है कि राज्य लोक सेवा आयोग तथा संयुक्त राज्य लोक सेवा आयोग प्रतिवर्ष अपने कार्यों के संबंध में एक रिपोर्ट (प्रतिवेदन) राज्यपाल या राज्यपालों को दें (संयुक्त आयोग की दशा में उन राज्यों के राज्यपालों को प्रतिवेदन दिया जाएगा, जिनमें आयोग के कार्य की अधिकारिता का विस्तार है)। राज्यपाल या राज्यपालों का यह कर्त्तव्य होगा कि वे इस प्रतिवेदन की प्रतियां संबंधित विधानमंडल के समक्ष रखें (विधानमण्डल एक सदनीय है तो विधानसभा के समक्ष तथा विधानमण्डल यदि द्वि-सदनीय है तो विधानसभा एवं विधान परिषद के समक्ष) तथा यदि प्रतिवेदन में शामिल किसी सलाह को संबंधित राज्य की सरकार स्वीकार नहीं कर रही है तो उस सलाह को स्वीकार न करने के कारणों से भी विधानमंडल को अवगत कराया जाएगा, लेकिन तभी जब प्रतिवेदन की प्रतियां विधानमंडल में रखी जाएं।

संविधान इस बात पर मौन है कि आयोग का प्रतिवेदन प्राप्त होने के कितने दिनों के भीतर राष्ट्रपति या राज्यपाल क्रमशः संसद एवं विधानमंडल के समक्ष उसे रखेंगे। वस्तुतः यह कार्य प्रतिवर्ष वार्षिक रिपोर्ट प्राप्त होने के तुरंत बाद (यथाशीघ्र) किया जाना चाहिए। ऐसा नहीं होना चाहिए कि कई वर्षों की रिपोर्ट को इकट्ठा करने के बाद एक साथ संसद या विधानमंडल के समक्ष रखा जाय। यदि राष्ट्रपति या राज्यपाल ऐसा करते हैं या प्रतिवेदनों को काफी समय के बाद संसद/विधानमंडल में रखा जाता है, तो सांसदों एवं विधायकों को सरकार से इस बात का स्पष्टीकरण मांगना चाहिए कि आयोग की रिपोर्ट संसद या विधानमंडल में इतने विलंब से क्यों रखी गयी? यदि इस प्रकार का प्रश्न नहीं उठाया गया तो इन प्रतिवेदनों को संसद या विधानमंडल में रखने के पीछे जो दर्शन है, उसका लक्ष्य यही पीछे छूट जाएगा। यदि जन प्रतिनिधि

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

सरकार की आलोचना नहीं कर सकते तो सरकार उत्तरदायी नहीं रह जाएगी और जब सरकार उत्तरदायी नहीं रहेगी तो लोकतंत्र अपनी गरिमा ही खो देगा और ऐसे में आयोग भटक जाएगा, समाप्त हो जाएगा।

लोक सेवा आयोग की प्रकृति सलाहकारी है, यह सरकार को सलाह या परामर्श दे सकती है जिसे मानना, न मानना सरकार के विवेक का विषय है। चूंकि सरकार अपने कार्यों के लिए संघीय स्तर पर लोकसभा तथ राज्यों में विधनसभा के प्रति उत्तरदायी है। चूंकि लोकसभा एवं विधानसभा में सरकारों का बहुमत होता है अत: सरकार आसानी से अपने सांसदों/विधायकों को आयोग की सलाह न मानने के कारणों से अवगत कराकर संतुष्ट कर देती है। आयोग विशेषज्ञों का समूह होता है और यदि उसकी सलाह को सरकारें उपेक्षा की दृष्टि से देखेंगी तो उसकी स्थापना का उद्देश्य ही समाप्त हो जाएगा।

राष्ट्रीय जातिय एवं जनजातिय आयोग

भारतीय संविधान में अनुच्छेद 338 में राष्ट्रीय जातिय एवं जनजातिय आयोग की स्थापना का प्रावधान है।

आयोग के कार्य:- अनुच्छेद 338 में संविधान के तहत इस आयोग के लिए कुछ स्पेशल ऑफिसर के नियुक्ति का प्रावध ान है। ताकि वे राष्ट्रीय स्तर पर पिछड़े वर्गों के हितों के लिए कार्य कर सके, तथा इन्हें समय-समय पर अपने कार्यों का विवरण राष्ट्रपति को सौंपना होता है। 65वें संवैधानिक संशोधन के द्वारा राष्ट्रीय जातिय एवं जनजातिय आयोग की स्थापना की गई थी। आयोग में एक अध्यक्ष एवं एक उपाध्यक्ष और पांच सदस्य होते है। जिनकी नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा होती है।

(क) पिछड़े वर्गों के लिए राष्ट्रीय स्तर पर सभी कार्यों की निगरानी करना एवं उनको कानूनी सहायता देना है।

(ख) विशेष शिकायतों का निवारण करना तथा उनके अधि कारों की रक्षा करना।

(ग) राष्ट्रीय स्तर पर पिछड़े वर्गों के विकास के लिए सामाजिक एवं आर्थिक नीतियों में भागीदारी तथा सलाह देना है।

(घ) पिछड़े वर्गों के आर्थिक, सामाजिक विकास एवं सामजिक समानता, कानूनी सहायता आदि के लिए केंद्र सरकार एवं प्रदेश सरकारों को समय-समय पर उचित सलाह देना।

(ङ) यह आयोग प्रत्येक वर्ष पिछड़े वर्गों के विकास एवं कल्याण के लिए राष्ट्रपति को अपनी रिपोर्ट सौंपता है।

(च) इसके सदस्यों को आवश्कता पड़ने पर दस्तावेजों की छानवीन, पुछताछ एवं कानूनी सहायता लेने आदि कार्य करने पड़ते है।

योजना आयोग

योजना आयोग की स्थापना भारत सरकार ने 1950 में की गई थी। यह एक सलाहकारी निकाय है। यह भारत में आर्थिक एवं समाजिक विकास की प्रमुख संस्था है।

योजना आयोग के प्रमुख कार्य:-

(1) भारत में पूंजी संसाधनों एवं मानवीय संसाधनों का अनुमान लगाना तथा आवश्कता अनुसार उसका वितरण करना।

(2) एक ऐसी योजना को तैयार करना, जिसके तहत देश के संसाधनों का समान रूप से उपयोग किया जा सके।

(3) प्राथमिकताओं का निर्धारण तथा आवश्कयता अनुसार धन का आवंटन जैसी प्रमुख चुनौतियों को पूरा करता है।

(4) देश के सामाजिक एवं आर्थिक विकास का समय-समय पर मूल्यांकन।

(5) ऐसी व्यवस्था का निर्माण जिसके तहत योजनाओं का क्रियावन्वन जमीनी स्तर पर सफलता पूर्वक किया जा सके।

(6) राज्य सरकारों को समय-समय पर उनकी योजना निर्माण में सहायता एवं सलाह देना।

सदस्य एवं कार्यकाल:-

(1) भारत का प्रधानमंत्री हमेशा ही इसका कार्यकारी अध्यक्ष होता है।

(2) दूसरा महत्वपूर्ण पद उपाध्यक्ष का होता है, जो वास्तव में योजना आयोग का कार्यकारी अध्यक्ष होता है। इसकी कार्यावधि पांच साल की होती है। इसे कैबिनेट मंत्री स्तर का दर्जा प्राप्त होता है। तथा इसको संसद के सभी सभाओं में भाग लेने का अधिकार होता है परंतु मत देने का अधिकार नहीं होता है।

(3) केंद्रीय मंत्रियों को अल्पावधि के लिए इसका सदस्य नियुक्त किया जाता है।

(4) योजना आयोग में अन्य सदस्यों की संख्या 4 से 7 तक हो सकती है, जो पूर्णकालिक सदस्य होते हैं तथा इन्हें राज्यस्तर का दर्जा प्राप्त होता है।

(5) आयोग में एक सचिव भी होता है। जो समान्यत: प्रशासनिक सेवा से होता है।

(6) योजना आयोग के गठन में एवं कार्यविधि में राज्यों का कोई हस्तक्षेप नहीं होता है और यह पूरी तरह से केन्द्र निर्देशित संस्था है।

योजना आयोग के अंदर अन्य कई महत्वपूर्ण विभाग होते हैं जैसे:-

(1) तकनीकी विभाग:-इसका प्रमुख कार्य योजना के फरमुले को तैयार करना, नियंत्रण करना तथा मूल्यांकन करना है। इस विभाग के अंदर मुख्यत: दो उपविभाग होते हैं:-

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

पहला है, सामान्य तथा दूसरा है, विशेष। सामान्य विभाग में मुख्यत: पूरी अर्थव्यवस्था का मूल्यांकन किया जाता है तथा विशेष विभाग में अर्थव्यवस्था के किसी विशेष पहलू पर विचार किया जाता है।

(2) हाउस किपिंग ब्रांच:- इसके अंदर कई महत्वपूर्ण विभाग हैं:-

(क) सामान्य प्रशासन विभाग।

(ख) विजिलेंस विभाग।

(ग) इस्टेबिलिस्टमेंट विभाग।

(घ) एकांउट विभाग।

(ङ) प्रशिक्षण विभाग।

(3) कार्यक्रम सलाहकार

योजना आयोग के सही मूल्यांकन करने के पश्चात कई विशेषज्ञों ने उसे सुपर कैबिनेट तथा सामानांतर कैबिनेट, आर्थिक कैबिनेट, कोच का पांचवां पहिया आदि नामों से संबोधित किया है।

राष्ट्रीय विकास परिषद्

राष्ट्रीय विकास परिषद् की स्थापना अगस्त 1952 में की गई थी। इसकी स्थापना प्रथम योजना के तहत प्रथम योजना में योजना आयोग की तर्ज पर की गई थी।

राष्ट्रीय विकास परिषद् का गठन:-

(1) भारत का प्रधानमंत्री इसका अध्यक्ष होता है।
(2) सभी केंद्रीय मंत्री इसके सदस्य होते है।
(3) सभी राज्यों के मुख्यमंत्री इसके सदस्य होते हैं।
(4) सभी संघ शासित क्षेत्रों के प्रमुख इसके सदस्य होते है,
(5) योजना आयोग के सभी सदस्य इसके सदस्य होते हैं।
(6) योजना अयोग के सचिव तथा प्रशासक राष्ट्रीय विकास परिषद् के सचिव एवं प्रशासक के तरह कार्य करते हैं।

राष्ट्रीय विकास परिषद् का उद्देश्य:-

(1) सभी राज्यों का तालमेल एवं सहयोग हासिल करना ताकि योजनाओं को सही तरीका से लागू किया जा सके।
(2) सभी संसाधनों को देश के विकास के लिए बेहतरीन तरीके से इस्तेमाल करना।
(3) राष्ट्रीय स्तर पर एक समान्य आर्थिक योजना को लागू करना।
(4) देश के सभी भागों में संतुलित विकास के लक्ष्य को हासिल करना।

राष्ट्रीय विकास परिषद् के प्रमुख कार्य:-

(1) राष्ट्रीय योजना को तैयार करने में महत्वपूर्ण दिशा निर्देश जारी करना।
(2) योजना अयोग के द्वारा तैयार की गई योजना को अंतिम रूप से स्वीकार करना।
(3) समय-समय पर नीतियों का मूल्यांकन करना तथा सुझाव देना।
(4) राष्ट्रीय विकास को प्रभावित करने वाली योजनाओं पर कार्य करना।
(5) राष्ट्रीय योजना के क्रियाकलाप को समय-समय पर मूल्यांकन करना।
(6) राष्ट्रीय विकास के लक्ष्यों को हासिल करने के लिए समय-समय पर दिशा निर्देश एवं सलाह देना।

फेस JAS

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग

राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग एक विधिक निकाय है, परंतु यह एक संविधानिक निकाय नहीं है। इसकी स्थापना 1953 में मानव सुरक्षा अधिकार कानून के तहत की गई थी। मानवाधिकार की रक्षा करना इस आयोग का प्रमुख कार्य है। भारतीय नागरिकों को संविधान के द्वारा जो मूल अधिकार दिये गये हैं उसकी रक्षा करना इसका प्रमुख कर्त्तव्य होता है।

आयोग का गठनः-

(1) आयोग बहुसदस्यीय है जिसमें एक अध्यक्ष एवं चार सदस्य होते हैं।

(2) इसका अध्यक्ष उच्चतम न्यायालय का सेवानिवृत न्यायाधीश होनी चाहिए।

(3) अन्य सदस्यों में सुप्रीम कोर्ट के तथा हाई कोर्ट के सेवानिवृत न्यायाधीश इसके सदस्य हो सकते हैं।

(4) दो ऐसे व्यक्ति जिन्हें मानवाधिकार कानून का व्यवहारिक ज्ञान हो। इसके सदस्य हो सकते हैं।

(5) इसके अलावा राष्ट्रीय पिछड़ा आयोग, अल्पसंख्यक आयोग, जातिय/जनजातिय आयोगों के अध्यक्ष इसके स्वतः सदस्य होते हैं।

(6) अध्यक्ष एवं सदस्यों की नियुक्ति राष्ट्रपति के दिशा निर्देशों पर होता है।

(7) इस नियुक्ति कमेटी में लोकसभा का स्पीकर, राज्यसभा का उपाध्यक्ष, विपक्ष का नेता और गृह मंत्री शामिल होते हैं।

(8) अध्यक्ष का कार्यकाल 5 वर्षों तक होता है। या वह अधिकतम 70 वर्ष की आयु तक पद धारण कर सकता है।

(9) अध्यक्ष एवं सदस्य यह पद धारण करने के बाद केंद्रीय एवं राज्य स्तर पर अन्य किसी पद को धारण नहीं कर सकते।

आयोग के प्रमुख कार्यः-

(1) मानवाधिकारों के उल्लंघन की जांच करना खासतौर पर लोकसेवकों एवं पदाधिकारियों की तरफ से।

(2) मानवाधिकार के उल्लंघन के मामले में न्याय दिलवाले के उद्देश्य से न्यायालय का सहारा लेना।

(3) समय-समय पर जेलों तथा अन्य स्थानों की छानबीन करना तथा मानवीय अधिकारों को लागू करवाना।

(4) मानवाधिकार की रक्षा के लिए संशोधन की सलाह देना।

(5) राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय समझौता का मूल्यांकन करना।

(6) मानवाधिकारों से संबंधित शोध-पत्रों को जारी करना तथा लागू करवाना।

(7) मानवाधिकारों को आम जनता में लोकप्रिय बनाना तथा जन जागरूकता लाना।

(8) वे सभी गैर-सरकारी संस्थाएं जो मानवाधिकार के लिए कार्य कर रही है, को प्रोत्साहित करना।

(9) उन सभी कदमों को उठाना जिसके तहत मानवाधिकारों की रक्षा की जा सके।

बीमा विनियामक एवं विकास प्राधिकरण

प्रमुख उद्देश्यः-

(1) पॉलिसीधारकों के के हितों की सुरक्षा करना।

(2) बीमा क्षेत्र के विकास को तेज करना ताकि आम जनता और अर्थव्यवस्था को लाभ पहुंच सके।

(3) बीमा क्षेत्र के विकास के लिए उच्च स्तरीय मापदंड तैयार करना।

(4) विवाद की स्थिति में दावे के निपटारे में सहायता तथा बीमा के किसी घोटाले की जाँच करना तथा दिशानिर्देश जारी करना।

(5) वित्तीय बाजार में पारदर्शिता को लागू करना।

(6) बीमा क्षेत्र के विकास के लिए दिन प्रतिदिन के कार्यों के लिए भी दिशा निर्देश जारी करना।

बीमा का इतिहासः-

भारत में बीमा क्षेत्र का विकास अत्यंत पुराना है जिसका वर्णन हमें मनुस्मृति, धर्मशास्त्र एवं अर्थशास्त्र में मिलता है। इन शास्त्रों में बाढ़, प्राकृतिक आपदा, सुखा आदि के प्राकृतिक समस्याओं के दौरान संसाधनों के उचित बँटवारे का भी विवरण है। आधुनिक बीमा व्यवसाय का विकास मुख्यतः इंग्लैण्ड से शुरू हुआ माना जाता है। जिसमें समुद्री व्यापार के दौरान दिये गये लोन एवं वस्तुओं के गंतव्य स्थान तक पहुंचाने के एवज में ली गई छोटी से धन राशि से शुरू होती है। भारत में इस व्यवसाय की शुरूआत ब्रिटिश व्यापारियों के माध्यम से हुई।

सन् 1818 में भारत में इस क्षेत्र की शुरूआत एक संगठित रूप में हुई जिसके क्रम में कोलकाता में ओरिएंटल लाईफ इंश्योरेंस कम्पनी की स्थापना हुई। यह कंपनी अंततः 1834 में असफल हो गई। 1829 में मद्रास प्रेसीडेंसी ने बीमा के क्षेत्र में व्यवसाय शुरू किया, 1870 में ब्रिटिश इंश्योरेंस एक्ट पास किया गया और 19वीं शताब्दी के आखिरी तीन दशकों में प्रमुख कम्पनियों की स्थापना हुई जिनमें 1871 में बम्बे म्युच्युअल तथा 1874 में ओरिएंटल और 1897 में एम्पायर ऑफ इंडिया के स्थापना बम्बे प्रेसिडेंसी में हुई।

शुरूआत के दिनों में इन व्यवसाय का मुख्य नियंत्रण विदेशी हाथो में था। इसकी प्रमुख कंपनियां जो भारत में इसका नियंत्रण करती थी। वे थी एल्बर्ट लाईफ इंश्योरेंस, रॉयल इंश्योरेंस, लिबरपूल तथा लंदन ग्लोब इंश्योरेंस आदि।

सन् 1914 में भारत सरकार ने इंश्योरेंस व्यापार की शुरूआत द इंडियन लाईफ एसोरेंस कंपनी एक्ट 1912 से शुरूआत

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

हुई। कलांतर में यह अधिनियम भारत सरकार को बीमा से संबंधित आंकड़े इकट्ठे करने का अधिकार प्रदान किया।

1950 के बीमा अधिनियम ने भारत में कई बीमा कंपनियों को व्यवासय करने का अवसर प्रदान किया जिससे उनके अंदर एक प्रतिस्पर्धा की भावना उत्पन्न हुई। इस प्रतिस्पर्धा ने इन कंपनियों को गैर कानूनी तरीके से व्यवसाय को तेजी से बढ़ाने के लिए मजबूर किया। जिसके चलते भारत सरकार ने इस पूरे व्यवसाय के राष्ट्रीयकरण कर दिया।

19 जनवरी 1956 को बीमा व्यवसाय का राष्ट्रीयकरण किया गया तथा इसी वर्ष लाईफ इंश्योरेंस कॉरपोरेशन कंपनी भी अस्तित्व में आई। लाईफ इंश्योरेंस कॉरपोरेशन में 154 भारतीय, 16 गैर भारतीय तथा 75 संस्थाएं एवं लगभग 250 अन्य कंपनियों का समावेशन किया गया। इस प्रकार लाईफ इंश्योरेंस कॉरपोरेशन 1990 के दशक तक व्यापार पर एकाधिकार बनाकर रखा जब तक कि इस व्यापार को निजी क्षेत्र के लिए न खोल दिया गया।

जनरल इंश्योरेंस का भी इतिहास अत्यंत पुराना है जिसकी शुरूआत लगभग 17वीं शताब्दी में औद्योगिक क्रांति के बाद समुद्री व्यापार को लेकर पश्चिम के देशों में हुई। इसी व्यवसाय को ब्रिटिश कंपनियां व्यापार के उद्देश्य से भारत में लेकर आई। इंडिया में जनरल इंश्योरेंस की पहली कंपनी 1850 में ट्रिटन इंश्योरेंस कंपनी लि. की स्थापना कलकत्ता में ब्रिटिश द्वारा की गई। 1907 में इंडियन मर्केनटाइल इंश्योरेंस लि. की स्थापना की गई जो जनरल इंश्योरेंस के सभी क्षेत्रों में व्यवसाय करती थी। इस पूरे व्यवसाय को संगठित करने के लिए 1957 में जनरल इंश्योरेंस काउंसिल की स्थापना की गई। 1968 में इस क्षेत्र के व्यवसाय में निवेश को नियंत्रित करने के लिए टैरिफ एडवाईजरी कमिटी की स्थापना की गई।

1 जनवरी 1973 को 10 बीमा कंपनियों को एक-दूसरे में समाहित करके इस व्यवसाय का राष्ट्रीयकरण किया गया तथा इस पूरे व्यवसाय का विभाजन मुख्यत: चार कंपनियों में किया गया जैसे-

(1) द नेशनल इंश्योरेंस कंपनी लि.
(2) द न्यू इंडिया इंश्योरेंस कंपनी लि.
(3) द ओरिएंटल इंश्योरेंस कंपनी लि.
(4) द यूनाईटेड इंडिया इंश्योरेंस कंपनी लि.

सन् 1993 में बीमा क्षेत्र के विकास तथा परिवर्तन के लिए आर.एन. मल्होत्रा भूतपूर्व रिजर्व बैंक के गवर्नर के अध्यक्षता में एक कमिटी का निर्माण किया गया। जिनके सुझावों के अनुसार बीमा क्षेत्र में कई महत्वपूर्ण परिवर्तन भी किए गए। मल्होत्रा कमिटी की अनुशंसा पर 1999 में बीमा विनियामक एवं विकास प्राधिकरण एक स्वतंत्र संस्था की स्थापना की गई। इस प्राधिकरण ने सन् 2000 में बीमा के क्षेत्र में विदेशी कंपनियों के निवेश के लिए 26 प्रतिशत की अनुमति दी।

दिसम्बर 2000 में जनरल इंश्योरेंस कॉरपोरशन लि. ऑफ इंडिया की स्थापना हुई। वर्तमान में 24 जनरल इंश्योरेंस कंपनियां कार्यरत हैं। जिसके एग्रीकल्चरल इंश्योरेंस कॉरपोरशन लि. ऑफ इंडिया भी शामिल है। वर्तमान में इस व्यवसाय का जीडीपी में लगभग 7% का योगदान है। इसी के साथ बीमा क्षेत्र, आर्थिक विकास तथा दीर्घावदी वित्त तथा आधारभूत विकास के ढ़ांचे में सहायक है।

कार्य एवं शक्तियां:-

आईआरडीए एक्ट 1999 के धारा 14 में इस संस्था के कार्य एवं अधिकारों का वर्णन किया गया है। जिसमें प्रमुख हैं-

(1) नई बीमा कंपनियों के पंजीकरण, पुन: पंजीकरण, परिवर्तन एवं उनका लाइसेंस रद्द करने का अधिकार है।
(2) पॉलिसी धारकों के हित, मामले का निपटारा, कंपनियों के व्यवसाय की निगरानी करना।
(3) बीमा क्षेत्र के विकास के लिए आचार संहिता का निर्माण करना तथा शक्ति से लागू करवाना।
(4) बीमा क्षेत्र में अत्यधिक विशेषज्ञता एवं दक्षता को प्राप्त करना।
(5) इंश्योरेंस कंपनियों के वित्तीय स्थिरता एवं उनकी दक्षता की जाँच करना।

भारतीय प्रतिभूति और विनिमय बोर्ड
(Securities and Exchange Board of India)

भारत में वित्तीय बाजार के विस्तार एवं उसकी समस्याओं को देखते हुए पूरे बाजार के नियंत्रण एवं विकास के लिए सेबी नामक संस्था की स्थापना की गई। जिसका प्रमुख उद्देश्य है- बाजार में निवेशकों के हितो की रक्षा करना तथा वित्तीय व्यवसाय को विकास के पथ पर बनाए रखना। सेबी की स्थापना निम्नलिखित उद्देश्यों के लिए की गई है:-

(क) इस बोर्ड का सबसे प्रमुख उद्देश्य है- बाजार में निवेशकों के हितो की रक्षा करना तथा वित्तीय बाजार का विकास।
(ख) स्टॉक एक्सचेंज में होने वाले दिन-प्रतिदन के व्यवसाय की निगरानी करना।
(ग) वित्तीय बाजार में कार्य कर रहे ब्रोकर, सब ब्रोकर, शेयर ट्रांसफर ऐजेंट आदि का पंजीकरण करना।
(घ) निवेशकों एवं जमाकर्ताओं के धन की रक्षा करना जिसमें मुख्यत: विदेशी निवेशक, घरेलू निवेशक शामिल हैं।
(ङ) इन साइडर ट्रेडिंग पर प्रतिबंध लगाना।
(च) निवेशकों को निवेश करने के लिए प्रोत्साहित करना तथा वित्तीय बाजार के बारे में निवेशकों को समान्य रूप से शिक्षित करना एवं प्रशिक्षित करना।
(छ) कंपनियों के आपसी समावेशन तथा एक दूसरे से अलग होना आदि पर निगरानी रखना।

Drishti IAS

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578

(ज) किसी भी बैंक, वित्तीय कॉरपोरेशन, बोर्ड, केन्द्र एवं राज्य के अंतर्गत आनेवाले वित्तीय कंपनियों की जानकारी एवं रिकॉर्ड को उपलब्ध कराने के लिए दिशानिर्देश जारी करना।

(झ) उपरोक्त कर्त्तव्यों के पालन करने के दौरान यह बोर्ड सिक्योरिटी कॉन्ट्रेक्ट रेगुलेशन एक्ट 1956 के अनुसार, फीस एवं अन्य चार्ज लगा सकती है तथा उपरोक्त उद्देश्यों की पूर्ति के लिए शोध कार्य को भी आगे बढ़ा सकती है।

(ञ) इस बोर्ड के पास के पास सिविल कोर्ट के समान ही कोर्ट कोर्ट ऑफ सिविल प्रोसिजर 1908 के तहत कई अधिकार भी प्राप्त हैं। जैसे-

(1) किसी भी कंपनी के दस्तावेज की जाँच करना, उनकी खोज करना तथा किसी भी दस्तावेज को मंगवाने का अधिकार।

(2) जाँच के दौरान आवश्यकता पड़ने पर बोर्ड के समाने प्रस्तुत होने का आदेश।

(3) जरूरत पड़ने पर लिखित में दस्तावेज प्रस्तुत करने को कह सकता है।

उपरोक्त कार्य के संपादन करने के दौरान यह बोर्ड वित्तीय क्षेत्र में कार्यरत कंपनियों को, यदि वे सिकी भी प्रकार के धोखाधड़ी, घोटाले, गलत दस्तावेज प्रस्तुत करने, निवेशकों को भ्रम में डालने तथा किसी अन्य गैर कानूनी क्रियाकलापो में लिप्त पाये जाने के कारण यह बोर्ड किसी भी कंपनी या कंपनी के निर्देशक या दोषी पाए गए व्यक्ति को निम्नलिखित दंड दे सकती है:-

(1) किसी भी संगठित स्टॉक एक्सचेंज में वित्तीय व्यापार पर प्रतिबंध लगाना।

(2) दोषी पाई गई कंपनी के शेयरों में किसी भी प्रकार से खरीद एवं बेच तथा अन्य लेन देन पर प्रतिबंध लगाना।

(3) जाँच पड़ताड़ के दौरान किसी भी प्रकार के वित्तीय लेन की निगरानी करना।

(4) दोषी पाए गए कंपनी एवं व्यक्ति को प्रथम दर्जे के न्यायाधीश के सहमति से एक महीने के लिए दंड दिलवाने तथा व्यक्ति एवं कंपनी के तमाम बैंक खातों को अपने निगरानी एवं नियंत्रण में में लेने का अधिकार है।

यदि कोई कंपनी बाजार में पूंजी प्राप्त करने के उद्देश्य से अपने अंश को जारी करना चाहती है तो इसके लिए उस कंपनी को अनुमति लेना आवश्यक है। ताकि निवेशकों के हितों की अनदेखी न कि जा सके। किसी भी कंपनी को अपना अंश जारी करने से पहले बोर्ड को अपने सभी प्रकार के वित्तीय सत्यता की जानकारी देना आवश्यक है।

दिशा निर्देश जारी करने का अधिकार:-

वित्तीय जाँच के दौरान यदि बोर्ड किसी भी प्रकार के धोखाधड़ी एवं गैर कानूनी क्रियाओं में लिप्त किसी भी कंपनी को निम्नलिखित दिशा निर्देश जारी कर सकती है:-

(क) यदि बाजार के सिकी भी क्रियाकलाप से निवेशकों के हितो को नुकसान पहुंच रहा है तो यह बोर्ड दिशानिर्देश जारी कर सकता है।

(ख) किसी भी बिचौलिए के कारण यदि वित्तीय बजार एवं स्टॉक एक्सचेंज में अनावाश्यक रूप से एवं अव्यवहारिक स्तर पर वित्तीय लेन-देन हो रहा है या जानबुझकर छोटे निवेशकों को भ्रम में रखा जा रहा है तो ऐसे कार्यों पर प्रतिबंध लगाया जा सकता है एवं दोषी पाए गए कंपनियों एवं व्यक्तियों, बिचौलियों पर वित्तीय दंड लगाकर नुकसान की भरपाई की जा सकती है।

(ग) विचौलियों या ब्रोकरों के व्यापार करने के लिए दिशा-निर्देश जारी किया जा सकता है।

IAS

102-103, Ist Floor, A-29/30, Jaina House, Commercial Complex, Mukherji Nagar, Delhi-110009
Ph. 011-47074196, 9891352177, 9990158578